सम्राट अशोक

सम्राट अशोक





सम्राट अशोक

वाल्मीकि त्रिपाठी

—साठ रुपए

सम्राट अशोक

●

वाल्मीकि त्रिपाठी

●

दिसम्बर, १९८४

●

ग्रंथम, रामबाग, कानपुर–१२

●

प्रंयम प्रिंटिंग प्रेस
साकेत नगर, कानपुर–१४



विचार-सूत्र

सम्पूर्ण सृष्टि में मानव एकमात्र ऐसा प्राणी है जिसके क्रिया-कलापों ने इतिहास का रूप धारण किया है। इतिहास मानव-जीवन की गतिविधियों का विवरण मात्र ही नहीं है, बल्कि उनके विश्लेषण द्वारा औचित्य निर्धारण भी करता है। किसने क्या किया, किसने कितनी शक्ति अर्जित की, उस शक्ति विशेष का किसने क्या उपयोग किया तथा शासक रूप मे जनहित का किसने कितना ध्यान रखा आदि स्थितियों के तटस्थ और निर्मम स्वरूप के दर्शन इतिहास के पृष्ठों में होते हैं। यद्यपि इस आरोप को भी पूर्णतया निराधार नहीं माना जा सकता कि अपने समय के शक्तिशाली शासकों ने अपनी इच्छानुकूल इतिहास का निर्माण करवाया तथापि इतिहास की निर्ममता के बीच से जो छवि विशेष जनमानस में उभरी वह ऐसी स्थायी बनती चली गई कि कितनी ही खोजबीन द्वारा नये-नये तथ्य सामने आते चले जायँ, उस धारणा में विशेष परिवर्तन सम्भव नहीं हो पाता है। भारतीय इतिहास के मौर्यकालीन शासक अशोक भी एक ऐसे ही सम्राट है जिनका एक राष्ट्रीय स्वरूप निर्धारित हो चुका है। उसने वर्तमान राष्ट्रीय विचारधारा को प्रभावित ही नहीं किया है, वरन् उससे दिशा-निर्देश भी प्राप्त हुआ है, यह अनुभव तो प्रत्येक सचेष्ट नागरिक करता है, यदाकदा वक्तव्यों और लेखों द्वारा उनका प्रकाशन भी करता है, किन्तु सम्राट अशोक का ऐतिहासिक क्रिया-कलापों में सन्निहित सम्पूर्ण व्यक्तित्व उभरकर जीवन्त रूप मे सामने नहीं आ पाता है। कुछ साहित्यिक प्रयास भी देखने में आये है, किन्तु वे अशोक की एक विचारधारा विशेष में ही सिमटकर रह गये है। सम्राट अशोक

के विराट व्यक्तित्व का समुचित उद्घाटन किसी भी रचना द्वारा सम्भव न हो सका है। छोटी रचना द्वारा किसी बड़े व्यक्तित्व का संप्रकाशन सम्भव भी नही है। 'सम्राट अशोक' एक ऐसे ही अभाव की अनुभूति की अभिव्यक्ति का साहित्यिक प्रयास है। इस प्रयास की मूल प्रेरणायें हैं वे वर्तमान राष्ट्रीय अपेक्षायें जिनका अभाव सजग जनमानस मे अविरल आकुल बनाये रखता है और उनमे सर्वोपरि है देश की अखण्डता। इस अखण्डता के लिए सम्राट अशोक ने जो कुछ भी किया उसे समय-समय पर भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखा-परखा गया और वैयक्तिक निष्कर्ष भी प्रस्तुत किये गये, किन्तु वे या तो बद्धमूल अवधारणाओं के प्रतिक्रियात्मक स्वरूप सिद्ध हुए या जनमानस के अन्तरतम को उस सीमा तक उद्वेलित करने मे सक्षम न हो सके जितनी आधुनिक राष्ट्रीय विचारधारा को अपेक्षा है। समकालीन ऐतिहासिक तथ्यों, साहित्यिक अभिव्यक्तियों और शिलाओं पर उत्कीर्ण आलेखों के विश्लेषण द्वारा सम्राट अशोक के जिस विराट व्यक्तित्व के दर्शन मुझे हुए उसने मेरे मानस को इस सीमा तक आलोड़ित किया कि मै बाध्य हो गया उस दर्शन विशेष को औपन्यासिक रूप मे देने के लिये। 'उपन्यास' अभिधान ही गल्प या मनगढ़न्त कथा की अवधारणा को मानस पटल पर उभारने के लिए यथेष्ट है, किन्तु यह उपन्यास नही ऐतिहासिक उपन्यास है। ऐतिहासिक उपन्यास का ढांचा सत्याधारित होता है। इसके अभाव में ऐतिहासिकता अक्षुण्ण रह ही नही सकती। और फिर यह 'सम्राट अशोक' तो ऐतिहासिक 'उपन्यास से आगे कुछ और भी है। 'यह कुछ और भी' ही इस रचना का प्राणतत्त्व है जो ऐतिहासिकता से भी अधिक प्राणवान है, जीवंत है, और है सम्प्रेरक--ऐसा मेरा विश्वास है। आपको विश्वास न हो तो इसे आद्यंत पढ़कर देखिए। विश्वास अखंडित न लगे तो मुझे लिखिएगा अवश्य। वही सिद्ध होगी मेरे विश्वास की कसौटी। क्यों, स्वीकार है न आपको

मेरे विश्वास की कसौटी बनना ? यदि हाँ, तो फिर लीजिए, पढ़िये इस 'सम्राट अशोक' को और अखण्ड राष्ट्रीय विचार-धारा में एक सशक्त बूंदरूप में संतरण कीजिए।

सम्पूर्ण विश्वास के साथ आपकी प्रतिक्रियात्मक चुनौती की प्रतीक्षा में.................

२२ नवम्बर १९८४ —बाल्मीकि त्रिपाठी

साहित्यायन
साकेत नगर, कानपुर–१४

दिवस की अवसान बेला थी। निखिल सृष्टि अस्ताचलोन्मुख दिनकर की रक्तिम आभा से आभासित थी। सलिल सलिला पुण्यतोया जाह्नवी का जल अविरल गति से प्रवहमान था। तट पर भौतिक जगत के मायामोह से मुक्त महामात्य चाणक्य ईशाराधना में लीन थे। सहसा उनकी एकाग्रता भंग हुई। सुविशाल नेत्र उन्मीलित हो गये। कुछ क्षणों तक उसी स्थिति में वह बैठे रहे किन्तु जब स्थिति असह्य हो गई तब उन्होंने गम्भीर वाणी में पुकारा, "राधा !"

"जी, गुरुदेव !" कुछ ही अन्तर पर स्थित पर्णकुटी के द्वार पर बैठे राधागुप्त ने आचार्य के आवाहन पर उत्तर ही न दिया, दौड़ भी पड़ा। आचार्य के निकट पहुँच उसने प्रस्तुति-भाव व्यक्त किया, "आज्ञा, गुरुदेव।"

"कुछ सुन रहे हो ?"

आश्चर्यचकित हो राधागुप्त ने अपनी अनभिज्ञता व्यक्त की, "कुछ भी तो नहीं, गुरुदेव।"

उत्तरोत्तर तीव्रतर होती हुई ध्वनि की ओर गुरुदेव ने पुनः ध्यान आकृष्ट किया, "अब भी नहीं सुनाई दे रहा है ?"

"जी, गुरुदेव ! आपका संकेत किस ओर है, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। अत्यन्त विनम्र स्वर में राधागुप्त ने अनभिज्ञता व्यक्त की।

आचार्य चाणक्य ने अपनी सुतीक्ष्ण दृष्टि का आखेट राधागुप्त को बनाते हुए किंचित कठोर स्वर में सावधान किया, "नगर से आती हुई राजकीय मंगलवाद्यों की ध्वनि तुम्हारे कर्ण-कुहरों में प्रवेश नहीं कर रही है ?"

गुरुदेव के द्वारा निर्देशित ध्वनि का आभास पाते ही राधागुप्त का प्रकम्पित स्वर फूटा, "सुन रहा हूँ, गुरुदेव ! स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ रहा है।"

"जाओ, और शीघ्र आकर सूचित करो कि यह ध्वनि किस मंगल-कार्य की द्योतक है।"

"जो आज्ञा, गुरुदेव !" क्षीणस्वर के साथ ही राधागुप्त द्रुतगति से नगरोन्मुख हो गतिमान हो गया।

आचार्य चाणक्य ने पुनः ध्यानावस्थित होने की चेष्टा की किन्तु प्रयास निष्फल सिद्ध हुआ। वह कभी सुरसरि की प्रशान्त जलराशि को निहारते कभी गगनमण्डल में ध्वनिमयी विविध विहंगावलि उनका ध्यान आकृष्ट

कर लेती। विगत सूचना के आधार पर वह सुमंगल वाद्य-ध्वनि के कारण का अनुमान भी लगा रहे थे, किन्तु उन्हें आश्चर्य अधिक इस बात पर हो रहा था कि कौन सी ऐसी अप्रत्याशित घटना घट गई जिससे वह अवगत न हो सके। उनकी व्यग्रता शनैः-शनैः बढ़ती जा रही थी। राधागुप्त के लौटने तक के समय की प्रतीक्षा उन्हें असह्य प्रतीत हो रही थी। यद्यपि नगर तक जाने, कारण का पता लगाने और वापस आने में विलम्ब होना स्वाभाविक था तथापि महामात्य राधागुप्त को तत्क्षण देखने का लोभ संवरण न कर सके और उठकर कुटी की ओर चल दिये। कुटी तट से हटकर कुछ अन्तर पर एक शिलाखण्ड पर स्थित थी। निकट ही एक अन्य शिलाखण्ड था जिस पर खड़े होकर नगर की ओर जाने वाले मार्ग को सुदूर तक देखा जा सकता था। आचार्य उस पर चढ़ रहे थे। दृष्टि नगर की ओर थी। राजप्रासाद की गगनचुम्बी चोटियाँ दृष्टिगोचर होनी प्रारम्भ हो गई थीं। सूर्यास्त हो चुका था। लालिमा कालिमा में परिणत होती जा रही थी। चोटियों का भी दृष्टिगत आकार क्षीणतर हो चला था। मार्ग तो लगभग पूर्णतया अंधकार में विलीन होने की स्थिति में था। दृष्टिशक्ति की चरमावस्था का प्रयोग भी जब व्यर्थ प्रतीत हुआ तब आचार्य शनैः-शनैः नीचे उतरने लगे। कुटी का द्वार खुला था, फिर भी, शिक्षण-कार्य के निमित्त प्रयुक्त होने वाले स्वच्छ शिलाखण्ड पर वह बैठ गये। दृष्टि-मार्ग पर ही केन्द्रित थी। अनेकानेक विचार जन्म लेते, परस्पर टकराते और आधारहीन सिद्ध हो अन्य विचारों को जन्म देते। व्यग्रता ने उन्हें बैठा भी रहने न दिया। वह उठे, आगे बढ़े और बढ़ते-बढ़ते रुक गये। कुछ सोच-कर उन्होंने कुटी द्वार पर पुनः दृष्टि डाली और नीचे उतरने लगे। दृष्टि विचारों में भ्रमित थी। परिचित मार्ग के अभ्यस्त पैर स्वतः बढ़ते जा रहे थे। श्रवणेन्द्रिय सतर्क थी। 'गुरुदेव' शब्द सुनाई दिया। वह चौंके, "कौन ! राधा !"

"जी, गुरुदेव।" राधागुप्त यथेष्ट निकट आ चुका था।

"बड़ी देर कर दी तूने ?" आचार्य की दृष्टि का केन्द्रबिन्दु राधागुप्त बन गया था।

निरपराधजन्य आत्मविश्वास निसर्ग रूप में व्यक्त हो गया, "लेकिन, रुका तो मैं एक क्षण के लिये भी कहीं नहीं।"

विवाद को वहीं समाप्त कर आचार्य ने जिज्ञासा व्यक्त की, "मंगल ध्वनि का हेतु क्या ज्ञात हुआ ?"

"राजकुमार का जन्म······ ·· ··।"

वाक्य पूर्ण होने के पूर्व ही आचार्य ने सूचना विस्मय-भरे स्वर में दुहराई,

"राजकुमार का जन्म ।"

राधागुप्त ने समझा कि कदाचित गुरुदेव को उसके द्वारा दी गई सूचना पर विश्वास नहीं हुआ, अतः उसने वास्तविकता को विश्वासपूर्ण बल के सहारे प्रकट किया, "राज-प्रासाद के मुख्य द्वार पर राजकुमार के जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में आनन्दविभोर हो कुछ नगरजन नर्तन कर रहे थे। सभी मार्गों से हर्षोन्मत्त विशाल जनसमूह राजप्रासाद की ओर बढ़ रहा था। वहाँ कोई किसी की न सुन रहा था। बड़ी कठिनाई से एक द्वार-रक्षक तक पहुँच सका और उससे जो ज्ञात हुआ है, गुरुदेव, सेवा में वही निवेदित किया है।"

फिर भी, जब आचार्य का मौन भंग न हुआ तब राधागुप्त का मन किसी अनिष्ट की आशंका से प्रकम्पित हो उठा। वह गुरुदेव के क्रोधी स्वभाव से भलीभाँति अवगत था। गुरुदेव के क्रोध का शिकार न बने, इसकी भरसक चेष्टा वह करता रहता था, फिर भी, गुरुदेव की भृकुटि के सामान्य रूप को देखने को वह तरस जाता था। गुरुदेव के भावी प्रश्न की प्रतीक्षा में वह स्तब्ध खड़ा था। गुरुदेव ने जानना चाहा, "किस रानी ने राजकुमार को जन्म दिया है ?"

"गुरुदेव ! यही प्रश्न मैंने द्वार-रक्षक से किया था तो वह सुनते ही खिल-खिला उठा था और खुशी से झूमते हुये बोला था, "आम खाओ, आम। आम किस पेड़ का है, यह जानने का समय नहीं है। राजकुमार का जन्म हुआ है—खुशी से झूमने के लिये क्या इतना ही यथेष्ट नहीं है ? कोई एक रानी है जो इतनी शीघ्र मालूम हो जाय। जाओ, भागो यहाँ से। खाओ-पियो, आनन्द मनाओ जाकर। आज सब कुछ बिना मूल्य के उपलब्ध रहेगा। जन्म-जन्मान्तर की अतृप्त अभिलाषा पूर्ण करो जाकर। ऐसा दुर्लभ अवसर जीवन में बार-बार नहीं आता।"

आचार्य ने राधागुप्त को बीच में टोका नहीं। सुनने के बाद उन्होंने आदेश दिया, "थक गये होगे। जाकर विश्राम करो।

राधागुप्त गुरुदेव का आदेश शिरोधार्य कर कुटी की ओर चल दिया।

चन्द्रगुप्त की निद्रा भंग हुई तो वह हड़बड़ाकर उठ बैठा। सूर्योदय का यथेष्ट प्रकाश फैल चुका था। वह दबे पैरों बाहर आया। वहीं से झुककर उसने गुरुदेव को देखा। आचार्य चाणक्य अपने आसन पर विराजमान थे। उनके समक्ष अनेक अमात्यों और उच्चाधिकारियों सहित सम्राट उपस्थित थे। सबके हाथ जुड़े हुए थे। आचार्य ध्यानावस्थित थे। सम्राट तक उनकी प्रतिक्रिया से अवगत होने के लिये आतुर थे। आचार्य के नेत्र बन्द थे। शरीर अडोल था। स्वर मौन था। किसी भी प्रकार का व्यवधान उपस्थित करने का साहस किसी में न था। सभी आचार्य की विलक्षण प्रतिभा से भली-भाँति अवगत थे। उनका अनुमान तक असत्य नहीं होता था। भविष्यवाणी सदा सत्य सिद्ध होती थी। वही होता था जो वह चाहते थे। उनके निर्णय प्रकृति-नियम से कम प्रभावपूर्ण न होते थे। उन्हें मौर्य साम्राज्य का नियामक समझा जाता था। सत्तास्वरूप सम्राट की उपस्थिति में भी सत्ता का केन्द्र आचार्य चाणक्य को ही सम्पूर्ण प्रजा मानती थी। किन्तु सत्ता के मद में मदान्ध वह कभी नहीं हुये। सत्ता का दुरुपयोग न उन्होंने कभी किया, न कभी होने ही दिया। समय की नाड़ी का उन्हें पूर्ण परिज्ञान था। कौन कार्य किस समयावधि के अन्तर्गत सम्पन्न होना है, इसकी क्रियात्मक सफलता के दर्शन किये बिना उन्हें चैन न पड़ती थी। वह ऊपर से जितना शान्त प्रतीत होते थे, अन्दर से वह उतने ही सजग और सावधान रहते थे। प्रत्यक्षतः वह गंगातटवासी बन चुके थे, किन्तु एक क्षण के लिए भी वह मौर्य साम्राज्य की गतिविधियों से अपने को असम्पृक्त न रख पाते थे। स्वयं कुछ न चाहते हुए भी वह इतना अवश्य चाहते थे कि हो वही जो उनका आदेश हो। इसके लिये दैनिक नियम-सा बन गया था कि मगध सम्राट प्रातःकाल प्रतिदिन उनके दर्शनार्थ आते थे। साथ में रहता था सम्पूर्ण अमात्यवर्ग। किसी भी आमात्य से सम्बन्धित विभाग की अनियमितता की सूचना आचार्य चाणक्य के पास गुप्तरूप और विश्वसनीय ढंग से पहुँचती रहती थी। इसी समय अमात्य सावधान किये जाते थे। उन्हें कर्तव्यबोध कराया जाता था। असावधानी के लिये वे दण्डित भी किये जाते थे। सम्राट तक नतमस्तक मुद्रा में आचार्य चाणक्य के समक्ष उपस्थित रहते थे। नित्य कुटी-द्वार पर आगन्तुकों को आचार्य की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। उस दिन आचार्य को शिलाखण्ड पर प्रतीक्षारत देख सभी सन्न रह गये।

सभी को मूर्तिवत् अडोल देख आचार्य ने टोका, "आइए, आइए, चले आइए, रुक क्यों गये ?"

सम्राट बिन्दुसार आगे बढ़े और ऊपर चढ़ना प्रारम्भ करने के पूर्व ही उन्होंने प्रणाम की मुद्रा धारण कर ली। आचार्य पूर्ववत् बैठे रहे, बोले कुछ नहीं। सम्राट के हाथ जुड़े थे। गरदन झुकी हुई थी। गति यथेष्ट मन्द थी। जैसे आचार्य को विलम्ब असह्य हो उठा हो, उनका अधैर्य व्यक्त ही हो गया, "राजन ! अन्तिम बधाई मेरी स्वीकार करो।"

"अपराध क्षमा हो, गुरुदेव। रात्रि में विलम्ब हो जाने की आशंका से सेवा में उपस्थित न हो सका।"

"और तुम्हारा पिता चन्द्र तुम्हारे जन्म के समय मेरे ही निकट था। तुम्हें सर्वप्रथम आशीर्वाद मेरा मिला था। चन्द्र ने तुम्हें बाद में देखा था। खैर, किस रानी ने राजकुमार को जन्म दिया है ?"

"शुभद्रांगी ने।"

अपरिचित व्यक्ति के मुंह से अनपेक्षित उत्तर सुन आचार्य की भौहें तन गईं। उन्होंने ध्यान से देखा और अनुमान व्यक्त किया, "सम्भवतः तुम प्रथम बार यहां आये हो ?"

"जी हां।"

"कौन हो तुम ? क्या नाम है तुम्हारा ?"

"मैं शुभद्रांगी का पिता ऋषभदेव हूं।"

"ऋषभदेव ! आप चम्पानगरवासी ज्योतिषाचार्य ऋषभदेव तो नहीं हैं ?"

"आपका अनुमान सर्वथा सत्य है ?"

"आपका तो ज्योतिष का ज्ञान अगाध है। अनन्त ख्याति आपके ज्योतिष विज्ञान की उपलब्धियों की सुनने को मिली हैं, किन्तु साक्षात्कार आज हुआ।"

ऋषभदेव विनय की साकार प्रतिमा बने नतमस्तक खड़े थे। उनके मुंह से निकला, "मेरा अहोभाग्य।"

"किन्तु आप तो ब्राह्मण हैं और कदाचित अविवाहित भी। फिर शुभद्रांगी आपकी............ ?"

बीच में ही ऋषभदेव बोल उठे, "आपकी सूचना सत्याधारित है। शुभद्रांगी मेरे द्वारा मात्र पोषित कन्या है, कौन जन्म देकर मेरी कुटी के द्वार पर इसे डाल गया था, चेष्टा करने पर भी आज तक न जान सका।"

सम्राट सहसा आश्चर्यचकित स्वर में बोले, "तो शुभद्रांगी आपकी पुत्री नहीं है ?"

"मैं निवेदन कर चुका हूं कि............।"

"फिर आप मुझसे झूठ बोले थे ?" सम्राट का स्वर आवेशमय हो चुका था।

चाणक्य ने हस्तक्षेप किया, "शान्त हों महाराज। आवेश की आवश्यकता नहीं। शुभद्रांगी किसकी पुत्री है—इसे मैं जानता हूँ किन्तु किसी अन्य को जानने की अब आवश्यकता नहीं। शुभद्रांगी अब एक राजकुमार की माँ है। सन्तोष के लिए इतना समझ लो कि शुभद्रांगी किसी रानी से कुलशील में कम नहीं है। शुभद्रांगी की मौर्य सम्राट के रनिवास में उपस्थिति गर्व और सौभाग्य का सूचक है। हाँ, श्री ऋषभदेव जी आपका ज्योतिष इस नये राजकुमार के विषय में क्या संकेत कर रहा है ?"

"आप तो सर्वज्ञ हैं। परीक्षा के अवसर और भी आएँगे।"

"नहीं ऋषभदेव जी ! आपके निष्कर्षों की कसौटी पर अपने ज्योतिष ज्ञान को परीक्षित करना चाहता हूँ। आप संकोच न कीजिए। इस राजकुमार का भावी जीवन आपकी ज्योतिष के अनुसार कैसा है ?"

"शुभद्रांगी को जब मैंने पहली बार गोद में लिया था और खेलाते-खेलाते उसके हाथ की रेखाओं पर मेरी दृष्टि पड़ी थी तो मैं आश्चर्यचकित रह गया था। राजयोग तो उसके भाग्य में था ही। इसका पुत्र चक्रवर्ती सम्राट बनेगा—इसके लक्षण भी मुझे स्पष्ट दिखाई दिये थे। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह राजकुमार चक्रवर्ती सम्राट बनेगा।"

"आपके विश्वास से मेरी धारणा को समर्थन मिला, इसकी भी मुझे प्रसन्नता है। राजन् ! इस राजकुमार का विकास भी मेरे निर्देशन में होगा।"

"जो आज्ञा।" सम्राट के स्वर की असहजता को चाणक्य ने लक्ष्य कर लिया था।

उन्होंने समझाया, "समय बड़ा बलवान होता है, राजन् ! भूतमात्र काल के हाथ का खिलौना है। कौन घटना किस समय क्या करवट लेती है—जानना सरल नहीं है। जो होना है, वही हो रहा है। जो हो रहा है, वही ठीक है, उसे ही उचित समझकर स्वीकार करो। किसी प्रकार की आशंका को कभी जन्म मत दो। विश्वास रखो, जब तक मैं जीवित हूँ, मौर्य साम्राज्य पर आँच भी न आने पायेगी।"

आचार्य चाणक्य का एक-एक शब्द किरण बनकर सम्राट के तिमिराच्छादित मानस को आलोकित कर उठा था। सहसा विगत समस्त भ्रम भंग हो गये। नेत्र खुल गये। विषाद का स्थान प्रसन्नता ने लिया। मुद्रा स्मयमान हो उठी। आचार्य ने सम्राट की दृष्टि में झांककर आश्वस्त किया, "जाइए राजन्, निर्विघ्न राज्य कीजिये और मौर्य साम्राज्य की भावी सुरक्षा

से भी निश्चिन्त हो जाइए। ईश्वर जो करता है, शुभ ही होता है।"

सम्राट बोले कुछ नहीं, हाथ जोड़कर उन्होंने प्रणाम की-मुद्रा धारण कर ली। सबने उनका अनुसरण किया। आचार्य चाणक्य उठकर जाते-जाते ऋषभदेव से बोले, "अब तो आप कभी-कभी आया ही करेंगे ?"

"जो आज्ञा, गुरुदेव।" ऋषभदेव के मुँह से अंततोगत्वा 'गुरुदेव' शब्द निकल ही गया।

आचार्य की मुद्रा में स्मिति का आभास कदाचित सम्राट को भी पहली बार ही मिला था।

आचार्य चाणक्य शिलाखण्ड से नीचे उतरते चले गये।

दृष्टि से परे होते ही सम्राट भी खड़े न रह सके।

सबने सम्राट का अनुसरण किया।



राजपुत्र-जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में विविध रंगारंग कार्यक्रमों की कमी न होने पा रही थी। नित नवीन मनमोहक कार्यक्रम प्रस्तुत किए जा रहे थे। जिन कार्यक्रमों में सम्राट की उपस्थिति सम्भव होती वे विशेष आकर्षक होते थे। उनका असाधारण आकर्षण रात्रि में देर तक जगाये रखता था। एक प्रातः सम्राट के सोकर उठने में जब अधिक देर हो गई तो राजमहिषी शयनकक्ष में पधारीं। उपस्थित परिचारिकायें सिमट-सी गयीं। स्वर्ण पर्यंक के निकट रखी हुई आसंदिका पर महारानी बैठ गईं और सम्राट के मुखमण्डल की ओर देखने लगीं। संकेत से उन्होंने परिचारिका को आदेश दिया। पार्श्ववर्ती कक्ष से कुछ ही क्षणों में वाद्य यन्त्रों से सुमधुर किन्तु मंद ध्वनि ने प्रवेश किया। महाराज की तन्द्रा भंग हुई। अलसित नेत्र यत्किंचित खुले और पुनः मुंद गये। महाराज ने करवट ली। उनका हाथ महारानी के हाथ से टकराया। नेत्र खुल गये। महारानी दृष्टिगत हुयीं। महाराज मुस्कराए। महारानी की मुस्कराहट ने स्वागत किया। महाराज ने गावतकिये का सहारा लेते हुए आशंका व्यक्त की, "क्या बहुत देर हो गई ?"

"महाराज जी! सोये भी तो आधीरात के बाद थे। अब अधिक नहीं जगने दूंगी।"

"जागने के कार्यक्रमों को अनुमति तो तुम्हीं देती हो। कल रात्रि के

कार्यक्रमों में दीपालिनी का नृत्य अनुपम था।"

"दीपालिनी तक्षशिलावासिनी जो ठहरी। कलात्मक अभिव्यक्तियों में तक्षशिलावासी अप्रतिम हैं।"

"वास्तव में कलाकार एक-से-एक बढ़-चढ़कर हैं। सम्पूर्ण तक्षशिला प्रदेश ललित कलाओं की लीला भूमि है। कलाकारों का भी क्या जीवन होता है। जीवन का चरम आनन्द तो वास्तव में वे ही भोगते हैं। उनका जीवन सांसारिक दुश्चिन्ताओं से मुक्त रहता है। वे कला की पूजा करते हैं। आदर्श लगता है उनका जीवन। कला की साधना में निमग्न वे प्राकृतिक जीवन जीते हैं। काश! कुछ दिनों के लिये वह जीवन सुख उपलब्ध हो पाता।"

"मगध महाराज के लिये असम्भव क्या है?"

"महारानी जी। सम्राट कर्तव्य के कठोर नियमों से बंधा प्राणी होता है। कठोरता उसका आभूषण है। कलाप्रिय होने पर भी शासक उसका उपासक नहीं हो पाता। उसे तो न्याय-अन्याय की विवेचना में ही जीवन का चरमसुख खोजना पड़ता है। सम्राट को सतत सावधान रहना पड़ता है। साधना विशेष विस्मृति के क्रोड़ में पलती है। और सम्राट स्मृतिजन्य सावधानी के संसार में विचरण करता है। कभी-कभी सोचता हूँ—क्या पाटलिपुत्र कुछ दिनों के लिये छोड़ सकता हूँ?"

"आपको किस बात की आशंका? सुरक्षा की उत्तम व्यवस्था है। शासनकार्य यन्त्रवत् संचालित होते रहते हैं।"

"हाँ, महारानी जी! मगध शासन का संचालन ठीक उसी प्रकार हो रहा है जिस प्रकार सृष्टि का संचालन होता है। किन्तु यह संचालन स्वतः नहीं हो रहा है। इसका संचालक है वह परमपिता परमात्मा जो अदृश्य रहता है, किन्तु क्या उसके अस्तित्व को कभी अस्वीकार किया जा सका है। आदि काल से उसके अस्तित्व को प्रमाणित न कर पाने पर भी मानव उसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर पाया है। सम्राट उसी का प्रतिनिधि है, महारानी जी। प्रत्यक्षतः शासन-कार्य से अनुपस्थित होने पर भी सम्पूर्ण शासन का संचालन करना तो मुझे ही पड़ता है।"

"आपकी बातें बड़ी विस्मयविमुग्धकारिणी होती हैं। श्रोता अपना उद्देश्य भूलकर आपकी बातों के रसास्वादन में आकण्ठ निमग्न हो जाता है।"

. सम्राट ने महारानी के वाक्य में निहित सत्यांश का आभास पा उन्हें उत्प्रेरित किया, "कुछ निवेदन करना है?"

सहसा महारानी सावधान-सी हो उठीं और उपेक्षा भाव व्यक्त किया, "नहीं, कुछ विशेष नहीं। यों ही आज रात एक सत्य स्वप्न देखा था।"

"सत्य-स्वप्न !" सम्राट ने साश्चर्य महारानी को देखा।

"हाँ, यह स्वप्न सत्य ही है।"

"अर्थात् ?"

"मैं अनिद्रा रोग से ग्रस्त हो गई हूँ। एक सप्ताह बीत गया है। एक क्षण के लिये भी सो नहीं सकी हूँ। संगीत, नाटक, राग-रंग, तन्त्र-मन्त्र, जप-तप आदि सभी कुछ निष्फल हो रहे हैं। ओषधि-विज्ञान का बड़ा-से-बड़ा अनुसंधान निरर्थक सिद्ध हुआ है। आयुर्वेदाचार्यों ने पराजय स्वीकार करली है। अपना सिर मैं असह्य वेदना के कारण हिला-डुला तक नहीं पा रही हूँ। आप पर्यंङ्क के निकट उपस्थित हैं। चिंतित हैं, निराश से हैं। मुझे नींद आ जाय इसके लिये आप सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार हैं। रह-रहकर आप मेरे सिर तक अपना हाथ ले जाते हैं, किन्तु स्पर्शजन्य व्यथा से मैं छटपटा उठूंगी, इसलिये आप मेरा हाथ स्पर्श कर ही संतोष कर लेते हैं। पास मे भिषग्वर भी उपस्थित हैं। आप उन्हें लक्ष्यकर अपनी मनोवेदना प्रकट करते हैं–'क्या निद्रा लाने की कोई ओषधि शेष नहीं रह गई है ?'

'महाराज जी ! जो आयुविज्ञान में सम्भव ओषधियां हैं, उनका प्रयोग किया जा चुका है।'

'इसका अभिप्राय है कि महारानी जी रोगमुक्त नहीं होंगी ?'

'नहीं महाराज जी ! महारानी जी अवश्य स्वस्थ होंगी। अभी अदृश्य दयानिधि ने अपनी कृपादृष्टि इस ओर नहीं की है। उनकी क्षणिक कृपा-कोर मात्र उन्हें सुलाने के लिये यथेष्ट है।'

सम्राट ने दीर्घ नि.श्वास छोड़ा, 'ठीक कहते हैं आप ! मानव अपनी जिन शक्तियों पर विश्वास करता है; उनके निष्फल सिद्ध होने पर ही वह दया-निधि का स्मरण करता है। आज तक मैं अपने को सर्वसमर्थ समझता रहा हूँ। इसकी कल्पना तक न की थी कि ऐसा भी कोई रोग हो सकता है जिसके उपचार की क्षमता हमारे ओषधिविज्ञान में नहीं है। मानव कितना क्षुद्र प्राणी है। अपने ही विश्वासों के हाथों उसे पराजय स्वीकार करनी पड़ती है। आज मगध सम्राट कितना असमर्थ है, कितनी दयनीय स्थिति है।' आप का गला भर आया था। स्वर आगे न फूट सका था। कदाचित नेत्र भी सजल हो उठें थे। आप ने मुँह दूसरी ओर घुमा लिया था। नतमस्तक निकट खड़ी शुभ्रांगी ने समझा कि वह आपकी दृष्टि का केन्द्र बिन्दु बन गई है। वह सहम गई। उसके मुंह से निकल पड़ा, 'अपराध क्षमा हो अन्न-दाता ! अनुमति हो तो मैं प्रयास करूँ ?'

आपने उसकी ओर अविश्वासपूर्ण दृष्टि से देखा। वह भयभीत तो थी ही। कांपते हाथों को जोड़ते हुए उसने आग्रह दुहराया, 'महाराज जी! तनिक भी अनिष्ट की आशंका न करें। मुझे सेवा का अवसर दें। यह तो साधारण रोग है। स्पर्श मात्र से नींद आ जाएगी।'

'और यदि तुम्हारा दावा झूठा सिद्ध हुआ ?'

'असम्भव ! मेरा स्पर्श किसी को भी प्रगाढ़ निद्रा में सुला न सके, यह सम्भव ही नहीं है।'

'फिर अनुमति है, किन्तु स्पर्श से वेदना में वृद्धि नहीं होनी चाहिए।'

'निश्चिन्त रहें महाराज जी !' कहती हुई वह मेरी ओर बढ़ी और उसने अपना हाथ मेरे मस्तक पर रख दिया। स्पर्शमात्र से जहां मैं तड़प उठती थी, वहीं शुभद्रांगी का हस्तस्पर्श मुझे सुखद प्रतीत हुआ। वह धीरे-धीरे मेरा सिर और मस्तक सहलाने लगी। ज्यों-ज्यों उसकी हथेली मेरे नेत्रों के निकट आती जा रही थी, त्यों त्यों मेरे नेत्र मुंदते जा रहे थे। मैं सो गई और कई दिन तक सोती रही। शुभद्रांगी मेरी सेवा में नियुक्त थी। तीन दिन जब मुझे सोते हुए हो गये तो आपने शुभद्रांगी से प्रश्न किया, 'महारानी जी कब तक सोती रहेंगी ?'

'जब तक महाराज जी का आदेश नहीं होगा जगाने का ?

'क्या स्वयं नहीं जागेंगी ?"

'क्यों नहीं, किन्तु इस बार नहीं। जो सुलाने से सोया है, वह जगाने से ही जागेगा। आज्ञा हो तो जगा दूं ?'

आपने आशंका व्यक्त की—'कहीं फिर न अनिद्रा की शिकार हो जायें।'

'दासी के रहते ऐसा न सोचें महाराज जी ! महारानी जी के पास अनिद्रा का रोग तो कम-से-कम कभी नहीं आयेगा।'

'फिर जगाओ।'

"शुभद्रांगी ने मेरे पैर के तलवे को अपनी हथेली का स्पर्श प्रदान किया। मेरे नेत्र खुल गये। मैं उठ बैठी। आपको मैंने स्पर्श किया। मैं मुस्करा रही थी। आपका मनमयूर हर्षातिरेक से नर्तन कर उठा था। आपने अपने गले से बहुमूल्य रत्नों का हार उतार कर शुभद्रांगी के गले में डाल दिया था। वह आपके चरणों में झुक गई थी। आपने उसे दोनों हाथों से पकड़-कर उठाया था और अभयदान दिया था, 'शुभद्रांगी। तुम जब जो मांगोगी, तुम्हें मिलेगा। तुम्हारा हस्तकौशल अनुपम है। इच्छा हो तो अभी मांग लो।'

'जी, महाराज जी ! मात्र कृपादृष्टि चाहिए।'

'वह तो परिचारिके तुम्हें प्राप्त हो ही गई है। इससे भी अधिक मैं तुम्हें कुछ और देना चाहता हूँ, किन्तु सोच नही पा रहा हूँ कि क्या ऐसा दूँ जिससे तुम्हें उतनी ही प्रसन्नता हो, जितनी मुझे हो रही है।'

"शुभद्रांगी ने आपकी ओर दृष्टि उठाकर देखा और पुरस्कार मांगा, 'मुझे पुत्र रूप में राजकुमार चाहिए।' उसका स्वर मैं आगे न सुन सकी और मेरी चीख निकल गई। स्वप्न भंग हो गया।"

महाराज बिम्बसार बड़े मनोयोग से महारानी का सत्य स्वप्न सुन रहे थे। वह मुस्कराए और बोले, "वास्तव मे महारानी ! यह सत्य स्वप्नवत् ही प्रतीत होता है। अविश्वास में विश्वास की अनुभूति होती है इस घटना से। न भूलने योग्य वह घटना थी और न हम भूल ही पा रहे हैं।"

"शुभद्रांगी ने पुरस्कार भी तो इच्छानुकूल पा लिया है।"

"राजकुमार न। इसका पालन-पोषण 'गुरुदेव' के निर्देशन मे होगा।"

"क्या गुरुदेव का आदेश है ?"

"हाँ, किन्तु चिन्ता की कोई बात नही। युवराज सुसीम का कोई भी अहित शुभे द्वारा न होने पाएगा।"

"विश्वास तो मुझे भी शुभे पर कुछ ऐसा हा है। वह सुसीम को मुझसे अधिक स्नेह करती है। उसके बिना वह एक क्षण भी नहीं रह सकता। जब वह रूठता है तब शुभे के मनाये ही मानता है। शुभे के लाड़-प्यार ने ही उसे इतना नटखट बना दिया है। जब भी मैं उसे डाँटती हूँ तब वह सुसीम का ही पक्ष लेती है।"

"उसके इसी स्नेहिल स्वभाव ने तो सबका मन जीत लिया है। तुम भी उसे जितना स्नेह करती हो, मुझे आश्चर्य होता है।"

"ईर्ष्या करने से मिलेगा क्या ? जो दुर्लभ गुण उसे ईश्वर ने दिया है, वह किसी को भी अपने वश में कर सकता है। और फिर जो दुर्लभ सेवा वह कर सकती है, वह मेरे द्वारा सम्भव नहीं। आपकी प्रसन्नता के लिए उसकी सेवा अपेक्षित है। मेरे सन्तोष के लिए इतना ही यथेष्ट है। किन्तु सुसीम के प्रति मैं अनवधान भी नहीं रहना चाहती हूँ।"

"हाँ, शुभे मां बन चुकी है। गुरुदेव ने उसके पुत्र का नाम 'अशोक' रखा है। शुभे के स्नेह का केन्द्र अब होगा अशोक। सुसीम उसे सह न सकेगा। अभी वह यथेष्ट साहचर्य के अभाव मे उद्विग्न हो उठा है।" कहते-कहते महाराज बिम्बसार विचारमग्न हो गये। उनके नेत्र बन्द-हो गये। कल्पना के सहारे वह जिस यथार्थलोक मे विचरण कर रहे थे, उससे महारानी ने उन्हे लौटाना चाहा, "क्या सोचने लगे ?"

महाराज जी तत्क्षण यथार्थजगत में लौट आये और बोले, "कुछ नहीं, यों ही तनिक सोचने लगा कि सुसीम और अशोक जब एक साथ खेलेंगे तो कितना अच्छा लगेगा। राम-लक्ष्मण की जोड़ी प्रतीत होगी। सुसीम बड़े भाई के रूप में आदेश देगा और अशोक छोटे भाई के नाते उसका पालन करेगा।"

"ईश्वर करे, आपकी कल्पना साकार हो। किन्तु 'गुरुदेव' का पक्षपात समझ में नहीं आया।"

"महारानी जी ! गुरुदेव से बड़ा मगध साम्राज्य का शुभचिंतक दूसरा नहीं है। उन जैसा निष्पक्ष व्यक्तित्व दुर्लभ है। वह वही करेंगे, जो होना चाहिए। वह त्रिकालदर्शी हैं। अन्याय को प्रश्रय उनके द्वारा सम्भव नहीं।"

समय सर्वाधिक बलवान होता है। कब क्या न्याय है और क्या अन्याय समय की कसौटी पर कसने पर ही पता चलता है।"

"किन्तु तुम्हारी आशंका निर्मूल है—ऐसा मेरा विश्वास है।"

"आपका विश्वास ही मेरा सम्बल है। उसी के सहारे शेष जीवन कट जाय—यही मेरी ईश्वर से प्रार्थना है। अब उठिए, राज्यसभा आपकी उपस्थिति की अनुमति के लिए व्यग्र होगी।"

"हाँ, महारानी चलो। अब तुम भी साथ बैठा करो।"

"महामात्य के जी-न-काल में तो यह सम्भव है नहीं।"

"वास्तव में, मगध साम्राज्य ने वही रूप धारण कर लिया है जो आचार्य ने चाहा।"

उन्हीं की चाह का ही तो परिणाम है यह मगध साम्राज्य। विलम्ब तक से असूचित नहीं रहते वह।"

"यही भय ही तो मानवीय आचरण का मूल है।" महाराज बिम्बसार कथन के साथ ही उठ खड़े हुए।



मन्त्रणाकक्ष में सभी आमंत्रित अमात्य एकत्र हो चुके थे। जो आता वह किसी-न-किसी अमात्य को पूछता। अमात्य चल्लाटक ने दुश्चिंतता प्रकट की, "महाराज जी अभी तक नहीं पधारे। विलम्ब उनकी प्रकृति के प्रतिकूल है। कब तक प्रतीक्षा करनी होगी ?"

"आप भी तो विलम्ब से पधारे हैं।" अमात्य राजदेव ने टोका।

"हाँ, मेरे विलम्ब का कारण बड़ा महत्वपूर्ण है।"

"क्या है ?" एक साथ अनेक औत्सुक्यपूर्ण कण्ठस्वर फूटे।

"गुरुदेव ने स्मरण किया था "

"किसलिये ?" बीच में ही राजदेव ने प्रश्न कर दिया।

"यों ही कुछ आवश्यक आदेश देने थे।"

"क्या गोपनीय बनाये रखने का भी आदेश दिया है ?"

"ऐसा आदेश तो नहीं दिया है किन्तु उनकी गोपनीयता ही हितकर है।"

"क्यों न हो। उत्तराधिकारी बनने की सम्भावना जो है।"

"आप लोगों की धारणा कालांतर में भ्रम प्रमाणित होगी। इससे सम्बन्धित अभी से कहना कुछ ठीक न होगा।"

"महामात्य बनने का यह प्रथम लक्षण है।"

"देखिए आपलोग मुझे किसी भी रहस्योद्घाटन के लिए बाध्य न करें। समय स्वयं सत्योद्घाटन कर देगा।"

इसी बीच महाराज जी पधारे और सुने हुए अन्तिम वाक्य के आधार पर उत्सुकता व्यक्त की "समय को किस रहस्योद्घाटन के लिए बाध्य किया जा रहा है ?"

सब एक साथ उठ खड़े हुए थे। 'महाराज जी की जय हो' से सभाभवन गूँज उठा था। महाराज जी ने मुस्कराते हुए आसन ग्रहण किया। महामात्य का स्थान रिक्त देख महाराज जी ने जानना चाहा, "आचार्य जी का कोई संदेश आया है ?"

खल्लाटक बोले, "गुरुदेव ने महाराज जी की सेवा में निवेदन किया है कि वह किसी विशेष कारणवश सभा में उपस्थित न हो सकेंगे ?"

सम्राट ने दुश्चिंतता व्यक्त की, "ऐसी क्या बात हो गई ? आचार्य स्वस्थ्य तो हैं ?"

"मुझे तो अस्वस्थता का कोई लक्षण दिखाई नहीं दिया।"

"और कोई संदेश भेजा है ?"

"केवल इतना कि वह उपस्थित न हो सकेंगे।"

"अवश्य कोई असाधारण घटना घट गई है। आपको तनिक भी संकेत नहीं प्राप्त हो सका ?"

"बिल्कुल नहीं, महाराज जी।"

"फिर तो आप लोग ही निर्णय करें कि क्या हम लोग महामात्य की अनुपस्थिति में किन्हीं विषयों पर विचार करें ?"

"जैसा महाराज जी उचित समझें ।"

"मेरे विचार से तो महामात्य की अनुपस्थिति में कुछ भी विचार करना श्रेयष्कर न होगा । क्यों न आज की इस सभा को स्थगित कर दिया जाय और आचार्य के परामर्श से पुन. सभा आमन्त्रित की जाय ।"

"यही उचित है ।" अनेक स्वर एक साथ गूँजे ।

"फिर आज की यह सभा स्थगित की जाती है ।" सम्राट के साथ ही सब उठ खड़े हुए और महाराज जी के प्रस्थान करने के पश्चात एक-एक करके प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए सभाभवन से बाहर निकलने लगे ।



दिनभर के पश्चात् सम्राट विश्राम कक्ष में पधारे थे । अतिरिक्त वेश उतार-कर वह पर्यंक पर गावतकिये के सहारे अर्धशायित हो गये । दीवालों पर बड़े-बड़े तैलचित्र टगे थे । एक-एक पर उनकी दृष्टि घूम रही थी । परिचारिकायें सुकोमल स्पर्शों से महाराज जी की क्लान्तिहरण की चेष्टा कर रही थीं । वातावरण शान्त था । मात्र सामान्य वायु प्रवाहित हो रही थी । प्रभंजन की भाँति तेजी से राजमहिषी ने कक्ष मे प्रवेश किया और रुककर हाँफते हुए बोलीं; "आप से मैं कितनीबार निवेदन कर चुकी हूँ कि मुझे को नवनिर्मित प्रासाद मे भेज दीजिए ।"

"क्या हो गया ?" महाराज की मन.स्थिति सामान्य थी ।

सांस सामान्य भी न होने पाई थी कि वह आगे बोलीं, "क्या बताऊँ कि क्या हो गया । कोई एक बात हो तो बताऊँ । हर घड़ी मुझसे यह अत्याचार नहीं देखा जाता ।"

"परन्तु, हो क्या गया ? कुछ बताओगी भी ?"

"आप कभी कोई निर्णय करें तो बताऊँगी ।"

"यदि निर्णय की आवश्यकता होगी तो अवश्य किया जाएगा ।"

"यही कह कर आप सदा टाल देते हैं ।"

"फिर इसका अभिप्राय है कि सदा की भाँति दोनों राजकुमारो मे परस्पर वाद-विवाद पुनः हो गया ।" महाराज जी ने घटना की गम्भीरता को महत्व न दिया ।

महारानी के दृष्टि में वह घटना महत्वपूर्ण थी। उन्होंने उसकी गुरुता पर बल दिया, "वाद-विवाद मौखिक हो नहीं हुआ, अस्त्र-शस्त्रों तक के आदान-प्रदान की स्थिति आ पहुँची थी।"

"यह क्या कह रही हो ?"

"वही जो आँखों से देखा है। आपकी उपेक्षा न जाने किसी दिन क्या रंग दिखाये।"

"पर यह स्थिति आई ही क्यों ?"

"इस स्थिति का कारण है शुभे। उसी के प्रोत्साहन का परिणाम है यह।"

"क्या किया शुभे ने ?"

"यह पूछिये कि क्या नहीं किया उसने। अपने लाडले अशोक को इतनी छूट दे रखी है कि वह उच्छृंखल बन गया है। बड़ों के प्रति सम्मान की भावना उसके मन में रह ही नहीं गई है। महाउद्दण्ड हो गया है यह।"

"शुभे से कहो कि मैं स्मरण कर रहा हूँ।" महाराज जी का आदेश पाकर एक परिचारिका कक्ष के बाहर हो गई।

महारानी जो अभी तक खड़ी थीं, पर्यंक के निकट पड़ी असदिका पर बैठ गईं। सांस सामान्य हो चली थी। धीरे से वह बोली, "शान्ति से समझा दीजिएगा। तनिक अंकुश की आवश्यकता है। शनैः शनैः राजपरिवार की मर्यादायें सीख जाएगा।"

"आने दो।" महाराज अधिक न बोले।

महाराज जी के क्रोध के अनुमान से त्रस्त हो महारानी बोलीं, "बालक तो उद्दण्ड होते ही हैं। उन्हें मर्यादाओं का क्या ज्ञान। यह काम तो शुभे का है कि वह उन्हें समझाए; उनका ध्यान रखे। वाद-विवाद की स्थिति आने के पूर्व ही दोनों को अलग कर दे।"

"कम-से-कम शुभे को आ तो जाने दो।" महाराज ने चाहा कि महारानी शान्त रहें।

शुभद्रांगी को कक्ष में प्रवेश करते देख महाराज ने टोका, "अशोक की उद्दण्डता दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है ?"

प्रणाम के पश्चात सीधे खड़े हो शुभद्रांगी ने प्रश्न किया, "प्रमाण ?" महाराज जी के कक्ष में पहले से ही महारानी को उपस्थित देख शुभद्रांगी ने अवसर की गरिमा को पहचान लिया था। वह पूर्णतया सन्नद्ध थी। किसी भी स्थिति का सामना करने के लिए।

"सुसीम और अशोक का तात्कालिक संघर्ष।" महाराज की दृष्टि

प्रश्नचिह्न बनकर शुभद्रांगी के मुखमण्डल पर आ टिकी थी।

शुभद्रांगी की आन्तरिक दृढ़ता प्रकट हुई, "संघर्ष का कारण अशोक की उद्दण्डता नहीं, युवराज का अशोक के आत्मसम्मान को आहत करना है।"

महारानी तपाक से बीच में बोल पड़ीं, "साधारण-सी बात में अशोक का आत्म-सम्मान आहत हो गया और जो वह सदा सुसीम का अनादर किया करता है, सो ?"

"अशोक सुसीम को अग्रज का सम्मान देता है, पूज्य मानता है। सुसीम की प्रतिष्ठा के विरुद्ध वह कभी कुछ नहीं कहता।"

"अशोक की माँ हो न। माँ तो अपने पुत्र का पक्ष लेगी ही।"

"मिथ्यारोपण अनुचित है। मेरी दृष्टि में दोनों समान हैं।"

"समानता की यह दृष्टि उस समय कहाँ चली जाती है, जब अशोक बड़े भाई से बराबर वाद-विवाद करता है और तुम मन-ही-मन प्रसन्न होती हो।"

"आत्मसम्मान के विरुद्ध कही गई बात का प्रतिवाद करना मेरी दृष्टि में अनुचित नहीं है।"

महारानी को अपने पद का गर्व था तो शुभद्रांगी को अपनी न्याय बुद्धि पर अभिमान था। प्रायः महारानी शुभद्रांगी के विरुद्ध महाराज से शिकायत करतीं। शुभद्रांगी के तर्क जब महाराज जी सुनते तो शिकायत निर्मूल प्रतीत होती, फिर भी वह महारानी का अपमान न होने देते। वह नहीं चाहते थे कि दोनों रानियों के मध्य मन-मुटाव हो और उसका असर राजकुमारों पर पड़े। गृह-कलह को वह किसी भी स्थिति में टालते चले आ रहे थे। ज्यों-ज्यों वह टाल रहे थे, त्यों-त्यों स्थिति गुरुतर होती जा रही थी। अन्ततोगत्वा उन्होंने भी निष्कर्ष पर पहुँचने की चेष्टा की, "आज किसने किसको क्या कह दिया ?"

महारानी बोलीं, "प्रारम्भ में तो वहाँ थी नहीं। परिचारिका द्वारा सूचित किये जाने पर यदि मैं अविलम्ब पहुँच न जाती तो अनर्थ हो जाता।"

"शुभे ! तुम बताओ।" सम्राट ने पूछा।

जिन शब्दों का प्रयोग सुसीम ने अशोक के लिए किया था, उनका उच्चारण तक मेरे लिये सम्भव नहीं है। अच्छा होगा, आप दोनों को यहीं उपस्थित होने का आदेश दें।"

सम्राट की करतल ध्वनि सुनकर परिचारिका अन्दर आई और आदेश ग्रहण कर तत्क्षण बाहर हो गई।

महारानी के लिए यह स्थिति अप्रत्याशित थी। दोनों राजकुमारों को

महाराज जी के समक्ष उपस्थित होना पड़ेगा, यह अकल्पनीय था । अज्ञातभय से आक्रांत हो वह बोलीं, "इस समय दोनों क्रोधोन्मत्त हैं। एक-दूसरे के सामने न पड़ें तो हितकर होगा ।"

महाराज जी का स्वर यत्किंचित कठोर हो उठा था, "तुम निश्चित रहो मेरी उपस्थिति में ऐसा कुछ भी न होने पायेगा जो राजकुमारों के लिए अनिष्टकारी हो ।"

इसी क्षण सुसीम ने प्रवेश किया । नेत्र रक्तवर्ण थे । क्रोधजनित लालिमा मुखमण्डल पर आभासित हो रही थी । कृपाण कटि से आबद्ध थी । युवराज ने नतमस्तक हो अभिवादन किया । सम्राट ने आशीर्वाद के लिए हाथ उठाया ही था कि अशोक ने प्रवेश किया । शिष्टाचार का पालन करते हुए अशोक को भलीभाँति सम्राट ने लक्ष्य किया । अशोक का मुखमण्डल शान्त था । क्रोध का कहीं कोई आभास तक न था । वह एक ओर अविचल खड़ा हो गया । सम्राट ने पुनः दोनों को ध्यान से देखा और शासकीय स्वर में पूछा, "आज तुम दोनों पुनः लड़े ?"

किसी भी राजकुमार ने उत्तर न दिया । दोनों नतमस्तक खड़े रहे ।

सम्राट ने पुकारा, "अशोक !"

"जी, महाराज जी ।"

"सुसीम तुम्हारा बड़ा भाई है ?"

"जी, महाराज जी ।"

"तुम्हें बड़े भाई का सम्मान करना चाहिए ।"

"जी, महाराज जी ।"

"और लड़ना भी चाहिए ?"

"जी नहीं महाराज जी ।"

"फिर क्यों लड़े ?" सहसा सम्राट का स्वर कठोरतर हो उठा था ।

"भइया मुझे अपना छोटा भाई नहीं समझते ।" अशोक के स्वर में दृढ़ता थी ।

"फिर क्या समझते हैं ?"

"नाइन-पुत्र ।" अशोक का उत्तर अति संक्षिप्त था ।

सम्राट की क्रोधपूर्ण दृष्टि सुसीम की ओर घूमी, "क्यों सुसीम ? अशोक ठीक कह रहा है ?"

सुसीम ने एक-दक कर स्वीकार किया, "जी ··जी··· मैंने तो ऐसे ही खेल-खेल में कह दिया था ।"

सम्राट गरज उठे, "क्यों कहा तूने ? अभी उस दिन रोका था मैंने ?"

"जी।" सुसीम यथेष्ट भयाक्रान्त हो उठा था।

"पर तूने अवज्ञा की। अवज्ञा का दण्ड जानता है?"

सुसीम का कण्ठस्वर न फूट रहा था।

सम्राट ने सोच-विचार कर आदेश दिया, "कल से तुम पिंगलावत्सजीव के यहाँ पढ़ने जाओगे। और ध्यान रहे फिर कभी 'अशोक' के लिए यह सम्बोधन सुनने को न मिले। जा सकते हो।"

सुसीम को जैसे प्राण मिले। वह तत्क्षण कक्ष के बाहर हो गया। महारानी भी बैठी न रह सकीं।

सम्राट ने अशोक को निकट बुलाया और ममतापूर्ण हाथ सिर पर फेरते हुए पूछा, "आज गुरुदेव ने क्या पढ़ाया था?"

"गुरुदेव मुझे कहाँ पढ़ाते हैं। राधागुप्त को ही पढ़ाने का आदेश देते रहते हैं। वह तो केवल प्रतिदिन एक या दो बातें ही बताते हैं।"

"आज क्या-क्या बातें बताई?"

"दो बातें। एक तो उन्होंने बताया कि शत्रु को कभी अशक्त न समझो। इस बात को उन्होंने अनेक उदाहरण देकर भली-भाँति मुझे समझाया। उदाहरण भी बताऊँ?"

"नहीं, दूसरी बात क्या बताई?"

"जिस तरह हो सके शत्रु पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करो। साध्य की प्राप्ति में साधन की चिंता मत करो। गुरुदेव को बहुत सी कहानियाँ याद हैं। जो बात बताते हैं वह उनकी हर कहानी से सिद्ध होती है। "कल भी वह कहानियाँ सुनाएँगे।"

"खूब मन लगाकर सुना करो कहानियाँ। अब जाओ। देखो, तुम्हारी माँ तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हैं।" सम्राट ने मुस्कराकर सुभद्रांगी की ओर देखा।

अशोक माँ से जाकर लिपट गया। सुभद्रांगी ने पुत्र को अंक में भर लिया। पुत्र-वात्सल्य से उनके नेत्र भर आये। उन्हें पोंछते हुए सुभद्रांगी ने प्रार्थना की, "न हो तो नवनिर्मित प्रासाद में मेरे निवास की व्यवस्था करवा दीजिए।"

"ऐसा क्यों सोचती हो?"

"नाथ! इधर मैं अनुभव कर रही हूँ कि राजकुमारों के पारस्परिक संघर्ष ने आपको चिंतित बना दिया है। आपको चिंताग्रस्त देखना मैं सह नहीं सकती। संघर्ष को समाप्त करने का यह सर्वोत्तम उपाय है।"

"पर, यह अत्याचार मैं तुम्हारे साथ कैसे कर सकता हूँ।"

गृह में भेज दिया गया था, तथापि सूचनाएँ तो मिलती ही रहती थीं। सुसीम की अपेक्षा उनकी दृष्टि अशोक की गतिविधियों पर केन्द्रित थी। अशोक किस समय किससे मिलता है, क्या करता है और कहाँ आता-जाता है—आदि की राईरत्ती खबर पट्टमहिषी रखती थी। ज्यों ज्यों समय बीत रहा था, अशोक के शौर्य-पराक्रम की गाथाएँ पट्टमहिषी की नींद का अपहरण करती जा रही थीं। धीरे-धीरे उन्होंने शैया ग्रहण करली। केवल सम्राट की उपस्थित में वह स्वस्थ दिखने की असफल चेष्टा करती, शेष समय वह शैय्याधीन ही रहतीं। एक-दो बार सम्राट ने पट्टमहिषी को समझाने की भी चेष्टा की कि शुभे को बुलवाकर वह मस्तक सहलवा लिया करें, किन्तु पट्टमहिषी भला कब स्वीकार करने वाली थीं। अनिद्रारोग ने उन्हें पुनः अपने अधिकार में कर लिया था।

एक दिन सहसा सहस्त्रों की संख्या में तक्षशिलावासी सम्राट की सेवा में उपस्थित हुए और कीर्तिदेव की उच्छृंखलता और अनैतिकता के जो सजीव किन्तु बीभत्स चित्र खींचे, सम्राट तत्क्षण तक्षशिला की यात्रा के लिए तैयार हो गये। प्रस्थान के समय पट्टमहिषी ने भी यात्रा की इच्छा प्रकट की किन्तु सम्राट उन्हें रुग्ण समझकर साथ न ले गये।

सम्राट तक्षशिला पहुँचे। वहाँ की जनता ने सम्राट का भव्य स्वागत किया। सम्राट ने राज्याधिकारियों को बुला-बुलाकर वस्तुस्थिति का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया। तत्क्षण उन्होने नवीन आदेश व्यक्त किये। कीर्तिदेव को अधिकारहीन बना दिया। दो-तीन दिनों में ही शासन सुव्यवस्थित दिखाई देने लगा। कुशासन से संत्रस्त जनता ने संतोष की सांस ली और विभिन्न आयोजनों और प्रदर्शनों द्वारा सम्राट के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की। सम्राट भी जनता की प्रसन्नता से संतुष्ट थे। स्थान-परिवर्तन से उत्पन्न नवीन वातावरण उन्हे अतिरिक्त आनन्द और उल्लास प्रदान कर ही रहा था कि सहसा मगध से पट्टमहिषी के विशेष रुग्ण होने का समाचार प्राप्त हुआ। अविलम्ब उन्होने प्रस्थान कर दिया। तक्षशिलावासी मार्ग से तब लौटे जब सम्राट ने कुछ ही समय के अन्दर पुनः यात्रा का वचन दिया।

पट्टमहिषी की स्थिति विशेष चिन्ताजनक बन चुकी थी। सम्राट सीधे पट्टमहिषी के कक्ष में पहुँचे। पट्टमहिषी की स्थिति देखकर उनका मन दुश्चिन्ता-ग्रस्त हो गया। तक्षशिला और मार्ग में पट्टमहिषी की रुग्णावस्था की जिस स्थिति की कल्पना उन्होंने की थी, उससे भी अधिक अस्वस्थ वह दिखाई दीं। सम्राट का आगमन देख उन्होने उठने की चेष्टा की, किन्तु उठ न सकीं और सम्राट ने भी अनभिज्ञता प्रदर्शित की, "यह क्या दशा बना

रखी है । तक्षशिलावासी तुम्हें स्मरण कर रहे थे । कैसे-कैसे अद्‌भुत कलाकार हैं वहाँ के लोग । एक ऐसा पेय बनाया है जिसके पीने से काफी समय तक प्यास नहीं अनुभव होती । मैं साथ लाया हूँ । लो, पीकर देखो । परिचारिका के हाथ से पेयपात्र ले सम्राट ने पट्टमहिषी के मुँह से लगाने की चेष्टा की। गरदन पूरी न उठ न सकी । सम्राट ने सहारा दिया किन्तु अधर न खुले । एक भी घूंट गले के नीचे न उतरा । बड़े ही क्षीण स्वर में वह बोली, "एकांत में कुछ प्रार्थना करनी है ।"

सम्राट के संकेत पर उपस्थित परिचारिकाएँ हट गयीं । एकांत मे पट्ट-महिषी ने धीरे-धीरे कहना प्रारम्भ किया, "एक वचन दो, नाथ ।"

"प्रिये वचन की क्या आवश्यकता । जो चाहोगी, वही होगा ।"

"नहीं नाथ । यह समय कुछ और है । वचन दीजिए । विलम्ब मत कीजिए ।"

समय की गरिमा को लक्ष्य कर सम्राट तत्क्षण बोले, "वचन देता हूँ कि············।"

सम्राट के वाक्य के पूर्ण होने के पूर्व ही पट्टमहिषी ने अस्फुट स्वर में बोलना प्रारम्भ किया, "सुसीम युवराज है । अशोक उसका सशक्त प्रतिद्वन्दी है । महामात्य भी सम्भवतः अशोक को ही मगध के राजसिंहासन पर आसीन देखना चाहते हैं । आप मगधस्वामी हैं । अपनी शक्ति समझिए और सुसीम को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दीजिए । मेरी आपसे···;··· "विनती है कि आप अ···प···ने···हा···थों···से सु···सीम···का राज्या··· भिषे ए ए ए ए ।"

पट्टमहिषी की अंतिम सांस भी देर तक साथ न दे सकी । उनका निर्जीव शरीर सम्राट बिम्बसार की भुजाओं में लुढ़क गया था ।

पट्टमहिषी विलक्षण प्रतिभा और असामान्य गुणसम्पन्न नारी थी। भविष्य-दृष्टा तो वह ऐसी थी कि सम्राट तक प्रायः उनके साथ विचार-विमर्श किया करते थे। कई बार महामात्य चाणक्य तक उनकी प्रशंसा कर चुके थे। और सहिष्णु वह इतनी थी कि अनेक रानियों के होते हुए भी उनका कोई भी आचरण कभी ईर्ष्याभाव से प्रेरित नहीं हुआ था। सभी रानियाँ उन्हें अपनी बड़ी बहन मानती थी और अधिकांश तो उनका माँ के समान स्नेह सम्मान करती थीं। सम्राट की प्रसन्नता का सर्वाधिक ध्यान रखना उनके जीवन का चरम लक्ष्य था। जिस परिचारिका ने अपनी सेवा से सम्राट को प्रसन्न कर लिया, उसे ही रानी का अधिकार दिलाया पट्टमहिषी ने। ऐसी सर्वप्रिय नारी का सहसा उठ जाना राजपरिवार के लिए विशेष क्षति थी। राजपरिवार ही नहीं मगध साम्राज्य की सम्पूर्ण प्रजा सम्राट के साथ शोकसागर में निमग्न हो गई थी। सम्राट बिम्बसार की स्थिति तो और भी करुण थी। उन्होंने सार्वजनिक रूप से मिलना, बाहर निकलना तथा जनता के दुःख-सुख में भाग लेना बन्द कर दिया था। अपने कक्ष की सीमा में ही उन्होंने अपने को सीमित कर लिया था। नृत्य-संगीत आदि से उन्हें अरुचि-सी हो गई थी। एक दिन महामात्य तक पधारे सम्राट को धैर्य बँधाने के लिए सम्राट ने उनकी बातें सुनकर एक ही उत्तर दिया था—"आचार्य जी! महारानी का उठ जाना मेरे जीवन की सर्वाधिक अपूर्णनीय क्षति है। दीर्घकालीन साहचर्य में जो सेवा मेरी की, जो सुख मुझे दिया, जितना ध्यान मेरा रखा, वह दुर्लभ हो गया है। असंख्य सुखात्मक स्मृतियाँ ऐसी हैं जो समय की शक्ति को भी चुनौती देने में सक्षम हैं। विवेक संसार की असारता की ओर बार-बार ध्यान आकर्षित करता है और सत्यता की सत्ता को अस्वीकार कर पाना भी वश की बात नहीं है, किन्तु मन स्मृति की सत्ता को स्वीकार नहीं कर पा रहा है। रह-रह कर सान्निध्य-सुख की स्मृतियाँ साकार हो उठती हैं। जब तक उनमें भ्रमित रहता हूँ तब तक तो समय आसानी से बीत जाता है, अन्यथा समय जैसे काटने को दौड़ता है। ऐसा लगता है कि समय के जिस निर्मम आघात ने मेरी हृदयेश्वरी को मुझसे छीन लिया है, वैसा ही कोई अज्ञात आघात मेरे पीछे भी हा॰ धोकर पड़ा हुआ है।"

शुभचिंतो भी सम्राट की मन.स्थिति को सामान्य बनाने में सफल न हो

पा रही थीं। कभी समझातीं, कभी नृत्य-संगीत आदि द्वारा सरस वातावरण उपस्थित करने की चेष्टा करतीं और कभी-कभी अपने हस्तकौशल द्वारा उन्हें सुला देतीं। सम्राट यदि कभी यत्किंचित भी सामान्य मनःस्थिति मे होते तो कभी अशोक को बुलाते और कभी सुसीम को। घंटों उनके साथ वार्तालाप करते रहते। दो-चार बार तो उन्होंने दोनों राजकुमारों को एक साथ बुलाया था और विषम परिस्थितियों के सम्बन्ध मे प्रतिक्रियायें जानने की चेष्टाएं की थीं।

समय अपनी गति से दौड़ रहा था। किसी को साथ लेता, किसी से पिछड़ जाता और अधिकांश को पछाड़ता अबाध गति से अग्रसर हो रहा था। शुभद्रांगी ने आवास परिवर्तित कर लिया था। परिचारिका की स्थिति में सम्राट के प्रति पट्टमहिषी का जैसा आचरण देखा था, ठीक वैसा ही भाव प्रदर्शित करने की चेष्टा वह कर रही थीं। एक रात उन्होंने कुछ ऐसा वेश धारण किया कि सम्राट ने देखा तो देखते ही रह गये। साक्षात पट्टमहिषी समक्ष उपस्थित दिखाई दीं। सम्राट सहसा उठ खड़े हुए और रानी को बाहों में भर लिया। आलिंगन की स्थिति में भी शुभद्रांगी ने पट्टमहिषी-सा आचरण किया। सम्राट की सहजता सक्रिय हो उठी। वियोग विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गया। शुभद्रांगी ने सम्राट को उस मनःस्थिति में ही सुला दिया। सम्राट प्रातःकाल काफी देर तक सोते रहे। जब उनकी नींद टूटी तो सामने शुभे को पुनः पट्टमहिषी के वेश में देख सम्राट मुस्कराये बिना न रह सके और बोले, "शुभे! तुम अपने प्रयास में सफल हुई। जो यथार्थ है, उसे स्वीकार करना ही होगा। वर्तमान की विगत की वेदी पर, बलि चढ़ाना श्रेयस्कर नहीं। आओ, पास आओ, शुभे। तुम्हीं अब पट्टमहिषी हो। तुम्हारी सेवा अनुपम है। तुम्हारा समर्पण अप्रतिम है। तुम्हारी कल्याणकामना स्पृह-णीय है।"

शुभद्रांगी सम्राट के अंक में सिमट गईं। नेत्र बन्द हो गये। सफलता कितनी आह्लादिनी होती है, इसकी अनुभूति उन्हें उन क्षणों में हुई। समर्पण के चरम बिन्दु पर पहुँच वह बोलीं, "आज जीवन सार्थक हो गया। सेवा फलवती हुई। प्रयास के पराक्रम की अनुभूति हुई। धैर्य की महिमा ज्ञात हुई। जीवन का चरम संकल्प पूर्ण हुआ।"

"प्रिये! तुम्हारे इन हाथों में वह शक्ति है जो किसी भी असम्भव को सम्भव प्रमाणित कर सकती है। ये ही जीवन आनन्द प्रदाता हैं। ये ही जीवनरक्षक हैं।" शुभे के दोनों हाथ सम्राट के हाथों में थे।

इन्हीं हाथों के सहारे शुभे ने सम्राट को खड़ा किया, चलाया और कर्म-क्षेत्र में पदार्पण करने के लिये विवश किया।

सम्राट पूर्ववत् शासकीय गतिविधियों को देखने लगे। मन्त्रणायें की जाने लगीं। समस्याओं के निदान खोजे जाने लगे। सब कार्यव्यापार सामान्य गति से चलने लगे।

राजपरिवार का वातावरण भी सामान्य रूप धारण करने लगा। पट्टमहिषी की स्मृतियाँ शनैः शनैः विस्मृति के गर्भ में विलीन होने लगीं। शुभद्रांगी की व्यावहारिक कुशलता ने पट्टमहिषी की अभावपूर्ति में काफी योगदान किया। सम्राट तो जैसे अधिक तेजी से भूल रहे थे। शुभद्रांगी की सफलताजन्य प्रसन्नता का पारावार न था। वह जब भी सम्राट के सम्मुख होतीं, प्रसन्न वदन दिखाई देतीं। जरा-जरा-सी बात पर खिलखिला पड़ती। सम्राट सूक्ष्मदर्शी थे। मानवमनोविज्ञान के कुशल पारखी थे। एक दिन उन्होंने जब शुभद्रांगी को विशेष प्रसन्न देखा तो मन की बात प्रकट कर बैठे, "शुभे।"

"आज्ञा नाथ।"

"आज कुछ विशेष प्रसन्न हो?"

"महाराज जी की कृपादृष्टि का परिणाम है।"

"और यदि इसी प्रकार किसी को तुम्हारी कृपादृष्टि की अपेक्षा हो?"

"पात्रता उसकी कसौटी होगी।"

"यदि मैं ही कुछ चाहूँ?"

"मुझसे! अपनी दासी से!!"

"क्यों, क्या नहीं दिया तुमने?"

"फिर बचा ही क्या है?"

"वही जो मैं चाहता हूँ।"

"आज्ञा करें नाथ। सर्वस्व समर्पित है। शीघ्र आदेश दें। सौभाग्य से वंचित न करें।" शुभद्रांगी व्यग्र हो उठी थीं।

"नहीं शुभे! कभी-कभी एक चिंता चित्तमलीन कर जाती है।"

"आज्ञा करें, नाथ! प्राणों के मूल्य पर भी स्वामी को चितामुक्त देखना मेरा सौभाग्य होगा।"

"शुभे! सुसीम मातृहीन बालक है। मात्र उसकी रक्षा का भार वहन कर लो।"

"आज्ञा शिरोधार्य है। सुसीम अशोक से भी अधिक मेरे लिए प्रिय है। आप निश्चित रहें। मेरी शक्ति भर सुसीम का कोई भी अहित न होने पायेगा।"

"अब मैं चितामुक्त हो गया। शुभे! तुमने मेरी शेष चिंता भी हरण करली।"

"अहो भाग्य ! प्राणेश्वर के किसी काम तो आ सकी ।"

"शुभे ! धन्य है तुम्हारा जीवन । पट्टमहिषी का औदार्य है तुममें । राजपरिवार का हर प्राणी प्रसन्न है । तुम्हारे अन्दर पद की प्रतिष्ठा के अनुरूप आचरण करने की क्षमता है ।"

"कर्तव्य पालन की प्राणप्रण से चेष्टा करूँगी ।"

"कर्तव्याभिमुख सचेष्ट प्राणी सदैव सफलता का वरण करता है ।"

"बस, प्राणेश्वर का आशीर्वाद चाहिए ।" शुभद्रांगी महाराज जी के चरणों में नम्रता की सजीव प्रतिमा बन विनत हो गई थीं ।



अशोक आचार्य चाणक्य के आदेशानुसार ही शिक्षा-दीक्षा ग्रहण कर रहा था । अस्त्र-शस्त्र संचालन का अभ्यास भी राधागुप्त ही करा रहा था । पर्याप्त अभ्यास होने पर महाराज की आज्ञा प्राप्त कर दोनों राजकुमार राधागुप्त के संरक्षण में वन की ओर चल पड़े । वन के मध्य भाग में पहुँचे ही थे कि राधागुप्त ने सावधान किया, "कुमार सावधान ! वनराज !"

"कहाँ ?" अशोक की असि प्रहार के लिये उठ चुकी थी ।

"सावधान ! यह आखेट मेरा लक्ष्य है । अनधिकार चेष्टा मत करो ।" यह सुसीम का स्वर था ।

"भइया सुसीम !" अशोक को आश्चर्य हुआ ।

"युवराज कहो, कुमार ! राज-सम्बन्ध रक्त-सम्बन्ध नहीं मानता ।"

"शक्ति सम्बन्ध तो मानता है ।" राधागुप्त ने हस्तक्षेप किया, "जिसके प्रहार से वनराज धराशायी हो, उसी का यह आखेट माना जायेगा ।"

"राधागुप्त ! अपनी मर्यादा में रहो । साधारण कर्मचारी को युवराज और कुमार के बीच बोलने का कोई अधिकार नहीं ।"

"शान्त हो भइया ! औचित्य पर प्रकाश डालना किसी की मर्यादा का उल्लंघन नहीं है ।"

"कुमार ! मुझे तुम्हारी शिक्षा की आवश्यकता नहीं ।"

"परन्तु, आपको भी किसी का अकारण अपमान नहीं करना चाहिए ।"

सुसीम गरजा, "अशोक ! कर्ण्य-अकर्ण्य का विवेक मुझमें है । एक

साधारण सेवक का पक्ष लेकर मुझसे विवाद करना तुम्हें शोभा नहीं देता।"

"पक्षपात नहीं, भइया ! एक प्राणी के स्वाभिमान की रक्षा का प्रश्न है। राधागुप्त··· ·· ·····।"

"अशोक ! तुम्हारा औद्धत्य सीमातीत होता जा रहा है।"

"यदि स्वाभिमान की रक्षा का प्रश्न उठाना औद्धत्य है तो अधिकार-अपहरण क्या है ?"

"महौद्धत्य।"

"फिर आपका यह आचरण महौद्धत्य की कोटि में आता है।"

"अशोक ! वाक् संयम सीखो।" नाटकीय ढंग से सुसीम आगे बोला, "क्या उस झोपड़ी निवासी गुरु के पास इतना भी ज्ञान नहीं था कि तुम्हें······ ··।"

अशोक की गुरुभक्ति जाग्रत हो उठी, "वह मेरे ही गुरु नहीं, वरन् पिता और पितामह तक के मार्गदर्शक हैं। उनका अपमान असह्य है।"

"शिष्य में गुरु के प्रति श्रद्धा यथेष्ट मात्रा में विद्यमान प्रतीत होती है।"

सुसीम के व्यंग्य से अशोक तिलमिला उठा। मुखमण्डल क्रोध से रक्ताभ हो उठा। धमनियों में रक्त तीव्र गति से संचरित होने लगा। फिर भी, अशोक ने संयम का परिचय दिया, "बस भइया ! अब आप अपना मार्ग ग्रहण कीजिए।"

सुसीम ने उपहास-सा किया, "आश्चर्य है ! मगध साम्राज्य के युवराज को अब कुमार तक आदेश सुनाने लगे।"

अशोक के अन्तस की धधकती क्रोधाग्नि अग्रज के प्रति आदर भावना को झुलसती हुई प्रकट हुई, "आदेश से नहीं, अप्रत्याशित अनर्थ से रक्षा···।"

बीच में ही सुसीम भभक उठा, "अविनीत मुझे धमकी देता है ? गुरु ने कुछ शस्त्र-संचालन की शिक्षा दी हो तो आजा।" सुसीम की असि कोष्ठ से बाहर आ चुकी थी।

अशोक की उठी असि सुसीम पर गिरने ही वाली थी कि सहसा गुरुदेव का स्वर सुनाई दिया, "सावधान कुमार !"

महामात्य चाणक्य का आदेशात्मक स्वर सुन दोनों ही स्तब्ध रह गये। निकट पहुँचते ही अशोक और राधागुप्त अश्वों से नीचे उतर पड़े और प्रणाम की मुद्रा धारण करली। गुरुदेव ने आशीर्वाद देते हुए पूछा, "यहाँ क्या कर रहे हो तुम लोग ?"

राधागुप्त ने स्थिति स्पष्ट की, "कुमार आखेट के लिये आये थे। एक वनराज को कुमार ने लक्ष्य किया ही था कि राजकुमार सुसीम ने वनराज पर अपना स्वत्व प्रगट किया। इसी पर वाद-विवाद बढ़ गया और ·····।"

"आगे मुझे ज्ञात है ।" चाणक्य के स्वर ने राधागुप्त को शान्त कर दिया ।

कुमार अशोक नतमस्तक खड़ा था ।

सुसीम अब भी सशस्त्र अश्वारूढ़ था ।

चाणक्य ने क्रमश: दोनों कुमारों को दृष्टिगत किया और आदेश दिया, "सुसीम ! असि को कोष्ठ में स्थान दो ।"

"आदेश आप अपने शिष्य कुमार को दीजिए । मैं युवराज हूँ । मैं मगध सम्राट के अतिरिक्त किसी अन्य का आदेश सुनने का अभ्यस्त नहीं ।"

सुसीम का अवज्ञापूर्ण स्वर सुन आचार्य का मस्तिष्क झनझना उठा । क्रोधातिरेक से वह काप उठे । आग्नेय नेत्रों से उन्होंने सुसीम को लक्ष्य किया, "एक दिन यही अवज्ञा तुम्हारे पतन का कारण बनेगी, कुमार ।"

"मैं कुमार नहीं, युवराज हूँ, महामात्य । अपनी भविष्यवाणी से अपने शिष्य कुमार को ही संत्रस्त कीजिए, मुझे नहीं ।" मैं वाक् प्रहार में नहीं, शस्त्र-संघर्ष में विश्वास करता हूँ अपने शिष्य को आज्ञा दीजिए न । उठाए खड्ग । हो जाए परीक्षा ।"

"अभी इसका समय नहीं आया है, कुमार ।"

"समय की प्रतीक्षा पौरुष नहीं करता है ।"

"इसीलिए तो वह अकाल कालकवलित होता है ।" सुसीम के साथ वाद-विवाद करना व्यर्थ समझ चाणक्य ने अशोक को आदेश दिया, "कुमार । सूर्यास्त हो चुका है । नगर को जाओ ।"

अशोक राधागुप्त के साथ अश्वारूढ़ हुआ और नगरोन्मुख हो गतिमान हो गया ।

सुसीम का वक्षस्थल विजयगर्व से फूल उठा था ।

गुरुदेव के आदेशानुसार अशोक राजप्रासाद में लौट तो आया था, किन्तु न कुछ खाया-पिया, न किसी से कोई बात की। सीधे अपने कक्ष में गया और विचारों में खो गया। रात कब और कितनी बीत गई, अशोक को ज्ञात ही न हो सका। काफी धूप चढ़े जब आँख खुली तो अशोक ने माँ को निकट खड़े देखा। उसने उठने का उपक्रम किया तो शुभद्रांगी बोलीं, "लेटे रहो। लगता है, काफी रात गये तक जागते रहे हो? मुझे क्यों नहीं बताया?" अशोक जब कुछ न बोला तो सिर पर हाथ फेरते हुए उन्होंने समझाया, "इतनी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता। और फिर कम-से-कम मुझे तो आकर बताना ही था।"

"बस, माँ! यही सोचता रहा कि आपको सूचित करूँ या नहीं।"

"यह भी कोई सोचने की बात है! बता दिया होता तो रात में ठीक से सोता तो। खैर, बता, क्या हुआ?"

"भइया सुसीम ने आपको क्या बताया?"

"मुझे सुसीम से नहीं, महाराज जी से ज्ञात हुआ है।" फिर भी, मैं तुम्हारे मुँह से सुनना चाहती हूँ।"

अशोक ने सम्पूर्ण घटना आदि से अन्त तक सुना दी। महाराज जी से शुभद्रांगी को जो ज्ञात हुआ था, वह अशोक के कथन के सर्वथा विपरीत था। आशा के प्रतिकूल अशोक का आचरण सुन वह अन्दर से उद्वेलित हो उठी थीं और तत्क्षण वास्तविकता से अवगत होने के लिए अशोक को बुलाना चाहती थीं, किन्तु रात्रि अधिक हो जाने के कारण उन्होंने विवाद बढ़ाना उचित न समझा और अप्रभावित सी सम्राट की सेवा में उपस्थित रहीं।

नतमस्तक उपस्थित अशोक को आपादमस्तक निहार शुभद्रांगी ने समझाया, "सुसीम तुम्हारा अग्रज है। अग्रज पूज्य होता है। उसके ......।"

अशोक और आगे न सुन सका और बोल उठा, "किन्तु माँ! क्या आपकी दृष्टि में भी मैंने भइया की प्रतिष्ठा के विरुद्ध आचरण किया? मेरे सामने उन्होंने राधागुप्त और गुरुदेव का अपमान किया। गुरुदेव से वह बड़े नहीं हैं। गुरुदेव का अपमान मैं नहीं सह सकता।"

"गुरुदेव तो तुम्हारे पितामह की दृष्टि में भी पूज्य थे और महाराज जी तक, कभी भी, एक शब्द भी, उनके सम्मान के विरुद्ध नहीं बोलते।"

"और फिर, मां ! उन्होंने कुछ अनुचित कहा भी तो नहीं था, बल्कि समझाया ही था, फिर भी उन्होंने उनका अपमान करने का दुस्साहस किया। गुरुदेव न आ जाते तो ········।"

"अशोक ! आवेश विवेकहीनता का द्योतक होता है। यह कभी मत भूलो कि सुसीम युवराज है। युवराज राजसत्ता का उत्तराधिकारी होता है। भावी सम्राट का सभी सम्मान करते हैं। उसके अवगुण भी लोगों को गुण दिखाई देते हैं। और फिर, तुमने भी अनुभव किया ही है कि महाराज जी सुसीम को कितना अधिक स्नेह करते हैं। रात-दिन सुसीम की प्रशंसा करते वह थकते नहीं। सुसीम उनका भावीरूप है। उनकी आशाओं आकांक्षाओं का वह केन्द्र बिन्दु है। और इस सत्य से अब अवगत कराने की आवश्यकता नहीं रह गई कि सुसीम तुम्हें अपना प्रतिद्वन्द्वी समझता है।"

"हां मां ! इस सत्य की अनुभूति मुझे भी अनेक बार हो चुकी है। किन्तु उन्हें मेरे विषय में भ्रम है। मैं उनका प्रतिद्वन्द्वी कदापि नहीं। वह युवराज और मैं एक साधारण कुमार। मेरी उनकी क्या समता।"

"आशंका प्रायः अनर्थ की जननी होती है। तुम्हारे प्रति जो आशंका उसके मन-मस्तिष्क में समा गई है, उसी के वशीभूत हो वह अवांछित आचरण कर बैठता है और महाराज जी उसकी बातों पर अविश्वास कर नहीं पाते हैं।"

"गुरुदेव की सेवा से वापस आ पिताजी को वास्तविकता से अवगत कराऊंगा।"

"नहीं, आज उनके समक्ष कदापि न पड़ना। वह शतप्रतिशत दोषी तुम्हें ही समझते हैं। तुम्हारे प्रति उनकी धारणा स्वस्थ नहीं है। अवसर की उपेक्षा करना ही हितकर होगा।"

"नहीं मां, फिर तो और भी आवश्यक है कि मैं अपनी स्थिति स्पष्ट करूं।"

"नहीं, कदापि नहीं, मैं शनैः-शनैः उन्हें वास्तविकता से अवगत कराकर तुम्हारे प्रति उनकी धारणा को परिवर्तित करने की चेष्टा करूंगी।"

'बहुत समय लगेगा, मां। इसी बीच यदि फिर इसी प्रकार की कोई घटना घट गई तो उनकी धारणा को बल ही मिलेगा।"

"उसकी चिन्ता तुम मत करो। गुरुदेव की सेवा में उपस्थित होने का समय हो रहा है। सम्भव है, गुरुदेव ही कोई आदेश दें।"

"जो आज्ञा, मां।" अशोक ने मां के चरण स्पर्श किये।

सिर पर हाथ फेरते हुए शुभद्रांगी ने मंगल कामना व्यक्त की, "जीते रहो, बेटा। अचल कीर्ति अर्जित करो। बस, मेरी एक बात स्मरण रखना।"

गुरुदेव के आदेशानुसार अशोक राजप्रासाद में लौट तो आया था, किन्तु न कुछ खाया-पिया, न किसी से कोई बात की। सीधे अपने कक्ष में गया और विचारों में खो गया। रात कब और कितनी बीत गई, अशोक को ज्ञात ही न हो सका। काफी धूप चढ़े जब आंख खुली तो अशोक ने मां को निकट खड़े देखा। उसने उठने का उपक्रम किया तो शुभद्रांगी बोलीं, "लेटे रहो। लगता है, काफी रात गये तक जागते रहे हो? मुझे क्यों नहीं बताया?" अशोक जब कुछ न बोला तो सिर पर हाथ फेरते हुए उन्होंने समझाया, "इतनी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता। और फिर कम-से-कम मुझे तो आकर बताना ही था।"

"बस, मां! यही सोचता रहा कि आपको सूचित करूँ या नहीं।"

"यह भी कोई सोचने की बात है! बता दिया होता तो रात में ठीक से सोता तो। खैर, बता, क्या हुआ?"

"भइया सुसीम ने आपको क्या बताया?"

"मुझे सुसीम से नहीं, महाराज जी से ज्ञात हुआ है।" फिर भी, मैं तुम्हारे मुंह से सुनना चाहती हूँ।"

अशोक ने सम्पूर्ण घटना आदि से अन्त तक सुना दी। महाराज जी से शुभद्रांगी को जो ज्ञात हुआ था, वह अशोक के कथन के सर्वथा विपरीत था। आशा के प्रतिकूल अशोक का आचरण सुन वह अन्दर से उद्वेलित हो उठी थीं और तत्क्षण वास्तविकता से अवगत होने के लिए अशोक को बुलाना चाहती थीं, किन्तु रात्रि अधिक हो जाने के कारण उन्होंने विवाद बढ़ाना उचित न समझा और अप्रभावित सी सम्राट की सेवा में उपस्थित रहीं।

नतमस्तक उपस्थित अशोक को आपादमस्तक निहार शुभद्रांगी ने समझाया, "सुसीम तुम्हारा अग्रज है। अग्रज पूज्य होता है। उसके ·····।"

अशोक और आगे न सुन सका और बोल उठा, "किन्तु मां! क्या आपकी दृष्टि में भी मैंने भइया की प्रतिष्ठा के विरुद्ध आचरण किया? मेरे सामने उन्होंने राधागुप्त और गुरुदेव का अपमान किया। गुरुदेव से वह बड़े नहीं हैं। गुरुदेव का अपमान मैं नहीं सह सकता।"

"गुरुदेव तो तुम्हारे पितामह की दृष्टि में भी पूज्य थे और महाराज जी तक, कभी भी, एक शब्द भी, उनके सम्मान के विरुद्ध नहीं बोलते।"

"और फिर, मां ! उन्होंने कुछ अनुचित कहा भी तो नहीं था, बल्कि समझाया ही था, फिर भी उन्होंने उनका अपमान करने का दुस्साहस किया । गुरुदेव न आ जाते तो ....।"

"अशोक ! आवेश विवेकहीनता का द्योतक होता है । यह कभी मत भूलो कि सुसीम युवराज है। युवराज राजसत्ता का उत्तराधिकारी होता है । भावी सम्राट का सभी सम्मान करते हैं । उसके अवगुण भी लोगों को गुण दिखाई देते हैं । और फिर, तुमने भी अनुभव किया ही है कि महाराज जी सुसीम को कितना अधिक स्नेह करते हैं । रात-दिन सुसीम की प्रशंसा करते वह थकते नहीं । सुसीम उनका भावीरूप है । उनकी आशाओं आकांक्षाओं का वह केन्द्र बिन्दु है । और इस सत्य से अब अवगत कराने की आवश्यकता नहीं रह गई कि सुसीम तुम्हें अपना प्रतिद्वन्द्वी समझता है ।"

"हां मां ! इस सत्य की अनुभूति मुझे भी अनेक बार हो चुकी है । किन्तु उन्हें मेरे विषय में भ्रम है । मैं उनका प्रतिद्वन्द्वी कदापि नहीं । वह युवराज और मैं एक साधारण कुमार । मेरी उनकी क्या समता ।"

"अशंका प्रायः अनर्थ की जननी होती है । तुम्हारे प्रति जो अशंका उसके मन-मस्तिष्क में समा गई है, उसी के वशीभूत हो वह अवांछित आचरण कर बैठता है और महाराज जी उसकी बातों पर अविश्वास कर नहीं पाते हैं ।"

"गुरुदेव की सेवा से वापस आ पिताजी को वास्तविकता से अवगत कराऊंगा ।"

"नहीं, आज उनके समक्ष कदापि न पड़ना । वह शतप्रतिशत दोषी तुम्हें ही समझे हैं । तुम्हारे प्रति उनकी धारणा स्वस्थ नहीं है । अवसर की उपेक्षा करना ही हितकर होगा ।"

"नहीं मां, फिर तो और भी आवश्यक है कि मैं अपनी स्थिति स्पष्ट करूं ।"

"नहीं, कदापि नहीं, मैं शनैः-शनैः उन्हें वास्तविकता से अवगत कराकर तुम्हारे प्रति उनकी धारणा को परिवर्तित करने की चेष्टा करूंगी ।"

"बहुत समय लगेगा, मां । इसी बीच यदि फिर इसी प्रकार की कोई घटना घट गई तो उनकी धारणा को बल ही मिलेगा ।"

"उसकी चिन्ता तुम मत करो । गुरुदेव की सेवा में उपस्थित होने का समय हो रहा है । सम्भव है, गुरुदेव ही कोई आदेश दें ।"

"जो आज्ञा, मां ।" अशोक ने मां के चरण स्पर्श किये ।

सिर पर हाथ फेरते हुए शुभद्रांगी ने मंगल कामना व्यक्त की, "जीते रहो, बेटा । अचल कीर्ति अर्जित करो । बस, मेरी एक बात स्मरण रखना ।"

"वह क्या, माँ ?"

"अत्यधिक सावधान रहने की आवश्यकता है। तनिक असावधानी भी तुम्हारे लिए अनर्थकारी प्रमाणित हो सकती है।"

"माँ ! आपके और गुरुदेव के आदेशों का ही तो पालन करता हूँ।"

"आदेश अमूर्त होते हैं। आदेश कभी किसी की रक्षा नहीं कर सकते। सतर्कता को ही सदा अपनी रक्षा-शक्ति समझो।"

"जो आज्ञा, माँ। अब अनुमति दीजिए।" माँ के चरण स्पर्श कर अशोक कक्ष से बाहर जाने लगा।

सुभद्रांगी ने जाते-जाते सावधान किया, "लौटकर सीधे मेरे पास ही आना।"

"अच्छा माँ।" माँ के आदेश को शिरोधार्य कर अशोक बाहर निकल गया।"



परिचारिका द्वारा महाराज बिन्दुसार के पधारने की सूचना पाकर शुभद्रांगी स्वागतार्थ कक्ष के बाहर निकल आई। उनका मुखमण्डल स्मयमान था। किन्तु महाराज की गति मन्द थी। क्लांति के चिह्न मुखमण्डल पर आभासित हो रहे थे। वह शयनकक्ष की ओर बढ़ रहे थे। अंगरक्षक अनुसरण कर रहे थे। कक्ष द्वार के आते ही महाराज जी अन्दर प्रविष्ट हो गये और अंगरक्षकों का दल बाहर ही ठहर गया। महाराज सीधे जाकर शैया पर लेट गये। शुभद्रांगी को महाराज जी की मनःस्थिति को समझते देर न लगी। वह तत्क्षण सम्राट-प्रिय पेय पदार्थ लेकर उपस्थित हुईं। महाराज ने उसका पान किया। रिक्त पात्र को रानी ने पुनः भरने का उपक्रम किया। महाराज ने हाथ से निषेधात्मक संकेत किया। महारानी महाराज के चरणों को सुकोमल स्पर्श प्रदान कर श्रम हरण की चेष्टा करने लगीं। महाराज जी नेत्र बन्द किये हुए निश्चेष्ट से काफी देर तक पड़े रहे। महारानी चाहकर भी मौन भंग न कर पा रही थीं। महाराज ने ही टोका, "प्रिये रहने दो। थक गई होगी।"

"कदापि नहीं, स्वामी की सेवा में भी कहीं कोई स्त्री थकती है।"

"प्रत्येक कार्य के लिए श्रम अपेक्षित है। और श्रम व्यक्ति को परिश्रांत बनाये बिना नहीं रहता।"

"उसकी अनुभूति के लिए तो आपके दर्शन ही यथेष्ट हैं। आजकल आपकी कार्य-व्यस्तता क्षमता से अधिक हो गई है।"

"हाँ अनुभव तो मुझे भी कुछ ऐसा ही हो रहा है। यद्यपि इससे अधिक ही कार्य किया है सदा, किन्तु न जाने क्यों इधर कुछ दिनों से शैथिल्य की अनुभूति कुछ विशेष हो रही है। सम्भवतः यह अवस्थाजन्य प्रभाव है।"

"कार्य के साथ विश्राम भी अपेक्षित होता है। आपके शासन-दर्शन में कार्य तो है, विश्राम नहीं। अब आपको कार्य की अपेक्षा विश्राम अधिक करना चाहिए।"

"सम्राट के जीवन में विश्राम कहाँ। विश्राम का अभिप्राय है कर्तव्य-भार-मुक्ति और यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक राजदण्ड हाथ में है।"

"मेरा अभिप्राय कर्तव्य से विमुख होने का नहीं है। मैं तो संकेत कर रही थी कि जिसके पुत्र समर्थ हों, उसे शनैः शनैः कार्य-भार-मुक्त होना ही चाहिए।"

"इस सम्बन्ध में मैं भी बहुत दिनों से विचार कर रहा हूँ। सुसीम ने यथेष्ट अवस्था प्राप्त करली है। सोचता हूँ, उसका राज्याभिषेक करवा ही दूँ।"

"किन्तु मेरे विचार से तो राज्याभिषेक की अभी आवश्यकता नहीं।"

सम्राट ने शुभद्रांगी को अर्थपूर्ण दृष्टि से देखा। शुभद्रांगी की दृष्टि से महाराज का दृष्टिभाव छुपा न रह सका। भ्रमनिवारणार्थ उन्होंने कहा, "मेरे कहने का तात्पर्य है कि सुसीम को एक-एक कार्य सौंप कर भलीभांति परीक्षण कर लीजिए। आपके संरक्षकत्व में उसके श्रेष्ठ शासक बनने की अधिक सम्भावना है।"

"प्रिये तुम्हारा यह परामर्श समीचीन है। कल ही अमात्य परिषद के समक्ष इसे प्रस्तावित करूँगा।"

"यदि अनुचित न समझें तो अमात्यपरिषद के समक्ष प्रस्तावित करने से पूर्व महामात्य से इस सम्बन्ध में परामर्श करलें तो अधिक ठीक रहेगा।"

"यह और भी उत्तम रहेगा। महामात्य यदि स्वयं ही इसे प्रस्तावित करेंगे तो विरोध की सम्भावना भी कम रहेगी।"

"क्या महामात्य का भी विरोध करने का साहस किसी में है।"

"ऐसा अवसर तो कभी नहीं आने पाया है, किन्तु कुछ कहा नहीं जा सकता। इधर मैं देख रहा- हूँ कि जब से महामात्य ने राधागुप्त को अमात्य परिषद का सदस्य बना दिया है, तबसे, वह परिषद के कार्यों में विशेष अभि-

रुचि प्रदर्शित नहीं करते । उनकी इस उपेक्षा का परिणाम यह हुआ कि खल्लाटक जैसे मन्त्री शक्तिशाली होते जा रहे हैं। उन्होंने अपना एक ऐसा गुप्त मण्डल बना लिया है । जिसमें राधागुप्त को छोड़कर लगभग सभी प्रमुख सदस्य सम्मिलित हैं । और महारानी ! जहाँ संगठन होता है, शक्ति भी वहीं होती है। यदि महामात्य का कभी कोई विरोध कर सकता है तो यही खल्लाटक का अंतरंग मंडल कर सकता है।"

"फिर तो, सुसीम को इस मण्डल का समर्थन प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए।"

"सुसीम को इस तथ्य से अवगत करा चुका हूँ। यदाकदा वह खल्लाटक से मिलने भी जाता है। और खल्लाटक भी सुसीम की प्रसन्नता का ध्यान रखते हैं।"

"फिर तो प्रस्ताव के विरोध की सम्भावना का प्रश्न ही नहीं उठता।"

"यही मैं भी सोचता हूँ। विरोध का कोई कारण भी प्रतीत नहीं होता।"

"और फिर यह तो परीक्षण की दृष्टि से व्यवस्था में परिवर्तन का विचार किया जा रहा है। इसे तो सभी की सहमति प्राप्त हो जानी चाहिए।"

"सोचता हूँ, कुछ कार्य अशोक को भी सौंप दूँ।"

"अभी वह नासमझ है। अवस्था ही क्या है उसकी।"

"नहीं प्रिये, वह तुम्हारी दृष्टि मे अल्पवयस्क है। बौद्धिक दृष्टि से वह कुशाग्र है। शारीरिक क्षमता का भी उसमें अभाव नहीं है। इच्छाशक्ति का वह धनी है। और कभी-कभी उसकी सुरुचि सम्पन्नता देखकर तो मुझे आश्चर्य होता है। उसे व्यस्त रखना भी आवश्यक है। रिक्त मस्तिष्क विनाशकारी विचारों का घर होता है। न मालूम कौन विचार किस अनर्थ के लिए उत्प्रेरित कर उठे।"

"सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु एक निवेदन और है-अशोक को कोई कार्य-भार सौंपें या न सौंपें, किन्तु वीताशोक पर अवश्य कोई-न कोई कार्य-भार डालने की कृपा करें। बड़ा उच्छृंखल हो गया है। दिन रात ऊधम मचाया करता है।"

"तुम भी अद्भुत हो, प्रिये। वीताशोक अभी कितना छोटा है। खेलने-खाने की अवस्था है उसकी। बड़ा होने पर सीधा हो जाएगा। क्यों उसकी नैसर्गिक स्वच्छन्दता को अभी से बाधित करना चाहती हो?"

"किन्तु मुझे उसके लक्षण अच्छे नहीं प्रतीत होते आशंका है, कहीं उसकी यह स्वच्छन्दता अवज्ञाकारिता में परिणत न हो जाय।"

"प्रिये वह तुम्हारा छोटा पुत्र। अपने पुत्र के प्रति तुम्हारी आशंका

व्यर्थ है।"

"इसी बात का तो मुझे भी आश्चर्य है कि यह नटखट कैसे हो गया। इसकी हर गतिविधि अशोक की शैशवकालीन गतिविधि से नितांत विपरीत प्रतीत होती है।"

"नासमझ है अभी।"

"यह आप कह सकते हैं। अठारह वर्ष की अवस्था नासमझी की नहीं कही जा सकती। स्मरण होगा आपने इस अवस्था में कितने युद्धों का सफल संचालन किया था।"

"मेरी और इसकी परिस्थितियों में आकाश-पाताल का अन्तर है। मैं था ऐसे सम्राट का पुत्र जिसका अपना कोई स्थाई राज्य न था। आज जैसी शान्ति-व्यवस्था भी न थी। सदा शत्रुओं का भय बना रहता था। आज यहाँ तो कल वहाँ। निश्चित होकर कभी भी किसी एक स्थान पर निवास सम्भव नहीं होता था। आज वीताशोक एक ऐसे साम्राज्य के स्वामी का पुत्र है जो सौराष्ट्र से लेकर बंगाल तक फैला हुआ है। सुदूर राज्यों तक के सभी शत्रुओं को परास्त किया जा चुका है।"

"सभी को कहाँ, कलिंग नरेश की विरोधी गतिविधियों की सूचनायें क्या मिलनी बन्द हो गई हैं?"

"नहीं, उसका आचरण पूर्ववत् है, किन्तु उससे मौर्य साम्राज्य के अनिष्ट की तनिक भी आशंका नहीं है।"

"क्यों? क्या वे वीर नहीं हैं या स्वतन्त्रता उन्हें प्रिय नहीं है?"

"वीर हैं और स्वतन्त्रता प्रेमी भी हैं किन्तु शान्तिप्रिय भी कम नहीं हैं। मूलत: वे संतोषी जीव हैं। युद्धादि से उन्हें घृणा है। उनका इतिहास साक्षी है कि उन्होंने कभी भी अपने साम्राज्य के विस्तार की चेष्टा नहीं की। हाँ, एक बार कलिंगवासियों ने अवश्य अस्त्र-शस्त्र उठाये थे और वह भी मौर्य सैन्य आक्रमण के कारण ही। उसमें उन्हें किसी सीमा तक सफलता भी मिली थी।"

"क्या मौर्यशक्ति को पराजय का मुँह देखना पड़ा था?"

"नहीं कुछ ऐसी शर्तों के साथ परस्पर समझौता हो गया था जिससे दोनों ही पक्षों का सम्मान सुरक्षित रहा था।"

"और कदाचित उन्हीं शर्तों का कलिंगवासियों ने उल्लंघन प्रारम्भ कर दिया है।"

"वे कुछ ऐसी शर्तें हैं जिनके उल्लंघन से मौर्य साम्राज्य के सम्मान को क्षति नहीं पहुँचती है।" और कदाचित तुम्हें ज्ञात नहीं होगा कि कला-

विज्ञान आदि के क्षेत्र में उन्होंने आशातीत उन्नति की है। प्राय: मौर्य साम्राज्य के साथ उनकी बहुमुखी प्रगति का आदान-प्रदान होता रहता है।वे भी मौर्य साम्राज्य की कलात्मक एवं वैज्ञानिक उपलब्धियों से कम प्रभावित नहीं हैं। कभी सोचा है कि यह प्रगति कैसे सम्भव हो सकी ?"

"प्रयास से। मौर्य साम्राज्य के नागरिक उद्यमी हैं, कुशाग्र हैं और कलात्मक अभिरुचियों के धनी हैं, इसलिए नितनवीन अन्वेषकों और अनुसंधानों से अपनी क्रियात्मकता का अभिनन्दन किया करते हैं।"

"रानी ! तुम्हारी धारणा अवश्य सत्याधारित है, किन्तु इससे भी अधिक आवश्यक तथ्य है शान्ति। शान्ति की उपस्थिति में ही यह प्रगति सम्भव हो सकी है।"

"सब महाराज जी के जीवन दर्शन का प्रतिफल है।"

"हाँ, रानी, मैं भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि जीवन-निर्माण के लिये शान्ति परमावश्यक तत्व है। शान्ति प्रिय प्राणी ही उन्नति के कीर्तिमान अंकित करने में सफल होता है और उन्हीं को आधार मानकर मानव जीवन संग्राम में अग्रसर होता है।"

"कभी-कभी आश्चर्य होता है महाराज जी के जीवन-दर्शन में इस परिवर्तन को देखकर। एक समय था जब महाराज जी सैन्य संघर्ष को जीवन का सत्य मानकर अहर्निश साम्राज्य विस्तार के चिंतन में निमग्न रहते थे। और आज शान्ति को जीवनदर्शन का मूल स्वीकार कर कला और विज्ञान की प्रगति से संतुष्ट हैं।"

"जीवन की कोई भी अवस्था क्यों न हो, मूलाधार को श्रेयष्कर ही माना जायेगा।"

"दर्शन-परिवर्तन की यही प्रकृति तो महाराज जी की सुकीर्ति को उत्तरोत्तर स्थायित्व प्रदान कर रही है।"

"सत्याभास तो कुछ ऐसा ही है, किन्तु अन्तिमरूप से इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता है। न मालूम किसी अन्य अवस्था में यह दर्शन भी भूल प्रतीत हो।"

रानी सुभद्रांगी ने परिचारिका के प्रवेश को लक्ष्य किया, "क्या है ?"

"श्री राधागुप्त जी पधारे हैं।"

"राधागुप्त और इतनी रात को ! अवश्य कोई विशेष बात होगी। मन्त्रणा कक्ष में उन्हें आसन दो।" महाराज जी ने तत्क्षण आदेश व्यक्त किया और साथ ही उठ भी बैठे।

महाराज जी के वस्त्र-परिवर्तन में रानी ने सहायता की। महाराज ने तैयार होते ही कक्ष छोड़ दिया।

राधा गुप्त मगध सम्राट और महामात्य आचार्य चाणक्य के मध्य अत्यन्त विश्वसनीय संदेशवाहक थे। वह सम्राट और महामात्य के अंतरंग सम्बन्धों से पूर्णतया अवगत थे। आचार्य के अति निकट होने के कारण सम्राट की कृपा विशेष के भी अधिकारी वह बन बैठे थे। अपनी स्थिति का उन्हें पूर्ण परिज्ञान था। निर्भय रूप से वह राजप्रासाद में प्रवेश कर जाते थे। मन्त्रणा कक्ष में भी उनकी उपस्थिति का स्थान निर्धारित था। उसी स्थान पर बैठ वह प्रतीक्षा कर ही रहे थे कि सम्राट के पधारने की सूचना मिली। वह सम्राट के स्वागतार्थ उठ खड़े हुए। आसन ग्रहण करते हुए सम्राट ने जिज्ञासा प्रकट की, "इतनी रात गये कैसे मन्त्रीवर?"

"गुरुदेव ने महाराज जी की सेवा में निवेदन करने की आज्ञा दी है कि आज ही रात को अमात्यपरिषद की सभा का आयोजन होना है। महाराज जी प्रस्तुत रहें।"

"आज ही रात को?" सम्राट ने अविश्वास-सा प्रकट किया।

"गुरुदेव का आदेश तो ऐसा ही है।"

"ऐसी क्या समस्या उत्पन्न हो गई कि अमात्यपरिषद के विमर्श की आवश्यकता आ पड़ी? कुछ गन्ध मिली?"

"क्षमा करें महाराज जी। अत्यन्त विश्वस्त शिष्य होने पर भी आचार्य जी की क्रिया से ही अवगत हो पाता हूँ, विचारों से नहीं। और फिर, महाराज! आप तो आचार्य जी के स्वभाव से भलीभाँति परिचित हैं ही। उनके सोचने, निर्णय लेने और तदनुकूल आचरण करने में समय कभी व्यवधान नहीं बन पाता है। दिन-रात उनकी दृष्टि में सुविधासूचक संज्ञामात्र हैं।"

"अभी सूर्यास्त के बाद तक तो अमात्य परिषद की बैठक का संचालन उन्होंने किया है। ऐसी कौन-सी समस्या सहसा उत्पन्न हो गई।" सम्राट वैचारिक असमर्थता की गहनता में निमग्न हो गये।

आचार्य चाणक्य के दीर्घकालीन सान्निध्य से राधागुप्त की प्रकृति भी प्रभावित हो उठी थी। कार्य और समय में संतुलन की क्रिया में वह पारंगत हो गये थे। उठते हुए राधागुप्त बोले, "महाराज जी! अब अनुमति दें। आचार्य जी चिंतित हो उठे होंगे।"

"हाँ, जाइए। मेरी ओर से निवेदन कर दीजियेगा कि अमात्य परिषद

आचार्य जी को उनके आगमन की प्रतीक्षा करती मिलेगी।"

"जो आज्ञा।" राधागुप्त प्रणाम की मुद्रा धारण कर प्रस्थान कर गये।

पाटलिपुत्र मगधराज्य का सबसे बड़ा नगर था। गंगा के किनारे-किनारे काफी दूर तक बसा हुआ था। चौड़ाई भी कम न थी। शासन का प्रमुख केन्द्र होने के कारण विशाल जनसमूह का आवास-स्थान बन गया था। वाणिज्य कला और संस्कृति की दृष्टि से भी नगर कम समुन्नत न था। नगर के बाहर सहस्रों व्यक्तियों का प्रतिदिन स्वागत करता था। आवागमन के लिये सुविस्तृत राजमार्ग थे। वे रात्रि के शान्त क्षणों में भी जनशून्य न हो पाते थे। उनके दोनों ओर गगनचुम्बी भवन थे। भवनों का शिल्प चित्ताकर्षक था। उनमें रंगों की मनोहारी छटा थी। दर्शकों के लिए उनकी भव्यता अत्यन्त विस्मय विमुग्धकारी थी। उनके अन्दर अहर्निश चलने वाले कार्य-व्यापार भी सामान्य न थे। प्रत्येक क्रिया असामान्य को सामान्य के स्तर पर लाने की चेष्टा का प्रतिफल थी। नितनवीन अनुसंधानों और आविष्कारों से जनसामान्य को चमत्कृत करने की परस्पर होड़ ने पाटलिपुत्र को और भी अधिक प्रख्यात बना दिया था। दिनदूनी रात चौगुनी सीमा-विस्तार ने भी पाटलिपुत्र नगर की भौगोलिक स्थिति को असाधारणता प्रदान की थी। मंत्रिपरिषद के सदस्यों के आवास प्रायः दूर-दूर थे। उनकी संख्या भी लग-भग पाँच सौ थी। उतने कम समय में सबको सूचित करना कम कठिन कार्य न था, फिर भी मंत्रिपरिषद की विशेष बैठक के सूचनार्थ असंख्य संदेशवाहक दौड़ाये गये। सम्राट व्यवस्था से संतुष्ट होकर अपने कक्ष में लौट आये। महारानी शुभद्रांगी तो प्रतीक्षा कर ही रही थीं। महाराज के अर्धशायित होते ही महारानी ने सेवा में निवेदन किया, "देव, प्रथम, भोजन करलें।"

"बैठक के पश्चात भोजन कर लूंगा।" क्षुधार्त होते हुए भी सम्राट ने उपेक्षाभाव व्यक्त किया।

महारानी भलीभाँति जानती थीं कि किसी भी समस्या के उपस्थित होने पर महाराज जी भोजन के प्रति उपेक्षा का दृष्टिकोण अपना लेते थे। महारानी भी महाराज जी की ऐसी मन:स्थिति का असंख्यबार सामना कर चुकी थीं। वह अपने आग्रह पर डटी रहती थीं। तब तक प्रार्थना करती रहती थीं जब तक महाराज जी उपेक्षाभाव त्यागकर आवश्यकता विशेष के लिये प्रस्तुत न हो जाते थे, "महारानी! तुम भी अनुपम हो। कितना धैर्य है तुम में। जब तक अपना आग्रह मनवा नहीं लेतीं तब तक साहस नहीं छोड़तीं। चलो, करही लूं भोजन।"

चलते हुए महारानी बोलीं, "इस सीमा तक आग्रह न करूँ तो कदाचित

महाराज जी अधिकांश स्वाभाविक क्रियायें विस्मृत ही कर बैठें । ये तो सब राजकाज हैं । चलते ही रहते हैं । आजीवन इन्हें चलना है । इनके पीछे जीवन की स्वाभाविकता को तो नष्ट नहीं करना है । सहज जीवनयापन के मानवाधिकार की रक्षा तो कम-से-कम होनी ही चाहिए ।"

"जहाँ तुम जैसा सतर्क प्राणी हो, वहाँ रक्षा कैसे सम्भव नहीं है ।"

"फिर भी, अनेक ऐसे अवसर उपस्थित हुए बिना नहीं रहे हैं जब महाराज जी की दिनचर्या अस्वाभाविक हो उठी है । न भोजन की सुध रही है न विश्राम का अवकाश ।"

"ऐसी ही कुछ आज की रात्रि भी प्रतीत हो रही है । इतनी शीघ्रता में मन्त्रिपरिषद की बैठक आहूत करने की इच्छा आचार्य ने कभी प्रकट नहीं की है । अवश्य कोई विशेष बात है ।"

"चिंतित होने से क्या लाभ । जो भी बात होगी, थोड़ी देर में सामने आजायेगी ।"

"मानव यदि इतना ही धैर्यवान बन जाय तो जीवन का अधिकांश समय आनन्द में व्यतीत हो । अनायास जीवन में प्रवेश करने वाले दुःखों-कष्टों से मुक्ति मिल जाय ।"

"यह सब साधारण मानव के लिये हैं । हमारे महाराज जी हैं देव । देव सम्पत्ति विपत्ति में समान भाव बनाये रखते हैं । उनसे महाराजागत कभी नहीं होते । निर्णयात्मक क्रियाशीलता के समक्ष ये धराशायी हो जाते हैं । और खाइए न । कदाचित भोजन रुचिकर नहीं लग रहा है ?"

नहीं, ऐसी बात नहीं है । भोजन तो आज कुछ विशेष ही स्वादिष्ट बना है । कुछ खाने की क्रिया में शीघ्रता के कारण तुम्हें ऐसा अनुभव हो रहा है ।"

"क्षमा करें महाराज जी। क्रिया की गति का मुझे पर्याप्त अनुभव प्राप्तहो चुका है । अभी कुछ भी तो ग्रहण नहीं किया है ।"

"नहीं महारानी, बस । इतना ही यथेष्ट है । और कुछ भी सम्भव न होगा ।"

"अपने इस प्रिय मिष्टान्न को भी न लेंगे ?"

"इसे अभी तक क्यों छुपा रखा था ? दुर्बलता से अवगत हो न । लाओ इसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है ।"

महाराज जी ने मिष्टान्न का एक टुकड़ा मुँह में रखा ही था कि परिचारिका ने अपनी उपस्थिति का खाँसकर आभास कराया महारानी ने उसे दृष्टि में भरकर पूछा, "क्या है ?"

"महामात्य जी सभामण्डप में पधार चुके हैं ।"

"ओह ! विलम्ब हो ही गया।" महाराज जी सहसा उठ खड़े हुए और द्वार की ओर उन्मुख हो गतिमान हो गये।

"सुनिए।" महारानी ने टोका।

"कुछ नहीं सुना है। लौटकर सब सुनूँगा।"

"सिर पर मुकुट तो धारण कर लीजिए।"

"ओह ! तुम भी कितनी अनवधान हो। पहले से ध्यान रखना चाहिए।"

"भविष्य में अवश्य रखूँगी।" महारानी ने महाराज जी के सिर पर मुकुट रखते हुए सावधान किया, "चेष्टा कीजिएगा कि सूर्योदय न होने पाये।"

"सब आचार्य जी पर निर्भर करेगा।" महाराज जी लम्बे-लम्बे डग रखते हुए सभामण्डप की ओर चल दिये।



राजकीय कर्मचारी परिषद के सदस्यों को अति आवश्यक बैठक की सूचना से अवगत कराने के उद्देश्य से नगर के सभी भागों में फैल गये थे क्योंकि मन्त्रियों के आवास भिन्न-भिन्न स्थानों पर थे। इस दौड़धूप से नगर की जनता भी अपरिचित न रह सकी थी। सभा भवन के समक्ष सुविशाल समतल भूमि पर असंख्य नागरिकों का समूह एकत्र हो चला था। मुख्य द्वार के दोनों ओर प्रमुख नगर-निवासी जिज्ञासा दबाये शान्त खड़े थे। मन्त्रीगण एक-एक करके सभा भवन में प्रवेश कर रहे थे। मन्त्रीगण अपने निर्धारित स्थानों को ही ग्रहण कर रहे थे। शनैः शनैः सभाभवन भर चला था। शीर्षस्थ राजकर्मचारियों ने भी तो सभाभवन में स्थान ग्रहण कर लिया था। देखते-देखते सभाभवन खचाखच भर गया था। महामात्य चाणक्य के आते ही सब एक साथ उठकर खड़े हो गये थे। स्वयं उच्च आसन ग्रहण करने के पूर्व ही सबको बैठने का आदेशात्मक संकेत किया। मात्र महाराज जी की प्रतीक्षा थी। दृष्टि का केन्द्र बिन्दु महामात्य थे। और महामात्य की दृष्टि उस द्वार विशेष पर टिकी थी जिससे महाराज जी को पधारना था। सम्राट के आगमन की सूचना मिलते ही सभी समुत्सुक हो उठे। सभाभवन में शान्ति का अखण्ड साम्राज्य व्याप्त था। महाराज जी के पधारते ही सब नतदृष्टि हो गये। मात्र महामात्य सिर उठाये हुए महाराज जी की ओर अपलक देख

रहे थे । महाराज जी सभाभवन के मध्य से राजसिंहासन की ओर बढ़ रहे थे । अन्तर समाप्त होते ही सम्राट ने आसन ग्रहण किया और साथ ही सभासदों को भी बैठने का संकेत किया, किन्तु महामात्य बैठे नहीं, पूर्ववत् खड़े ही रहे और अनुमति की प्रतीक्षा किये बिना ही बोल उठे, "माननीय मगधाधीश और साम्राज्य हितैषियों ! आप सभी लोग विशेष जिज्ञासु होंगे कि इतनी शीघ्र यह बैठक क्यों आमन्त्रित की गई । कारण भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है । विश्वस्त सूत्रों से सूचनायें मिली हैं कि तक्षशिला में अराजकता भीषण रूप धारण कर चुकी है । शासन-व्यवस्था पंगु हो गई है । दण्ड-भय अस्तित्वहीन हो चुका है । न्याय की अन्तिम सांस तक व्यय हो चुकी है । सर्वत्र लूट-खसोट मची हुई है । जनता त्राहि-त्राहि कर रही है । जिसकी लाठी उसकी भैंस–वाली कहावत अक्षरसः वहाँ चरितार्थ हो रही है । क्षण-क्षण अत्याचारों की सूचनाएँ जब मेरे लिये असह्य हो उठीं तो मेरे भी धैर्य की सीमा न रही और मुझे विवश होकर यह बैठक आहूत करनी पड़ी ।" महामात्य ने आश्चर्यचकित जन समूह को अपनी ओर अपलक निहारते देख आगे बोलना प्रारम्भ किया, "और कदाचित आप लोग कल्पना भी न कर सकेंगे कि प्रादेशिक कीर्तिदेव की हत्या कर दी गई है । विद्रोहियों का एक ऐसा संगठन है जिसने मगध सत्ता को चुनौती दे रखी है । अपने स्वतन्त्र होने की उन्होंने घोषणा कर दी है । उनकी स्वेच्छाचारिता ने राज कर्मचारियों के अस्तित्व तक को समाप्त कर दिया है । मेरी दृष्टि में यह इतना महत्वपूर्ण विषय था कि कुछ भी समय नष्ट करने को अभिप्राय था अप्रत्याशित संकट को आमन्त्रित करना । जो परिस्थिति है, उसे मैंने आप लोगों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया है, आगे विचार-विमर्श द्वारा निर्णय करना आप लोगों का धर्म है ।" महामात्य कथन की समाप्ति के साथ ही बैठ गये ।

सभासद परस्पर सम्भव मदस्वर में प्रतिक्रिया व्यक्त कर उठे । सम्पूर्ण उपस्थित जनसमूह पर एक विहंगम दृष्टि डालकर मगध सम्राट बोल उठे, "महामात्य जी ने जिस परिस्थिति विशेष का चित्रण किया है, वह अति चिन्त्य विषय है । हम अविलम्ब प्रभावकारी कार्यवाही के लिए बाध्य हैं, किन्तु कैसे और क्या करना है–इस सम्बन्ध में हम उपस्थित सदस्यों के विचार आमन्त्रित करते हैं ।"

सर्वप्रथम मन्त्री बल्लाटक उठकर बोले, "तक्षशिला निवासियों का यह प्रथम विद्रोह नहीं है । इसके पूर्व भी अनेक बार वहाँ लगभग ऐसी ही स्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी हैं । जितनी भी व्यवस्थायें अभी तक की गई हैं, सभी अस्थाई सिद्ध हुई हैं । मेरे विचार से महाराज जी को स्वयं शीघ्रातिशीघ्र

तक्षशिला के लिए प्रस्थान कर देना चाहिए और विद्रोहियों को उनकी स्वेच्छाचारिता का ऐसा दण्ड दिया जाय ताकि भविष्य में वे फिर कभी सिर न उठा सकें।"

राधागुप्त ने भी अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की, "गतवर्ष महाराज जी ऐसे ही विद्रोह के दमनार्थ तक्षशिला पधार चुके हैं। बार-बार महाराज जी का तक्षशिला जाना मगध सम्राट के सम्मान के विरुद्ध है। हमें कोई भी निर्णय देने से पूर्व सम्राट-पद की प्रतिष्ठा का ध्यान रखना चाहिए।"

खल्लाटक तिलमिला उठे, "तक्षशिला के विद्रोही अत्यन्त शक्तिशाली हो चुके हैं। महाराज जी के अतिरिक्त किसी भी अन्य के द्वारा उनका दमन किया जाना सम्भव नहीं है।"

राधागुप्त के लिए खल्लाटक की बात काटना आवश्यक था, "महाराज जी मगध साम्राज्य की सर्वोच्च शक्ति हैं। सर्वोच्च शक्ति का सहसा प्रयोग करना सर्वथा अनुचित है।"

खल्लाटक को भला अपनी बात कटना कब सहन था, वह बोले। "किसी भी साधारण शक्ति का वहाँ भेजा जाना शक्ति का अपव्यय करना है। महाराज जी के अतिरिक्त कोई भी तो व्यक्तित्व ऐसा नहीं है जो महाराज जी जैसा प्रभावशाली व्यक्तित्व रखता हो।"

राधागुप्त ने पुनः बात काटी, "आपका कथन सर्वथा सत्य है। सम्राट का व्यक्तित्व साम्राज्य में अप्रतिम होता है। किसी से भी सम्राट की समता सिद्ध करना सम्राट के गौरव को न्यून करना है। परन्तु महाराज जी के पश्चात एक शक्ति और है जिसकी शक्ति पर हमें विश्वास करना चाहिए।"

खल्लाटक ने पूछा, "कौन है वह ?"

राधागुप्त ने उत्तर दिया, "मगध के भावी शासक।"

खल्लाटक ने स्पष्ट जानना चाहा, "कौन ? युवराज सुसीम ?"

राधागुप्त ने स्वीकार किया, "आपकी धारणा निर्भ्रान्त है।"

खल्लाटक ने समझाने की चेष्टा की, "आपका आशय है कि तक्षशिला के विकट विद्रोहियों के दमन के लिए अनुभवशून्य युवराज को भेजा जाय ?"

राधागुप्त ने प्रतिवाद किया, "युवराज को कोई अकेले तो जाना है नहीं। साथ में जायेंगे ससैन्य महाबलाधिकृत। युवराज को योग्यता-प्रदर्शन का अवसर तो मिलना ही चाहिए।"

खल्लाटक ने अस्वीकार किया, "तक्षशिला के भीषण विद्रोह दमन को युवराज को योग्यता-प्रदर्शन का अवसर समझना हितकर न होगा।"

राधागुप्त बढ़-चढ़कर बोले, "ऐसा कहकर आप युवराज की क्षमता पर अविश्वास प्रकट कर रहे हैं, उनकी योग्यता का उपहास कर रहे हैं।"

इसी बीच सुसीम उठ खड़े हुए और बोले, "यदि महाराज जी, तक्षशिला के विद्रोहियों के दमन का अवसर प्रदान करने की कृपा करें तो मुझे विशेष प्रसन्नता होगी। मैं दीर्घकाल से ऐसे ही अवसर की प्रतीक्षा में हूँ।"

इसके पूर्व कि महाराज जी बोलें, महामात्य ने पूछा, "क्या आज्ञा है, महाराज जी ?"

युवराज सुसीम की धारणा सुनकर महाराज जी किंकर्तव्य विमूढ़-से हो गये थे। ऐसी अप्रत्याशित स्थिति की सम्भावना उन्हें तनिक भी न थी। वह किसी भी निष्कर्ष पर पहुँच भी न पाये थे कि महामात्य ने निर्णय व्यक्त करने के लिए बाध्य कर दिया। महाराज जी की स्थिति बड़ी विचित्र हो उठी थी। उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की, "जो आप उचित समझें, निर्णय करें।"

महामात्य से महाराज जी की स्थिति अव्यक्त न रह सकी थी। राधागुप्त के द्वारा व्यक्त अपने विचारों की पुष्टि का स्वर्णिम अवसर समझ उन्होंने कहा, "जब युवराज स्वयं उत्सुक हैं तक्षशिला जाने के लिये तब उत्साह क्यों भंग किया जाय। मेरे विचार से तो महा बलाधिकृत की [illegible] युवराज को तक्षशिला अवश्य जाना चाहिए।"

महाराज जी बड़े असमंजस में पड़ गये थे। एक ओर तो वह सुसीम की युवावस्थाजन्य अदूरदर्शिता से परिचित थे जिसका परिणाम किसी भी सीमा तक अहितकर हो सकता था और दूसरी ओर युवराज को अपने जीवन काल में ही समर्थ शासक के रूप में देखने की प्रबल आकांक्षा थी। किन्तु उनकी [illegible] सशक्त स्थिति थी स्वयं सुसीम का तैयार होना और महामात्य का निर्णय। फिर भी न जाने क्यों महाराज जी निर्णय [illegible] नहीं कर पा रहे थे। महाराज जी की मनःस्थिति का अनुमान कर [illegible] बोल उठे, "सभासदों ! तक्षशिला का विद्रोह कोई सामान्य विद्रोह नहीं है। यह एक ऐसा अवसर है जिसमें युवराज अपनी क्षमता का प्रदर्शन करना चाहते हैं और महाराज जी किन्हीं कारणों से [illegible] निर्णय लेने में असमंजस अनुभव कर रहे हैं। अब आप लोग ......"

महाराज जी बीच में ही बोल उठे, "नहीं, सुसीम [illegible] है। मगध सम्राट के लिये [illegible] की बात है कि वह [illegible] परिस्थितियों का सामना करने की क्षमता रखता है। [illegible] कोई भी विद्रोह क्यों न हो। सुसीम को ही उसे दबाना [illegible]"

राधागुप्त का चेहरा [illegible] [illegible] हुआ।

की…… ।"

"जय हो ।" सहस्रों सम्मिलित कण्ठस्वर एक साथ गूंजे ।

महाराज जी जय-जयकार ध्वनि के मध्य से उठकर चल दिये ।

सभा विसर्जित हो गई ।

ooo

महाराज बिन्दुसार की अस्वस्थता का समाचार जैसे ही महामात्य चाणक्य को मिला वह अविलम्ब राजप्रासाद की ओर चल पड़े । किसी को ज्ञात न था कि वह कहाँ जा रहे थे, किन्तु ज्यों-ज्यों वह राजप्रासाद के निकट आते गये अनुमान विश्वास में परिणत होता चला गया कि वह महाराज की सेवा में ही उपस्थित होने जा रहे थे ।

प्रतिहारी द्वारा आचार्य चाणक्य के अकस्मात आगमन से अवगत होते ही महाराज जी के मुँह से अविश्वास प्रकट हुआ, "क्या ! महामात्य चाणक्य पधारे हैं ! !" महाराज ने शैया पर ही उठने की चेष्टा की ।

प्रवेश-द्वार पर से ही महामात्य ने टोका, "महाराज जी लेटे रहें । उठने का कष्ट न करें ।" शुभद्रांगी को भी उठकर कक्ष से बाहर जाते देख, रोका, "महारानी जी ! आप भी कहाँ जा रही हैं । महाराज जी को इस रुग्णावस्था में आप की ही तो आवश्यकता है ।"

महाराज जी के मुखमण्डल पर दृष्टि गड़ा महामात्य आगे बोले, "महाराज जी ! आश्चर्य है । आप इतने रुग्ण हैं और मुझे सूचना तक नहीं ।"

महामात्य को आसंदिका ग्रहण करने का संकेत करते हुये महाराज क्षीण स्वर में बोले, "आप थे ही कहाँ । मैंने तो अनेक बार आपके दर्शनों की अभिलाषा व्यक्त की ।"

"अब आप कैसे हैं ?"

"अब तो आपकी कृपा से ठीक हूँ । सुसीम का कुछ समाचार प्राप्त हुआ ?"

"हाँ, युवराज जी तक्षशिला में पहुँचकर रागरंग में डूब गये हैं ।"

"और विद्रोह का क्या हुआ ?"

"वह पूर्ववत् है । विद्रोहियों ने दुर्ग पर अधिकार कर लिया है । दुर्ग में

सुरक्षित वे महाबलाधिकृत के प्रत्येक प्रयास को विफल बना रहे हैं।"

"क्या सुसीम से उनका सामना नहीं हुआ?"

"युवराज की स्थिति से आपको अवगत तो करा दिया है। महाबलाधिकृत चाह कर भी कुछ कर सकने मे असमर्थता अनुभव कर रहे हैं।"

"क्यों? असमर्थताओं की अनुभूति कैसी?"

"युवराज का आदेश जो है।"

"आदेश! कैसा आदेश!! क्या आदेश दिया है सुसीम ने?"

"आक्रमण न करने का।"

"किन्तु सुसीम को भेजा तो गया है विद्रोहियों को समाप्त करने के लिए ऐसा आदेश उसने क्यों दिया है?"

"विद्रोही युवराज के स्वभाव से भलीभाँति परिचित हैं। राजकीय सैन्य-शक्ति उन पर आक्रमण न कर सके—इसकी पूर्ण व्यवस्था उन्होंने पहले से ही कर रखी है।"

"सुसीम की सफलता पर मुझे पहले ही सन्देह था।"

"महाराज जी, सफलता मिलती उसे है जो प्रयास करता है। युवराज के सारे प्रयास अन्यथा हैं।"

"आप आज ही राजकीय मुद्रा से युक्त लिखित सूचना भेजवाने की व्यवस्था करिये ताकि स्थिति और अधिक न बिगड़ने पाये। उसका वापस आना ही श्रेयस्कर है। मैं स्वयं देखूँगा कि कैसे········।"

महामात्य बीच में ही बोल उठे, "किन्तु महाराज जी! आप तो अस्वस्थ हैं। इस स्थिति मे कैसे कहीं जा सकते हैं।"

"मेरी अस्वस्थता का कारण है सुसीम। उसके अहित की आशंका ने मुझे शैय्याधीन बना रखा है। मुझे कोई रोग नहीं है। मैं स्वस्थ हूँ। मैं ··········।" तेजी से खाँसी उभरी। महाराज जी आवेश मे आकर जो उठकर बैठ गये थे, पुनः शैय्या शायित हो गये।

परिस्थिति की गम्भीरता को ध्यान मे रखकर निकट खड़े कुमार अशोक से महामात्य ने कहा, "कुमार! इसी समय यथेष्ट सैनिकों को साथ लेकर तक्षशिला के लिए प्रस्थान करो।"

"कदापि नहीं।" सभी की दृष्टियाँ एक साथ उठी और द्वार पर हाँफते हुए पड़े सुसीम पर जा टिकी। युवराज की साँस तेजी से आ-जा रही थी। वस्त्र फटे हुए थे। शरीर रक्तरंजित था। पराजय भयावह रूप में मुख-मण्डल पर आभासित थी। महामात्य ने सुसीम को अप्रत्याशित रूप में उपस्थित देख आश्चर्य व्यक्त किया, "युवराज आप इस स्थिति में।"

महाराज जी ने भी खांसी को नियन्त्रित करते हुए अविश्वास प्रकट किया, "सुसीम ! यह सब मैं क्या देख रहा हूँ ?"

सुसीम का आहत स्वर फूटा, "किसी तरह जीवन-रक्षा हो सकी। विद्रोहियों ने मेरे साथ छल किया।"

"छल ! कैसा छल ! ! क्या किया है उन लोगों ने ?" महाराज जी का कण्ठ स्वर असाधारण रूप से गम्भीर हो उठा था।

सुसीम ने परिस्थिति को स्पष्ट करने का उपक्रम किया, "मैं दिन भर के अनवरत परिश्रम से क्लांत हो सिन्धु के तट पर सैनिक शिविर में विश्राम कर ही रहा था कि सहसा विद्रोहियों के नेता ने प्रवेश किया। उसने मेरे पैर पकड़ कर प्राण रक्षा की कामना प्रकट की। मुझे सूचित किया जा चुका था कि उनके अधिकाश विद्रोही साथी समाप्त कर दिये गये है उसने मुझसे दुर्ग अधिकृत करने की प्रार्थना की। मैं दुर्ग ही को तो अधिकृत करना चाहता था। दुर्ग ही उनकी मुख्य शक्ति थी। मैंने तत्क्षण ससैन्य दुर्ग में प्रवेश किया। मेरे प्रवेश करते ही विद्रोहियों ने तत्क्षण दुर्ग का मुख्य-द्वार बन्द कर लिया और मेरे ऊपर आक्रमण कर दिया। हम सब असावधान तो न थे, किन्तु ऐसे छल की कल्पना भी न थी। विद्रोहियों की संख्या अधिक थी। मेरे सभी सैनिक देखते-देखते धराशायी होते चले गये। मैं अकेला ही असंख्य विद्रोहियों के प्रहारों को झेलता रहा। उनकी सख्या बढ़ती चली जा रही थी। अपने प्राण संकट मे समझ मैंने प्राचीर की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया। निकट आते ही मैं प्राचीर लाघकर किसी तरह यहाँ तक भाग आया।"

सुसीम के मुंह से पराजय की गाथा सुनकर रुग्ण महाराज जी के नेत्र रक्तवर्ण हो गये। शिराओं मे रक्त का संचार तीव्र हो उठा। भुजाएँ फड़कने लगी। प्रतिशोधाग्नि उनके स्वर में धधक उठी, "यह दुस्साहस दुष्टों का।"

महामात्य ने सामयिक आवश्यकता पर बल दिया, "शान्त हों महाराज जी। यह सब युवराज को असावधानी और अदूरदर्शिता का परिणाम है। विद्रोहियों का यह आचरण अस्वाभाविक नहीं है। शक्तिशाली शत्रु पर विजय पाने के लिए हर सम्भव उपाय का सहारा लिया जाता है। जिस छल के आखेट युवराज बने हैं वह नवीन नहीं है। प्रमादियों को प्रायः ऐसी ही स्थितियों का सामना करना पड़ता है। आक्रामक के लिए किंचित प्रमाद भी विनाश का कारण बन जाता है। दीर्घकाल तक आक्रमण न करने का परिणाम है युवराज का वर्तमान स्वरूप, महाराज जी।"

महाराज बिन्दुसार इस बीच अनेक बार युवराज सुसीम को दृष्टिगत कर चुके थे। सुसीम के कर्ण-कुहरों मे महामात्य का प्रत्येक शब्द अंगार बनकर

प्रविष्ठ हुआ था। पराजय की वास्तविकता को प्रकट करने वाले महामात्य पर युवराज को रह-रहकर क्रोध आ रहा था। क्रोधावेश में कांपते हुए वह बोले, "आपको क्या ज्ञात। रणांगण में शत्रु का सामना करना पड़े तो···।"

"सुसीम।" महाराज बीच में ही गरज उठे, "गुरुदेव द्वारा उद्घाटित सत्य को असत्य के आवरण से आच्छादित करने की असफल चेष्टा मत करो।"

सुसीम का मौन निश्चेष्टता का सूचक था।

महामात्य ने अविचलित भाव से कहा, "अवस्थाजन्य अविवेक है। युवराज इसके लिए दोषी नहीं। भावी शासक के लिए जिस प्रकार की शिक्षा-दीक्षा वांछित है, उससे यह वंचित रहे हैं। युवराज को केवल आपका स्नेह ही प्राप्त हो सका है। आपके स्वभाव, शौर्य, श्रम और दूरदर्शिता आदि गुणों का अनुकरण युवराज ने नहीं किया है। इस समय युवराज को आप विश्राम की अनुमति दें।" इसके पूर्व कि महाराज जी आज्ञा दें, युवराज सुसीम क्षिप्रगति से कक्ष के बाहर हो गये।

महाराज आगे बोले, "तक्षशिला की स्थिति अधिक विषम प्रतीत होती है। सुसीम के इस आचरण से विद्रोही और अधिक स्वेच्छाचारी हो गये होंगे। यदि शीघ्रातिशीघ्र इस विद्रोह को नियन्त्रित न किया गया तो अन्य प्रदेशों में भी अराजकता फैलने की सम्भावना है।"

चाणक्य ने धैर्य का परिचय दिया, "महाराज जी चिंतित न हों। जब तक चाणक्य जीवित है, मगध साम्राज्य छिन्न-भिन्न नहीं हो सकता।" कुमार अशोक की ओर उन्मुख होकर महामात्य ने आदेश दिया, "सूर्योदय के पूर्व ही शेष सैनिक शक्ति के साथ तक्षशिला के लिए प्रस्थान करो। याद रखना—तुम्हारा लक्ष्य स्वेच्छाचारी विद्रोहियों को पराजित करना है।"

महाराज ने हस्तक्षेप किया, "सुसीम को भेजने का परिणाम देख चुके हैं, गुरुदेव। अशोक··· ···।"

महामात्य ने समझाया, "महान अन्तर है दोनों में महाराज जी। अशोक की क्षमता पर मुझे विश्वास है। और फिर राधागुप्त को भी साथ में भेज दूंगा। राधागुप्त की बुद्धि और अशोक का शौर्य किसी भी शत्रु पर विजय-लाभ के लिये यथेष्ट है।" कुमार अशोक को लक्ष्यकर आगे महामात्य ने कहा, "जाओ कुमार। प्रस्थान की तैयारी करो जाकर।"

कुमार अशोक आज्ञा शिरोधार्य कर वहाँ से प्रस्थान कर गये।

महामात्य ने निश्चिन्तता प्रकट की, महाराज जी! अब आप निश्चिन्त होकर स्वास्थ्य लाभ करें। कुमार अशोक अपने लक्ष्य में अवश्य सफल होंगे। साधारण शिष्टाचार के साथ महामात्य ने कक्ष छोड़ दिया।

तक्षशिला के प्रशासक कीर्तिदेव का रानी शुभ्रांगी के साथ रक्त सम्बन्ध था। पट्टमहिषी की अनुशंसा पर कीर्तिदेव को महाराज बिम्बसार ने तक्षशिला का प्रादेशिक नियुक्त किया था। प्रादेशिक के रूप में तक्षशिला का कार्यभार सम्हालते ही उन्होंने अपने को महा शक्तिशाली समझ लिया और स्वेच्छाचारिता का नग्न प्रदर्शन करने लगे। उनकी न्यायबुद्धि के समक्ष परम्पराओं, रीतिरिवाजों, और नैतिक मूल्यों का कोई महत्व नहीं रह गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि तक्षशिलावासी अन्याय और अत्याचार की वेदी पर बलिदान होने लगे। कीर्तिदेव स्वय विशेष अयोग्य प्रशासक न थे। केवल दुर्बलता थी उनकी विलासी प्रवृत्ति। अधीनस्थ कर्मचारी उनकी इस दुर्बलता से अपरिचित न रह सके थे। प्रशासक की यह दुर्बलता उनकी स्वेच्छाचारिता की माध्यम बनती चली गई। उचित-अनुचित सभी क्रियाकलाप इस दुर्बलता की ओट में सम्पन्न होने लगे। नित नवीन सुन्दरियों का बलात् अपहरण किया जाता था और प्रशासक की काम पिपासा शान्त की की जाती थी।

तक्षशिलावासी स्वाभिमानी स्वभाव के नागरिक थे। स्वतन्त्रताप्रेमी कभी भी ऐसे अत्याचारों को सहन नहीं कर सकते। कीर्तिदेव मगध सम्राट के प्रतिनिधि थे। मगध साम्राज्य की असीम शक्ति उनके साथ थी ऐसे सशक्त प्रशासक के आचरण को अत्याचार की संज्ञा देना, उसकी स्वेच्छाचारिता के प्रतिकूल धारणा व्यक्त करना तथा उसकी अभिलाषाओं की पूर्ति में बाधा उपस्थित करना कोई हंसी-खेल न था। कुछ दिन तक नागरिकों ने सहन किया किन्तु जब उनकी सहन-शक्ति सीमा पार कर गई तो गणमान्य नागरिकों ने एक गुप्त बैठक की। कीर्तिदेव के आचारण पर विचार-विमर्श हुआ। सर्वसम्मति से स्वेच्छाचारिता के विरोध करने का निर्णय किया, गया। परिणाम से भलीभांति परिचित होते हुए भी उन्होंने विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। जहां कहीं भी सरकारी कर्मचारी कोई अन्यायपूर्ण कार्य करते वहीं उन्हें उस स्वेच्छाचारिता का परिणाम तत्काल भुगतना पड़ता था। सरकारी अत्याचार एक ओर जहां बढ़ रहे थे वहीं दूसरी ओर विरोधी जनशक्ति भी बढ़ रही थी। शनैः शनैः यह स्थिति उत्पन्न हो गई कि जो भी कर्मचारी युवती का अपहरण करता या शीलभंग करने की चेष्टा करता, मृत्यु

की गोद में सुला दिया जाता था। शासकवर्ग के लिए यह जन प्रतिक्रिया अकल्पनीय थी। उसका दमनचक्र सशक्त हो उठा। नागरिकों को अन्यान्य उपायों से पीड़ित किया जाने लगा। विद्रोहियों की संख्या में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि होने लगी। जनशक्ति और राजकीय शक्ति की टकराहट का परिणाम यह हुआ कि सुन्दरियों का अपहरण लगभग बन्द हो गया। कीर्तिदेव की कामाग्नि को ज्यों-ज्यों आहुति मिलती गई, त्यों-त्यों पिपासा प्रचण्ड होती गई। किन्तु विरोध के कारण एक दिन ऐसा भी आया जब एक भी सुन्दरी उनके विलास कक्ष में दिखाई न दी। वह सेवा में उपस्थित कर्मचारियों पर बरस पड़े, "यहाँ खड़े-खड़े क्या कर रहे हो? अभी तक एक भी सुन्दरी नहीं आ सकी। जाओ, तत्काल लाओ। बिना सुन्दरी के लौटना मत।"

एक कर्मचारी ने साहस दिखाया, "एक भी सुन्दरी का मिल पाना अब कठिन हो गया है। नागरिक विरोध करने पर उतर आये हैं। किसी भी सुन्दरी की ओर दृष्टि उठाकर देखने का अभिप्राय है मृत्यु का ग्रास बनना।"

"मृत्यु का ग्रास बनना—सुनते-सुनते मेरे कान पक गये हैं। नागरिक विरोध करते हैं, करने दो। ग्रामीण तो नहीं बोलते। दो पग आगे नहीं बढ़ सकते हो? जाओ और ध्यान रहे विशेष प्रतीक्षा न करनी पड़े।"

जैसे ही सरकारी कर्मचारियों ने ग्रामों को अपना लक्ष्य बनाया, वैसे ही नागरिकों ने ग्रामों की रक्षा का भी बीड़ा उठा लिया। उन राजमार्गों पर लग गये जिनसे ग्राम सम्बन्धित थे। शक्ति भर सतर्क रहने पर भी एक रात्रि के समय एक ग्राम से एक सुन्दरी का अपहरण सरकारी कर्मचारियों द्वारा कर ही लिया गया। वह भी उसी स्थान विशेष के अधिकारी के समक्ष प्रस्तुत की गई जहाँ असंख्य सुन्दरियाँ आ चुकी थीं। उसने ग्रामीण बाला को नीचे से ऊपर तक देखकर पूछा क्या नाम है तेरा?"

युवती के लिए वह अपरिचित स्थान था। वह विस्फारित नेत्रों से चारों ओर देखने लगी। उसके नेत्रों में सीमातीत आश्चर्य समाया हुआ था। अपने समक्ष साक्षात् यमराज सदृश श्यामवर्ण भीमकाय कुरूप व्यक्ति को देख वह सहम उठी थी। उसके हाथ में कोड़ा था। कोड़े को पृथ्वी पर फटकारते हुए वह कर्कश स्वर में बोला, "मुझे दोबारा एक ही प्रश्न पूछने का अभ्यास नहीं। इस कोड़े को देख रही है। दुबारा यही प्रश्न करता है। क्या नाम है तेरा?"

"शैलबाला।" युवती का कण्ठस्वर भयत्रस्त था।

"भूख लगी है तुझ? कुछ खायेगी?"

युवती बोली कुछ नहीं । मात्र नकारात्मक सिर उसने हिला दिया।

"प्यास लगी है । पानी पियेगी ?"

"हाँ ।" स्वर के साथ स्वीकारात्मक सिर भी उसने हिला दिया ।

युवतियों के अपहरण का ढंग निराला था । अपहरण अधिकांशतः रात्रि के समय होता था । कर्मचारी सोती हुई युवती को कोई पदार्थ सुंघा देते थे। अचेत होने पर उसे उठा ले जाते थे । प्रायः दिनभर वह अचेत रहती थी। चेतना लौटने पर उसे विकट प्यास लगती थी । शैलबाला का भी गला सूख रहा था । जिह्वा तालू से चिपकी हुई थी । प्यास बुझाने के लिए स्वादिष्ट पेय प्रस्तुत किया गया । शैलबाला ने ज्यों ही पात्र को मुँह से लगाया वैसे ही दुर्गन्ध से उसका मन विरक्त हो उठा । पात्र मुँह से हटा वह बोली, "यह पानी नहीं है । मुझे पानी चाहिए ।"

"पी कर तो देख । यह बहुत स्वादिष्ट है । इससे प्यास भी बुझेगी और मन भी प्रसन्न होगा ।"

शैलबाला पात्र फेंकते-हुए बोली, "नहीं चाहिए यह । मुझे पानी दो ।" वह पूर्णतया सचेत हो चुकी थी । बिना हिले-डुले ही उसने आगे पूछा, "मैं कहाँ हूँ ?"

"दुर्ग में ।"

"मुझे यहाँ कौन लाया है ?"

वक्षस्थल पर जोर से हाथ मारकर वह बोला, "मैं ।"

"किसलिए ?"

"रानी बनाने के लिए ।"

शैलबाला ने पड़ोसियों के मुँह से जो भी सुन रखा था, वह प्रत्यक्ष था। वह पिंजड़े में बन्द परवश पक्षी की भाँति असमर्थ थी, फिर भी उसने विपरीत परिस्थिति का डटकर सामना करने का निश्चय किया । सामने खुला द्वार दिखाई दिया । वह भागी उसी ओर, किन्तु बाहर अनेक सशस्त्र कर्मचारी खड़े थे । वह आगे न बढ़ सकी । वहीं उसे रुकना पड़ा । उसने साहस न त्यागा । एक कर्मचारी से उसने कहा, "तुम बड़े अच्छे हो । मुझे पानी पिला दो न । यह मुझे पानी भी नहीं देता है ।"

"क्यों भीषम ?, इसे पानी क्यों नहीं दिया ?"

"दिया गया था । इसने फेंक दिया है ।"

"वह पानी थोड़े ही था ।" शैलबाला के हाव-भाव नाटकीय बन गये थे ।

"तुम जैसों के लिए वही पानी । प्यास बुझाने के लिए उसे ही पीना

पड़ेगा।"

"तब तो प्यासी मर जाऊँगी, मगर उसे नहीं पियूँगी।"

शीलबाला के स्वर में दृढ़ता से प्रभावित होकर उस अधिकारी ने कहा, "भीपम ! इसे थोड़ा पानी दे दो।"

"पानी से यह रास्ते पर आने से रही। उसे तो इसे पिलाना ही पड़ेगा।"

"नहीं, यह बड़ी सीधी है। समझाने से तैयार हो जायेगी।"

"सरकार ! आप भी कैसी अनहोनी बात कर रहे हैं। आज तक एक भी बिना उसे पिये तैयार हुई है ?"

शीलबाला उनका आशय समझ रही थी। वह तत्क्षण बोल उठी, "आप मुझे पानी पिला दीजिए। फिर देखिये, मैं कितनी जल्दी तैयार होती हूँ।"

"देखा भीपम। कहा था न कि सीधी है यह। जो कहोगे, मान लेगी। पिलाओ इसे पानी।"

जैसे ही पानी सामने आया। शीलबाला ने झपट कर उसे ले लिया और एक सांस में ही पात्र खाली कर दिया। एक ओर पात्र फेंककर शीलबाला उसी अधिकारी से बोली, "हाँ, अब बोलिए, कहाँ चलना है मुझे।"

"आओ।" वह अधिकारी अनुसरण भाव व्यक्त कर एक ओर को चल दिया। शीलबाला उसके पीछे-पीछे चल दी।

कुछ ही देर मे शीलबाला ने अपने को एक सुसज्जित कक्ष में पाया। भाँति-भाँति के सौन्दर्य प्रसाधनों से परिपूर्ण था वह कक्ष। दो स्त्रियों ने, जो लगभग शीलबाला की समान आयु की थीं, आगे बढ़कर शीलबाला का स्वागत किया। उनके मुखमण्डल स्मयमान थे। किन्तु शीलबाला की दृष्टि स्थिर न थी। वह कक्ष की एक-एक वस्तु को दृष्टि में भर लेना चाह रही थी। अधिकारी कक्ष के बाहर ही रुक गया था। एक विशाल दर्पण को देखते ही शीलबाला उसके सामने जा खड़ी हुई। पीछे से स्त्रियों ने आकर शीलबाला के वस्त्रों को हाथ लगाया।"

"मुझे छूना मत।"

"ये वस्त्र बदल डालो। गन्दे हो गये हैं। नये पहन लो। सुन्दर लगोगी।"

"क्या मैं अभी सुन्दर नहीं लग रही हूँ ?"

"शृंगार होने पर और सुन्दर लगोगी। इन आभूषणों को देख रही हो ? सब तुम्हारे लिये ही हैं। उन्हें पहनोगी तो रानी लगोगी।"

"फिर क्या करना होगा ?"

"महाराज जी की सेवा में जाना होगा।"

"किसलिये ?" शीलबाला के वस्त्र एक-एक करके उतारे जा रहे थे।

अन्तिम वस्त्र को हाथ से पकड़ वह बोली, "इसे तो रहने दो।"

"यह तो और भी गन्दा है। इसे पहनकर महाराज की सेवा में जाओगी ?" उसे भी शरीर से पृथक करते हुए एक परिचारिका बोली, "इतनी सीधी तो आज तक एक भी नहीं आई। मार का एक भी निशान नहीं है इसके शरीर पर। अंग-अंग कितना सुडौल है। कसावट भी कम नहीं है। ग्रामीण बाला है न। परिश्रम करती होगी। महाराज जी विशेष प्रसन्न होंगे। चलो, दो-चार दिन की छुट्टी ही मिलेगी।"

"यह छुट्टी कैसी ?"

"तुमसे एक दिन में महाराज जी का मन थोड़े ही भरेगा। खूब मन लगाकर सेवा करना महाराज जी की। जितना प्रसन्न होंगे उतनी ही तुम मालामाल होगी।"

"यह सब क्या चुपड़ रही हो ? सारा शरीर गन्दा हुआ जा रहा है।"

"गन्दा नहीं, सुवासित हो रहा है। कभी देखा है इतने सुन्दर वस्त्रों को ? बड़ो-बड़ों के भाग्य में ऐसे वस्त्र नहीं होते। वाह ! क्या शोभायमान हो रहा है। बिल्कुल ठीक है। जैसे तेरे लिये ही सिला गया हो।"

'कितने मन से पहन रही है।"

"गऊ है गऊ। याद है, तूने कितना तंग किया था। तुझे सजाने में नाकों चने चबाने पड़े थे। दो-तीन बार पानी पिलाना पड़ा था।"

"प्यास तो मुझे भी लगी है।"

"नहीं, उस पानी की तुम्हें आवश्यकता नहीं। वह तो बिगड़ैलों के लिये होता है।"

"तो क्या पीने के लिये पानी यहाँ नहीं मिलता ?"

"मिलता क्यों नहीं, मगर पानी मत पियो।"

"क्यों प्यास जो लगी है।"

"फिर उसे ही पीलो। पानी पियोगी तो ठंडी हो जाओगी।" महाराज जी को ठंडेपन से चिढ़ है। हमें क्यों डॅटवाओगी।"

"तुम चिन्ता न करो। महाराज जी मेरी सेवा से इतने प्रसन्न होंगे कि कभी किसी को डाँट नहीं पायेंगे।"

"है तो तू अनुपम सौन्दर्य की स्वामिनी। मगर महाराज जी का मन भरे तब न।"

"अच्छा एक बात बताओ। यहाँ और कौन होगा ?"

"तू होगी और महाराज जी होंगे।"

"बस, तीसरा कोई भी न होगा ?"

"ऐसे अवसर पर किसी तीसरे की क्या आवश्यकता।" जाओ रातभर महारानी बनने का सौभाग्य प्राप्त करो।"

"और फिर ?"

"फिर क्या। जहाँ जाना चाहोगी, भेज दी जाओगी। नहीं तो जो कर्मचारी तुम्हें पसन्द करेगा, उसी के साथ रहना पड़ेगा।"

"महाराज जी सदा के लिए नहीं रखेंगे ?"

"सदा के लिये तो कोई कर्मचारी भी नहीं रखेगा। कुछ दिन अपने पास रखकर एक दूसरे को सौंप देता है। दूसरा तीसरे को और तीसरा चौथे को।"

"तुम्हें यह सब कैसे मालूम ?"

"भुक्तभोगी क्या नहीं जानता ?"

"परन्तु, तुम तो यहाँ सजाने का कार्य कर रही हो ?"

"हाँ, महाराज जी की कृपा से मैं किसी कर्मचारी को सौंपी नहीं गई। मुझे महाराज जी की सेवा में ही बने रहने का सौभाग्य प्राप्त हो गया।"

"फिर तो महाराज जी मेरी भी प्रार्थना सुन लेंगे।"

"क्यों नहीं, होश बनाये रखोगी तो ऐसे अवसर पर जो चाहोगी मनवा लोगी। महाराज जी ऐसे समय पूर्णतया वश में होते हैं।"

"कब भेंट होगी महाराज जी से ?"

"इतना उतावलापन किसलिये। अभी लिये चलती हूँ।"

"कहीं दूर तो नहीं चलना पड़ेगा। इतने वस्त्राभूषण शरीर पर लादकर मुझसे न चला जायेगा।"

"हो तो ग्रामीण मगर बड़ी सुकुमार लग रही हो। डोली मंगवा दूँ ?"

"दूर चलना हो तो जरूर मंगवा दो। प्यास मेरी अभी तक बुझी नहीं है।"

"महाराज जी की सेवा में सब एक साथ बुझ जायेगी। उठो, आओ, चलें।" चैलबाला को भलीभाँति निरीक्षण कर प्रमुख परिचारिका ने सावधान किया, "सम्हाल कर कदम उठाना। पैर कहीं फिसल न जाय।"

चैलबाला ने दो-तीन पग ही बड़ी मुश्किल से बढ़ाये होंगे कि मखमली कालीन पर पैर फिसल ही तो गया, किन्तु परिचारिका सावधान थी। हाथ थामे हुए थी। गिरने न दिया। परिचारिका के सहारे चैलबाला कक्ष-पर-कक्ष पार करती हुई चली गई।

शैलबाला ने जैसे ही एक कक्ष विशेष में प्रवेश किया, उसकी दृष्टि सीधे सामने बैठे मदिरा पान करते हुए कीर्तिदेव पर पड़ी। सामने एक सुन्दरी भी बैठी थी। मदिरा पात्र उसके हाथ में था। निकट ही वाद्ययन्त्र रखे हुए थे। दीपदानों से सुगन्धित प्रकाश वातावरण को मोहक बना रहा था। शैलबाला ठिठक कर खड़ी हो गई थी। कीर्तिदेव मदिरा के मद में मदान्ध तो हो ही चुका था। उसने अर्धोन्मीलित नेत्रों से 'शैलबाला को देखा। देखा तो देखता ही रह गया। जब शैलबाला न हिली न डुली तो उसने अस्फुट स्वर में कहा, "खड़ी क्यों हो वहाँ? मेरे पास यहाँ आओ।" शैलबाला मूर्तिवत् खड़ी रही। उसने उठने का उपक्रम किया, किन्तु उठते ही गिर गया। उसमें खड़े होने की सामर्थ्य न थी। उसी अवस्था में सिर उठाकर वह बोला, "मुझे उठाओ न। लो मेरा हाथ पकड़ो। आगे बढ़ो। बढ़ो आगे। खड़ी क्यों हो? सुनाई नहीं देता क्या? कोई बात नहीं। दिखाई तो दे रहा है। कितनी बड़ी-बड़ी आँखें हैं तुम्हारी। सुन्दर भी तुम किसी से कम नहीं हो। कहाँ थीं अब तक तुम। लो पकड़ो मेरा हाथ और उठाओ मुझे। मैं तुम्हें रानी बना दूंगा, सिंहासन पर बिठा दूँगा। मेरा कहना करो।" शैलबाला फिर भी जब टस-से-मस न हुई तो कीर्तिदेव ने स्वयं उठने की चेष्टा की। दो बार तो वह प्रयास में असफल रहा। तीसरी बार किसी तरह लड़खड़ाता हुआ वह खड़ा हो ही गया। किन्तु पैर उसे थाम नहीं पा रहे थे। जैसे वे शरीर का बोझ उठाने से इंकार कर रहे थे। झूमता हुआ वह बोल रहा था, "कभी किसी ने नहीं उठाया। तुम्हारी तरह सभी ने मुझे गिराया।" हाथ भी भावाभिव्यक्ति करने में अशक्तता प्रदर्शित कर रहा था।

वह लड़खड़ाता हुआ आगे बढ़ रहा था। शैलबाला को घबड़ाहट पीछे हटा रही थी। उसने रुककर आश्चर्य प्रकट किया, "अरे! तुम तो आगे बढ़ रही हो? फिर मैं ही पीछे क्यों हटूं? लो मुझे सम्हालो।" उसने दोनों हाथ आगे बढ़ा दिए। फिर भी जब शैलबाला ने उन हाथों को न थामा तो वह बोला, "आश्चर्य है। तुम रानी नहीं बनना चाहतीं? तुम्हारे चाहने न चाहने से क्या होता है। जब यहाँ तक आ ही गई हो तो आओ और आगे बढ़कर अपने नाम के आगे रानी जुड़वा लो। लेकिन 'रानी' तब जुड़ेगा जब तुम मुझसे जुड़ोगी। आओ, जुड़ जाओ आकर।" शैलबाला रुक-रुक कर पीछे

हट रही थी। पीछे दीवाल थी। अधिक हटा नहीं जा सकता था। उसने मुड़कर देखा तो दीवाल पर दो तलवारें एक दूसरे को काटती हुई दिखाई दीं। कीर्तिदेव में न जाने कहाँ से शक्ति आ गई थी। वह एक-एक पग बढ़ता ही जा रहा था। शनैः शनैः दोनों के मध्य का अन्तर समाप्त हो रहा था। वह सफलता से उमंगित हो बोल भी रहा था, "यह दीवाल भी मेरी कितनी सहायता करती है। ज्यादा पीछा नहीं करना पड़ता। अब मुझसे दूर कैसे हट पाओगी। आओ अब तो मेरी बाँहों में ·· · ·· ···।" जैसे ही कीर्तिदेव ने धौलवाला को अपनी भुजाओं के घेरे में लेना चाहा वैसे ही वह नीचे बैठ गई। कीर्तिदेव के दोनों हाथ दीवाल पर जा थमे। झटका खाकर वह बोला, "अरे! इतनी फुर्ती भी किस काम की। अधिक तंग करोगी तो मैं ऐसा छकाऊँगा कि जीवन भर न भूल सकोगी। बचकर जाओगी कहाँ।" कीर्तिदेव को मुड़ना पड़ा। धौलवाला के लिए अब काफी स्थान था। मन-ही-मन उसने कीर्तिदेव को छकाने का निश्चय कर रखा था। वह समझती थी कि इस स्थिति में तो कीर्तिदेव उसे अधिकृत करने से रहा, फिर भी मन-मस्तिष्क के किसी कोने में भय भी कम न था। खाली दाँव से कीर्तिदेव को झटका सा लगा। वह सम्हला और पुनः आगे बढ़ा। धौलवाला उसी गति से पीछे हटी। उसने सावधान किया, "खड़ी रहो, तनिक भी पीछे हटी तो खैर नहीं। आगे बढ़ो। इतना तंग तो आज तक किसी ने नहीं किया।" फिर भी धौलवाला हटती ही चली गई। उसने डाँटा, "तू इस तरह नहीं मानेगी।" और वह धौलवाला पर बाज की तरह झपटा। उससे धौलवाला को इतनी तेजी की आशा न थी। उसे अनुभव हुआ कि उसका हाथ कीर्तिदेव की सशक्त पकड़ में आ चुका था। फिर भी धौलवाला ने पूरी शक्ति से झटका दिया। उसका हाथ मुक्त हो गया। कीर्तिदेव आश्चर्यचकित हो उठा, किन्तु ऐसी स्थितियों का सामना न जाने वह कितनी बार कर चुका था। क्रोध को दबाकर वह मृदुल स्वर में बोला, "कलाई में मोच तो नहीं आ गई? लाओ, सहला दूँ।" वह आगे बढ़ा।

धौलवाला भयभीत तो थी ही, पीछे हटते हुए उसने संकेत किया, "इससे मुझे डर लग रहा है।"

"जानती हो, यह क्या है?"

"नहीं।" धौलवाला ने भययुक्त मुद्रा को नकारात्मक ढंग से हिलाया।

"फिर डर कैसा?"

"मुझे हर अपरिचित वस्तु से डर लगता है।"

"लो, इससे परिचय कराये देता हूँ।" कमर में खुसी कटार को निकालकर दिखाते हुये कीर्तिदेव बोला, "यह कटार है। इसकी नोक विषयुक्त है।

इसके शरीर में लगते ही प्राणान्त तक हो सकता है।"

"और आप इसे हाथ में पकड़े हुए हैं ?"

"तो क्या हुआ। तुम भी छूकर देखो न। तुम्हारा भय दूर हो जायेगा।"

"नहीं, मैं नहीं छूने की इसे। इसकी शक्ल तो बड़ी भयावनी लगती है।" हाथों से नकारात्मक अभिव्यक्ति की शैलबाला ने।

कीर्तिदेव को शैलबाला की एक-एक मुद्रा मोहक लग रही थी। उसका अभिनय था भी सोद्देश्य। कीर्तिदेव ने मुद्रा-दर्शन के लोभ में कहा, "कितनी सीधी है बेचारी छूकर देखो न।"

शैलबाला डरते-डरते बोली, "पर······पर······पर······कहीं कुछ ········।" सहमते हुए उसने कटार की ओर हाथ बढ़ाया।

शैलबाला के हाथ में कटार पकड़ाते हुये कीर्तिदेव ने सावधान किया, "इसके इस फल को मत छूना।"

"क्यों ?" शैलबाला विस्फारित नेत्रों से कीर्तिदेव की ओर देख रही थी।

"बता तो चुका हूँ कि यह विष बुझी कटार है।"

"किन्तु विष तो इसमें कहीं दिखाई नहीं देता ?" शैलबाला ने कटार को घुमा-फिराकर ध्यान से देखा।

"फल के नोक में जो कालिमा है वही विष है। किसी भी व्यक्ति के प्राणान्त के लिये इतना विष यथेष्ट है।"

"फिर तो यह बड़े काम की वस्तु है। हर एक को अपने पास रखना चाहिए। क्या मैं इसे रख सकती हूँ ?"

"तुम इसे रखकर क्या करोगी ?"

"अपनी रक्षा।" कीर्तिदेव के पेट में घुसेड़ते हुए शैलबाला सक्रोध बोली, "तुम जैसे नारकीय कीड़ों की वासनात्मक दृष्टि से बचने के लिए इसकी आवश्यकता है।"

भयानक चीत्कार के साथ कीर्तिदेव मुंह के बल फर्श पर धराशायी हो गया। उसके गिरते ही शैलबाला जिस रास्ते से अन्दर आयी थी, उसी से बाहर की ओर भागी। स्थान से अपरिचित होने पर भी वह भाग रही थी। भागते-भागते वह प्रमुख द्वार तक आ पहुँची थी। आभूषणों की ध्वनि सुनकर द्वारपाल हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ और अंधेरे में द्वार खोलने की चेष्टा करते हुए बोला, "आज बड़ी जल्दी जा रही हो। जल्दी ही लौटना। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा।"

द्वार खुलते ही शैलबाला और भी तेजी से भागने लगी। तिमिराच्छादित जनशून्य मार्ग पर शैलबाला उन्मुक्त पक्षी की भाँति उड़ती चली जा रही

थी। राजमार्ग पर कुछ दूर ही वह बढ पाई होगी कि सुनाई दिया, "कौन है ? रुक जा।"

शैलबाला की गति और तीव्र हो गई।

"भागने की व्यर्थ चेष्टा मत करो।" दूसरे व्यक्ति ने बीच में खड़े होकर मार्ग रोक लिया।

शैलबाला को रुकना पड़ा। वह बुरी तरह हांफ रही थी। कुछ पल ही वह खड़ी रह पाई होगी कि अपने को पुनः संकट ग्रस्त समझकर वह चेतना शून्य हो वहीं गिर पड़ी।

दोनों ने उसे उठाया और राजमार्ग छोड़ दिया।



सचेत होने पर शैलबाला ने अपने को अपरिचितों के मध्य घिरा पाया। भयातुर दृष्टि से वह एक-एक को देखने लगी। उनमें से एक प्रौढ़ व्यक्ति ने शैलबाला की मनःस्थिति का अनुमान कर धैर्य बंधाया, "घबड़ाओ नहीं। तुम कौन हो बेटी ? अपने को पूर्णतया सुरक्षित समझो। भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं।"

उस व्यक्ति की आत्मीयता से पूर्ण आश्वस्त होने पर भी शैलबाला ने जानना चाहा, "आप लोग कौन हैं ?"

"मैं हूँ विशालदत्त और ये सब मेरे साथी हैं।"

"आप ही विशाल दादा हैं ?" असीम कौतूहल मिश्रित जिज्ञासा थी शैलबाला के स्वर में।

"हाँ बेटी, विशाल दादा मैं ही हूँ।"

सहसा गम्भीर हो सशंकित दृष्टि से चारों ओर देखते हुए शैलबाला बोली, "दादा ! मैं उस महाराज नाम के दुष्ट राक्षस को मार आयी हूँ।"

सुनते ही सहसा सब आश्चर्यचकित हो उठे। विशालदत्त ने भ्रम निवारणार्थ प्रश्न किया, "तक्षशिलाधीश कीर्तिदेव को तुम मार आई हो ?"

"हाँ, दादा। उस अत्याचारी के जीवन का अन्त होना आवश्यक था।"

"पर, कैसे ?"

शैलबाला ने सम्पूर्ण विवरण सविस्तार सुना दिया। सुनने के पश्चात्

एक सहयोगी को सम्बोधित कर विशालदत्त बोले, "भारत ! जिस घड़ी की प्रतीक्षा हम लोग इतने दिनों से कह रहे थे, वह आ गई है। तुम फौरन जाओ। सबको इस सुघटना से परिचित कराकर अविलम्ब लौटो।" भारत के वहाँ से जाते ही विशाल दत्त ने धौलबाला की ओर देखते हुए प्रशंसा की, "शाबाश बेटी ! तूने वह काम कर दिखाया है, जिसे हम लोग लाख कोशिश करने पर भी न कर सके। कभी-कभी मैं सोचा करता था कि इस कीर्तिदेव की हत्या किसी-न-किसी वीरबाला के ही हाथों होगी। और वह वीरबाला तुम सिद्ध हुई बेटी। अच्छा ! अब, बेटी, तू अविलम्ब अपना यह वेश परिवर्तित कर डाल। सीधी-सादी भोली-भाली ग्रामीण बाला बन जा। मैले-कुचैले वस्त्र धारण कर ले।"

"किन्तु दादा, मेरे पास तो इन वस्त्राभूषणों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।"

"जा, इस कोठरी में चली जा। सब कुछ मिल जायेगा। मनचाहा छाँट लेना।" धौलबाला निर्देशित कोठरी मे प्रवेश कर गई।

कुछ देर बाद जब धौलबाला बाहर निकली तो पहचानी नहीं जा रही थी। ऐसा वेश धारण कर लिया था कि स्वयं के द्वारा भी पहचाना जाना कठिन था। विशालदत्त ने उसे देखते हुए समझाया, "अच्छा बेटी ! तेरा जहाँ जी चाहे तू जा सकती है। इस बुढ़िया के वेश में तुझे कोई राजकर्मचारी छेड़ेगा तक नहीं। घास काटने की यह खुरपी तूने अच्छी हाथ में ले रखी है। संकट के अवसर पर काम भी खूब कर सकती है यह।"

"पर, दादा मैं जाऊँगी कहाँ। एक दादा थे। उन्हें मारकर कर्मचारी तो मुझे उठा लाये थे। गाँव वाले भला मुझे गाँव में घुसने भी देंगे ? मुझ पर विश्वास करेंगे ? दादा ! अनुचित न समझें तो अपनी इस बेटी को अपनी ही छत्रछाया में बनी रहने दें।"

"यह मेरा सौभाग्य है कि तुझ जैसी वीर बेटी की सेवा का कुछ तो अवसर मिला। मुझे प्रसन्नता ही होगी यदि तू मेरे साथ रहेगी। मगर बेटी हम लोग विद्रोही समझे जाते हैं। सरकारी कर्मचारियों की कुदृष्टि हमें निरन्तर खोजती रहती है। न मालूम कब उनके कोप के भाजन बन जायें। और अब तो और भी सावधान रहना होगा।"

"दादा ! मेरे कारण ही तो आप लोगों को विशेष सावधान रहना पड़ेगा। मुझे भी मर जाना चाहिए।"

"नहीं बेटी ! तुझ जैसी वीर बेटी को ही तो जीने का अधिकार है। कीर्तिदेव को समाप्त कर तूने न जाने कितनी अबलाओं की प्रतिष्ठा की रक्षा

की है । तू साथ रह बेटी । जब तक विशालदत्त के शरीर में प्राण रहेंगे, तेरा बाल भी बांका कोई न कर सकेगा ।"

"दादा ! आप महान हैं । आप विद्रोही नहीं रक्षक हैं । तक्षशिला में आज नारी अत्यन्त असुरक्षित है । अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी जो नारी की रक्षा का भार आप उठाये हुए हैं, वह कोई मातृभूमि भक्त ही कर सकता है ।"

"अच्छा बेटी ! अधिक मस्तिष्क विकृत न कर । कीर्तिदेव की हत्या कोई सामान्य घटना नहीं है । किस क्षण न जाने क्या हो जाय । मुझे बाहर निकलकर देखना चाहिए । तू यहीं रह । तेरी रक्षा के लिए अपने कुछ साथियों को छोड़े जा रहा हूँ । किसी प्रकार की चिंता मत करना ।"

"आपका आशीर्वाद मेरी रक्षा करेगा ।"

"शीघ्र ही लौटूंगा, बेटी । अरे ! तूने अपना नाम तो बताया नहीं ?"

"शैलबाला । दादा जी मुझे शैला के नाम से पुकारते थे । आप भी मुझे शैला ही कहें ।"

"अच्छा शैला, बेटी । तू विश्राम कर । जल्दी ही लौटूंगा ।"

विशालदत्त के जाने के बाद शैलबाला ने आँखें मूंद लीं और निद्रा की गोद में खो गई ।

कीर्तिदेव का चीत्कार सुनकर ऊँघती हुई अनेक परिचारिकाएँ एक साथ दौड़ पड़ी थीं । वहाँ का दृश्य देखकर सभी स्तब्ध रह गई थीं । कीर्तिदेव अन्तिम सांसें बड़ी कठिनाई से ले पा रहा था । अपलक दृष्टि से सभी अपने अत्याचारी कीर्तिदेव को देख रही थीं । अत्याचारी के अंत से अन्दर तो सुख-संतोष की अनुभूति कर रही थीं किन्तु अब क्या होगा—का प्रश्न सबको भयभीत बनाये था ।

एक ने यथाशक्ति मन्दस्वर में कहा, "अपने किये का फल एक-न-एक दिन सबको चखना पड़ता है ।"

दूसरी बोली, "दीदी ! तुम्हारा शाप लग गया ।"

"कितनों का जीवन नष्ट किया है इसने ?"

"पर वह गई कहाँ ?"

"भाग गई होगी।"

"क्या पता, बेचारी भाग भी पाई होगी। किसी के हाथ में न पड़ गई हो।"

"ऐसी को पकड़ना बड़े साहस का काम है।"

परिचारिकायें परस्पर वार्तालाप में निमग्न थीं कि सहसा कर्कश स्वर सुनाई दिया, "किसने हत्या की महाराज जी की ?" यह स्वर कीर्तिदेव के छोटे भाई भीमदेव का था।

भीमदेव को देखते ही सभी परिचारिकायें सांस साध गईं। किसी ने भी प्रश्न का उत्तर न दिया।

कीर्तिदेव अंतिम सांस पहले ही ले चुका था। भीमदेव ने अधिकारपूर्ण भीषण स्वर में पुनः पूछा, "कौन है हत्यारा महाराज जी का, नन्दिनी ?"

नन्दिनी को बोलना पड़ा, "कदाचित आज रात वाली ने ही......।"

"कहाँ है वह ?" क्रोध में ही भीमदेव गरजा।

"हम लोगों के यहाँ तक पहुँचने के पहले ही वह भाग गई।"

"कहाँ मर गई थीं तुम सब। वह भाग कैसे गई ? जाओ, शीघ्र खोज निकालो उसे। होगी तो दुर्ग के अन्दर ही। बाहर नहीं जा सकती।"

सभी परिचारिकायें आदेश सुनते ही फुर्र हो गईं।

भीमदेव भी वहाँ खड़े न रह सका। कक्ष के बाहर बड़बड़ाता हुआ निकल आया, "विद्रोहियों का षड्यन्त्र कदाचित सफल हो गया।"

अनुचरवाहिनी बाहर प्रतीक्षा में खड़ी थी। भीमदेव प्रमुख द्वार की ओर उन्मुख हो गतिमान हो गया। अनुचर वाहिनी भी अनुसरण कर उठी। द्वारपाल से भीमदेव ने पूछा, "कुछ देर पहले कोई बाहर तो नहीं निकला है ?"

"नहीं महाराज जी। आज तो संध्या से द्वार खुला ही नहीं।"

भीमदेव ने लौटते हुए आदेश दिया, "महाराज जी की हत्या हो गई है। कोई भी दुर्ग से बाहर न जाने पाये।"

"जो आज्ञा।" द्वारपाल ने स्वामिभक्ति व्यक्त की।

दूसरे द्वारपाल ने, जो निकट ही खड़ा था, कहा, "अभी कुछ ही देर पहले तो एक गई थी।"

"वह तो माधुरी थी, माधुरी। माधुरी एक बार नहीं, सौ बार भी आना-जाना चाहे तो द्वार खुलेगा।"

"खूब वश में कर रखा है उसने भी तुम्हें।"

"उस जैसी मनमोहिनी सूरत वाली दुर्ग में है एक भी ? बोलती है तो फूल

झड़ते हैं; चलती है तो मन डोल उठता है; देखती है तो दृष्टि भीतर तक धँस जाती है, और मुस्कराती है तो आकाश में बिजली चमक उठती है।"

"हाँ भाई, भाग्य है अपना-अपना। मुझे तो माधुरी फूटी आँखों भी नहीं देखती।"

"किसकी आँखें फाड़े डाल रहे हो द्वारपाल जी?"

"कौन? माधुरी! तुम अन्दर से आ रही हो? बाहर से भीतर कब आई तुम? द्वार तो मैंने खोला ही नहीं।"

"मैं बाहर गई ही नहीं थी। आज अधिक चढ़ा ली है क्या?"

"तुम अभी बाहर नहीं गई थीं?"

"अरे भाई! सुबह से बाहर नहीं निकली हूँ।"

"फिर वह कौन थी? कहीं वही तो नहीं थी!"

"अच्छा तो अब औरों के लिये भी द्वार खुलने लगा है।"

"अरी भागवान धीरे बोल। कोई सुन लेगा तो प्राण संकट में पड़ जायँगे।"

"क्यों, क्या हो गया है?"

"महाराज जी की हत्या हो गई है और हत्यारिन भाग गई है।"

"कैसे?"

"तुम्हें समझकर मैंने द्वार खोल दिया था।"

"आग लगे तुम्हारी समझ को। अच्छा जल्दी से द्वार खोलो।"

"इस समय द्वार न खुलवाओ। छोटे महाराज जी द्वार न खोलने का आदेश दे गये हैं।"

"खोलते हो या महाराज जी से कह दूं जाकर कि..........।"

माधुरी की धमकी काम कर गई। द्वारपाल घबड़ाकर बोला, "ऐसा गजब न करना। अभी खोलता हूँ द्वार। तनिक देख लूं। महाराज जी आस-पास हैं तो नहीं।" द्वार खोलते हुए द्वारपाल बोला, "तेरी जगह कोई भी होता तो द्वार न खुलता।"

"महाराज जी की हत्यारिन होती-तो?"

"तेरी कसम माधुरी। तुझे समझकर द्वार खुल गया।"

"और अब क्या समझकर मुझे बाहर निकाल रहा है?" द्वार से बाहर निकल माधुरी ने मुस्कान बिखेर दी।

"अपनी जान।" द्वारपाल उस मधुरिम मुस्कान में तिरोहित हो उठा था।

❂❂❂

द्वार पर बाहर से सुपरिचित ध्वनि-संकेत सुन प्रमुख द्वारपाल ने अपने सहयोगी से कहा, "थोड़ा खोल दे, माधुरी है।"

"मैं नहीं खोलने का। छोटे महाराज जी की आज्ञा का उल्लंघन मैं नहीं कर सकता।"

"इसी दम पर माधुरी की कृपादृष्टि पाना चाहते हो?"

"तुम्हीं आनन्द उठाओ उसकी कृपादृष्टि का। ऐसी कृपादृष्टि को मेरा दूर से ही नमस्कार है। मेरी बात याद रखना एक दिन यही औरत तुम्हें ले डूबेगी।"

"सावधान! जो एक भी शब्द उसके विरुद्ध कहा।"

"ये! सुनते हो! यह अकड़ अपनी चहेतिन को ही दिखाना। मैं कोई तेरी माधुरी नहीं जिसके लिये तू कृतघ्न ....।" वाक्य पूर्ण होने से पूर्व ही उसका सिर कट कर दूर जा गिरा।

ध्वनि-संकेत तीव्रतर होता जा रहा था। द्वारपाल ने द्वार खोल दिया। सहस्रों विद्रोही एक साथ दुर्ग में घुस पड़े। किसी के एक ही प्रहार से उस द्वारपाल का भी सिर पृथ्वी पर लुढ़कने लगा।

दुर्ग में कोहराम मच गया। जो जहाँ मिला, उसे वहीं सदा के लिए सुला दिया गया। दुर्ग रक्षकों का सफाया करते-करते विशालदत्त के नेतृत्व में विद्रोही आगे बढ़ रहे थे। अन्दर भीमदेव को सूचना मिली। वह सहस्रों सैनिकों को साथ लेकर विद्रोहियों की ओर लपका। देखते-देखते दोनों के मध्य का अन्तर समाप्त हो गया। आघात-प्रतिघात होने लगे। सैनिक और विद्रोही दोनों ही धराशायी हो रहे थे। अस्त्र-शस्त्र टकराकर झंकार उत्पन्न कर रहे थे। कुछ ही देर में लड़ते-लड़ते दोनों ओर के वीर अनेक दलों में विभक्त हो गये। भीमदेव के सामने था विशालदत्त। कोई किसी से कम न था। एक दूसरे पर बच-बच कर आघात कर रहे थे। प्रत्येक प्रहार अन्तिम सा प्रतीत हो रहा था, किन्तु विरोधी का शस्त्र-संचालन कौशल उसे विफल बना रहा था।

एक ओर जहाँ राजकीय सैनिकों की संख्या घट रही थी वहीं दूसरी ओर विद्रोहियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। मुख्य द्वार पूर्णतया उन्मुक्त था। साधारण नगर निवासी भी सुलभ शस्त्र लेकर दुर्ग में प्रवेश कर रहा था। कुछ ही देर में सैनिकों की टुकड़ियों को समाप्त कर विद्रोही विशालदत्त

की सहायतार्थ आ पहुँचे थे । भीमदेव के चारों ओर विद्रोही-ही-विद्रोही दिखाई दे रहे थे । भीमदेव कुशल योद्धा था । उसका रूप विकराल हो रहा था । दोनों हाथों से वह शस्त्र संचालन कर रहा था । सहस्रों शस्त्र एक साथ भीमदेव पर गिर रहे थे । जीवन के अन्तिम क्षण समक्ष भीमदेव भी विद्रोहियों का विनाश पूरी शक्ति से कर रहा था, किन्तु वह था अकेला और विद्रोही थे असंख्य । विशालदत्त भीमदेव की वीरता से प्रभावित हो रहा था । उन्होंने अपने सहयोगियों को शान्त होने का संकेत किया । विद्रोहियों के प्रहार कम होने लगे । भीमदेव ने समझा कि विद्रोही दब रहे थे । वह और भी तीव्रता से प्रहार करने लगा । कुछ विद्रोही धराशायी भी हुए । सामने से विद्रोही हटते चले गये । भीमदेव अपनी धुन में मस्त था । शस्त्र प्रहार व्यर्थ ही जा रहा था फिर भी वह शान्त न हो रहा था । विद्रोही कुछ अन्तर से खड़े होकर भीमदेव का शस्त्र-संचालन देखने लगे । भीमदेव ने मैदान साफ समझा । प्रहार की गति कुछ मन्द पड़ी । तलवारें दोनों हाथों में थीं । अंग इतने अधिक आहत हो चुके थे कि रुकते ही तलवारें हाथ से छूट गयी । खाली हाथ घूमते रहे । पैर अवश्य हाथों का साथ दे रहे थे । विद्रोहियों ने देखा कि अंग संचालन भी शनैः शनैः धीमा होता जा रहा था । भीमदेव देखते-देखते स्वतः धराशायी हो गया । विद्रोहियों ने भीमदेव के वीर धर्म के प्रति शिर झुकाकर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की ।

कीर्तिदेव के समाप्त होते ही तक्षशिला निवासियों ने चैन की साँस ली । अत्याचार की आशंका न रही । विशालदत्त तक्षशिलावासियों के आकर्षण के केन्द्र बन गये थे । उन्हीं के अनुसार जीवन यापन प्रारम्भ हो गया था । जो ग्रामीण विद्रोही दल में सम्मिलित होने के लिये नगर में आ बसे थे, अपने-अपने गाँव वापस चले गये । विशालदत्त की व्यस्तता बढ़ गई थी । अव्यवस्था को व्यवस्था में बदलने के लिये दिन-रात परिश्रम करना पड़ा था। हर समस्या का समाधान विशालदत्त के पास था । जो विशालदत्त कह देते वह पत्थर की लकीर बन जाता था । विशालदत्त के मुँह से निकला शब्द कानून था । सरकारी सत्ता विशालदत्त की सक्रियता के समक्ष नतमस्तक थी ।

परिस्थिति एक सी कभी नहीं रहती। तक्षशिला में परिवर्तन की सूचना मगध पहुँची। मन्त्रिपरिषद ने युवराज सुसीम को तक्षशिला भेजा। युवराज के आगमन की सूचना विशालदत्त को पहले ही मिल चुकी थी। तक्षशिला निवासियों को विशालदत्त ने दुर्ग में एकत्र किया। दुर्ग द्वार अन्दर से बन्द कर दिये गये। दुर्गभित्ति पर विद्रोहियों की सजगता परिलक्षित होने लगी थी। युवराज का तक्षशिला नगर में ससैन्य प्रवेश हुआ। नगर जनशून्य था। परिस्थिति को समझते देर न लगी। दुर्ग को घेर लिया गया। एक माह तक घेरा पड़ा रहा। न टक्कर हो रही थी न समर्पण का ही कोई समाचार मिल रहा था। एक दिन महाबलाधिकृत ने ऊब कर युवराज की सेवा में निवेदन किया, "कब तक हम इस प्रकार निष्क्रिय पड़े रहेंगे ?"

"क्यों यहाँ कष्ट ही क्या है ? सुख के सब साधन तो हैं। जीवन का दुर्लभ आनन्द आप भी उठाइए।"

"अगर आप आज्ञा दें तो हम दुर्ग पर आक्रमण करें।"

"दुर्ग पर आक्रमण से लाभ ? और क्या आप स्वकथन भी विस्मरण कर बैठे कि यह दुर्ग अजेय है।"

"फिर भी प्रयास तो करना ही चाहिये।"

"सोते हुये साँपों को छेड़ना ठीक नहीं। विद्रोही शान्त हैं। उन्हे उकसाने की चेष्टा न कीजिए। हमारी प्रतिष्ठा के विरुद्ध वे कुछ भी तो नहीं कर रहे हैं।"

"परन्तु अब तक महामात्य के न जाने कितने दूत आ चुके हैं। वे जानना चाहते हैं कि विद्रोहियों के विरुद्ध हम क्या कदम उठा रहे हैं।"

"उन्हें सूचना भेज दीजिये कि हम जो उचित समझते हैं, कर रहे हैं। आपको चिंतित होने की आवश्यकता नहीं।"

"ऐसी सूचना न भेजवाइए, युवराज जी। महामात्य की ही चिन्ता का परिणाम है यह मगध साम्राज्य।"

युवराज झुंझला उठा, "फिर वही रोना। कितनी बार आपको मना कर चुका कि महामात्य की महत्ता से मुझे परिचित कराने की चेष्टा न किया करिए। जब देखो तब महामात्य। महामात्य–महामात्य सुनते-सुनते मेरे कान पक गये। फिर कभी महामात्य का नाम मुझे नहीं सुनाई पड़ना चाहिए। जाइये, अपना काम देखिए जाकर। मेरा मस्तिष्क विकृत न कीजिये। और अन्तिम बार ध्यान से सुन लीजिये—मेरे आमोद-प्रमोद के क्षणों में आप व्यवधान बनने की चेष्टा कभी न करें।"

"जो आज्ञा।" महाबलाधिकृत शिष्टाचार का पालन कर वहाँ से चले गये।

सम्पूर्ण तक्षशिला नगर वीरान पड़ा था। न कहीं विरोध था न स्वागत। सुसीम ने नगर पर अधिकार को अपनी सफलता समझा। इस भ्रम में समय नष्ट होता रहा कि आवागमन के अभाव में दुर्गवासी विद्रोही स्वतः समर्पण कर देंगे किन्तु यह स्थिति न आनी थी न आई। नगर के ऊँचे-ऊँचे प्रासाद जनशून्य पड़े थे। उनमें से एक को युवराज ने अपना आवास बना लिया था। सुख के जो साधन मगध से साथ आये थे, उन्हीं में युवराज रम गये। पाटलिपुत्र में तो सम्राट का भय सदा बना रहता था। स्वच्छन्दता बाधित रहती थी। तक्षशिला में युवराज की सत्ता सर्वोच्च थी। जो भी अंतरंग मण्डल साथ आया था, युवराज की प्रशंसा करते हुए थकता नहीं था। युवराज की स्वच्छन्द प्रकृति का खुला प्रदर्शन होने लगा।

महाबलाधिकृत जीवन में अनेक युद्धों का सफल संचालन कर चुके थे। अपनी क्षमता पर उन्हें विश्वास था। अनेक बार युवराज से दुर्ग पर आक्रमण करने की आज्ञा मांगने पर भी जब युवराज की स्वीकृति न प्राप्त हुई तो उन्होंने महामात्य को वास्तविकता से अवगत कराना ही श्रेयस्कर समझा। महामात्य से जो भी आदेश प्राप्त हुआ उसके अनुसार महाबलाधिकृत ने अंतिम बार युवराज जी की सेवा में उपस्थित होकर आक्रमण करने का आदेश प्राप्त करना चाहा, किन्तु युवराज के निर्णय में कोई भी परिवर्तन परिलक्षित न हुआ। महाबलाधिकृत ने भी सैनिकों को ढीला छोड़ दिया। सैनिकों को तो संकेत भर चाहिये। वे भी युवराज का अनुसरण कर उठे।

दो माह व्यतीत हो चुके थे। दुर्ग निवासियों का आवागमन बिल्कुल बंद था। शनैः शनैः आवश्यक वस्तुएँ समाप्त हो चली थीं। उनका अभाव पहले तो खटका फिर असह्य हो उठा। समर्पण की स्थिति पर विचार हो ही रहा था कि राजसैनिकों के शैथिल्य की सूचना प्राप्त हुई। तीन दिन तक निरन्तर समस्या पर वाद-विवाद हुआ और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि युवराज को आमन्त्रित किया जाय। विद्रोहियों के आमन्त्रण से युवराज की प्रसन्नता की सीमा न रही। वह दुर्ग प्रवेश के लिए उतावला हो उठा। उतावलेपन में उसने महाबलाधिकृत को भी सूचित न किया और जो भी अंगरक्षक उसके साथ थे उन्हें ही लेकर वह दुर्ग की ओर चल पड़ा। दुर्ग द्वार युवराज के स्वागत के लिए खुला पड़ा था। दूर से ही युवराज ने उसे देखा तो विजय-गर्व से वह फूल उठा। न आगे सोचा न पीछे देखा। सीधे दुर्ग-द्वार से प्रवेश कर गया। युवराज का दुर्ग द्वार में प्रवेश करना था कि योजनानुसार दुर्ग द्वार

अन्दर से बन्द कर लिया गया। युवराज को पीछे देखने की फुरसत कहाँ थी। वह तो विजयमद में फूला हुआ आगे बढ़ता जा रहा था। दुर्ग का कुछ भाग ही पार हो पाया होगा कि विशालदत्त की कठोर मुखध्वनि कानों में पड़ी, "युवराज! वहीं रुक जाओ। पहले पीछे मुड़कर अपने अंगरक्षकों को अपनी आँखों से देख लो फिर उसी स्थिति को प्राप्त होने के लिए आगे बढ़ो। युवराज ने मुड़कर देखा कि उसके अंगरक्षक सैनिक गाजर मूली की भाँति काटे जा रहे थे। युवराज पलटकर उन्हीं की ओर दौड़ पड़ा, किन्तु विद्रोहियों की संख्या अपरिमित थी असि हाथ में तो थी ही, उसके संचालन की चेष्टा भी की, किन्तु प्रहार कम हो सके, आघात सहने अधिक पड़े। युवराज रक्तरंजित हो उठा था। विशालदत्त के संकेत पर युवराज को उसी स्थिति में दुर्ग से निकाल बाहर कर दिया गया।

युवराज महाबलाधिकृत के पास क्या मुंह लेकर जाता। वह सीधा पाटलिपुत्र के लिए रवाना हो गया था।



अर्धरात्रि के गहन अंधकार में, आलोकमय शिविर में प्रवेश कर राधागुप्त ने कुमार अशोक का अभिवादन किया। राधागुप्त को बिना पूर्व सूचना के उस समय अपने शिविर में देख कुमार अशोक विस्मयाभिभूत हो उठे। विस्फारित नेत्रों से राधागुप्त के मुखमण्डल को निहारते हुए उन्होंने पूछा, "मन्त्रीवर! इस समय कैसे आगमन हुआ?"

"आप अभी तक सोये नहीं?"

"नहीं, भरसक चेष्टा करने पर भी सो नहीं सका।"

"कारण?"

"मन्त्रीवर आप तो महामात्य के उत्तराधिकारी हैं। उनकी भाँति आप भी भविष्यद्रष्टा हैं। क्या बिना विजयलाभ के मुझे भी तक्षशिला छोड़ना पड़ेगा?"

"ऐसा क्यों सोचते हैं कुमार? तक्षशिला के विद्रोहियों को परास्त करने का श्रेय आपको ही प्राप्त होगा।"

"परन्तु, कब? कुमार अशोक धैर्य का बाँध टूटने की स्थिति को पहुँच

गया था।

कुमार के स्वर में अतीव अधैर्य का आभास पा राधागुप्त ने कहा, "अधीर मत होइए, कुमार जी। आप भलीभाँति जानते हैं कि जिस विद्रोह को स्वयं मगध-सम्राट न समाप्त कर सके और जिसके कारण युवराज सुसीम के प्राण संकट में पड़ गये, क्या उस विद्रोह को आप साधारण खेल समझते हैं ?"

"किन्तु धैर्य की भी एक सीमा होती है।"

"धैर्य असीमित होता है, कुमार। उसकी कोई सीमा नहीं होती। व्यक्ति की क्षमता सीमित होती है। अपनी सीमित क्षमता को धैर्य की सीमा समझने के भ्रम में न पड़िए। तक्षशिला के विद्रोहियों के साधन समाप्तप्राय हैं। वह समय अब दूर नहीं जब आपके समक्ष विशालदत्त हाथ बाँधे दया की भीख माँग रहा होगा।"

"असम्भव। विद्रोही विशालदत्त मृत्यु का सहर्ष वरण स्वीकार कर लेगा, परन्तु दया की भीख कभी न माँगेगा। तक्षशिलावासी टूट जायेंगे, मगर झुकेंगे नहीं।"

"झुकना होगा विद्रोहियों को मगध शक्ति के समक्ष, कुमार। प्रतिकूल विचारों को मस्तिष्क में स्थान मत दें। कभी-कभी ऐसे विचार विजेता के भाग्य तक को परिवर्तित करने में सक्षम होते हैं।"

"मन्त्रीवर! अशोक को उन कुमारों की कोटि में मत समझिए जिनमें विचारों की अनुकूलता-प्रतिकूलता समझने की क्षमता नहीं होती। मेरा जीवन-निर्माण महामात्य आचार्य चाणक्य के चरणों में कर्तव्य की ठोस आधारभूमि पर हुआ है।"

"परिचित हूँ, कुमार। भलीभाँति परिचित हूँ परन्तु आपके विचार सुनकर कुछ ऐसा आभासित हुआ जैसे गुरुदेव और पितामह चन्द्रगुप्त की इस भूमि के प्रति श्रद्धा बोल रही है।"

"गुरुदेव और पितामह की इस भूमि के प्रति श्रद्धा से आपका अभिप्राय ?"

"गुरुदेव और मौर्य कुलभूषण स्वर्गारोही चन्द्रगुप्त के जीवन विकास की स्थली यही है। इसी भूमि ने गुरुदेव को अभूतपूर्व बौद्धिक शक्ति प्रदान की और आपके पितामह को महाशक्तिशाली बनाया। आपको नहीं ज्ञात कि गुरुदेव के हृदय में तक्षशिला के प्रति कितनी श्रद्धा है। वही गुरुदेव की श्रद्धा आपकी वाणी से मुखरित हो रही है।"

"सम्भव है, आपकी धारणा सत्य हो, परन्तु यदि एक ओर गुरुदेव और पितामह की निर्माणस्थली है यह तक्षशिला तो सिल्यूकस और सुसीम की

विनाशस्थली भी तो है । कहीं यवन और सुसीम की भाँति मेरी भी भाग्य विधायिनी यह भूमि सिद्ध न हो।"

"ऐसा अशुभ न सोचिए, कुमार।"

"परिस्थितियाँ सोचने के लिए बाध्य कर रही हैं, मन्त्रीवर ! प्रतिकूल विचारों का तभी जन्म होता है जब सफलता की धूमिल रेखा भी भावी क्षण में दृष्टिगत नहीं होती।"

"आशा के प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होने पर अपनी क्षमता पर अविश्वास कर बैठना मानव की स्वभावसिद्ध दुर्बलता है। दुर्बलता को कहीं भी जन्म न लेने दीजिए। यदि आपके विचारों की भनक भी पा गये विद्रोही तो अपने में वे असीम शक्ति का संचरण अनुभव करने लगेंगे। फिर हमें विजय के लिए सुदीर्घ प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।"

"दो माह तो बीत गये प्रतीक्षा करते-करते। मेरा तो विचार है कि अब हमें आक्रमण कर देना चाहिए।"

"आक्रमण का परिणाम होगा महान विनाश। विद्रोही भी मगध साम्राज्य के ही अंग हैं। किसी भी अंग की क्षति साम्राज्य को शक्तिहीन ही बनायेगा।"

"किन्तु इस तरह तो हमें वर्षों प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है।"

"नहीं कुमार, मुझे आज ही कुछ ऐसे संकेत प्राप्त हुए हैं जिनसे आभास मिलता है कि विद्रोही दुर्ग की जनता की नैसर्गिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पा रहे हैं। खाद्य सामग्री के अभाव से असह्य स्थिति उत्पन्न हो गई है। सुना है, वहाँ पानी तक दुर्लभ हो गया है।"

"कुयें खोदने की सूचना तो प्राप्त हुई थी ?"

"परन्तु उनसे पानी यथेष्ट मात्रा में नहीं प्राप्त हो रहा है। पशु तो कदाचित जीवित बचे ही न होंगे।"

"तब तो आक्रमण का इससे अधिक उपयुक्त अवसर और क्या होगा ?"

"नहीं कुमार, कुछ दिन अभी और ठहरिए। आक्रमण की आवश्यकता ही न पड़ेगी।"

"परन्तु कुछ विद्रोहियों की हठवादिता के कारण निरीह प्राणियों को तो प्राणों से हाथ धोने पड़ रहे हैं।"

"धारणा नितान्त निर्मूल है, कुमार। कुछ नहीं, प्रत्येक तक्षशिलावासी विद्रोही है। अन्यथा अबतक वहाँ विद्रोहियों के भी विद्रोही उत्पन्न हो जाते। वहाँ की अनुद्वेगपूर्ण स्थिति इस बात का प्रतीक है कि प्रत्येक दुर्गवासी विद्रोही है।"

"पर तुमने, कभी विचार नहीं किया कि प्रत्येक तक्षशिलावासी विद्रोही क्यों बन गया ?"

"विद्रोह करना उनका जन्मजात स्वभाव है। यह भूमि विद्रोहियों को ही जन्म देती है। नन्द साम्राज्य का विद्रोही गुरुदेव और चन्द्रगुप्त को इसी भूमि ने तो बनाया था। और आप भी अपने इसी अल्प जीवनकाल में देख चुके हैं कि यहाँ के निवासियों ने कितनी बार विद्रोह किया है।"

"हो सकता है कि आपका कथन किसी सीमा तक सत्य हो। विद्रोह का कारण अधिकारों का अपहरण एवं शासक के अत्याचार भी तो हो सकते हैं।"

"क्यों नहीं, पर कीर्तिदेव जैसे शान्त एवं मधुर स्वभाव के प्रान्तपति से ऐसी आशा नहीं की जा सकती थी। फिर भी विद्रोहियों ने उनकी इहलीला समाप्त कर दी। सुसीम के साथ इन लोगों ने जो छलपूर्ण व्यवहार किया, क्या यह इनकी विरोधी प्रकृति को सिद्ध करने के लिए यथेष्ट नहीं है ?"

"और हम भी दो महीने से शान्ति स्थापना के लिये प्रयत्नशील हैं, पर इनके कान में जूं भी नहीं रेंग रही है।"

"समय की शक्ति से अपरिचित हैं अभी ये लोग। नहीं जानते कि समय ने अर्जुन जैसे धनुर्धर को भी शक्तिहीन बना दिया था। कुछ ही दिनों की देर है अब आपके विजयी होने में। अधिक चिंतित होने की आवश्यकता नहीं। कुछ ही रात्रि शेष रह गई है। अब आप विश्राम कीजिए।" अभिवादन करते हुए राधागुप्त शिविर के बाहर हो गये।



दुर्ग के एक सुविशाल कक्ष में विशालदत्त एक ऊँची चौकी पर बैठे हुए थे। अगल-बगल कुछ प्रमुख सहयोगी भी थे। परस्पर विचार-विमर्श चल रहा था। उनकी संख्या बढ़ती ही जा रही थी। जो भी सूचना पाता, दौड़ा चला आता था और कुछ क्षणों तक वार्तालाप सुनने के पश्चात भाग लेने की चेष्टा करता था। वार्तालाप गम्भीर तो थी ही, उसमें गर्माहट शनैः शनैः बढ़ती ही जा रही थी। विशालदत्त अपेक्षाकृत शान्त थे। जब अन्य सदस्यों का वार्तालाप अधिक उग्र हो उठता तो वह हस्तक्षेप द्वारा उसे शान्त करने की चेष्टा

करते थे। स्थिति लगभग ऐसी हो गई थी कि थाल सभी रहे थे और सुन कोई किसी की न रहा था। प्रत्येक जानता था कि कोई क्या सुनायेगा। देखे हुए को सुनने में क्या लाभ। अपना कम दूसरों के कष्टों का वर्णन अधिक हो रहा था।

सूर्यास्त हो चुका था। संध्या नायिका ने अपने पंख पसारने प्रारम्भ कर दिए थे। कालिमा की सघनता अपनी गति से बढ़ रही थी। आलोक की व्यवस्था भी प्रारम्भ कर दी गई थी। विशालदत्त रह-रह कर उग्र वातावरण को शान्त करने की चेष्टा कर रहे थे। जब उग्रता उन्हें असह्य हो गई तो वह उठ खड़े हुए किन्तु इसके पूर्व कि वह अपना मुंह खोल सकें एक स्त्री ने प्रवेश किया, और अपने अंक का शिशु विशालदत्त के चरणों में रखकर करुण स्वर में बोली, "दया कीजिए देव।"

"क्या है ? क्या हुआ है इसे ?" शिशु पर एक दृष्टि डाल विशालदत्त ने उस स्त्री से पूछा।

"तीन दिन से दूध की एक बूंद भी इसे प्राप्त नहीं हो सकी है। भूख से इसका रोना मुझसे नहीं देखा जाता।" वह स्त्री स्वयं रो पड़ी।

शिशु ने भी मां का साथ दिया।

विशालदत्त ने अनुभव किया कि भूख से उत्पन्न दुर्बलता के कारण शिशु में रोने की भी शक्ति शेष नहीं रह गई थी। उसका रोना कुछ ही पलों में शान्त भी हो गया था। विशालदत्त ने करुणा विगलित स्वर में उपस्थित सहयोगियों को सम्बोधित किया, "देख रहे हैं आप लोग ? भूख के सामने रोने की शक्ति तक पराजित हो गई है। अब भी समय है। हठ त्यागिये। इन अबोध प्राणियों का बलिदान कब तक सह सकेंगे ? विचित्र भाई! परिस्थिति की गम्भीरता पर कुछ तो ध्यान दीजिए।"

विशालदत्त के निर्णयों का विरोध करने वालों में सबसे प्रमुख विचित्र ही था। विशालदत्त का वह दाहिना हाथ था। प्रतिकूल परिस्थिति से जूझने का उसमें अदम्य साहस था। किसी भी कष्ट के सामने घुटने टेकना तो उसने सीखा ही न था। वह करुणा से द्रवित होते विशालदत्त को अपने विरोध द्वारा दृढ़ता प्रदान किया करता था। वह भलीभांति समझता था कि विशालदत्त हिले नहीं कि सारा विद्रोह ध्वस्त हो जायेगा। और सरकारी कर्मचारियों का फिर वही दमन चक्र प्रारम्भ हो जायेगा।

कुछ पलों की प्रतीक्षा के पश्चात विशालदत्त ने पुनः विचित्र को सचेत करना चाहा, "विचित्र ! तुम्हें क्या हो गया है। इतने पाषाण हृदय तो तुम कभी न थे। देख नहीं रहे हो इस शिशु की दशा। इसकी हर सांस अंतिम

द्ध होने का उपक्रम कर रही है। क्या दोष है इस शिशु का ? केवल यही कि यह हम विद्रोहियों की शरण में है। चेतो अब भी कुछ नहीं बिगड़ा । अगर अब भी न चेते तो इन अभावग्रस्त प्राणियों की आहें हमें ले डूबेंगी हमारी सारी दृढ़ता बह जायेगी। सब संकल्प बिखर जायेंगे । त्याग धूल-धूसरित हुए विना न रहेगा।" नेतृत्व का नामोनिशान न रहेगा। हर विद्रोही नेतृत्व का दम भरने लगेगा। सब किया-धरा नष्ट हुए विना न रहेगा। पहले से भी अधिक मारकीम जीवन जीने के लिए हम सब बाध्य होंगे। विचित्र के मुंह से जब कोई भी प्रतिक्रिया सुनने को न मिली तो आवेश में विशालदत्त आगे बोल उठे, "अब मुझे किसी की सम्मति की आवश्यकता नहीं। और अधिक प्रतीक्षा करना मेरे वश की बात नहीं। मेरा धैर्य समाप्त हो चुका है।"

"किन्तु यह भी सोचा है कि आप करेंगे क्या ?" विचित्र को अन्ततोगत्वा बोलना ही पड़ा।

वही जो इतने दिनों से दुहरा रहा हूँ।"

"किन्तु यह तो जान बूझकर अपने को शत्रु के हाथों में सौंपना है। आपका अकेले जाना ठीक नहीं।"

"व्यर्थ की आशंका मत करो विचित्र । कुमार अशोक युवराज सुषीम नहीं हैं। उनसे ऐसी आशा नहीं करनी चाहिए।"

"शत्रु शत्रु ही है, देव सुषीम हों या अशोक । कोई अन्तर नहीं। हमारी दुर्बलता से लाभ उठाये विना वह नहीं मानेंगे।"

"मैंने कुमार अशोक को भलीभाँति परख लिया है। हम दोनों उनके शिविर मे मिल भी तो चुके हैं। हम दोनों को बन्दी बनाकर वह अवसर का अनुचित लाभ उठा सकते थे।"

"किन्तु पहचान पाते तब न।"

"चेष्टा भी तो उन्होंने नहीं की थी। किसी भी प्रकार की आशंका उनके मन-मस्तिष्क में न थी।"

आवश्यकता को समझो । यदि दैववशात् मुझे कुछ हो भी गया तो कम से कम तुम तो हो इनका मार्ग दर्शन करने के लिए । तुम मेरे साथ कदापि न जाओगे । देव के नाते मैं आज्ञा देता हूँ कि जब तक मैं लौट न आऊँ दुर्ग के बाहर एक भी व्यक्ति पैर नहीं रखेगा ।"

विशालदत्त का आदेश सुनते ही सब सन्न रह गये । किसी को भी आशा न थी कि विशालदत्त 'देव' अधिकार का प्रयोग करेंगे । विशालदत्त को तक्षशिलावासियों ने 'देव' चुना था । 'देव' के सभी अधिकारों से उन्हें सम्मानित किया था । 'देव' की स्थिति लगभग एक सम्राट की समझी जाती थी । प्राणदण्ड के अतिरिक्त वह कोई भी आदेश प्रसारित कर सकता था । अपराधी को प्राणदण्ड के लिये समिति की अनुमति आवश्यक होती थी । अपने उसी अन्तिम अधिकार का प्रयोग किया था विशालदेव ने । 'देव' का विरोध करने का साहस किसमें था । परम्परागत विश्वास का उल्लंघन भला कौन करता । चित्रलिखित से सभी नतमस्तक खड़े रहे । विशालदत्त क्षणमात्र में आदेश के वशीभूत सबको कर स्वनिर्णयानुसार आचरण करने के लिए कक्ष के बाहर निकल गये ।



शिविर में कुमार अशोक और राधागुप्त आमने-सामने बैठे थे । कुमार के मुखमण्डल पर अधैर्य के लक्षण प्रतीत हो रहे थे । राधागुप्त के हर प्रकार से सांत्वना देने पर भी कुमार से बोले बिना न रहा गया, "आपकी अनुमति के बिना मैं कुछ भी तो नहीं कर पा रहा हूँ ।"

"कुमार कुछ भी किये जाने की आवश्यकता भी तो नहीं है ।"

झुंझलाकर अशोक बोले, "पता नहीं क्यों गुरुदेव ने नियन्त्रण स्वरूप आपको मेरे साथ कर दिया ।"

"चलकर ज्ञात कर लेना ।"

"बस इसी का तो दुख है कि इतने दिनों से निष्क्रिय पड़ा हूँ । दिन-पर-दिन स्थिति असह्य होती जा रही है । एक तो अवसर मिला था शौर्य-प्रदर्शन का.........।"

"इतनी शीघ्र अधीर क्यों हो रहे हैं, कुमार । एक नहीं, असंख्य अवसर प्राप्त होंगे । शासक के लिए शौर्य-प्रदर्शन के अवसरों की क्या कमी । शासक यदि आजीवन संघर्ष-रत रहना चाहे तो रह सकता है । यह सुविस्तीर्ण-वसुन्धरा असंख्य शासकों द्वारा शासित है । अधिकाधिक शक्ति-सम्पन्न बनने की महत्वाकांक्षा एक शासक को दूसरे का विरोधी बनाये रखती है और विरोधी को परास्त करना लक्ष्य मानकर शासक अविरल शक्ति का आदान-प्रदान किया करते हैं । और फिर आप जैसे ………।"

इसी बीच प्रतिहारी ने शिविर में प्रवेश किया । राधागुप्त ने उसकी उपस्थिति को लक्ष्यकर पूछा, "कौन है ?"

"कोई अपरिचित आगन्तुक । परिचय देना नहीं चाहता ।"

"फिर क्या चाहता है ?"

"महाराज जी के दर्शन ।"

"कह दो जाकर कि बिना पूर्ण परिचय के महाराज जी के दर्शन असम्भव हैं ।"

प्रतिहारी के मुड़ने के पूर्व ही कुमार अशोक ने टोका, "ठहरो, उसे रोको मत, आने दो ।"

"कुमार ! यह क्या कर रहे हैं आप ? तक्षशिलावासी अत्यन्त धूर्त होते हैं । न मालूम किस वेष में कब, कहाँ, क्या कर बैठें । किसी भी अपरिचित को सहसा प्रवेश की अनुमति नहीं मिलनी चाहिए ।"

प्रतिहारी अनिश्चय की अवस्था में खड़ा था ।

कुमार अशोक का मन अत्यन्त खिन्न था । कई दिन हो गये थे अपरिवर्तित मनःस्थिति में रहते-रहते । किसी भी परिवर्तन की उत्कट कामना के वशीभूत हो उन्होंने पूछा, "उसके साथ कितने लोग हैं ?"

"अकेला दिखाई दे रहा है ।"

"आने दो ।"

कुमार की स्वीकृति पाते ही प्रतिहारी शिविर के बाहर हो गया । कुछ ही क्षणों में कुमार के समक्ष एक सुदीर्घकाय निर्भीक पुरुष खड़ा था । आगन्तुक का अभिवादन स्वीकार कर कुमार ने आसन ग्रहण करने का संकेत किया, "बैठिए ।"

आगन्तुक के बैठने के बाद कुमार ने प्रश्न किया, "आपका परिचय ?"

"एकान्त अपेक्षित है ।"

"यह मन्त्रीवर हैं । इनसे न कुछ छुपा रह सकता है और न किसी अनिष्ट की आशंका ही करो ।"

"फिर भी मैं किसी अपरिचित के समक्ष अपना मन्तव्य प्रकट करने का अभ्यस्त नहीं हूँ।"

"मैं भी तो अपरिचित हूँ आपके लिये।"

"नहीं, मैं अपरिचित हो सकता हूँ आपके लिए, किन्तु आप मेरे या किसी भी तक्षशिला निवासी के लिए कदापि अपरिचित नहीं हैं।"

"ओह! तो आप तक्षशिलावासी हैं। चलिये इतना परिचय तो मिल ही गया।"

"जी हाँ, ईश्वर की कृपा से इसी भूमि पर जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।"

आवश्यकता से अधिक स्वाभिमानी होने पर भी आगन्तुक कुमार अशोक को रोचक लगा। अधिक रुचि दिखाते हुए कुमार ने प्रश्न किया, "तक्षशिला की भूमि पर जन्म लेकर अपने को सौभाग्यशाली अनुभव करने का कारण?"

"तक्षशिला 'देवभूमि' है। यहाँ जन्म ग्रहण करने वाला प्रत्येक प्राणी देवगुणों से सम्पन्न होता है।"

"छलछद्मादि भी तो सम्भवतः देवगुण हैं तक्षशिलावासियों के?" राधागुप्त ने व्यंग्य किया।

आगन्तुक ने सरोष नेत्रों से राधागुप्त को देखा, पर बोला कुछ नहीं। राधागुप्त ने विजयोन्माद से ग्रस्त हो कहा, "कुमार! हो लिए परिचित तक्षशिला निवासियों के देवगुणों से?"

आगन्तुक ने पुनः उसी दृष्टि से राधागुप्त को देखा। पूर्व की अपेक्षा आगन्तुक की दृष्टि राधागुप्त के मुखमण्डल पर अधिक देर तक टिकी रही। इसी बीच राधागुप्त को आगन्तुक की दृष्टि में कुछ पढ़ने को मिल गया। सहसा सतर्क हो सदेह व्यक्त किया, "तुम विद्रोही हो।"

आगन्तुक निश्चेष्ट बैठा रहा।

राधागुप्त का सदेह विश्वास में परिणत होने लगा। उसी विश्वास के बल पर वह बोले, "कुमार! इसे आज्ञा दीजिए कि यह अपना परिचय दें। यह अवश्य विद्रोही.........।"

"मन्त्रीवर!" बीच में आगन्तुक बोल उठा, "हाँ, मैं विद्रोही हूँ पर यह कभी सोचने का कष्ट किया कि तक्षशिलावासी विद्रोही क्यों हो गये हैं?"

कुमार अशोक ने आदेशात्मक स्वर में कहा, "क्या नाम है आपका?"

"मैं तक्षशिला निवासी हूँ। क्या इतना ही परिचय यथेष्ट नहीं?"

"नहीं।" राधागुप्त ने हस्तक्षेप किया, पूरे परिचय की आवश्यकता है।"

"मन्त्रीवर! मैं आपकी स्थिति से पूर्ण परिचित हूँ। मगध साम्राज्य में

मन्त्री का स्थान किन्हीं-किन्हीं अवसरों पर सम्राट से भी अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। किन्तु तक्षशिला में सम्राट के प्रतिनिधिरूप में पधारे हैं कुमार जी। मुझे कुमार जी की सेवा में ही निवेदन करना है।"

राधागुप्त को उपेक्षा असह्य हो उठी। उन्होंने सावधान किया, "विद्रोही मगध शासन की दृष्टि में शत्रु है और शत्रु के साथ क्या व्यवहार किया जाता है; कदाचित बताने की आवश्यकता नहीं है।"

"इसके लिए मैं प्रस्तुत होकर ही आया हूँ, किन्तु मुझे कुमार की न्याय-बुद्धि पर पूर्ण विश्वास है। विद्रोह के कारणों से अवगत हुए बिना किसी निर्णय पर नहीं पहुँचेंगे। कुमार जी! अपराध क्षमा हो। मेरा नाम विशाल-दत्त है।"

"कौन! विशालदत्त!! विद्रोहियों का 'देव'!!!"

"जी, संतप्त तक्षशिलावासियों की ओर से सेवा में 'देव' का प्रणाम स्वीकार हो।"

"मुझे तो तुम्हारी ही आवश्यकता थी। मैं वस्तुस्थिति की वास्तविकता से अवगत होना चाहता था। आशंका थी कि कहीं भ्रमवश कठोर कार्यवाही न हो जाय। कुछ मुट्ठी भर सिरफिरे विद्रोहियों के कारण तक्षशिला की प्रजा शासकीय अत्याचार का आखेट बने, किसी भी दृष्टि से उचित नहीं। किन्तु बड़ी लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ी।"

"मैं बहुत पहले ही महाराज जी की सेवा में उपस्थित होना चाहता था, किन्तु तक्षशिलावासियों ने ही न आने दिया। उन्हें विश्वास है कि कीर्तिदेव और युवराज सुसीम की भाँति आप भी उन्हीं दुर्बलताओं के शिकार होंगे जिनके कारण तक्षशिलावासियों को विद्रोही रूप धारण करना पड़ा। वस्तुतः तक्षशिलावासी इतने अधिक प्रताड़ित और अपमानित किये जा चुके हैं कि मरता क्या न करता की स्थिति को प्राप्त हो गये हैं। वे विद्रोही नहीं, आत्म-सम्मान की सुरक्षा की प्रत्याभूति मात्र चाहते हैं। तक्षशिला मगध साम्राज्य का अभिन्न अंग है और यहाँ के निवासी मगध शासन के आज्ञाकारी सेवक हैं, किन्तु स्वाभिमानी अवश्य हैं। स्वाभिमान के आहत होने पर प्राणों की बाजी भी लगा देते हैं। वे मर जाना श्रेयस्कर समझते हैं किन्तु अपमान का घूंट पीना सहन नहीं कर पाते। हर उचित आज्ञा का सिर झुकाकर पालन करते हैं। विश्वास न हो तो आज्ञा देकर देखें।"

"दुर्ग खाली करने का क्या मूल्य चाहते हो?"

"तक्षशिलावासियों का अपने घरों में ससम्मान जीवनयापन की प्रत्या-भूति।"

"शासनादेश के विरोधी आचरण करने पर तो दण्डित किये ही जायगे।"

"अपराध के लिए दण्ड विधि अस्वीकार है। किन्तु निर्दोष अबलाओं और निरीह नागरिकों को बलात् अपमानित और दण्डित किया जाता है तब विद्रोह की ज्वाला धधक उठती है। महाराज जी स्वयं साक्षी हैं, क्या तक्षशिलावासियों ने इन दो महीनों में कोई भी ऐसा आचरण किया है जिससे उनका विद्रोही होना प्रमाणित होता हो ?"

राधागुप्त ने हस्तक्षेप किया, "जब दुर्ग के बाहर विद्रोही आ ही नहीं सके तब शासन के विरुद्ध आचरण क्या करेंगे।"

"मन्त्रीवर ! आप बहुत बड़े भ्रम में हैं। मैं और मेरे सहयोगी इसी शिविर में बैठकर आपसे वार्तालाप तक कर गये हैं। यदि आप पहचान नहीं सके तो यह तो आपकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि की कमी का परिणाम है। महाराज जी ! आप पधारिये। दुर्ग में तक्षशिलावासी आपके स्वागत में पलक पाँवड़े बिछाये हुए दिखाई देंगे।"

"युवराज सुसीम का भी तो स्वागत दुर्ग में द्वार बन्द करके किया गया था ?"

"मन्त्रीवर ! जो जैसा होता है उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना तक्षशिलावासी भलीभाँति जानते हैं। कदाचित आप नहीं जानते होंगे कि युवराज ने न जाने कितनी युवतियों का शीलभंग किया था। जिसने भी उनकी स्वेच्छाचारिता का विरोध किया, उसी को बुरी तरह प्रताड़ित किया गया। उन्हें जीवित पाटलिपुत्र लौट जाने दिया, यही क्या कम है।"

"चलो मैं तक्षशिला की प्रजा से मिलना चाहूँगा।"

"स्वागत है, महाराज जी। मैं तक्षशिला के 'देव' के नाते विश्वास दिलाना अपना धर्म समझता हूँ कि महाराज जी की प्रतिष्ठा पर आँच भी न आने पायेगी, बल्कि प्रजा को महाराज जी के दर्शन पाकर अपार प्रसन्नता होगी।"

"आइए, आप भी चलिये मन्त्रीवर। लगता है, प्रतीक्षित समय समीप आ गया है।"

"अवश्य महाराज जी। यह अन्तर ही तो भ्रम उत्पन्न करता है। आप अपनी प्रजा के मध्य होंगे, प्रजा आपके दर्शनलाभ करेगी। सम्पूर्ण कलुष धुल जायेगा। विद्रोहाग्नि स्वतः ठंडी राख में परिणत हो जायेगी।"

"चलो देखता हूँ। कोरा आश्वासन तो नहीं है।" कुमार अशोक शिविर से बाहर निकले। सुदीर्घकालीन एकरसता भंग हुई।

युवराज सुसीम के पाटलिपुत्र लौट आने पर भी महाराज बिम्बसार पूर्ण स्वस्थ न हो सके थे। मानसिक चिन्ताओं से वह दिनानुदिन अधिकाधिक ग्रस्त होते जा रहे थे। जब भी वह विशेष चिंतित होते, युवराज को स्मरण करते, सामयिक समस्या से अवगत कराते, भावी परिवर्तन के प्रति सावधान भी करते, किन्तु युवराज से उन्हें वह प्रतिक्रिया सुनने को न मिलती, जिसकी वह आशा करते थे। महाराज जी और अधिक गम्भीरता धारण कर लेते। मंत्रिपरिषद के सदस्य प्रायः आते थे और कुशलक्षेम प्राप्त कर चले जाते थे। महाराज जी सुनते अधिक थे, बोलते कम थे, किन्तु खल्लाटक की उपस्थिति में वह ही अधिक बोलते थे। बारम्बार खल्लाटक से वह कहते, "आप सुसीम को समझाते क्यों नहीं ? आप ही तो एक ऐसे अमात्य हैं जिसकी बात वह ध्यान से सुनता है। आपके प्रति बड़ा सम्मान है उसके मन में।"

"महाराज जी ! हर सम्भव प्रयास कर चुका हूँ किन्तु उसके जीवन दर्शन में परिवर्तन असम्भव लग रहा है। न जाने कैसी बुद्धि हो गई है युवराज की। अपना हित भी समझने की चेष्टा नहीं करते।"

"किया क्या करता है ? किनके साथ उठता-बैठता है ? किन की बात वह मानता है ?"

"किसी का भी साथ करे, किन्तु हित-अनहित तो पशु-पक्षी भी समझते हैं। जब से वह तक्षशिला से लौटे हैं तब से जैसे उन्हें विश्रामकक्ष से बाहर निकलना भी रुचिकर नहीं।"

"किन्तु उसकी ऐसी मनः स्थिति हो क्यों गई है ? कहीं भयभीत तो नहीं हो गया है। सुगाम की बात की भी अनसुनी कर जाता है।"

"सुना है कि महामात्य ने भी समझाने की चेष्टा की है ?"

"हाँ, दो-एक बार मेरे कहने पर ही उन्होंने सुसीम से बातें की हैं, मगर सुसीम ने जैसे उनकी बातें भी एक कान से सुनी हों और दूसरे से निकाल दी हों। कोई प्रभाव नहीं दिखाई दिया।"

"मैं उनकी मनः स्थिति से अवगत हूँ। बस, दो-चार दिन में ही वह पूर्णतया परिवर्तित दिखाई देंगे। मैंने उनके मनोनुकूल ही व्यवस्था की है।"

"व्यवस्था। कैसी व्यवस्था ? सुरक्षा की ?"

"नहीं, महाराज जी। वह वही करेंगे जो आप आदेश देंगे।"

"सुसीम युवराज है। उसे युवराजोचित आचरण करना चाहिये। मैं अस्वस्थ हूँ। शासन-व्यवस्था पर उसकी पकड़ सशक्त होनी चाहिये। अमात्यों की प्रकृति से अवगत होना चाहिए।"

"महाराज जी निश्चित रहें। युवराज ही मगध के राजसिंहासन पर विराजमान होंगे। मेरे जीवित रहते कुछ भी अन्यथा न होने पायेगा।"

"किन्तु मुझे उसकी उदासीनता ने चिंतित बना रखा है।"

"महाराज जी! आप तनिक भी चिन्ता न करें। होगा वही जो आप चाहेंगे।"

"किसी भी मूल्य पर गृह-कलह की स्थिति नहीं आनी चाहिए।"

"शक्ति प्रदर्शन का स्वप्न देखने वाले भ्रम में हैं। मौर्यवंश की परम्परा का ही परिपालन होगा। युवराज ही राजसिंहासन के अधिकारी हैं। इस अधिकार को चुनौती देना सम्भव नहीं है।"

"तक्षशिला से कोई नवीन सूचना है?"

"तक्षशिला की नवीनतम सूचना से आचार्य चाणक्य ही अवगत होंगे। सूचना सीधे उन्हीं के पास आती है।"

"इधर अनेक दिनों से आचार्य के दर्शन नहीं हुये। न स्वयं पधारे न कोई सन्देश ही भेजा।"

"सूचित करवा दूं कि महाराज जी स्मरण कर रहे हैं?"

"व्यर्थ में कष्ट देने से क्या लाभ। आपने भी अनुभव किया होगा कि चलने में पैर बीच-बीच में लड़खड़ा जाते हैं। मुझसे अवस्था में यथेष्ट बड़े हैं।"

"उसी बड़प्पन का ही तो वह लाभ उठाया करते हैं। उचित-अनुचित जो चाहते हैं आपसे मनवा लेते हैं।"

"किन्तु राज्य-हित में ही वह सदा सोचते-विचारते हैं। उनकी दूरदृष्टि अचूक है। जो सम्भावित है, उसे वह बहुत पहले ही जान लेते हैं।"

"किन्तु कुमार अशोक के विषय में निश्चित हो वह भ्रम में हैं। कुमार वैसे आज्ञाकारी नहीं है जैसा वह उन्हें समझते हैं। कुमार में असहिष्णुता असाधारण रूप में विद्यमान है। वह अपने निर्णय के समक्ष किसी को कुछ नहीं समझते हैं।"

"न जाने तक्षशिलावासियों ने कुमार के साथ क्या व्यवहार किया हो। मुझे स्वयं जाना चाहिए था।"

इसी बीच अमात्य के पधारने की सूचना मिली। खल्लाटक ने उठते हुये कहा, "मुझे अब अनुमति दीजिए। फिर किसी समय सेवा में उपस्थित

होऊँगा ।"

"आचार्य जी के मन्तव्य से अवगत नहीं होना चाहेंगे ?

"कुछ कार्य विशेष स्मरण हो उठे हैं। युवराज जी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

"फिर अवश्य जाइये, किन्तु आइएगा शीघ्र ही।"

"अवश्य। महाराज जी की आज्ञा शिरोधार्य है।" खल्लाटक शिष्टाचार का पालन करते हुये वहाँ से चले गये।

महामात्य आचार्य चाणक्य ने कक्ष में प्रवेश किया। शिष्टाचार में उनके दोनों हाथ परस्पर जुड़े हुए थे। महाराज जी ने भी स्वागत-भाव के वशीभूत हो उठने की चेष्टा की। आचार्य जी ने तत्क्षण निवेदन किया, "उठने का कष्ट क्यों कर रहे हैं, महाराज जी ? लीजिए, इस असंदिका पर मैं भी बैठा जा रहा हूँ।"

"आचार्य जी ! आपके दर्शनों से जीवन में नवीनता का संचार हो उठता है। अतिरिक्त स्फूर्ति की अनुभूति होने लगती है।"

"और न जाने कितनों को साँप सूंघ जाता होगा।"

"ऐसा तो कभी अनुभव नहीं हुआ ?"

"होना चाहिए भी नहीं, किन्तु राज्य-द्रोहियों की कुदृष्टि को क्या कीजिएगा। उचित और सामयिक नीति भी ऐसों को अहितकर प्रतीत होती है।"

"ऐसों का भी आपसे साक्षात्कार होता है ?"

"क्यों नहीं, अभी-अभी अमात्य खल्लाटक ही मेरा आगमन सुनकर यहाँ से गये हैं।"

"किन्तु उन्होंने आपका विरोध कभी नहीं किया। राज्य-द्रोही उन्हें आपने कैसे समझ लिया ?"

"अमात्य खल्लाटक व्यक्तिनिष्ठ प्राणी हैं। राज्य-हित-चिंतन उनके वश की बात नहीं है। कदाचित श्रीमान जी ने ध्यान न दिया हो, किन्तु वह बोलेंगे वही जिससे आप प्रसन्न हों। निष्पक्ष धारणा की अभिव्यक्ति से उनका मन-मस्तिष्क योजनों दूर है।"

"युवराज सुसीम को समझाने का आश्वासन दे गये हैं।"

"वह भी उनके वश का नहीं है।"

"फिर आप ही समझाइए न। आपकी दृष्टि का वह सम्मान करता है। युवराज है वह। शासक के उत्तरदायित्वों का बोझ उसे सम्हालना ही है। अभी से अभ्यास नहीं डालेगा तो आगे कठिनाई होगी।"

"इस दृष्टि से यदि आप उचित समझें तो युवराज जी को उज्जैन भेज

दीजिए । तक्षशिला की भाँति वहाँ भी विद्रोहाग्नि भड़क रही है।"

"उसके लिए तो कुमार अशोक ही उपयुक्त रहेंगे। हाँ, कुमार का कोई समाचार प्राप्त हुआ? तक्षशिला की स्थिति कैसी है। विद्रोहाग्नि के शान्त होने में अभी और कितना समय लगेगा?"

"आज ही अभी कुछ समय पहले राधा के हाथ का लिखा पत्र प्राप्त हुआ है। पत्रानुसार विद्रोहियों ने आत्मसमर्पण कर दिया है। कुमार के आदेशानुसार आचरण करना भी तक्षशिलावासियों ने प्रारम्भ कर दिया है, किन्तु कीर्तिदेव और युवराज जी ने अपने विलासपूर्ण आचरणों द्वारा वहाँ के शासन को इतना निष्क्रिय और अप्रभावी बना दिया था कि उसे वास्तविकता प्रदान करने में अभी लगभग छै माह का समय और लगेगा।"

"तब तक तो उज्जैन की स्थिति और भी बिगड़ जाएगी।"

"इसीलिए तो निवेदन कर रहा हूँ कि युवराज सुसीम को आप उज्जैन जाने का आदेश दें। हाँ, साथ में सुगाम को भी अवश्य भेज दें। दोनों साथ रहेंगे। परस्पर विचार-विमर्श होता रहेगा। अपनी समझ-बूझ से काम भी लेंगे। किसी की कुमन्त्रणा के आखेट न बनने पायेंगे। और फिर जैसी महाराज की इच्छा।"

"मौर्य वंश ने सदा आचार्य जी के परामर्श का स्वागत किया है। आप जैसा मौर्यकुल का हितचिंतक कौन है। आज ही युवराज को उज्जैन के लिए प्रस्थान करने का आदेश देता हूँ।"

"और युवराज को सावधान भी कर दीजिएगा कि किसी अमात्य को साथ न लें। कुमार सुगाम ही परामर्श के लिए यथेष्ट सिद्ध होंगे।

"जैसी आचार्य जी की इच्छा।"

"फिर मुझे अनुमति दीजिए। स्वास्थ्य कैसा है अब? दीर्घकाल से आपने पुण्यतोया सलिल सलिला जाह्नवी के दर्शन नहीं किये हैं किसी समय तट पर पधारिए। बाहर निकलेंगे तो चित्त प्रसन्न होगा।"

"अवश्य चेष्टा करूँगा। कल भिषगाचार्य जी भी प्रतिदिन कुछ समय के लिए बाहर निकलने की बात पर बल दे रहे थे। कदाचित आज ही सूर्यास्त के पूर्व तट तक आऊँ।"

"सहर्ष स्वागत होगा, महाराज जी का। भिषगाचार्य जी से पूछ लीजिएगा कि नौका-विहार स्वास्थ्य की दृष्टि से कैसा रहेगा। अच्छा, फिर अनुमति दीजिये।" आचार्य जी उठ खड़े हुये।

"बड़े कृपालु हैं आप जो पधारने का कष्ट करते हैं।"

"विवशता आचरण के लिये बाध्य करती है। अन्यथा महाराज जी, कौन

किसके लिये क्या करता है । प्रणाम ।" आचार्य चाणक्य ने तीव्रता से कक्ष छोड़ दिया ।

महाराज जी असंदिका के सहारे अर्धशायित हो गये ।



आचार्य चाणक्य के निर्देशानुसार अमात्य राधागुप्त कुमार अशोक के साथ छाया की भाँति बने रहने की भरसक चेष्टा करते थे, फिर भी कुमार अशोक कोई न कोई अवसर ऐसा अवश्य निकाल लेते थे जब यह अकेले होते थे । फिर भी यदि कोई साथ होता था तो वह था उनका प्रिय अश्व 'अश्वक' । अश्वक की वल्गा उन्होंने हाथ में थामी ही थी कि नारी कण्ठ ने कुमार के कानों में प्रवेश किया, "ठहरिये महाराज जी ।"

निकट आने पर कुमार अशोक ने ध्यान से देखते हुए पूछा, "कौन हो तुम ? क्या कहना है तुम्हें ? कदाचित कहीं देखा है तुम्हें ?"

"दुर्ग में दादा के साथ वार्तालाप करते हुए मैंने महाराज जी को देखा था ।"

"तुम अवश्य बीच में बोली होगी ?"

"नहीं, मात्र प्रणाम किया था । दादा ने परिचय जो कराया था ।"

"क्या कहकर परिचय कराया था ?"

"आप तो महाराज जी हैं ही । आपके परिचय की आवश्यकता तो थी नहीं । केवल मेरे विषय में बताया था ।"

"जहाँ तक मुझे स्मरण है, तुम्हारे विषय में कुछ भी नहीं बताया था ।"

"वाह ! बताया क्यों नहीं था ? यह नहीं बताया था कि कीर्तिदेव का प्राणान्त मैंने किया था ? आपने पुरस्कार में यह हार मुझे नहीं दिया था ?" गले का लटकता हार हाथ की उँगलियों में फँस उठा था ।

"ओह ! स्मरण हो आया । लेकिन तबसे इसे ही पहने हो ?"

"अच्छा जो लगता है । सभी प्रशंसा करती हैं ।"

"झूठ ।"

"सच ! यह दासी शैलबाला कभी झूठ नहीं बोलती । और फिर आप से झूठ बोलने का साहस है भी किसी में ।"

"क्यों ? क्या मुझसे डर लगता है ?"

"अवश्य, परन्तु मुझे नहीं लगता डर ।"

"क्यों, तुम क्यों नहीं डरती हो ?"

"क्योंकि मैं झूठ नहीं बोलती । दादा कहा करते हैं–डर और झूठ सहोदर भ्राता हैं । जो झूठ नहीं बोलता उसे डरने की कोई आवश्यकता नहीं ।"

"परन्तु मुझसे तो तक्षशिला के बड़े-बड़े शूरवीर तक डरते हैं ।"

"डरते होंगे । झूठे होंगे वे शूरवीर । अच्छा बताइए–आप किसी से डरते हैं ?"

"हाँ, डरता हूँ एक से ।"

"कौन है वह ? अविलम्ब बताइए । कीर्तिदेव की सेवा में न भेज दूं तो मेरा नाम शीलबाला नहीं ।"

"अरे रे रे । ऐसा कभी मत करना । आत्महत्या पाप माना गया है ।"

"अर्थात् ! ओह ! तो आप मुझसे डरते हैं ? मैं तो आपकी चरण-सेविका हूँ । मुझसे डरने की क्या आवश्यकता ?"

"न मालूम तुम कब किसको कीर्तिदेव समझ बैठो ।"

"जो वैसा आचरण करेगा वही तो मेरी दृष्टि में कीर्तिदेव होगा । आप कभी वैसा नहीं कर सकते ।"

"तुम्हें इतना विश्वास है ?"

"मुझे नहीं, तक्षशिला की हर नारी को आप पर गर्व है । आपका चरित्र निष्कलंक है । आप प्रजापालक हैं, न्यायप्रिय हैं और हैं नारी-स्वातन्त्र्य के समर्थक । तक्षशिला में आपकी उपस्थिति ने सम्पूर्ण नारीजाति को अभय बना दिया है । सब निर्भय रूप में सर्वत्र विचरण करती हैं ।"

"तुम्हारी तरह न ?"

"फिर आसन्न संकट से सूचित कैसे करूँ । मैं भलीभांति जानती थी कि समय पर आप समारोह में भाग लेने जायेंगे अवश्य ।"

"वचनबद्ध जो हूँ ।"

"किन्तु वे तो आपके प्राणों की घात लगाये बैठे हैं ।"

"यह क्या कह रही हो तुम ? वे तो तुम्हारे विशाल दादा के सहचर हैं ।"

"हाँ, सहचर थे कभी, किन्तु अब नहीं । अब वे दादा के मन-ही-मन शत्रु हैं । उनकी धारणा है कि आपने दादा को उत्कोच द्वारा अपना पक्षधर बना लिया है । दादा आपकी हर उचित-अनुचित बात का समर्थन आँख मूंद कर करते हैं ।"

"फिर अभी उनका सफाया किये आता हूं । अच्छा किया जो सावधान कर दिया अन्यथा न जाने किस षड्यन्त्र का सामना करना पड़ता ।"

"फिर भी आप वहाँ जायेंगे ? न जायें तो ?"

"नहीं, वचनबद्ध हूँ । समारोह में सम्मिलित होने के मिस उनकी दुष्टता का प्रतिफल भी उन्हें मिल जायेगा ।"

"फिर रुकिये । दादा को सूचित कर दूं जाकर ।"

"कोई आवश्यकता नहीं । अकेला ही यथेष्ट हूँ ।" कुमार अशोक ने तो तीव्रता से अश्वारोहण किया और असाधारण गति से दिशा विशेष की ओर गतिमान हो गये ।

"मैं भी आ रही हूँ ।" शैलबाला का तीव्रतम कण्ठस्वर वातावरण में गूँजता हुआ विलीन हो गया ।



अमात्य राधागुप्त को जब ज्ञात हुआ कि कुमार अशोक अनुधारवाहिनी को साथ लिए बिना अज्ञात स्थान के लिए चले गये हैं तो वह दुश्चिताग्रस्त हो उठे । अंगरक्षकों पर वह बरस पड़े, "अकेले जाने क्यों दिया ? साथ क्यों नहीं गये ? कहीं कुछ हो गया कुमार को तो मुंह दिखाने के योग्य न रहेंगे । किसलिए हो तुम लोग यहाँ ? नियुक्ति किसलिये की गई है तुम लोगों की ? अपना उत्तरदायित्व नहीं समझते हो ? पुरस्कार इसी कर्तव्यबोध के सहारे पाना चाहते हो ? याद रखो, कुमार सकुशल न लौटे तो एक-एक की खाल खींच ली जायेगी । जाओ, खोजो कुमार को, जहाँ भी हों, मुझे सूचित करो आकर । और हाँ, मार्ग में यदि विशालदत्त कहीं दिख जायें तो उनसे कहना कि मैं उन्हीं की प्रतीक्षा कर रहा हूँ ।"

लगभग सभी अंगरक्षक दो-तीन दिशाओं को एक साथ उड़ चले । राधागुप्त की व्यग्रता सीमाहीन थी । उनका [illegible] था कि पहली बार वह कुमार अशोक को छोड़कर कहीं गये थे । कभी वह बैठ जाते, कभी चहलकदमी करने लगते । कभी बाहर निकल जाते तो कभी भीतर चले जाते । किसी भी स्थिति में उन्हें चैन न मिले । [illegible] गत्वा स्वयं भी वहाँ से जाने का निर्णय किया । अश्व तैयार है

उसकी ओर देखा, कुछ आगे बढ़े भी, फिर यह सोचकर कि जायेंगे कहाँ, रुक गये और वहीं से जहाँ तक दृष्टि सम्भव थी दौड़ाने लगे। कुछ क्षण ही बीते होंगे कि सामने की दिशा से कुमार अशोक तेजी से आते हुए दिखाई दिये। उनके पीछे भी अनेक अश्वारोही थे। उनमें से वह केवल विशालदत्त को पहचान सके। निकट आ अश्व से नीचे आते हुए कुमार अशोक ने पूछा, कदाचित मेरी प्रतीक्षा में है ?"

"हाँ, अंगरक्षकों के बिना कहाँ चले गये थे ? किसी को कुछ पता भी नहीं गये थे ?"

"परीक्षण करना चाहता था कि जिस स्थिति से देव और दीलवाला परिचित हैं, उनसे हमारे कर्मचारी अवगत हैं या नहीं। हमारा गुप्तचर विभाग व्यर्थ है। आमूल परिवर्तन अपेक्षित है। इस दौलवाला ने समय से आकर वस्तुस्थिति से अवगत न करा दिया होता तो कदाचित आप मुझे कहीं और खोज रहे होते। मगर विशालदत्त की सूझ-बूझ का परिणाम अच्छा ही निकला। व्यर्थ का रक्तपात नहीं होने पाया।"

"कम-से-कम मुझे तो अवगत करा दिया होता।"

"कल से आपसे भेंट ही कहाँ हो सकी है। आइए, आपलोग अन्दर। दण्ड-निर्धारण कर लिया जाय।"

"जो आज्ञा।" विशालदत्त ने अनुसरण-भाव व्यक्त किया, "आ दौला तू भी आ।"

असंदिग्धा का सहारा लेकर बैठते हुए कुमार अशोक ने अपना निर्णय व्यक्त किया, "प्राणों की रक्षा तो हो ही गई है, किन्तु जिस अपराध-भाव से ग्रस्त है, उसके लिए राज्य-सीमा-निष्कासन का दण्ड तो कम-से-कम उन्हें मिलना ही चाहिए।"

विशालदत्त ने अपना मन्तव्य प्रकट किया, "इससे भी कठोर दण्ड मिलना चाहिए। आपके प्रति जो अवज्ञा-भाव प्रदर्शित किया है, वह अक्षम्य है।"

दौलवाला शान्त न रह सकी, "फिर तो अक्षम्य प्राणी के लिए एक ही दण्ड उचित है।"

"तू कभी चुप नहीं बैठ सकती। बोलेगी अवश्य। वह उचित हो या अनुचित।"

"दादा ! मेरा भी अपराध अक्षम्य है न ? और दण्ड भी आप देंगे अवश्य। महाराज जी ! जानते हैं दादा जी मुझे क्या दण्ड देते हैं ?"

"तुम्हें यह दण्डित करते हैं ?"

"किन्तु इनका दण्ड सदा क्षमा होता है। दादा का दण्डदर्शन सर्वथा अनोखा है। इनका विश्वास है कि छोटों को क्षमा करना चाहिए और बड़ों को दण्डित करने का अधिकार छोटों को होता नहीं। महाराज जी की सेवा मे विनम्र निवेदन है कि अपराधी महाराज जी के समक्ष बहुत ही निम्न स्तरीय प्राणी हैं। इस बार दण्डस्वरूप क्षमा ही प्रदान करें। मैं विश्वास दिलाती हूँ कि सभी विद्रोही सर्वाधिक विश्वासपात्र अनुचर सिद्ध होंगे।"

"ध्यान देखकर बोलाकर और फिर कोई पूछ भी रहा है तुझसे ?" विशालदत्त ने सावधान किया।

"शैलबाला में दूसरों के मनकी बात जानने की क्षमता है। सम्भव है, अपराधियों की मन-बुद्धि शुद्ध हो जायं और सच्चे राज्यभक्त बन जायें। मैं भी सोचता हूँ कि इस बार सभी को क्षमा ही कर दिया जाय।"

"जय हो, महाराज जी की जय हो।" विशालदत्त उमंगित हो जयजयकार कर उठे।

शैलबाला का भी कण्ठस्वर जय-जयकार की ध्वनि में एकाकार हो रहा था।

राधागुप्त की प्रतीक्षित जिज्ञासा प्रकट हो ही गई, "किन्हे किस अपराध के लिए क्षमारूप मे दण्डित किया गया है ?"

कुमार अशोक ने वस्तुस्थिति पर प्रकाश डाला, "विशालदत्त के कुछ सहचारी हैं। निरपराधी होते हुए भी उन्हें राजशक्ति के द्वारा प्रताड़ित किया गया जिसके फलस्वरूप वे राजद्रोही बन गये। उन लोगों के समझाने पर भी उन्हें हमारी सदाशयता पर विश्वास न हुआ और मेरे विरुद्ध भी षडयन्त्र रूप में एक समारोह का आयोजन कर डाला। उसमें मुझे आमन्त्रित किया किन्तु उनका षड्यन्त्र शैलबाला के कारण सफल न हो सका और उनकी अपराधी प्रवृत्ति का भण्डाफोड़ हो गया।"

"मुझे भी इस षड्यन्त्र की गंध मिल गई थी। इसके पूर्व कि मैं सावधान करने आ सकूं आप जा चुके थे।"

"तो क्या आप ईश्वरानन्द जी के यहाँ से आ रहे हैं ?" शैलबाला ने पूर्व सूचना के आधार पर जानना चाहा।

"हाँ, पर तुम्हें कैसे मालूम ?"

"मैने ही पद्मावती को बताया था और पद्मावती ईश्वरानन्द जी की पोषित पुत्री है।"

"तुम दोनों ही एक दूसरे से परिचित हो ?"

"हम दोनों दो शरीर एक प्राण है। हम दोनो का एक दूसरे से कुछ भी

छुपा नहीं है।"

"वह तो परम गुणी है। जितना सुन्दर गाती है वह, उतना ही मनमोहक नृत्य भी करती है।"

"और नृत्य-गान मे वह मुझे अपने से श्रेष्ठ मानती है।"

"तो तुम्हें भी नृत्य और गायन आता है? महाराज जी को परिचित नही कराया कभी?"

"महाराज जी ने इच्छा व्यक्त की होती तो अवश्य सेवा करती।"

"आज से ठीक दसवें दिन महाराज जी का जन्मदिवस है। उस अवसर पर अपने नृत्य और गायन द्वारा महाराज जी को प्रसन्न करना।"

"सहर्ष स्वीकार है, किन्तु अकेले नही। साथ मे पद्मा भी होगी।"

फिर तो और भी उत्तम रहेगा। कौन श्रेष्ठ है—इसका निर्णय भी हो जाएगा।"

"कभी नहीं। हम दोनों एक दूसरे को श्रेष्ठ मानती हैं। किसी तीसरे के द्वारा निर्णय की आवश्यकता नही।"

"महाराज जी भी अपना निर्णय व्यक्त नही कर सकेंगे?"

"महाराज जी को तो पूर्ण अधिकार है। जो चाहें निर्णय दें। हम दोनों को ही सहर्ष स्वीकार होगा।"

विशालदेव कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति थे। निष्क्रिय बैठना उन्हें पसंद न था। समय का अधिकाधिक सदुपयोग करना उनके जीवन का मूलमन्त्र था। वह झुककर बोले, "महाराज जी अनुमति देने की कृपा करें।"

"ठीक है, फिर आप ही उन्हें निर्णय से अवगत करा दें। फिर भी कुछ उनके मन मे शेष हो तो आकर स्पष्टीकरण कर लें। संकोच न करें। भूत में जो हुआ, आवश्यक नही कि भविष्य में भी होगा। मेरी ओर से वे अपने को पूर्ण सुरक्षित समझें। जहाँ तक सम्भव होगा किसी के साथ भी अन्याय न होने पावेगा।"

"जो आज्ञा।" विशालदत्त उठ खड़े हुए।

शैलबाला भी साथ ही उठ खड़ी हुई और बोली, "अपराध क्षमा हो, महाराज जी, इस दासी को भी अनुमति दें। दादा के साथ ही निकल जाऊँगी। अंधकार बढ चला है। रात्रि मे अकेले आना ठीक नही रहेगा।"

"अपने दादा के साथ तुम भी प्रतिक्रिया से अवगत करा जाना आकर और सम्भव हो तो अपनी सहेली पद्मा को भी साथ लेती आना। कुछ आवश्यक कार्य हैं। स्वीकार्य होंगे तो सौंप दिये जायेंगे।"

"महाराज जी की सेवा का अवसर पाकर हम अपने को धन्य ही समझेंगी अहो भाग्य।" शैलबाला भी नतमस्तक कक्ष से बाहर निकल गई।

एक शाम सहसा महाराज बिम्बसार उदरशूल से व्याकुल हो उठे। शूल-शमन हेतु औषधि दी गई किन्तु शूल की तीव्रता में कोई अन्तर नहीं आया। महाराज जी वेदना से कराह ही न रहे थे, वरन् छटपटा भी रहे थे। भिषगाचार्य को अविलम्ब उपस्थित होने की सूचना भेजी जा चुकी थी। महारानी सिरहाने बैठी हुई महाराज का मस्तक सहला रही थी और बीच-बीच में धैर्य भी बँधा रही थीं, "वायु का प्रकोप है। अभी शमन हो जाएगा। थोड़ा धैर्य से काम लें। भिषगाचार्य जी आते ही होंगे। कुछ-न-कुछ तो खा ही लेना चाहिये। खाली पेट होने पर वायु का प्रकोप बढ़ता है।"

महाराज जी शूल से व्याकुल तो थे ही, उन्होंने महारानी की किसी भी बात को ध्यान से नहीं सुना। उन्होंने तत्कालीन परिस्थिति का आकलन करते हुए सामयिक आवश्यकता व्यक्त की, "सुसीम अभी उज्जैन नहीं पहुँचा होगा। वह मार्ग में ही होगा। शीघ्रगामी संवाहकों को दौड़ा दो। उसे लौटा लो। रोको, आगे मत बढ़े। उसे मेरे निकट होना चाहिए। न जाने कब यह उदर शूल मुझे ले डूबे। यह शूल ठीक होने से रहा। दिन-पर-दिन इसके प्रहार भयंकर ही होते जा रहे हैं। असह्य है यह पीड़ा। प्राण-हरण-शक्ति की सीमा का स्पर्श कर रही है यह। उपचार के द्वारा इसकी शक्ति क्षीण न हुई तो कदाचित आज ही वह क्षण आए बिना न रहेगा जो ······· ····।"

"महाराज जी! अभी आप स्वस्थ हुए जाते हैं। भिषगाचार्य जी आ ही रहे होंगे। थोड़ा साहस से काम लें। सहनशक्ति के परीक्षण के यही तो क्षण होते हैं। आपने जीवन में न जाने कैसी-कैसी भीषण वेदनाएँ सही हैं। कभी आपका धैर्य नहीं डिगा है। प्रजाजन आपको धैर्य का पुंज समझते हैं। सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति के रूप में आप जन-जन के हृदय में विद्यमान हैं। इस क्षुद्र वेदना का क्या अस्तित्व। अभी निर्मूल हुई जाती है।"

"नहीं महारानी। यह वेदना प्राणलेवा प्रतीत हो रही है। सुसीम के लिए भेजा किसी को? कहीं ऐसा न हो कि वह यहाँ तक पहुँच ही न सके और मेरे प्राणपखेरू सदा के लिए उड़ जाँय।"

"महाराज जी! ऐसा अशुभ न सोचें, न बोलें। ऐसा अभी कुछ भी नहीं होने का। आपकी अभी लम्बी आयु शेष है। साम्राज्य की असंख्य समस्याओं का समाधान अभी आपके ही संरक्षण में होना है।"

"नही महारानी । विधि के लिखे हुए को कौन मेट पाया है । विधि के विधान को यही स्वीकार है कि अब मेरी क्रियाशक्ति समाप्त हो चुकी है। मुझे प्रस्थान करना चाहिए । निष्क्रिय शरीर को बोझ रूप में ढोने से क्या लाभ । आह ! सुसीम के लिए गया कोई ?"

निकट उपस्थित एक परिचारिका महारानी से कान में फुसफुसाई, "महारानी जी ! यदि आज्ञा हो तो युवराज जी को अविलम्ब उपस्थित होने की सूचना दे दू जाकर ।"

"हां जा, मगर वह तो बहुत दूर जा चुका होगा । तू कैसे पहुँच सकेगी ?"

"वह गये ही कहां हैं अभी । अपने निजी प्रासाद मे ही होगे । आदेश हो तो सीधे जाकर साथ ले आऊँ ।"

"मगर मुझे तो सूचना है कि वह कई दिन पहले ही पाटलिपुत्र छोड़ चुका है ।"

"यह उनका निजी आदेश था जो प्रसारित किया गया था, किन्तु मुझे ज्ञात है कि वह कहीं नही गये हैं । जहां वह अपनी मित्रमण्डली समेत हैं वह स्थान मुझे ज्ञात है । आदेश हो तो ··· ···।"

"महारानी ! आदेश दो न ।" महाराज बिम्बसार परिचारिका और महारानी की फुसफुसाहट को सीमा तक मन्द वार्तालाप को सुन बोले बिना न रह सके, "बड़ा अच्छा किया सुसीम ने जो प्रस्थान नहीं किया । उसने ईश्वरेच्छा का पालन किया है । सुसीम को तत्काल बुलाओ । मैं अब उसे कहीं जाने नही दूंगा । मेरी अन्तिम सांस तक वह मेरे निकट ही रहेगा । दिन-रात मेरी सेवा मे ही उपस्थित रहेगा । रुग्ण पिता के लिए पुत्र की उपस्थिति किसी चिकित्सक से कम महत्वपूर्ण नही होती । शीघ्र बुलाओ सुसीम को । जा, शीघ्र जा और सुसीम को साथ लेकर आ । लौटने पर तुझे पुरस्कार दूंगा ।"

महारानी ने भी सहमति प्रकट की, "जा, महाराज जी का आदेश पालन कर । ध्यान रखना तुझे सीधे जाना और आना है । मार्ग मे कहीं भी किसी भी कारणवश अटकना नहीं है ।"

"युवराज जी को साथ लेकर ही लौटना है न ?

"हां, अन्यथा लौटने पर तेरा कथन मिथ्या समझा जायेगा और उसके लिए तुझे दण्ड भी भोगना पड़ सकता है ।"

"नहीं, तू युवराज को साथ लेकर लौटेगी और पुरस्कृत भी होगी । पुरस्कार स्वरूप ले यह मुद्रिका ।" महाराज जी ने मुद्रिका उतार कर परिचारिका की ओर बढ़ाई ।

"ले न संकोच क्यों कर रही है। अग्रिम पुरस्कार है यह। अब तो उसे साथ लेकर लौटेगी ?"

"प्राणों के मूल्य पर भी उन्हें साथ लिए बिना न लौटूंगी। फिर आज्ञा है, जाऊं ?"

"हां, जा, और ध्यान रहे, महाराज जी अपलक तेरी ही प्रतीक्षा करेंगे।"

"अभी गई, अभी आई।" परिचारिका पक्षी की भांति फुर्र से उड़ गई।

भिषगाचार्य जी ने प्रवेश किया और नेत्र मूंदे हुये लेटे महाराज जी के मुखमण्डल पर दृष्टि गड़ाकर पूछा, "उदरशूल उत्पन्न हुए कितना समय बीत चुका है ?"

"कौन ? वैद्य जी ?

"हां, महाराज जी। उदरशूल कैसा है ?"

"अब तो शूल का शमन लग रहा है। आपके आते ही शूल की तीव्रता न जाने कहां विलीन हो गई। आप पहले ही क्यों न आ गये ? शूल भला आपके समक्ष कैसे ठहर सकता है।"

"नहीं महाराज जी, ऐसी बात नहीं है। यह समय शूल है। इसकी अवधि निश्चित है। अवधि बीतने पर इसका शमन स्वतः हो जाता है।"

"इसकी कोई ओषधि नहीं है ?"

"है, यह है। साथ लेता आया हूं। अब यह यहीं रहेगी।"

"यह शूल उत्पन्न क्यों हुआ ? मैंने कल से कुछ भी तो नहीं खाया-पिया है।"

"यह चिंताजन्य शूल है। किसी प्रकार की चिंता उत्पन्न हो गई होगी। उसने शूलरूप धारण कर लिया। महाराज जी ! आप किसी भी प्रकार की चिंता न किया करें। सब प्रकार के साधनों से तो सम्पन्न हैं आप। संसार में जो कुछ भी उपलब्ध है, वह सब आपके ही आधीन तो है।"

"किन्तु यह वृद्धावस्था तो मुझे अपने आधीन किये है। और वृद्धावस्था है असंख्य रोगों के आधीन। ये रोग चिकित्सक के कितने आधीन हैं—यह तो स्वयं चिकित्सक ही समझ सकते हैं।"

महाराज जी के तर्क पर भिषगाचार्य जी हँसे बिना न रह सके। वह सामान्य स्वर में बोले, "इस समय वे रोग भी महाराज जी की शक्ति के आधीन हैं। किसी रोग में शक्ति हो तो अपने अस्तित्व का आभास कराये।"

"यह सब आपकी उपस्थिति का प्रतिफल है।"

"यदि मेरी उपस्थिति से महाराज जी रोगमुक्त अनुभव कर रहे मैं यहीं रुका जाता हूं। कहीं नहीं जाऊंगा।"

"हाँ, आप राजप्रासाद में ही निवास करें। जो भाग रुचिकर प्रतीत हो, उसे अपना निवास चुन लें।"

"जो आज्ञा, महाराज जी ! लीजिए, इसे पान कर लीजिए।"

"क्या है यह ?"

"एक शक्तिवर्धक ओषधि है। इसके पान करते ही आप अपने शरीर में विशेष स्फूर्ति अनुभव करेंगे।" महाराज जी को वह ओषधि पिलाने के उपरान्त भिषगाचार्य जी ने महारानी को समझाया, "अब महाराज जी, लगभग रात भर सोयेंगे। किसी प्रकार का व्यवधान न उत्पन्न होने पाये। पूर्ण शांति की आवश्यकता है। मैं कल प्रातः स्वतः उपस्थित हो जाऊँगा।"

"तो क्या आप राजप्रासाद से बाहर जा रहे हैं ?" महारानी ने पूछा।

"यह सब भी हो जायेगा। व्यवस्था-परिवर्तन में समय लगेगा।"

"महाराज जी पूछेंगे तो मैं क्या उत्तर दूँगी ?"

"उसके पहले ही मैं सेवा में उपस्थित हो जाऊँगा। अब महाराज जी को सोने दीजिये। आप भी विश्राम कीजिये।" भिषगाचार्य जी और अधिक वहाँ न रुके। धीरे-धीरे कक्ष के बाहर हो गये।



जो स्थिति सम्राट या आचार्य और कुमार के मध्य अमात्य राधागुप्त की थी, लगभग वही स्थिति महाराज और युवराज सुसीम के मध्य खल्लाटक की थी, बल्कि युवराज का पक्षधर होने के नाते अमात्य खल्लाटक अपनी स्थिति को कुछ अधिक ही महत्वपूर्ण समझते थे। खल्लाटक को पूर्ण विश्वास था कि महाराज बिम्बसार के पश्चात युवराज ही मगध साम्राज्य के उत्तराधिकारी होंगे। और सबसे बड़ी बात थी कि युवराज सुसीम का खल्लाटक को पूर्ण विश्वास प्राप्त था। साम्राज्य का अधिकारी वर्ग भी इस स्थिति से अनभिज्ञ न था। अमात्य राधागुप्त की अपेक्षा खल्लाटक को अधिक ही अधिकारियों के द्वारा सम्मान प्राप्त होता था। किन्तु महामात्य चाणक्य से खल्लाटक सदा आशंकित रहते थे। आचार्य चाणक्य की स्थिति से वह भलीभाँति अवगत थे। भरसक वह चेष्टा करते थे कि महामात्य का सामना न हो। महामात्य भी खल्लाटक की प्रकृति और दाँव-पेंच से अनवगत न थे। खल्लाटक की

हर गतिविधि की उन्हें सूचना रहती थी। दो-चार बार वह खल्लाटक को सावधान भी कर चुके थे, किन्तु खल्लाटक की गतिविधियों में कोई अन्तर न आया था बल्कि वह और अधिक सतर्क और सक्रिय होते चले गये। सुसीम ही उनके लक्ष्य थे और उनकी हर गतिविधि का केन्द्र-बिन्दु युवराज ही होते थे। जब उन्हें सूचना मिली कि युवराज को उज्जैन के लिए प्रस्थान का आदेश मिला है तो वह भागते हुए सीधे युवराज की सेवा में उपस्थित हुए और शिष्टाचार पालन के उपरान्त जानना चाहा, "युवराज जी स्वस्थ तो हैं ? कदाचित् कहीं प्रस्थान की योजना है ?"

"हाँ, उज्जैन प्रस्थान की राजाज्ञा प्राप्त हुई है, किन्तु मैं जाऊंगा नहीं।"

"राजाज्ञा की अवहेलना ?"

"नहीं, उसका पालन भी होगा।"

"दोनो विरोधी बातें एक साथ कैसे सम्भव हैं ?"

"आप ही ने तो एक बार समझाया था कि भावी शासक को कुछ बातें गुप्त रखनी चाहिए। इस बार मैं अपने को गुप्त रखूंगा।"

"अर्थात ?"

"युवराज के उज्जैन प्रस्थान की सूचना तो प्रसारित होगी किन्तु युवराज रहेंगे पाटलिपुत्र में ही।"

"बस, बस, समझ गया, किन्तु इसका प्रचार तनिक भी नहीं होना चाहिए। जितना अधिक गुप्त रह सकेगा उतना ही हितकर रहेगा।"

"यह सब निर्भर करेगा आपके द्वारा नियुक्त अंगरक्षकों पर।"

"वे परिचारिकायें भी तो पाटलिपुत्र में आपकी उपस्थिति से अवगत रहेंगी जिन्हें आपने अपनी व्यक्तिगत व्यवस्था हेतु भीतर-बाहर आने-जाने की पूरी छूट दे रखी है।"

"उनके पीछे भी तो आपने गुप्तचर लगा रखे हैं।"

"आपको यहाँ तक सूचना है ?"

"अनुसूचित बने रहने का अभिनय करना भी तो आपने ही सिखाया है।"

"क्षमा करें युवराज जी। मेरा लक्ष्य तो आपका हित है। ज्यों-ज्यों समय बीतता जा रहा है, त्यों-त्यों सतर्कता की आवश्यकता बढ़ती जा रही है। भिषागाचार्य जी से मिलकर ही सीधे आ रहा हूँ। वह भी महाराज जी के स्वास्थ्य से निराश हो चुके हैं। उनके कथनानुसार कोई भी स्वास्थ्यरक्षक औषधि कार्य नहीं कर रही है। महाराज जी का रोगमुक्त होना असम्भव हो गया है। न जाने कब क्या हो जाय। ईश्वर न करे, महाराज जी को यदि किसी दिन कुछ हो गया तो इतने बड़े मौर्य साम्राज्य का शासनभार

श्रीमान जी के कंधों पर आ पड़ेगा।"

"मेरे कंधों पर ही क्यों, आपके सिर पर नहीं आ पड़ेगा? यह तो एक दिन होना ही है। क्यों अमात्य जी? जिसका होना अवश्यम्भावी है, वह शीघ्र क्यों नहीं हो जाता है? वह प्रतीक्षा क्यों करवाता है?"

"धैर्य की परीक्षा भी तो आवश्यक होती है। आपने राजधानी न छोड़ने का बड़ा सामयिक निर्णय लिया है।"

"आप ही तो कई बार सावधान कर चुके हैं कि मुझे राजधानी से दूर नहीं रहना चाहिए। न जाने किस समय क्या मांग हो। जो भी राजकुमार उपस्थित होगा उस समय, वही लाभ उठाने से न चूकेगा।"

"कोई तो नहीं, किन्तु कुमार अशोक अवश्य ही नहीं चूकेंगे। और एक बार यदि सत्ता पर अधिकार कर लिया तो फिर उनसे सत्ता प्राप्त करना कठिन होगा।"

"यह स्थिति ही क्यों उपस्थित होने पायेगी। मैं पाटलिपुत्र छोड़ूंगा ही क्यों?"

"और अच्छा हो, यदि आप राजप्रासाद में महाराज जी के निकट ही रहें।"

"किन्तु वहां मेरी स्वच्छन्दता बाधित होती है। भावी आशंकाजन्य जिन चिन्ताओं के जाल में आपने मेरे मन-मस्तिष्क को जकड़ रखा है, उनसे मुक्ति का साधन राजप्रासाद के बाहर ही सम्भव है। आप देख-देखकर सोचने को विवश होंगे कि मैं रात-दिन मद्यपान में डूबा रहता हूं और राज्य हित के प्रति असावधान रहता हूं, किन्तु वस्तुस्थिति सर्वथा भिन्न है। मुझे राजप्रासाद के प्रतिपल की सूचना मिलती रहती है। आपको विशेष प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी, आप स्वयं ही देख लेंगे कि कोई-न-कोई संदेश आता ही होगा।"

युवराज का कथन समाप्त हुआ ही था कि परिचारिका ने प्रवेश कर अभिवादन किया। युवराज ने उसे दृष्टि का केन्द्र-बिन्दु बनाकर प्रश्न किया, "बहुत देर लगादी?"

"अपराध क्षमा हो, महाराज जी की दशा ठीक नहीं है।"

"वह तो मैं न जाने कब से सुन रहा हूं। कुछ बताएगी भी, ठीक क्या नहीं है?"

"उनकी घबड़ाहट बढ़ गई है। रह-रहकर आपको स्मरण कर रहे हैं।"

"फिर मुझे उज्जैन जाने का आदेश क्यों दिया था? अब तो मैं पाटलिपुत्र और उज्जैन के बीच मार्ग में यात्रा पर हूं। स्मरण तो वह अशोक को भी करते होंगे।"

"नहीं, इस समय वह केवल आपको ही देखना चाहते हैं। उनकी व्याकुलता चरम सीमा पर है। वह यथेष्ट निराश हो चुके हैं। कोई भी औषधि काम नहीं कर रही है। एक-एक पल काटना कठिन हो रहा है। आप उनके समक्ष होंगे तो कदाचित उन्हें शान्ति मिलेगी।"

"स्वास्थ्य की दशा तो वास्तव में ठीक नहीं है। भिषगाचार्य तक निराश हो उठे हैं। आप अपने को बीच मार्ग से लौटा हुआ समझकर महाराज जी की शैय्या के निकट पहुँच जाइए। क्या मालूम कि आपका सौभाग्य ही उनसे प्रतीक्षा करवा रहा हो।" अमात्य खल्लाटक ने भी समझाया।

"आप भी बड़े रहस्यमय हैं। कब क्या कहते हैं—समझना कठिन है। कभी गुप्त रहने पर बल देते हैं और कभी प्रकट होने को उचित ठहराते हैं। आपकी माया भी बड़ी विचित्र है। आप कह रहे हैं तो चला जाता हूँ, किन्तु आपको साथ चलना पड़ेगा।"

"युवराज जी का आदेश तो पालन करना ही पड़ेगा। कह दूँगा कि बड़ी कठिनाई से लौटे हैं। राजाज्ञा आपको प्राणों से भी प्रिय है। बहुत समझाने बुझाने पर आप लौटने को प्रस्तुत हुए हैं।"

"वास्तव में, मैं आपके कहने पर ही चल भी रहा हूँ।"

"जब तक युवराज जी हैं तभी तक न। महाराज बनते ही कौन किसको पहचानता है।"

"कम-से-कम आप तो ऐसा न सोचिए। मेरी दृष्टि में जितना सम्मान आपका है उतना अशोक महामात्य का भी न करता होगा। विश्वास न हो तो परीक्षा लेकर देख लीजिए।"

"समय सबसे बड़ा परीक्षक होता है। तभी तो जो सामयिक आवश्यकता है, उसके अनुरूप कदम उठाइए।"

"चलिए।" युवराज ने पैर आगे बढ़ाते हुए कहा, "कैसी विडम्बना है। प्राण रहते मोह त्याग होता नहीं और शरीर न रहने पर वही मोह संघर्ष का कारण बन जाता है।"

"युवराज जी! अनेक बार महाराज [illegible] समझा चुका हूँ, मगर वह राज-परिवार-विद्रोह के डर से आपको [illegible] करने के लिए तैयार नहीं होते।"

"तो क्या वह उनके प्राणान्त के उपरान्त नहीं होगा। होगा और [illegible] घोर होगा। यह भी निश्चित है [illegible] अशोक के बीच ही होगा। युवराज के नाते मेरा तो [illegible] है, किन्तु अशोक से [illegible] न कर सकेगा।"

"तो परिणाम भोगना पड़ेगा। असम्भव नहीं, यदि प्राण भी त्यागने पड़ें।"

"किन्तु अशोक को प्राणों का ही मोह तो नहीं है। उसे करने में विश्वास है, टालना उसकी प्रकृति में नहीं है। मैंने भी निश्चय कर रखा है कि यदि वह छोटे भाई के रूप में सामने आयेगा तो कुछ पा भी जायेगा और यदि किसी प्रकार की धमकी दी तो प्राणों से भी हाथ धोना पड़ेगा।"

"युवराज जी! वह स्थिति ही न आने पायेगी। जहाँ तक मेरा वश चलेगा मैं कुमार अशोक को पाटलिपुत्र तक आने ही नहीं दूँगा।"

"किन्तु, यह मत भूलिये कि महामात्य राजधानी में ही उपस्थित हैं। उनके रहते अशोक कभी भी अनसूचित नहीं रह सकता। वह कितनी ही दूर क्यों न हो, किसी भी परिवर्तन की सूचना यथाशीघ्र उस तक पहुँच ही जायेगी।"

"किन्तु महामात्य किसी एक का अधिकार छीनकर किसी दूसरे को तो न दे देंगे।"

"उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। किस समय अथवा किस परिस्थिति में वह क्या सोचते या करते हैं—इसे वह स्वयं ही जानते हैं।"

"किन्तु युवराज जी! आप भी देखियेगा कि अब वह समय नहीं रहा जब जो महामात्य ने चाहा, वही हुआ। अब अमात्य खल्लाटक आपके साथ है। अब वह होगा जो मैं चाहूँगा और मैं वही चाहूँगा जो न्यायोचित होगा। न्याय की दृष्टि से आप ही उत्तराधिकारी हैं। और इस अधिकार से कोई भी शक्ति आपको वंचित नहीं कर सकती।"

"अधिकार के सबसे बड़े सम्बल तो आप ही हैं। महाराज जी की दृष्टि में आपका सम्मान कम नहीं है।"

"न्यायदृष्टि जो है उनके पास। उन्होंने मेरे किसी भी उचित प्रस्ताव का कभी विरोध नहीं किया। जब-जब मैंने समर्थन चाहा, तब-तब उन्होंने पूरा समर्थन दिया। महामात्य के रुष्ट होने तक की चिन्ता उन्होंने नहीं की। महाराज जी ने आजीवन न्याय की रक्षा की।"

"चलिए, अब देखते हैं कि कौन किसकी रक्षा करता है।" राजप्रसाद का मुख्य द्वार आ गया था। वार्तालाप को विराम मिला। गम्भीरता का वरण हुआ। मौन ने आगे गति ग्रहण की।

महामात्य आचार्य चाणक्य थे तो गंगातटवासी, किन्तु साम्राज्य की राजनीति का संचालन उन्हीं के संकेत पर होता था। उनके द्वारा नीति ही निर्धारित नहीं की जाती थी, वरन् उसका क्रियान्वयन भी उन्हीं के निदेशानुसार किया जाता था। उनकी जिज्ञासावृत्ति जितनी सजग थी, सतर्कता उससे भी अधिक प्रबल थी। जनरव से दूर होते हुए भी उनका जन-सम्पर्क विलक्षण था। किसी समय कोई भी उनसे मिल सकता था, किन्तु मिलता उनसे कोई न था। जिन्हें वह चाहते थे, वही उनका नैकट्य प्राप्त कर पाता था। राजकीय गतिविधियों में सर्वथा लिप्त होते हुए भी निर्लिप्त बने रहने का उनका नाटक अद्भुत था। मौर्यवंश का जो शासनवृक्ष उन्होंने लगाया था उसकी जड़ों की जीवंतता का ही उन्हें परिज्ञान न था, वरन् एक-एक पत्ती तक की संरचना और कोण तक से वे भलीभाँति परिचित थे। मौर्यसाम्राज्य के किस प्रदेश में क्या हो रहा है, किस पड़ोसी राज्य की दृष्टि कैसी है, राजपरिवार के प्रत्येक प्राणी की क्षमता क्या है, किसका क्या लक्ष्य है, कौन किसके माध्यम से अपने स्वप्नों को साकार बनाने का गुप्त प्रयास कर रहा है—मौर्यसाम्राज्य के महामात्य की पहुँच के बाहर न था। प्रतिक्षण एक-न-एक सूचनावाहक भिखारी, अपाहिज, साधु, पुरोहित, अबला नारी, वस्तुविक्रेता, बालक, वृद्ध, योद्धा, कलाकार के वेश में उनकी सेवा में उपस्थित हुआ करता था और सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे परस्पर अपरिचित ही बने रहते थे, यद्यपि देखते एक-दूसरे को आशंका की दृष्टि से थे। इनकी वह सुनते अधिक थे। बोलते वह वैसे भी विशेष आवश्यकता पड़ने पर ही थे। झुकी कमर-वेशधारिणी वृद्धा की सूचना पर महामात्य ने प्रतिक्रिया व्यक्त की, "युवराज के ठहरने के स्थान से भलीभाँति परिचित हो न? दुबारा पहुँच सकती हो?"

"केवल नृत्यांगना के वेश में। वहाँ नर्तकी का प्रवेश वर्जित नहीं है।"

"हूँ, तुम जा सकती हो।"

"कोई आज्ञा?"

"नहीं पूर्ववत् अपना काम करती रहो।" बाहर से कोयल की ध्वनि सुनकर महामात्य ने आगे आदेश दिया, "बाहर ठहरो, अभी जाना मत। जो बाहर है, उसे भेज दो।"

एक का बाहर जाना था कि दूसरी ने प्रवेश किया। अनावश्यक शिष्टा-

चार तक वहाँ वर्जित था। प्रवेशिनी ने नतदृष्टि बोलना प्रारम्भ किया, "सूचना तो विश्वसनीय है, किन्तु सूचनावाहिका आचरण संदेह से परे नहीं है।"

"प्रमाण ?"

"यहाँ से अधिक वहाँ का आना-जाना। अमात्य पत्तनाटक तक से कई बार वार्तालाप करते हुए उसे देखा गया है।"

"तुम जा सकती हो। उसे भेज दो, जो अभी यहाँ से बाहर गई है।" उसके आने पर महामात्य ने जानना चाहा, "क्या धारणा है ?"

"तनिक भी विश्वास न कीजिए।"

"उसका या तुम्हारा ?"

"दोनों का। हम दोनों ही वहाँ की कुशल नृत्यांगनाएँ मानी जाती हैं। प्रायः आना-जाना होता है। न मालूम कब अविश्वसनीयता के फंदे में फँस जाय।"

"ठीक है, केवल उतना ही करो, जितना कर सकती हो।" बाहर से दो पत्थरों के टकराने की ध्वनि सुनाई दी। महामात्य ने सावधान किया, "विशेष सूचना पर ही आना।"

पत्थरों के ध्वनि उत्पादक के प्रवेश को लक्ष्य कर महामात्य ने टोका, "आज कई दिनों के बाद आये ?"

"जी, तक्षशिला का विद्रोह शान्त हो गया है। कुमार के प्रयासों से शासन-व्यवस्था के प्रति प्रजा के मन में आस्था उत्पन्न हो चुकी है, किन्तु कुमार का अविलम्ब वापस बुलाना आवश्यक है। वह नारियों के एक गिरोह में आवश्यकता से अधिक रुचि लेने लगे हैं। उनकी गतिविधियों पर मैं अविश्वास नहीं कर पा रहे हैं।"

"और राधागुप्त से भेंट हुई ?"

"जी, उनकी दृष्टि कुमार की प्रत्येक गतिविधि पर रहती है।"

"लौटने के सम्बन्ध में कुछ कहा ?"

"आपके आदेश की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

"विद्रोह शान्त हो जाने पर स्वतः चला आना चाहिए था। तुम आज ही उज्जैन के लिए प्रस्थान करोगे।"

"जो आज्ञा।" वह नतमस्तक कुटी के बाहर निकल गया।

महामात्य ने निकट रखा हुआ शंख उठाकर बजाया। शंखध्वनि का अभिप्राय था कि साक्षात्कार का समय समाप्त हो गया। जो जहाँ खड़ा था, वहीं से वापस हो गया।

कुमार अशोक के जन्मदिन मनाये जाने की राजकीय घोषणा सुनते ही तक्ष-शिलावासियों में उत्साह की अपूर्व लहर दौड़ गई। स्थान-स्थान पर चर्चाएँ होने लगीं। स्मृतियों पर बल दिया जाने लगा। योजनायें बनने लगीं कि उत्सव ऐसी कोटि का हो जैसा तक्षशिला के जीवनकाल में कभी न हुआ हो। प्रत्येक नागरिक कटिबद्ध हो जुट गया अपने घर आदि को सजाने-सँवारने में। विस्मरण कर बैठा जनसमूह विगत उत्पीड़न और अपमानजनक यन्त्रणायें। नवीन स्फूर्ति और सजगता के सर्वत्र दर्शन होने लगे। व्यस्तता में यथार्थ अधिक और अभिनय कम था। जो भी जिससे जब और जहाँ मिलता एक ही वाक्य का परस्पर आदान-प्रदान होता, "जन्मोत्सव को अभूतपूर्व सफल बनाने के लिए कुछ उठा नहीं रखना है। तक्षशिलावासी तो कर्मठता के प्रतीक थे ही, उनकी नारियाँ उनके भी कान काटे थीं। घर का उत्तरदायित्व तो उन पर था ही, बाहर भी वह पुरुषों का हाथ बँटाने की भरसक चेष्टा करती थी। इच्छा इतनी बलवती हो उठी थी कि चेष्टा सक्रिय रूप धारण किये बिना न मानती थी। तक्षशिलावासियों की चेष्टायें तक कलात्मक हो उठी थीं। अन्ततोगत्वा जन्मोत्सव का दिन आ ही पहुँचा। कुमार अशोक की दिनचर्या भी अद्भुत थी। किसी को भी न ज्ञान रहता था कि वह किस समय कहाँ होंगे और किस पर उनकी दृष्टि होगी। कदाचित ही कोई घटना या गतिविधि उनकी दृष्टि से ओझल हो पाती हो उनकी सहज उपस्थिति द्वारा यह विश्वास भी खण्डित हुए बिना न रहता था कि, "यहाँ नहीं हैं कुमार। न जाने कहाँ चले गये। बहुत देर से दिखाई नहीं दिये।" और कभी-कभी असमर्थता को भी वाणी मिल जाती थी, "उनके विषय में, भाई, वही जानें। न जाने कब वह खाते-पीते हैं, कब विश्राम करते हैं। उनकी लीला विचित्र है। कुछ समझ में नहीं आता।"

रात्रि में ही राधागुप्त टोक चुके थे कल तो आप बाहर कहीं नहीं जाएँगे ?"

"क्यों, कोई विशेष बात ?"

"आपका जन्मदिन नहीं है ? प्रजा दर्शनों के लिए नहीं आयेगी ? आपका अभिवादन नहीं करेगी ? अथक प्रयासों से जो उपहार निर्मित किये हैं उन्हें आपकी सेवा में भेंटकर अपनी हार्दिक प्रसन्नता किसके समक्ष प्रकट

करेगी ?"

"और घर-घर को जो झांकी-सा सजा रखा है, उसे भला कौन देखेगा।"

"तो क्या आप घर जायेंगे ?"

"नहीं तो आप ही निर्णय कीजिए कि किसके घर जाऊं और किसके नहीं।"

"किसी के नहीं। सब यहीं आएंगे। सब एक साथ अभिवादन करेंगे। आपके दर्शनों से कृतार्थ होंगे।"

"नहीं मन्त्रीवर, मैं नहीं चाहता कि एक के लिए इतने बड़े जन-समूह को कष्ट दिया जाय। और फिर आप तनिक सोचने का कष्ट क्यों नहीं करते कि मैं स्वयं पहुंचूंगा तो उन्हें अनुभूति होगी कि मैं उनके यहां गया। सदा-सदा के लिए वे अपने बन जायेंगे।"

"अपने तो वे बन ही चुके हैं।'

"कदापि नहीं, यही भ्रम तो घातक होता है। अपनों को पराया बनते देर नहीं लगती। जो आज अपने प्रतीत हो रहे हैं वे कल पराये सिद्ध होंगे, जानना बहुत ही कठिन होता है मैं चाहता हूं कि उन्हें अनुभव हो कि शासक उनमें से एक है। शासक और शासित में जो अन्तर आज वे अनुभव कर रहे हैं वह समाप्त हो जाय और वास्तव में वे शासक को अपना अभिन्न अंग समझने लगें।"

"सो तो सब ठीक है, किन्तु कम-से-कम कल तो आपका जन्मदिन है। दर्शनार्थियों को निराश नहीं होना पड़ेगा ?"

"कदापि नहीं, मेरे आगे बढ़ने पर मेरे द्वारा अपना वे अभिवादन अनुभव करेंगे। यह अनुभूति अविस्मरणीय होगी।"

"आपसे तो अब कुछ भी कहना-सुनना व्यर्थ है। करेंगे आप वही जो आपने ठान रखी है। व्यर्थ है समझाना-बूझाना।"

"अरे, रुष्ट हो गये। आपतो हमारे बालसखा हैं। सबसे बड़े शुभचिंतक हैं। कर्तव्य-पालन में प्रमाद के लिए आप नहीं टोकेंगे तो क्या पाटलिपुत्र से महामात्य जी पधारेंगे ? अच्छा सखे ! यहां भी रुकूंगा। बस ! अब तो प्रसन्न ! मुस्कराओ, अब तो मुस्कराओ। हां-हां, ऐसे। थोड़ा और। दंत-पंक्ति के भरपूर दर्शन तो हों।"

राधागुप्त की प्रसन्न मुद्रा सहसा गम्भीरता में तिरोहित हो उठी, वह बोले "कुमार कभी कभी सोचने के लिए बाध्य हो उठता हूँ कि जब मैं ही आपको समझने में असमर्थ हूं कि तब प्रजा भला अपने शासक को क्या समझ पायेगी।"

"अरे भई, यही क्यों भूल जाते हो कि समझने के लिए कुछ हो भी। असंदिग्ध आचरण को समझने की क्या आवश्यकता। जीवन ग्रंथ का हर पृष्ठ खुला रखो। गोपनीयता आशंका की जननी होती है। मेरी चेष्टा रहती है कि सब कुछ खुला रहे, गुप्त कुछ भी न हो।"

"किन्तु आप शासक हैं। शासन करने के लिए शासक को-साम, दाम, दण्ड, भेद-सभी नीतियों का सहारा लेना पड़ता है।"

"हाँ, किन्तु भेद अंत में आता है। शासक इसे यदि अपनी नीति में प्रथम स्थान पर रख ले तो शेष तीनों नीतियों-साम दाम और दण्ड की आवश्यकता ही न पड़े। युवराज को भेदनीति के कारण ही तो दण्ड की आवश्यकता पड़ी। उनकी साम और दाम दोनों ही नीतियां असफल प्रमाणित हुईं। मैंने मनमें संकल्प कर रखा है कि यदि शासक के रूप में प्रजापालन का अवसर मुझे मिला तो मेरी नीति का मूल आधार होगा-'राजा की निर्मात्री प्रजा है। राजा को प्रजा के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। कृति से कृतिकार सदा बड़ा होता है। बड़े के प्रति छोटे के मन में सदा सेवाभाव ही होना चाहिए। राजा का धर्म है प्रजा की सेवा और सेवा का अर्थ है शक्ति भर सुरक्षापूर्ण वातावरण की सृष्टि करना, घातक अथवा विनाशकारी तत्वों का समूल उन्मूलन करना। सज्जनों के प्रति सद्व्यवहार और दुष्टों का दमन-इसी नीति का आजीवन अनुसरण मेरे शासकीय स्वरूप का प्रयास होगा। शेष समय स्वतः साक्षी होगा।"

"कुमार! आज मुझे आपमें एक नये रूप के दर्शन हुए। अभी तक मेरी धारणा थी कि आप मात्र आखेटप्रिय हैं। शस्त्र से संचालन में ही आपकी विशेष रुचि है। घूमना-फिरना, एक स्थान विशेष पर अधिक समय न टिकना आपकी स्वाभाविक प्रकृति है, किन्तु अब मुझे भान हुआ कि आप चिंतन-मनन भी करते हैं। जीवन-व्यवहार को निकट से भी देखते हैं। दुःख सुख की सहानुभूति आपको भी होती है।"

"इसका तो अभिप्राय यह हुआ कि मुझे भ्रम था।"

"भ्रम और आपको! आपको किस बात का भ्रम था?"

"मैं समझता था कि आप मुझे समझते हैं।"

"मेरा विश्वास भी खण्डित हो गया। चलो अच्छा हुआ। भ्रमविहीन होना आवश्यक भी था। अच्छा कुमार! रात्रि यथेष्ट व्यतीत हो रही है। अब आप विश्राम करें। प्रात.काल कदाचित शीघ्र ही उठना पड़े।"

"निद्रा ही तो मेरी सबसे बड़ी शत्रु है। न स्वयं सोती है, न मुझे सोने देती है। न मालूम इसे मैंने अपनी नींद सौंपी या इसने मेरी नींद छीनी, मगर

यह सो न सकी । समझ में नहीं आता कि संसार को सुलाने वाली स्वयं क्यों जागती है । सम्भवत: यही प्रकृति है । सब अपनी-अपनी प्रकृति से समक्ष असमर्थ हैं ।"

"नहीं, आप तो अपनी प्रकृति से भी टक्कर लेते रहते हैं ।"

"नहीं, उसे समझने की चेष्टा करता हूँ । अन्ततोगत्वा प्रकृति है क्या ? क्यों यह सबको अपने वश में किये है । इसके वशीभूत हो आचरण करना ही मानव अपने जीवन की नियति क्यों स्वीकार कर लेता है ? क्यों नचाती है यह मानव को इतना ।"

"ऐसे प्रश्न तो कदाचित गुरुदेव के मस्तिष्क में भी कभी उत्पन्न न हुए होंगे ।"

"गुरुदेव के मस्तिष्क में ऐसे प्रश्न उत्पन्न हो भी नहीं सकते । वह घोर यथार्थवादी हैं । आत्मनियन्त्रण और आत्मानुशासन में उनकी आस्था है । भावुकता से उनका दूर का भी परिचय नहीं है । मानवीय संवेदनाओं को उन्होंने दुर्बलता समझकर कुचल डाला है । हितवादी दृष्टिकोण है उनका । साम्राज्य-हित उनकी दृष्टि में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य है । इसके लिए, उनका विश्वास है, कुछ भी, किसी भी सीमा तक बलिदान किया जा सकता है । वैयक्तिक भावुकता से उन्हें घृणा है । मानवीय प्रकृति पर उन्होंने विजय प्राप्त कर ली है ।"

"इसका अभिप्राय है कि उन्होंने प्रकृति को पहले समझा होगा ?"

"हाँ, किन्तु इतना पहले कि इस अवस्था में वह अपनी वह समझ भी भूल चुके होंगे । विश्वास न हो तो पूछ देखिएगा ।"

"ना बाबा ! उनसे पूछने का मुझमें साहस नहीं ।"

"फिर, मैं ही पूछूंगा ।"

"कदापि नहीं कुमार । ऐसे दुर्बल प्रश्न आपके मन-मस्तिष्क में उपस्थित हैं—इस तथ्य से अवगत होते ही नहीं उनका स्वप्न भंग न हो जाय ।"

"स्वप्न ! कैसा स्वप्न ? उनका भी कोई स्वप्न है ? स्वप्न और गुरुदेव ! कदापि नहीं । स्वप्न से गुरुदेव की जन्म-जन्म की शत्रुता है । और जो कभी नवीन साम्राज्य का स्वप्न देखा भी था, वह भी उनका संकल्प था, स्वप्न नहीं । संकल्प में आस्था है गुरुदेव की, स्वप्नों में नहीं ।"

"संकल्प ही सही, कुमार ।"

"फिर मन्त्रीवर, यह भी स्मरण रखिए कि संकल्प सदा अपनी सामर्थ्य पर किये जाते हैं । यथार्थ की भूमि पर आधारित संकल्प कभी भंग नहीं होता । गुरुदेव ने जो संकल्प किया है, वह अवश्य पूर्ण होगा । कोई भी दुस्-

अदृश्य शक्ति उन्हें अपने संकल्प से डिगा नहीं सकती ।"

"फिर सौभाग्य आपको अवश्य वरण करेगा ।"

"सौभाग्य स्वयं अपने अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये ? मन्त्रीवर, पुरुषार्थ सर्वाधिक सबल होता है । पुरुषार्थ के समक्ष न स्वप्न टिकते हैं न संकल्प, न भाग्य खड़ा रहा पाता है, न विधान । यहाँ तक कि समय भी पुरुषार्थ के अवसान की प्रतीक्षा में खड़ा रह जाता है । समय तक को उसकी प्रकृति के विरुद्ध -गतिशून्य पुरुषार्थ बना देता है । पुरुषार्थ में मेरी आस्था है, मेरी गति है पुरुषार्थ और आप भी तो अनेक बार पुरुषार्थ में अपना विश्वास प्रकट कर चुके हैं ।"

"हाँ, कुमार । आपके पुरुषार्थ में मुझे विश्वास है । लगता है, आपका पुरुषार्थ ही गुरुदेव का संकल्प है । कदाचित पुरुषार्थ और संकल्प एक ही मुद्रा की भिन्न आकृतियाँ हैं ।"

"ठीक समय की-दिन-रात्रि-दो आकृतियों की भाँति । सुन रहे हैं पक्षियों का कलरव ? रात्रि का अवसान दिवस के आगमन के स्वागत में प्रस्तुत है ।"

"ओह ! कितना सुमंगल प्रभात है । जन्मदिवस के उपलक्ष्य में सर्वप्रथम मेरा अभिवादन स्वीकार करें कुमार और असंख्य अभिवादनों के स्वीकार के लिये प्रस्तुत हों ।"

"धन्यवाद, मन्त्रीवर ।" कुमार अशोक उठ खड़े हुए और बोले, "पाटलिपुत्र से अवश्य कोई-न-कोई सदेशवाहक आ रहा होगा ।"

"असम्भव नहीं कि आ भी गया हो । दर्शनों की प्रतीक्षा कर रहा हो ।"

"आइए, बाहर देखता हूँ ।" कुमार अशोक अमात्य राधागुप्त के साथ बाहर जैसे ही दिखाई दिये, अभिवादन के निमित्त एकत्र असख्य नर-नारियों की समवेत कण्ठध्वनि वायुमण्डल मे गूंज उठी, "मौर्य कुमार की जय हो ।"

"जन्मदिन मंगलमय हो ।"

"इस शुभ दिन के लिए बधाई ।"

कुमार अशोक दोनों हाथ उठाये हुए तक्षशिलावासियों का अभिवादन स्वीकार कर रहे थे । रह-रहकर कण्ठध्वनि वायुमण्डल मे तरंगायित हो रही थी । उमगित मन उन्ही तरंगो पर आरूढ़ होकर दसो दिशाओ की यात्रा पर निकल पड़े थे ।

यह सो न सकी । समझ में नहीं आता कि संसार को सुलाने वाली स्वयं क्यों जागती है । सम्भवत: यही प्रकृति है । सब अपनी-अपनी प्रकृति के समक्ष असमर्थ हैं ।"

"नहीं, आप तो अपनी प्रकृति से भी टक्कर लेते रहते हैं ।"

"नहीं, उसे समझने की चेष्टा करता हूँ । अन्ततोगत्वा प्रकृति है क्या ? क्यों यह सबको अपने वश में किये है । इसके वशीभूत हो आचरण करता हो मानव अपने जीवन की नियति क्यों स्वीकार कर लेता है ? क्यों नचाती है यह मानव को इतना ।"

"ऐसे प्रश्न तो कदाचित गुरुदेव के मस्तिष्क में भी कभी उत्पन्न न हुए होंगे ।"

"गुरुदेव के मस्तिष्क में ऐसे प्रश्न उत्पन्न हो भी नहीं सकते । वह घोर यथार्थवादी हैं । आत्मनियन्त्रण और आत्मानुशासन में उनकी आस्था है । भावुकता से उनका दूर का भी परिचय नहीं है । मानवीय संवेदनाओं को उन्होंने दुर्बलता समझकर कुचल डाला है । हितवादी दृष्टिकोण है उनका । साम्राज्य-हित उनकी दृष्टि में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य है । इसके लिए, उनका विश्वास है, कुछ भी, किसी भी सीमा तक बलिदान किया जा सकता है । वैयक्तिक भावुकता से उन्हें घृणा है । मानवीय प्रकृति पर उन्होंने विजय प्राप्त कर ली है ।"

"इसका अभिप्राय है कि उन्होंने प्रकृति को पहले समझा होगा ?"

"हाँ, किन्तु इतना पहले कि इस अवस्था में वह अपनी वह समझ भी भूल चुके होंगे । विश्वास न हो तो पूछ देखिएगा ।"

"ना बाबा ! उनसे पूछने का मुझमें साहस नहीं ।"

"फिर, मैं ही पूछूंगा ।"

"कदापि नहीं कुमार । ऐसे दुर्बल प्रश्न आपके मन-मस्तिष्क में उपस्थित हैं—इस तथ्य से अवगत होते ही कहीं उनका स्वप्न भंग न हो जाय ।"

"स्वप्न ! कैसा स्वप्न ? उनका भी कोई स्वप्न है ? स्वप्न और गुरुदेव ! कदापि नहीं । स्वप्न से गुरुदेव की जन्म-जन्म की शत्रुता है । और जो कभी नवीन साम्राज्य का स्वप्न देखा भी था, वह भी उनका संकल्प था, स्वप्न नहीं । संकल्प में आस्था है गुरुदेव की, स्वप्नों में नहीं ।"

"संकल्प हो सही, कुमार ।"

"फिर मन्त्रीवर, यह भी स्मरण रखिए कि संकल्प सदा अपनी सामर्थ्य पर किये जाते हैं । यथार्थ की भूमि पर आधारित संकल्प कभी भंग नहीं होता । गुरुदेव ने जो संकल्प किया है, वह अवश्य पूर्ण होगा । कोई भी दुस्-

अदृश्य शक्ति उन्हें अपने संकल्प से डिगा नहीं सकती।"

"फिर सौभाग्य आपको अवश्य वरण करेगा।"

"सौभाग्य स्वयं अपने अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये ? मन्त्रीवर, पुरुषार्थ सर्वाधिक सबल होता है। पुरुषार्थ के समक्ष न स्वप्न टिकते हैं न संकल्प, न भाग्य खड़ा रह पाता है, न विधान। यहाँ तक कि समय भी पुरुषार्थ के अवसान की प्रतीक्षा में खड़ा रह जाता है। समय तक को उसकी प्रकृति के विरुद्ध -गतिशून्य पुरुषार्थ बना देता है। पुरुषार्थ में मेरी आस्था है, मेरी गति है पुरुषार्थ और आप भी तो अनेक बार पुरुषार्थ में अपना विश्वास प्रकट कर चुके हैं।"

"हाँ, कुमार। आपके पुरुषार्थ में मुझे विश्वास है। लगता है, आपका पुरुषार्थ ही गुरुदेव का संकल्प है। कदाचित पुरुषार्थ और संकल्प एक ही मुद्रा की भिन्न आकृतियाँ हैं।"

"ठीक समय की-दिन-रात्रि-दो आकृतियों की भाँति। सुन रहे हैं पक्षियों का कलरव ? रात्रि का अवसान दिवस के आगमन के स्वागत में प्रस्तुत है।"

"ओह। कितना सुमंगल प्रभात है। जन्मदिवस के उपलक्ष्य में सर्वप्रथम मेरा अभिवादन स्वीकार करें कुमार और असंख्य अभिवादनों के स्वीकार के लिये प्रस्तुत हों।"

"धन्यवाद, मन्त्रीवर।" कुमार अशोक उठ खड़े हुए और बोले, "पाटलिपुत्र से अवश्य कोई-न-कोई संदेशवाहक आ रहा होगा।"

"असम्भव नहीं कि आ भी गया हो। दर्शनों की प्रतीक्षा कर रहा हो।"

"आइए, बाहर देखता हूँ।" कुमार अशोक अमात्य राधागुप्त के साथ बाहर जैसे ही दिखाई दिये, अभिवादन के निमित्त एकत्र असंख्य नर-नारियों की समवेत कण्ठध्वनि वायुमण्डल में गूंज उठी, "मौर्य कुमार की जय हो।"

"जन्मदिन मंगलमय हो।"

"इस शुभ दिन के लिए बधाई।"

कुमार अशोक दोनों हाथ उठाये हुए तक्षशिलावासियों का अभिवादन स्वीकार कर रहे थे। रह-रहकर कण्ठध्वनि वायुमण्डल में तरंगायित हो रही थी। उमंगित मन उन्हीं तरंगों पर आरूढ़ होकर दसों दिशाओं की यात्रा पर निकल पड़े थे।]

दिन तो भागदौड़ में बीता। नगर का नगर उमड़ पड़ा। ऐसा लगा मानों घरों के अन्दर कोई भी न रहा। मार्गों और अन्य सार्वजनिक स्थानों पर अपार भीड़ थी। सब जमे से दिखाई दे रहे थे। आगे-पीछे हट भी रहे थे तो रगड़-रगड़ कर। जड़ और गति के मध्य असामान्य खींचतान उत्पन्न हो गई थी। स्थिरता में गति और गति में स्थिरता के दर्शन होने लगे थे। यह विलक्षण स्थिति थी जनसामान्य के मध्य। क्षितिज में सूर्य तो दृश्यमान आकर्षण की निशा नायिका को सूचना देने के लिये पश्चिम दिशा की ओर अग्रसर हो रहा था उसे रोकने वाला कौन था। आकाशदीप का यह चक्रवर्ती सम्राट जो था। मध्याह्न में अवश्य प्रतीत हुआ जैसे उसे दिशाभ्रम हो गया हो। कदाचित् दिशाबोध के लिये वह ठहर गया था। किन्तु यह भ्रममात्र था। सुपरिचित मार्ग को भला वह कैसे भूल सकता था। और रही असाधारण आकर्षण की बात तो वह भी उज्जयिनीवासियों के लिए थी। पृथ्वीमण्डल पर ऐसे असंख्य दृश्य वह देख चुका था। कोई भी दृश्य उसकी गति को बांध पाने में असमर्थ हो रहा था। उज्जयिनी का वह दृश्य भी जैसे उसे अनाकर्षक लगा हो। वह पश्चिम दिशा की ओर झुकता ही चला गया। पश्चिम दिशा भी उसके स्वागत में पलक पांवड़े बिछाये हुए थी। वह स्वागत उसे इतना प्रिय लगा कि वह उसमें समाता चला गया। अपने अस्तित्व तक का उसे भान न रहा। अन्ततोगत्वा अतिथि को अपनी स्वागत परिधि में पाकर संध्या नायिका फूली न समाई। प्रसन्नता का मद उस पर छा गया। अन्दर छिपाये से बड़ी चिर-प्रतीक्षित पूनम निराश कर उसने छोड़ दी। पूनम धारण करते ही संध्या निशा बन गई। निशा क्षितिज में पदार्पण करे और चन्द्रमा उसको छवि दिखाने के लिए प्रस्तुत न हो जावे—यह सम्भव नहीं था। चन्द्रमा को अपनी ओर आकृष्ट कर रही है निशा की सुन्दर चांदनी के रूप में खिल उठी। निशा की प्रसन्नता की सीमा न थी। जब उसे [illegible] का प्रतीत हुआ तो वह उसकी ओर बढ़ चली। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

पित कर रही थी नूपुरों की वह ध्वनि विशेष जो वाद्ययन्त्रों की ध्वनियों की उपस्थिति में भी अपने पृथक अस्तित्व की घोषणा कर रही थी। और सर्वाधिक आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु था वह भवन विशेष जिसमें कुमार अशोक निवास करते थे, किन्तु प्रवेश विशिष्टजनों के लिये सर्वथा नियन्त्रित था। प्रवेश की अनुमति का चिह्न विशेष दिखाने पर ही उस भवन में प्रवेश सम्भव था। उस भवन के आकर्षण में खिंचते तो असंख्य जन चले आ रहे थे, किन्तु प्रवेश कुछ ही पा रहे थे। शेष कुछ अन्तर पर एकत्र हो रहे थे। एकत्रित जनसमूह का नेतृत्व प्राप्त कर लिया एक नवयुवक ने। उसके कण्ठस्वर ने शांति भंग की, "कुमार अशोक की जय हो।" उसका कण्ठस्वर तब तक ध्वनित प्रध्वनित होता रहा जब तक कुमार अशोक ने अलिन्द में उपस्थित होकर दर्शन नहीं दिये। कुमार के दर्शन-लाभ होते ही जनसमूह का समवेत कण्ठस्वर और अधिक तीव्रता के साथ निनादित हो उठा। कुमार अशोक की मुस्कान ने उस ध्वनि का स्वागत किया। स्वागत की प्रतिक्रिया में जन ध्वनि और अधिक तीव्रतर हो उठी। जन सागर बाहर लहराता रहे और कुमार अशोक भवन के अन्दर के क्रियाकलापों में निमग्न हों—यह उन्हें सहन न था। उन्होंने तत्क्षण आदेश दिया, "प्रवेश द्वार सबके लिए खोल दिया जाय।" भवन क्या था, छोटा-मोटा दुर्ग था। उसका प्रांगण तो इतना विशाल था कि सम्पूर्ण जनसमूह उसमें समाता चला गया।

उस प्राङ्गण विशेष में कलाकार पहले से ही उपस्थित थे। प्राङ्गण में इतने विशाल जनसमूह की उपस्थिति कलाकारों के अनुमान के परे था। जिसे जो स्थान मिला वहीं जम गया। कला-प्रदर्शन के लिये मंच भव्य था। कुमार अशोक के उपस्थित होते ही जो भी शोर था, शान्त हो गया। उन्होंने कला-प्रदर्शन के शुभारम्भ की घोषणा की। योजनानुसार कला-प्रदर्शन प्रारम्भ हुआ। एक-एक कलाकार क्रम से मंच पर आता गया और अपने कला-प्रदर्शन-कौशल से जनसमूह की प्रशंसा प्राप्त करता गया। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों कलात्मक अभिव्यक्ति की गरिमा गहनतर होती चली गयी। सुदीर्घ काल के उपरान्त जनसमूह का भरपूर मनोरंजन हो रहा था। जनता आत्मविस्मृत-सी मंच की ओर अपलक निहार रही थी। रात आधी से अधिक बीत चली थी। उद्घोषक ने नृत्य-प्रदर्शन की जैसे ही घोषणा की, शैलबाला और पद्मा मंच पर पूर्ण साज सज्जा के साथ जनसमूह की दृष्टि का केन्द्रबिन्दु बन गई। जनसागर में औत्सुक्य की एक लहर ओर से छोर तक व्याप्त हो गयी। दोनों समवयस्क थीं, आकार-प्रकार में भी समान थीं। नृत्य की वेशभूषा में भी कोई अन्तर न था। पहचानना कठिन हो रहा था कि कौन शैलबाला है और

पद्या कौन है । कोई किसी से कम न थी तो दोनों एक दूसरे से बढ़-चढ़कर भी थीं। वाद्ययन्त्र ध्वनि के संकेतों पर दोनों ने नृत्य मुद्राएँ धारण कीं। मुद्रापरिवर्तन की गति में सम और लय का अद्भुत नियन्त्रण था। रंचमात्र भी दोनों में अन्तर परिलक्षित न हो रहा था। गति में शनैः शनैः तीव्रता आती चली गई। जो वाद्ययन्त्र प्रारम्भ में नर्तकियों को अनुसरण के लिए बाध्य कर रहे थे, वे अनुसरण के लिये बाध्य हो उठे। नृत्य प्रधान हो उठा। नृत्य के साथ-साथ दर्शकों की दृष्टि भी गतिमान थी। एकाग्रता चरमसीमा पर थी। स्वर्णखचित वस्त्र और रत्नाभूषण तीव्र प्रकाश में नृत्य की असाधारण गति के कारण चकाचौंध उत्पन्न कर रहे थे। नृत्य इतना मोहक था कि दर्शकों की सांस भीतर-की-भीतर और बाहर-की-बाहर ठहर कर रह गई थी। कोई भी टस-से-मस न हो रहा था। कलावन्त तक कुमार अशोक की उपस्थिति के कारण प्रशंसा भी न कर पा रहे थे। मात्र कुमार की ओर देखकर रह जाते थे। अंततोगत्वा कुमार अशोक के मुंह से निकल ही तो गया, "अद्भुत! अनुपम है नृत्यकला। प्रथम पुरस्कार की अधिकारिणी हैं दोनों।" न मालूम अविराम नृत्य की मात्र परिणति के कारण नृत्य की गति असाधारण हो उठी थी या महाराज की प्रशंसा ने उनके अंगों में विद्युत प्रवाहित कर दी थी। उनकी नृत्यगति इतनी तीव्र हो उठी कि दृष्टि ठहर न पा रही थी। कुमार के मुंह से सहसा निकला, "सम्हालो दोनों को। कहीं गिर न जायें। अरे रे रे। इनके नृत्य की गति तो और भी तीव्रतर होती जा रही है। निश्चित ही गिर पड़ेंगी। कहीं कोई अंग न आहत हो जाय।"

एक वृद्ध कलाकार ने सविनय खड़े होकर निवेदन किया, "नृत्य अपनी चरमसीमा पर है। इस क्षण व्यवधान का अभिप्राय होगा कला का अपमान जिसे ये दोनों नर्तकियां सहन न कर सकेंगी। महाराज जो तनिक भी विचलित न हों। यह नृत्य गति इनकी सुदीर्घकालीन सघन साधना का परिणाम है। इस गति का इन्हें पर्याप्त अभ्यास है। अभ्यासजन्य कौशल ही ये प्रदर्शित कर रही हैं।"

"परन्तु गति पर असाधारण अधिकार प्राप्त है दोनों को। इतना तीव्र और लयतालमय नृत्य अनुपम है। इतनी प्रवीण नृत्यांगनाएँ हैं, इसका भान पहले न कराया।" कुमार अशोक के देखते-देखते दोनों ने नृत्य समाप्त कर श्री चरणों में शीश झुका दिया। उनकी साँसें तीव्र गति से चल रही थीं अन्यथा ये अडोल नतमस्तक खड़ी थीं। कुमार ने गले से रत्नहार उतार कर उछाला, "लो, इसे स्वीकार करो। एक हार और भी होना चाहिए।" इसके पूर्व कि कुमार की दृष्टि घूमे रत्नाभरणों से भरा थाल उनकी सेवा में

प्रस्तुत कर दिया गया। दोनों हाथों में भरकर कुमार ने रत्नों की वर्षा कर दी। दुबारा फिर दोनों मुट्ठियाँ भरीं और उछाल दीं। संतोष न हुआ तो थाल को ही उलट कर खाली कर दिया। कुमार ने खड़े हो कहा, "तुम दोनों निकट आओ।"

नत सिर ही दोनों आगे बढ़ीं। कुमार ने दूसरे थाल से एक-एक करके दो हार दोनों के गलों में डाल दिये। नृत्य भंगिमा में प्रणाम की मुद्रा धारण कर दोनों पीछे हटीं। कुमार ने आदेश दिया, "प्रातःकाल आना। और भी अधिक पुरस्कृत की जाओगी।"

कुमार अशोक वहाँ से चल दिये। कार्यक्रम समाप्त हो गया। जनसमूह झूमता हुआ जिस द्वार से प्रविष्ट हुआ था, उसी द्वार से बाहर की ओर सरकने लगा।



शैलबाला और पद्मा शेष रात्रि सो न सकीं। प्रातःकाल कुमार ने सेवा में उपस्थित होने के लिए जो कहा था। बातों-ही-बातों में रात्रि काटने की उन्होंने ठान ली। शैलबाला बोली, "प्रशंसा तो पर्याप्त हुई।"

"कुमार पहचान न सके होंगे।"

"एक जैसा वेश जो धारण किया था। गुरुजी तक तो भ्रम में पड़ गये थे।"

"नृत्य भी जैसा सोचा था वैसा ही हुआ।"

"मेरी समझ में तो उससे भी उत्तम रहा।"

"कितनी रत्नराशि कुमार ने न्योछावर कर डाली है!"

"प्रशंसा भी उन्मुक्त मन से की थी।"

"क्या-क्या कहा? मैं तो कुछ सुन न सकी।"

"सुना तो मैंने भी नहीं, किन्तु उन्हें झूमते हुए कई बार मैंने देखा था।"

"तो तुमने अपनी दृष्टि उन पर रखी?"

"बस, चार-छः बार। अधिक देखती उन्हें तो नृत्य में चूक न हो जाती।"

"पहचान तो उन्हें हो जाती कि तुम कौन हो।"

"इसका तात्पर्य होता कि तुम्हारी पहचान मैं करवाती और पुरस्कार

खोती ।"

"तो क्या अन्तर पड़ता ? यह तो हमारे बीच तय हो ही चुका था कि जो भी पुरस्कार मिलेगा, आधा-आधा बाँट लेंगी ।"

"तो बाँटो न । यह बेचारी रत्नराशि तुम्हारे सुकोमल कर-स्पर्श के लिए तरस रही है ।"

"नहीं, बाँटने की आवश्यकता नहीं, तुम सब ले जाओ ।"

"अरी ! कौन-सा कुबेर का कोष मिल गया है जो इतनी उदार बन गई हो । तनिक मैं भी तो जानूं ।"

"कोष तो यह सामने पड़ा है ।"

"फिर उदारता का कारण ?"

"सोच रही हूं कि जब भरपूर प्रशंसा कर दी और पुरस्कृत भी कर दिया तो फिर क्यों प्रातःकाल स्मरण किया है ?"

"ओह ! तुम तब से यही सोच रही हो ? मैं भी सोचूं कि इतनी प्रशंसा पाने पर जिसे फूला नही समाना चाहिए, वह इतना गुमसुम क्यों है । अब कुछ-कुछ समझ मे आ रहा है ।"

"क्या ! क्या समझ में आ रहा है ?"

"वही जो तुम सोच रही हो ।"

"मैं कहां सोच रही । कुछ भी तो नहीं सोच रही तुम्हीं बताओ न, क्या सोच रही हूं मैं ?"

"सोच तुम रही हो और बताऊं मैं ?"

"पर मैं भी तो नहीं जानती कि क्या सोच रही हूं ।"

"पर सोच अवश्य रही हो । क्यों ?"

"हां, कदाचित सोच अवश्य रही हूं ।"

"फिर बताऊं मैं क्या सोच रही हो ?"

"हां-हां बता, शीघ्र बता कि मैं क्या सोच रही हूं ।"

"अपने उनके विषय में नहीं सोच रही हो ?"

"अपने किनके ? कौन अपने ?"

"अधिक मत बनो । सब जानती-समझती हो । मेरे मुंह से ही कहलाना चाहती हो ।"

"क्या ! क्या कहलाना चाहती हूं ?"

"वही जो मन में है ।"

"क्या है मन में ? शीघ्र बता न । पहेलियां क्यों बुझा रही है ।"

"उल्टा चोर साहूकार को डांटे । मन में तुम्हारे है और बताऊं मैं ?

ऐसा भी कहीं होता है।"

"फिर कैसा होता है?"

"जैसा तुम्हारे हृदय में हो रहा है।"

"कैसा हो रहा है मेरे हृदय में?"

"नृत्य द्वारा दिखाऊँ या कान में सुना दूँ?"

"जैसा तुम्हारा जी चाहे।"

"मेरा तो जी चाह रहा है कि उठो, चलें।"

"कहाँ? कहाँ चलें?"

"बुलाया नहीं था?"

"किसने बुलाया था?"

"अरे वाह! जिसके लिए सुध-बुध खोये बैठी हो, उसी को भूल रही हो? आओ चलें। उठो। इतनी बेसुध होना ठीक नहीं। महाराज कुमार के सामने भी कहीं यह दशा रही तो न जाने वह क्या सोचें।"

"पद्मा! मेरी एक विनती मान ले। तू अकेली चली जा।"

"न बाबा! मुझे उनसे बहुत डर लगता है। तुम्हारे विषय में कुछ पूछ बैठे तो मैं क्या उत्तर दूंगी।"

"जो तेरे जी मे आये, कह देना। मैं सामने पड़ने का साहस नहीं जुटा पा रही हूँ।"

"मैं साहस न कर पा रही हूँ तो ठीक भी है। एक-दो बार ही मेरा सामना हो सका है। तू तो न जाने कितनी बार उनके साथ वार्तालाप भी कर चुकी है। तुझे डर कैसा?"

"न जाने क्यों पद्मा! आज नृत्य के बाद से मेरी घबड़ाहट बढ़ गई है। न जाने वह क्या सोच रहे होंगे।"

"तेरी प्रशंसा के लिये शब्द खोज रहे होंगे। देखना तेरी इतनी प्रशंसा करेंगे कि तू पागल हुए बिना न रहेगी।"

"पागल तो कदाचित मैं अभी से हो रही हूँ। देख नहीं रही है, मैं कैसी उखड़ी-उखड़ी बातें कर रही हूँ।"

"पागल न ऐसा सोच पाता है न बोल पाता है। तुम बिल्कुल ठीक हो। जो कमी अनुभव कर रही हो, सामने पहुँचते ही वह भी दूर हो जाएगी।"

"तू मेरे साथ रहेगी न?"

"साथ न ले चलना चाहती हो तो कोई बात नहीं। वैसे जैसे ही एकांत की अपेक्षा होगी, मैं वहाँ से हट आऊँगी। विश्वास रखो, व्यवधान न बनूंगी।"

"नहीं पता ! यह सोचना तो मेरे वश में नहीं है कि क्या स्थिति उत्पन्न होगी, किन्तु तू किसी भी स्थिति में मुझे अकेली नहीं छोड़ेगी। साथ बनी रहेगी ।"

"और यदि स्वयं कुमार ने मुझे वहाँ से जाने का आदेश दिया तो ?"

"फिर तो मैं डर के मारे मर ही जाऊँगी ।"

"यह तो तू अभी से मरी-सी हुई जा रही है । चल, साहस से काम ले। जो भी होगा, दोनों एक साथ झेल लेंगी । मुझे डर नहीं लग रहा है । कुमार हैं तो एक पुरुष ही न । सर्व शक्तिमान हैं तो क्या हुआ । शक्ति प्रदर्शन वहाँ होता है जहाँ प्रतिरोध होता है । हम उनकी हर आज्ञा पालन के लिए तैयार रहेंगी तो क्यों वह बल प्रयोग करेंगे । वह समझदार हैं । स्त्रियों का वह सम्मान करते हैं उनके द्वारा किसी भी प्रकार के अत्याचार की आशा मत कर । और फिर हम दो हैं और वह होंगे अकेले । कुछ भी करने से पूर्व उन्हें भी सोचना पड़ेगा ।"

"तू यह सब क्या बक रही है ।"

"तेरे भय को प्रत्यक्ष कर रही हूँ ।"

"तो क्या यही है मेरा भय ?"

"फिर क्या है । महारानी जी, तनिक स्पष्ट करने का कष्ट करेंगी ?"

"यह क्या ? मैं और महारानी ! कुछ सोचती-समझती भी है । जो जिह्वा पर आया बोल दिया–। लगता है, तू मेरी हत्या करवाये बिना न मानेगी ।"

"कुमार के हाथों मरने में भी जो सुख है वह जीने में कहाँ ।"

"इसीलिए तो कहती हूँ कि तू ही चली जा । पूछें तो कह देना कि अस्वस्थ हूँ ।"

"और अपनी रोगिणी की दशा जानने हेतु वह यहाँ तक आ पहुँचे तो मेरी झूठ नहीं पकड़ी जायेगी ? मुँह दिखाने के योग्य न रहूँगी । झूठ से कुमार को घोर घृणा है ।"

"तुझे तो उतना ही प्रेम है झूठ से । इतनी देर से इतना बड़ा झूठ बोले जा रही है ।"

"फिर सत्य क्या है ? तनिक मैं भी तो सुनूं ।"

"सच-सच बता दूं ।"

"बता न । तेरी तरह मैं क्या डरती हूँ । जब कर नहीं तो डर किस बात का ?"

"फिर साहस एकत्रकर और सुन ! एक दिन अकेले में मैंने तेरी डटकर

प्रशंसा कर दी । अपने से खूब बढ़ा-चढ़ाकर तुझे कुशल नृत्यांगना सिद्ध करने की चेष्टा की तो वह आश्चर्यचकित हो बोले कि पद्मा का सान्निध्य उन्हें विशेष सुखकारी प्रतीत होगा । तेरे उसी सुखद सान्निध्य की उन्हें अपेक्षा है । चल तू मेरे साथ और उनके अनुमान को सत्य सिद्ध कर चल ।"

"चल, दौल । तू ने अभी तक मेरी चालें देखी हैं, आज दाँव भी देख ले। ठीक अवसर पर ऐसा दाँव मारूँगी कि तू चारों खाने चित्त दिखाई देगी। तेरा सारा चातुर्य एक ओर रखा रह जाएगा ।"

"क्या करेगी तू ! तू तो बड़ी बलाबल है । न जाने किस समय क्या कर बैठे । किन्तु यह मत भूलो कि मैं तुम्हारे एक-एक हाव-भाव से परिचित हूँ । तुम जितना जानती हो तो मुझे परास्त करने की कला भी आती है ।"

"इसका निर्णय तो महाराज कुमार ही करेंगे कि किसने किसको पराजित किया ।"

"अच्छा मेरी एक बात मान ले । हम दोनों एक हो जाँय । कुमार होंगे अकेले । उनकी दाल न गलने पायेगी ।"

"क्या तू सर्वशक्तिमान कुमार को परास्त करने की सोच रही है ? पर, तू ऐसा सोच क्यों रही है ? हो सकता है कि उसने पुरस्कार से उनका मन न संतुष्ट हुआ हो । पुरस्कार स्वरूप वह और भी कुछ देना चाहते हों । उनके मन में ऐसा कोई भी भाव न हो जैसा हम दोनों सोच रही हैं ।"

"हाय दइया ! सच ! फिर तो अपराध हो गया । अब कैसे उनके सामने उपस्थित हो सकूँगी ।"

"तू भी अनुपम है । सौन्दर्य-बोध के साथ-साथ तेरा अपराध-भाव-बोध भी असाधारण है । तेरी मनःस्थिति तब तक सामान्य न हो सकेगी जब तक तू कुमार से साक्षात्कार न कर लेगी । अरी, कुछ मत सोच । सब व्यर्थ है । कहाँ हम और कहाँ मौर्य साम्राज्य के महाराज कुमार । उनके विषय में कुछ भी सोचना व्यर्थ है । वह हमारी सोच के बहुत परे हैं । राई और पर्वत का अन्तर है । मनःस्थिति सामान्य कर और आ चलें । प्रातःकाल हो चुका है पूर्वदिशा की लाली सूर्योदय का आभास करा रही है । वह प्रतीक्षा कर रहे होंगे ! विलम्ब होने पर वह कहीं रुष्ट न हो जायें ।"

"सम्भव है, देर तक जागने के कारण अभी तक सो रहे हों । उठे ही न हों ।"

"एक दिन तो तू कह रही थी कि वह सोते ही नहीं हैं । मात्र विश्राम करते हैं । और यदि सो या विश्राम कर भी रहे होंगे तो थोड़ी देर प्रतीक्षा कर लेंगी ।"

"हमें कहीं वह अधीर न समझ लें । और अगर उन्हें स्मरण ही न हो ?"

"क्या न स्मरण हो ?"

"कि उन्होंने प्रातःकाल अपनी सेवा में उपस्थित होने का आदेश दिया था ।"

"तेरी आशंका असाध्य स्थिति को प्राप्त हो चुकी है । न स्वयं स्वस्थ रहेगी न दूसरे को सामान्य रहने देगी । अब कुछ भी मत सोच । सीधे चल । जो भी स्थिति होगी, मिलजुलकर सामना कर लेंगी । महाराज कुमार की सदाशयता पर मुझे भरोसा है । वह कष्ट-निवारक हैं, अभयदाता हैं, उनसे भयभीत होना व्यर्थ है । आशंका सदा अनर्थ की जननी होती है मन में न अन्यथा भाव लाओ न विचारों को स्थान दो । सरलमन और सहज बुद्धि के साथ उनकी सेवा में उपस्थित हो । प्रसन्न होकर ही लौटेंगी ।"

"सब तुझे ही सम्हालना है । मैं उनके सामने अपनी मनःस्थिति पर नियन्त्रण न रख सकूँगी ।"

"इतनी दुर्बल तो तू कभी नहीं रही है । बल्कि सदा मुझे ही ढाढ़स बँधाती रही है । आज तुझे यह क्या हो गया है ?"

"यही तो मैं भी नहीं समझ पा रही हूँ । लगता है, जैसे सारा साहस चुक गया है । अपहृतावस्था में तक्षशिलाधीश के समक्ष उपस्थित होते समय भी मैं इतना न घबड़ाई थी ।"

"आ चल तेरी सारी घबड़ाहट अभी दूर हुई जाती है । जिससे भय लगे, उसके निकट जाने पर ही भय दूर होता है । दूरी मिटते ही भय स्वतः समाप्त हो जाता है । आ चलें ।" पद्मा अपनी अभिन्नहृदया सखी शैलबाला का हाथ पकड़ घसीटते हुए ले चली बाहर की ओर ।

कुमार अशोक की मनःस्थिति भी विचित्र थी। अपने उस छोटे जीवन काल में भी वह ऐसी असंख्य स्थितियों का सामना कर चुके थे, किन्तु इतना कभी विचलित न हुए थे जितना नृत्य-दर्शन ने उन्हें असामान्य बनाया था। सर्वप्रथम तो नर्तकियों के सौन्दर्यमयी वेशभूषा ने उन्हें प्रभावित किया। उन्हें लगा जैसे स्वर्गलोक की अप्सरायें धरती पर उतर आई थी। फिर उन्होंने उन्हें पहचानने की असफल चेष्टा की। असफलताजन्य मनःस्थिति से अभी उबर भी न सके थे कि नृत्य प्रारम्भ हो गया। नृत्यांगनाओं का अंगसचालन इतना मोहक था कि वह सुधबोध खो बैठे। नृत्य प्रदर्शन कौशल मे वह इतना डूब गये कि उन्हें अपने अस्तित्व तक का भान न रहा और मनोभावों को स्वच्छन्द रूप से अभिव्यक्ति देने लगे। आस-पास एक-से-एक उच्चपदस्थ अधिकारी बैठे थे, किन्तु किसमें साहस था जो उन्हें रोकता। वे स्वयं नृत्य-दर्शन से विस्मय विमुग्ध हो रहे थे। और फिर नृत्य-प्रदर्शन मे जो एकरूपता की अनुभूति उन्हें हुई वह इतनी आल्हादकारिणी थी कि सर्वस्व न्योछावर के लिए वह समुत्सुक हो उठे। पुरस्कार हेतु जो व्यवस्था थी, वह उन्हें अपूर्ण प्रतीत हुई। बाध्य हो उन्होंने प्रातःकाल सेवा में उपस्थित होने का आदेश व्यक्त कर दिया। विश्रामार्थ शैय्या तो उन्होंने ग्रहण कर ली, किन्तु मस्तिष्क इस अनिर्णीत स्थिति से मुक्त न हो सका कि पुरस्कार मे नृत्यांगनाओं को और क्या दिया जाय जिससे मानसिक शान्ति मिले। बहुत देर तक ऊहापोह के मध्य वह डोलते रहे। संकल्प-विकल्प ने उन्हें खूब झुलाया। कभी वह अपनी सामर्थ्य को तौलते, कभी पुरस्कार का निर्धारण करते, किन्तु निर्णयात्मक स्थिति का स्पर्श वह नहीं कर पा रहे थे। अन्त मे असमर्थता ने उन्हे बोध कराया कि इच्छानुकूल मांगने का ही अवसर क्यों न दिया जाय। फिर तो मात्र प्रतीक्षा करना ही उनके वश मे था। प्रतीक्षाकाल भी कम व्यथामय नही था कभी कुछ सोचते, कभी कुछ। कभी पाटलिपुत्र के राजप्रासाद में पहुँच जाते, कभी तक्षशिला की विद्रोही शक्ति का सशक्त स्वर कानों में गूंज उठता। विषम परिस्थितियों में भी विजयलाभ के अवसर एक-एक करके स्मृतिपटल पर चलचित्र की भाँति आ जा रहे थे। स्मृति की तरंगों पर आरूढ़ हो वह कब कहाँ तक उड़ते चले गये, उन्हें ज्ञान ही न रहा था समय का। पक्षियो के कलरव ने जब कर्ण-कुहरों में प्रवेश किया तब उन्हें प्रातःकाल

का आभास हुआ। वह उठ बैठे। बाहर निकले तो सूर्य के दर्शन हुए। आदित्य की सत्ता को प्रणाम कर वह मुड़े ही थे कि उन्हें सूचना मिली, "दो नर्तकियाँ सेवा में उपस्थित होना चाहती हैं।"

"कहाँ हैं?" कुमार अशोक के मुँह से तत्क्षण निकल गया, "मुझे पहले क्यों नहीं सूचित किया? अविलम्ब आने दो।" कुमार पार्श्ववर्ती कक्ष में चले गये। कुछ ही क्षणों में दोनों नृत्यांगनाओं को प्रवेश करते देख कुमार ने स्वागत भाव व्यक्त किया, "आइए, हार्दिक स्वागत है कला की सजीव प्रतिमाओं का। अद्भुत कला की स्वामिनी हैं आप दोनों, किन्तु मैं जानूँ कैसे कि आप लोग कौन हैं? एकरूप, एकरंग, एक-सी वेशभूषा, चाल-ढाल, भाव-भंगिमा और नृत्यकला-प्रदर्शन आदि में एकरूपता के कारण पहचानना कठिन है। यदि मैं भूल नहीं रहा हूँ तो कदाचित आप दोनों में एक हैं शैलबाला।" अपना नाम सुनते ही शैलबाला और अधिक सतर्क हो उठी। आंगिक सतर्कता से कुमार ने पहचान लिया, "ओह! तो आप हैं शैलबाला। वास्तविकता कितनी देर छुपी रह सकती है। क्यों पहचान ली गई न?"

"जी, अपराध क्षमा हो। महाराज जी दासी को 'आप' शब्द द्वारा सम्बोधित करने की कृपा न करें। यह कृपाकांक्षिणी दासी महाराज जी के चरणों की धूल से भी हीन है। धृष्टता के लिए पुनः क्षमायाचना करती हूँ।"

"जी महाराज जी तो दया के सागर हैं। यह शैलबाला महाराज जी की सेवा में उपस्थित होने से इतनी भयभीत थी कि आने का साहस ही न जुटा पा रही थी। महाराज जी को जो भी कष्ट हुआ हो, यह दासी भी क्षमा की याचना करती है।"

"तुम तो मधा ही हो न?"

"जी, महाराज जी। अपराध हम लोगों का उतना नहीं है जितना प्रकृति का है। गुरुजी तक को प्रायः पहचानने में भ्रम हो जाता है।"

"किन्तु मुझे भ्रम तनिक भी नहीं हुआ बल्कि निरीक्षण शक्ति के परीक्षण का सुअवसर उपलब्ध हो गया। आज तुम दोनों को एक साथ मैंने भली-भाँति देख लिया है। अब भविष्य में कभी भी भ्रम नहीं होगा, किन्तु तुम दोनों में है आश्चर्यजनक साम्य। ऐसा साम्य सामान्यतः दुर्लभ है। क्यों मधा? तुमने भी कभी अपनी सहेली की भाँति किसी अत्याचारी को इस धरती से विदा किया है?"

"जी नहीं, मेरे साथ ऐसा दुस्साहस किसी ने दिखाया ही नहीं।"

"तुम लोग उतनी दूर क्यों खड़ी रह गई? निकट बैठो न आकर।"

दोनों कुछ पग आगे बढ़ीं। कुमार ने टोका, "और आगे बढ़ो। इन अस-

दिकाओं पर आकर बैठो।" सहमते हुए दोनों ने आज्ञा का पालन किया। कुमार ने आगे आदेश दिया, "तुम लोग मुंह क्यों नीचे किये हो। गरदन सीधी करो। दृष्टि उठाओ। मेरी ओर देखो।" कुमार के आदेशानुसार दोनों यन्त्रवत् आचरण करती चली गयी। दोनों की मुखमुद्राओं को एक साथ ध्यान से देख कुमार ने प्रतिक्रिया व्यक्त की, "पद्मा! क्या बात है? तुम्हारी सहेली आज कुछ अधिक लज्जालु लग रही है। इस वेशभूषा के कारण हो तो इसे उतार फेंको।"

"जी नहीं, न जाने क्यों कल रात से यह अत्यधिक भयभीत है।"

"तुम्हारी उपस्थिति के कारण तो इनकी यह दशा नहीं है?"

"यह संकेत भर कर दें। अभी हटी जाती हूँ बीच से।"

शैलबाला ने पद्मा का हाथ पकड़ टोका, "ऐसी कोई बात नहीं है। तुमसे छुपा ही क्या है मेरा। महाराज कुमार शक्ति के साक्षात् पुञ्ज हैं। किसे डर नहीं लगेगा।"

"किन्तु इसके पूर्व भी तो तुम कई बार भेंट कर चुकी हो। इतना संकोच कभी प्रदर्शित नहीं किया। बड़ी निर्भयता से बात की।"

"तब महाराज जी केवल मेरे एक ही शौर्य रूप से परिचित थे। मेरे इस रूप ने उस पर पानी जो फेर दिया है।"

"घेर चलो, कुछ बोलो तो। उतार फेंको न इस रूप को।"

"किन्तु महाराज जी ने तो मेरे इसी रूप को पुरस्कृत करने के लिए बुलाया था।"

"हाँ, यह तो मैं विस्मरण ही कर बैठा। बोलो, तुम लोगों की जो इच्छा हो, माँग लो।" दोनों में से एक भी न बोली। कुमार ने ही मौन भंग किया, "संकोच मत करो। जो भी माँगोगी, मिलेगा।" फिर भी जब इच्छा व्यक्त न हुई तब कुमार ने मनःस्थिति को सामान्य बनाने के अभिप्राय से नैकटूय व्यक्त किया, तनिक भी भय मत करो। निर्भय होकर माँगो। यद्यपि तुम दोनों ही अपने क्षेत्र की कला-सम्राज्ञी हो, तथापि अतृप्त आकांक्षाओं का अभाव नहीं होता।"

शैलबाला दृष्टि उठा बोली, "बस महाराज जी की कृपादृष्टि भर चाहिए।"

पद्मा ने बीच में टोका, "वह तो तुझे पहले से ही प्राप्त है। सुअवसर है, प्राप्त करले न वरदान।"

"फिर तू ही क्यों नहीं माँग लेती है? मुझे तो जो कृपादृष्टि चाहिये, मिल ही चुकी है। सुअवसर क्या तेरे लिए नहीं है?"

"कोई आवश्यक नहीं कि तुम दोनों एक ही वस्तु माँगो। और यह भी आवश्यक नहीं कि समान वस्तु ही माँगो। अनेक या जितनी भी अतृप्त आकांक्षाएँ हों, व्यक्त करो, अवश्य पूर्ण की जाएँगी।"

शैलबाला ने द्विविधा से मुक्त होना चाहा, "मुझे तो महाराज जी की जो कृपादृष्टि प्राप्त है, वही यथेष्ट है। पद्मा जो चाहे, माँग ले।"

"फिर महाराज जी ! मैं अपनी सहेली शैला को सदा प्रसन्न देखना चाहती हूँ। इसे यह सदा मिलता रहे जिसमें यह सुखी रहे। "पद्मा ने अपना भार उतार फेंका।

शैलबाला ने अपने को फँसते अनुभव कर निकलने का प्रयास किया, "महाराज जी ! सेवा में उपस्थित होने से पूर्व हम दोनों के बीच यह तय हुआ था कि हम लोग जो भी बोलेंगी, वह एक दूसरे के लिये होगा। अपने मुँह से अपनी बात कहने में जो संकोच होता है, उससे मुक्ति के लिए यह निर्णय लिया गया था।"

पद्मा भला कब चूकने वाली थी, वह उसी प्रवाह में बोल गयी, "फिर महाराज जी की सेवा में यही क्यों छुपा रहने दूं कि जिस लज्जा, भय और संकोच का प्रदर्शन किया जा रहा है, वह भी निर्णयानुकूल ही है।"

तपाक से कुमार अशोक बोल उठे, "फिर तो शैलबाला के लजाने से तुम्हारी प्रकृति का भी परिचय प्राप्त हो गया।"

"हाय दइया ! यह क्या हो गया !! मेरा दाँव मुझी पर चल गया !!"

"तुम्हारे इस दाँव ने मुझे उतना ही प्रभावित किया जितना मैं शैलबाला के शौर्य स्वरूप से हुआ था। नृत्य में ही नहीं अभिनय कला में भी तुम दोनों अनुपम हो।"

शैलबाला ने उचित अवसर समझकर ससंकोच कहा, "फिर महाराज जी की सेवा में निवेदन है कि हम दोनों जब तक एक हैं तभी तक अनुपम हैं। हम चाहती हैं कि हमारा यह स्वरूप महाराज जी की कृपादृष्टि से सदा बना रहे।"

ओह ! समझ गया। तुम दोनों एक दूसरे के बिना नहीं रह सकतीं।"

"जी-जी महाराज जी ! बचपन से हम दोनों एक साथ रही हैं। कभी अलग नहीं हुयी। एक दिन के लिये भी।"

"फिर अलग होगी भी नहीं। तुम दोनों ही आज से इसी प्रासाद में निवास करोगी और करोगी क्या—यह धीरे-धीरे स्वतः समझ जाओगी। ध्यान रखना, तुम दोनों एक हो, दो नहीं।"

"जो आज्ञा।" दोनों एक साथ उठ खड़ी हुयीं।

कुमार अशोक ने टोका, "देखो, दिन भर तुम दोनों जहाँ चाहो रहो, रात्रि में तुम दोनों का नृत्य-प्रदर्शन पुनः होगा और इसी कक्ष में होगा।"

"अहो भाग्य।" दोनों के मुंह से एक साथ स्वीकृति व्यक्त हुई। उल्टे पैरों दोनों पीछे हटने लगीं।

कुमार ने सावधान किया, "ध्यान रखना, प्रतीक्षा न करवाना।"

"जो आज्ञा।" दोनों सस्वर पीछे हटती चली गईं। कुमार की दृष्टि उनपर थी और वे दोनों उस दृष्टि को देखने का साहस न जुटा पा रही थीं।



तक्षशिला के द्रोह के दमन के लिए आना था केवल कुमार अशोक को, किन्तु महामात्य ने राधागुप्त को भी साथ भेज दिया था। वह राजपरिवार के प्राणियों की प्रवृत्तियों से भलीभांति परिचित थे। पाटलिपुत्र से चलने के पूर्व जो निर्देश महामात्य ने दिये थे, उनके पालन का उचित अवसर समझ राधागुप्त ने कुमार अशोक की सेवा में उपस्थित होना उचित समझा। अमात्य को असमय अपने कक्षविशेष में देख कुमार अशोक ने आश्चर्य प्रकट किया, "कहिए, अमात्यवर ! कोई विशेष बात ?"

"जी, विशेष तो कुछ नहीं, किन्तु गुरुदेव का एक संदेश प्राप्त हुआ है।"

"यही न कि बहुत दिन हो गये हैं। पाटलिपुत्र लौट आओ ?"

"जी, साथ में कारण भी पर्याप्त सशक्त है।"

"क्या कारण है ? तनिक मैं भी सुनूं।"

"महाराज जी के जीवित रहने की आशा यथेष्ट क्षीण हो चली है। औषधियाँ अप्रभावी सिद्ध हो रही हैं। समय की अपेक्षा है कि आप पाटलिपुत्र में ही हों। दूर रहने से अपूरणीय हानि की सम्भावना अधिक है।"

"फिर तक्षशिला की शासनव्यवस्था का क्या होगा ?"

"यहाँ तो अब पर्याप्त शान्ति है। भ्रष्ट राज्याधिकारियों को हटाया या दण्डित किया जा चुका है। कर्मचारीगण पूर्ण निष्ठा और लगन के साथ अपने कर्तव्यों का पालन करने लगे हैं।"

"इस भय से न कि कुमार यहाँ उपस्थित हैं। दूर होते ही उनका भय समाप्त न हो जाएगा ? वे पुनः प्रजा के साथ वैसा ही व्यवहार न करने

लगेंगे ?"

"किन्तु तक्षशिला में सदा उपस्थित भी तो नहीं रहा जा सकता।"

"फिर भी अनुकूल व्यवस्था तो की ही जा सकती है।"

"जैसा उचित समझें। कुछ व्यवस्था होनी तो चाहिए।"

"आपके मन-मस्तिष्क में कोई रूपरेखा हो तो बताइए।"

"विशालदत्त को सब सौंप दीजिए।"

"परामर्श करना होगा।"

"अभी बुलवा लूं ?"

"नहीं, कुछ और लोगों को भी आमन्त्रित करना होगा। समय लगेगा। इतनी शीघ्र समाधान सम्भव नहीं है।"

"फिर भी शीघ्रता कीजिए। गुरुदेव का आदेश है कि कुमार शीघ्रातिशीघ्र तक्षशिला छोड़ दें।"

"अनाथ को सनाथ रूप में देखने के लिए सनाथ को अनाथ बना देना कहाँ की बुद्धिमानी है, मन्त्रीवर ? गुरुदेव ने अपने कर्तव्य का पालन किया, हमें अपने विवेक के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करना है।"

"अवश्य होना चाहिए कुमार, किन्तु समय की निर्ममता पर दृष्टि बनी रहे तो अधिक हितकर होगा।"

"इस दृष्टि से आप निश्चित रहें। न समय की उपेक्षा होगी, न कर्तव्य की ही अवहेलना होने पायेगी, किन्तु शीघ्रता में बने हुए को बिगाड़ना भी तो ठीक नहीं। चेष्टा होगी कि आज ही व्यवस्था सम्बन्धी कोई निर्णय अंतिम रूप धारण कर ले।"

"विशालदत्त के अतिरिक्त जिन्हें सूचित करना हो, आज्ञा दें।"

"मध्याह्न तक स्वतः विशालदत्त आयेंगे। उनके साथ विचार-विमर्श के बाद ही कोई पग उठाना श्रेयस्कर होगा।"

"फिर अनुमति दीजिए।"

"आवश्यकता समझूंगा तो आपको भी बुलवा लूंगा। रहिएगा आवास पर ही।"

"जो आज्ञा।" अमात्य राधागुप्त शिष्टाचार पालन करते हुए उठकर चले गये।

इसके पूर्व कि कुमार अशोक आसन बदल पायें, परिचारिका ने नत-मस्तक उपस्थित हो सेवाभाव व्यक्त किया, "आज्ञा महाराज जो।"

"ओह दमयन्ती ! शीतल।"

"अभी लीजिए।"

पात्र रिक्त करने के उपरान्त अशोक ने सामयिक आवश्यकता पर बल दिया, "कुछ समय के लिए बाहर जा रहा हूँ । किसी से भी भेंट सम्भव न होगी ?"

"देव जी से भी नहीं ?"

"वह यहाँ तक आने ही न पायेंगे ।"

"रात्रि होने से पूर्व तो लौट ही आयेंगे ।"

"कदाचित विलम्ब हो जाय ।" कुमार अशोक उठकर खड़े हो गये थे ।

"फिर शैला और पद्मा से प्रतीक्षा करने के लिए कह दूँगी ।"

"हाँ, जब तक मैं न लौटूं, वे प्रतीक्षा करें । ध्यान रखना, उन्हें कोई असुविधा न हो ।"

"जो आज्ञा ।" परिचारिका ने गरदन सीधी की तो देखा कि कुमार ने कक्ष छोड़ दिया था ।

बाहर एक अश्व सदा तैयार रहता था । कुमार ने उस पर बैठते हुए वल्गा खींची । अश्व ने असाधारण गति धारण कर ली । उस वायुवेग गति से कुमार का अश्व ही वहाँ से बाहर निकलता था । प्रासाद के सम्पूर्ण भृत्य वर्ग ने चैन की साँस ली । प्रत्येक प्रतिपल सावधान रहता था । न जाने कब किसको बुला लिया जाय और किस असावधानी के लिए उसे दण्डित होना पड़े, इस आशंका से सभी सदा सतर्क रहते थे ।



महाराज बिम्बसार के शरीर के रोग अन्यान्य रोगों को आमन्त्रित करते चले गये । शरीर में रोगों से लड़ने की क्षमता तनिक भी न रह गई थी । अचेतावस्था में अधिकांश समय कटने लगा । महारानी जी भी जब बैठे-बैठे थक जातीं तो विश्रामहेतु वहाँ से हट जाती थीं, किन्तु वहाँ भी उन्हें चैन न पड़ती थी । थोड़ी ही देर में वह पुनः महाराज जी की शैय्या के निकट आ बैठती थीं । न कोई किसी की ओर से देखता न बात करता, बस, हितैषी आते, कुछ समय तक बैठते और निःशब्द उठकर चले जाते । किन्तु युवराज के प्रवेश करते ही एक हल्की-सी हलचल हुई । हर उपस्थित व्यक्ति अपने

स्थान पर हिल उठा । केवल महारानी ने बैठे-बैठे स्वागत-भाव व्यक्त किया, "आओ बेटा सुसीम ! सचेत होने पर महाराज जी तुम्हें ही स्मरण करते हैं । अब कहीं मत जाना । न जाने किस समय इनकी चेतना लौट आये ।"

"वैद्य जी कहाँ हैं ? उनसे कहिए सचेत बनाने वाली कोई औषधि दें। मैं अधिक समय यहाँ नहीं रुक सकता । अनेक समस्यायें अधूरी छोड़कर आया हूँ । असंख्य लोग हर क्षण प्रतीक्षा किया करते हैं ।"

"वह तो करेंगे ही, युवराज जी हो, किन्तु प्रतीक्षा करना अब इस अवस्था में महाराज जी के वश की बात नहीं है । किसी पार्श्ववर्ती कक्ष में ही कुछ समय विश्राम कर लो । कुछ क्षणों के लिए ही चेतना लौटती है। तनिक भी दूर हुए तो आते-आते इनकी चेतना पुनः विलुप्त हुए बिना न रहेगी ।"

युवराज सुसीम के ठीक पीछे खड़े अमात्य खल्लाटक ने हस्तक्षेप किया, "जब महारानी जी आग्रह कर रही हैं तो कुछ समय के लिए तो रुक ही सकते हैं ।"

"फिर आप सम्हालिएगा वहाँ की व्यवस्था ।"

"महाराज जी के समक्ष उनका क्या महत्व । यहाँ अस्तित्व का प्रश्न है । इस पर ध्यान केन्द्रित करना प्रथम कर्तव्य है ।"

"फिर जब रुकना ही है तो पार्श्ववर्तीकक्ष में क्यों नहीं प्रतीक्षा करता हूँ ।" खल्लाटक की ओर देख युवराज आगे बोले, "विशेष व्यवधान न हो तो आप भी कुछ समय रुक जाइए ।"

"अवश्य युवराज जी । आपका आदेश शिरोधार्य है ।"

इसी क्षण महाराज जी की चेतना लौटी । धीरे-धीरे उन्होंने नेत्र खोले। युवराज सामने ही खड़े थे । सुसीम को देखते ही वह अशक्त स्वर में बोले, "यहाँ निकट आओ सुसीम ।"

युवराज सुसीम दो-चार पग आगे बढ़ रुक गये । महाराज ने और निकट आने का संकेत किया । युवराज और आगे बढ़कर महाराज जी के ऊपर झुक गये । महाराज जी ने अपना एक हाथ धीरे-धीरे उठाकर युवराज के सिर पर फेरा और शक्ति-भर ऊँचे स्वर में कहा, "बेटा सुसीम ! तुम युवराज हो । मौर्य साम्राज्य के उत्तराधिकारी हो । शासन-भार सम्हालो । राज-परिवार का ध्यान रखो । भ्रातृ-द्रोह को कभी पनपने मत देना । सबसे प्रेम-स्नेहपूर्ण व्यवहार करो । न्याय बुद्धि रखो । अन्याय का दमन करो । पुत्रवत् प्रजा का पालन करो । मां का सदा ध्यान रखना । इन्हें कभी दुःखी मत

करना।" खल्लाटक पर उनकी दृष्टि पड़ी । वह आगे बोले, "अमात्य खल्लाटक ! आप साक्षी हैं। मेरा अंतिम आदेश है कि युवराज सुसीम ही राजगद्दी पर बैठें। महामात्य इस समय यहाँ उपस्थित नहीं हैं। उनसे मेरी ओर से मेरी यह अंतिम अभिलाषा निवेदन कर देना। वह स्वयं न्यायविद् हैं। मेरे उचित निर्णय का वह स्वागत ही करेंगे।" पुनः सुसीम को दृष्टि में भरकर वह आगे बोले, "बेटा सुसीम ! ध्यान रखना, जो जिस सम्मान का अधिकारी है, उसे वह अवश्य मिले । शुभचिंतकों की मंगलकामनायें और हितैषियों की सद्भावनायें शासक के लिये बड़ी शक्तियाँ होती हैं। इनके प्रति उपेक्षाभाव मन में कभी मत लाना । अब मुझे शान्ति की अनुभूति हो रही है। आह ! उत्तरदायित्व की अनुभूति का भार कितना कष्टकारक होता है। आज अन्तिम उत्तरदायित्व से भी मुक्ति मिल गई। हे ईश्वर ! इस शरीरभार से भी अब मुक्ति दें।" उसी प्रार्थना के साथ महाराज जी का सिर एक ओर को लुढ़क गया। देखते-देखते महारानी पछाड़ खाकर गिर पड़ीं। रुदन-स्वर मुखरित हो उठे। युवराज खल्लाटक निकट सरक आये अमात्य ने उनके कंधे पर हाथ रखकर बाहर निकलने का संकेत दिया। बाहर खल्लाटक ने सावधान किया, "यहाँ से कहीं जाना मत। सूचना मिलते ही सब अभी यहीं एकत्र हुए जाते हैं । राज-परिवार की दृष्टि से यह सबसे अधिक संवेदनशील समय होता है। मैं बाहर दुर्गद्वार पर महामात्य के आगमन की प्रतीक्षा के लिए जा रहा हूँ। उनके अभाव में किसी भी प्रकार की घोषणा सम्भव नहीं है। यहाँ की हर गतिविधि पर आप दृष्टि रखिए। बाहर मैं सम्हालता हूँ जाकर।" कथन के साथ ही अमात्य खल्लाटक तेजी से बाहर निकल गये।

ज्यों ज्यों महाराज बिम्बसार के देहावसान की सूचना फैलती गई, त्यों-त्यों मानवीय कार्य-व्यापारों को सहसा मारता चला गया। गति-विधियां शून्य में समा गईं। हलचल का चिह्न तक न रहा। पाटलिपुत्र का सम्पूर्ण वातावरण स्तब्ध सा प्रतीत होने लगा। जो जहाँ और जिस स्थिति में था, वह वहीं और उसी अवस्था में प्रतीक्षा-रत हो उठा। प्रत्येक की दृष्टि में एक ही भाव था 'अभी कुछ नहीं कहा जा सकता है।' और इस भाव के दर्शन तब होते थे जब दूसरे की दृष्टि प्रश्नमयी प्रतीत होती थी—'अब क्या होगा?' किन्तु अन्दर-ही-अन्दर शासन की दृष्टि से जो जितने ही बड़े पद पर आसीन था, उसके अन्दर उतना ही बड़ा भूचाल उमड़-घुमड़ रहा था। उसकी मानसिक अशान्ति उतनी ही भयंकर थी। सतर्कता भी अपनी चरमसीमा का स्पर्श कर रही थी। विगत अनुभव और वर्तमान शक्तिजन्य सम्भावित क्रियायें रह-रहकर परस्पर टकरा रही थीं। इस टकराहट की बेचैनी किन्तु मुखमण्डल पर झलकने न पा रही थी। प्रत्येक मुखमण्डल परम प्रशान्त परिलक्षित हो रहा था। एकांत और गुप्त स्थानों में कानाफूसी भी कम नहीं हो रही थी। जिसे जिसका जितना विश्वास अर्जन था उसी मात्रा में वह फुसफुसाहट में भाग ले रहा था। 'दीवालों के भी कान होते हैं'—इस कहावत के प्रत्यक्ष दर्शन हो रहे थे। अपने से भयभीत और दूसरों ... र पदाधिकारी की दृ... समय की गति पर टिकी थी। परिवर्तन ... आधीन वह झाँ... रहा था।

की सभी गतिविधियों का संचालन होगा।"

न किसी भी अधिकारी को अपनी प्रतिक्रिया प्रगट करनी थी न प्रतिवाद ही करना था। एकमात्र मार्ग था आदेश पालन हेतु निःशब्द वहाँ से प्रस्थान कर जाना। शनैः शनैः राज्याधिकारियों का जनसमूह वहाँ से सरकने लगा।

अमात्य खल्लाटक विशेष व्यग्र थे। मगध साम्राज्य की अमात्य परिषद में पाँच सौ सदस्य थे। अधिकांश सदस्य प्रायः उनसे भेंट किया करते थे। महाराज जी के स्वर्ग सिधारने का समाचार पाते ही अमात्यवर्ग की शिविकायें खल्लाटक के निवास की ओर दौड़ पड़ीं। खल्लाटक को विशेष प्रतीक्षा न करना पड़ी। अधिकांश अमात्य वर्ग उनकी दृष्टि के समक्ष था। वह उन्हें वस्तुस्थिति से अवगत करा रहे थे—"अमात्य बन्धुओं! अक्षरशः विश्वास कीजिए, स्वर्गीय महाराज जी के देहावसान के क्षणों में मैं युवराज के साथ शैय्या के निकट ही उपस्थित था। स्वर्गीय महाराज जी ने मुझे सम्बोधित कर आदेश दिया है कि युवराज सुसीम ही उनके उत्तराधिकारी हैं। वही सिंहासनासीन हों। राजदण्ड युवराज के हाथ ही सम्हालें। स्वर्गीय महाराज की मृत्यु से रिक्त राजगद्दी पर युवराज ही बैठें। वह अपना अखण्ड विश्वास प्रकट कर गये हैं कि युवराज सुसीम के हाथों में ही मगध साम्राज्य सुरक्षित रह सकेगा। आप लोग विश्वास करें, मेरे और युवराज के अतिरिक्त जो लोग भी वहाँ उपस्थित थे, सभी ने स्पष्ट रूप से स्वर्गीय महाराज जी की अंतिम इच्छा को सुना है। अश्रुपूरित नेत्रों से महाराज जी के निस्तेज मुखमण्डल की ओर अपलक निहारते हुए महारानी ने मौन सहमति ही व्यक्त की थी। अन्य रानियां तो सिसकियां भर रही थीं। परिचारक-परिचारिकाओं के नेत्रों से अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। सम्पूर्ण भृत्य वर्ग हाथ बँधे नत-मस्तक खड़ा था। स्वर्गीय महाराज जी की शैय्या के जो जितना निकट था, उसने उतना ही अधिक सुना था। यद्यपि महाराज जी यथेष्ट अशक्त हो चुके थे किन्तु वाणी में वही शक्ति विद्यमान थी। आजीवन शक्ति के तेजपुञ्ज तो रहे ही वह। न्यायप्रियता उनकी अतिरिक्त विशेषता थी। अन्याय को उनके द्वारा कभी प्रश्रय मिला नहीं। न्याय का पक्ष उन्होंने कभी त्यागा नहीं। शक्ति भर न्याय पक्ष को उनका समर्थन मिला। जीवन के अंतिम क्षणों तक न्यायपूर्ण स्वर ही उनके मुख से प्रकट हुआ। न्याय की साक्षात् मूर्ति थे वह। हम सभी लोगों का प्रयास होना चाहिए कि उनकी अंतिम इच्छा को सम्मान मिले। युवराज सुसीम ही मौर्य साम्राज्य की राजगद्दी पर विराजमान हों। मौर्य साम्राज्य के स्वामी के रूप में प्रजा युवराज सुसीम को ही देखे। युवराज जी का व्यक्तित्व स्वर्गीय महाराज जी के व्यक्तित्व की शुद्ध प्रतिलिपि

है। युवराज जी के शरीर में महाराज जी की आत्मा का निवास है। हम सब वही करें जिससे स्वर्गीय महाराज जी की आत्मा को शांति मिले। आप लोग तो जानते ही हैं कि आत्मा अजर-अमर है। शरीर तो आत्मा का परिधान मात्र है। परिधान-परिवर्तन शाश्वत सत्य है। इसी सत्य ने समय की शिला पर महाराज जी की मृत्यु का क्षण अंकित किया। यह अंकन है तो अमिट। अमरत्व के लिए इसे किसी भी सहायता की अपेक्षा नहीं है, किन्तु कदाचित आप लोग इस परम्परागत तथ्य से अनवगत नहीं होंगे कि किसी भी शासक का देहावसान, उसके उत्तराधिकारी का निर्णायक क्षण होता है। यद्यपि अपने उत्तराधिकारी के रूप में युवराज सुसीम के निर्णय की घोषणा वह स्वयं ही कर गये हैं, तथापि कोई भी विरोधी शक्ति इसके प्रतिकूल भी सोच सकती है। उनकी कोई भी विरोधी गतिविधि अस्तित्व में आ सकती है। किसी भी अन्य के नाम की घोषणा उत्तराधिकारी के रूप में उनके द्वारा की जा सकती है। यदि उन्हें अपने अस्तित्व के संकट की काल्पनिक आशंका भी होगी तो, वे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए किसी सीमा तक स्वर्गीय महाराज जी की अंतिम इच्छा के विरुद्ध आचरण कर सकते हैं। आप लोगों को मेरी आशंका, सम्भव है, निराधार प्रतीत हो रही हो किन्तु क्या सजग और विवेक सम्पन्न मानव के नाते यह हमारा कर्तव्य नहीं है कि वस्तुस्थिति के दोनों पक्षों पर दृष्टि रखें। एक पक्ष विशेष पर सतत दृष्टि रखने वाला प्राणी कभी-न-कभी धोखा अवश्य खाता है। कोई कुचक्र हमें पीस डाले, कोई षड्यन्त्र हमारे अस्तित्व को नष्ट कर दे, इसके पूर्व ही हमें सावधान होना है उस परिस्थिति विशेष के प्रति जो उपस्थित है स्थूल घटना के पृष्ठभूमि के रूप में। बन्धुओं ! अमात्य परिषद के परम्परागत अधिकार-स्वरूप को न भूलें। हमें इस सत्य का आभास करा देना है कि अमात्य परिषद अपने अधिकारों के प्रति आज भी उतनी ही सजग है, जितनी स्वर्गीय चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में थी। अधिकारों के सतत सम्वर्धन में मेरा विश्वास है, विखण्डन या ह्रास में नहीं। विश्वास कीजिए, सदा की भाँति यदि इस संक्रांति काल में भी आप लोगों का विश्वासजन्य सहयोग मुझे प्राप्त हुआ तो अमात्य परिषद की प्रतिष्ठा में वृद्धि ही होगी। मेरी दृष्टि में व्यक्ति नहीं परिषद अधिक महत्वपूर्ण है। 'जय अमात्य परिषद'।" अमात्य खल्लाटक ने शक्ति भर ऊँचे स्वर में सिंहनाद किया और साथ दिया समवेत स्वर में अमात्यों ने। अमात्यों के प्रबल समर्थन से उत्साहित होकर खल्लाटक आगे बोले, "महामात्य चाणक्य की चिंतन शैली से हम लोग सर्वथा परिचित हैं। उनके निर्णय अप्रत्याशित और विस्मयकारी होते हैं। मौर्य साम्राज्य के सर्वेसर्वा समझे जाने के कारण

वह अपने निर्णयों के कार्यान्वयन में समर्थन भी प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। असम्भव नहीं कि किसी ऐसी ही अप्रत्याशित घोषणा का हमें सामना करना पड़े । मैं नहीं चाहता कि अमात्य परिषद में विभेद उत्पन्न हो, स्वर्गीय महाराज जी की अंतिम इच्छा का परिपालन न हो और युवराज सुसीम उत्तराधिकारी न बनें। यदि इसके विपरीत कुछ भी हुआ तो गृहकलह उत्पन्न हुए बिना न रहेगी और निश्चित जानिए कि गृहकलह से साम्राज्य की शक्ति क्षीण ही होगी। इस क्षीणता का लाभ उठाने से पड़ोसी राज्याधीश कभी न चूकेंगे। अतएव अमात्य बन्धुओ ! हमें मौर्य साम्राज्य की इस आसन्न संकट से रक्षा करनी है। इस उत्तरादायित्व का संवहन करना हमारा दायित्व है। हम अपने दायित्व से न कभी पीछे हटे है न हटेंगे।" उपस्थित अमात्यों पर एक विहंगम दृष्टि डालकर बैठते हुए खल्लाटक ने प्रतिक्रिया जाननी चाही, "जिन अमात्य बन्धुओं को इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना हो, पूर्ण स्वतन्त्रता पूर्वक कहें।"

एक अमात्य ने बीच से खड़े होकर समर्थन व्यक्त किया, "हम आपके विचारों से सहमत हैं। हम सब अमात्य एक हैं। एकमत से आपके विचारों का समर्थन करते हुए घोषणा करते हैं कि स्वर्गीय महाराज की न्यायोचित अभिलाषा का समादर करेंगे और मौर्य साम्राज्य को गृहकलह से बचायेंगे। प्राणों के मूल्य पर भी पड़ोसी राज्याधीशों की कुदृष्टि मौर्य सत्ता पर न पड़ने देंगे। मौर्य सत्ता का साक्षात् स्वरूप अमात्य परिषद है। अमात्य परिषद की प्रतिष्ठा पर आँच भी न आने देंगे।"

दूसरा अमात्य बीच में बोल उठा, "हम विरोधी शक्ति पर कड़ी दृष्टि रखेंगे। अन्यथा विचार दृष्टि को हम सहन न करेंगे।"

सबसे पीछे उपस्थित अमात्य ने भी ऊँचे स्वर में अपनी दृढ़ धारणा का परिचय दिया, "हम एक हैं, एक रहेंगे। हमें दो रूपों में देखने वाला हमारा शत्रु है। शत्रु को जीवित न छोड़ना हमारा धर्म है। इस धर्म का पालन हम प्राणपण से करेंगे।"

खल्लाटक ने अवसर के औचित्य का लाभ उठाया। वह पुनः खड़े हो गये और बोले, "समर्थन के लिए धन्यवाद। अब आप लोग जाइए और गतिविधि पर दृष्टि रखिए। महामात्य की कुटी तक मुझे अविलम्ब पहुँचना है। देखना है, उन्होंने क्या निर्णय लिया है।"

"अवश्य !" उठते हुए अनेक अमात्यों का सम्मिलित स्वर सभाभवन में गूंज उठा।

उस गूंज में खल्लाटक को अपनी रणनीति की विजय की अनुभूति हुई।

महाराज बिम्बसार की अंतिम अभिलाषा सुनते ही युवराज सुसीम अपने को मौर्य सम्राट समझ बैठे। महाराज के निधन होने पर भी और अधिक देर वहाँ रखना सुसीम के वश की बात न थी। वह तीर की भाँति राजप्रासाद से बाहर आये और अश्व की पीठ पर बैठते ही अपने विशेष निवास की ओर उन्मुख हो गये। अमात्य खल्लाटक के संकेत पर कुछ अंगरक्षक भी साथ हो लिये, किन्तु युवराज तो मौर्य सम्राट के मद में मदान्ध थे। वह अकेले थे या कुछ लोग उनका अनुसरण कर रहे थे—उन्हें इस ओर ध्यान देने का अवकाश ही न था। वह अपने निवास विशेष के आने पर अश्व की पीठ से नीचे कूदे और मुख्य द्वार से सीधे अन्दर की ओर बढ़ते चले गये। आशा के विपरीत सन्नाटा देख उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया, "अरे! कहाँ गये सब? एक भी दिखाई नहीं दे रहा है?" आवेश में चारों ओर घूम कर वह आगे बोले, "वास्तव में, यहाँ तो कोई नहीं है। किन्तु कहीं जा कैसे सकते हैं? मेरी अनुमति के बिना एक का भी इस प्रासाद से बाहर जाना वर्जित है।" सहसा सामूहिक खिलखिलाहट ने युवराज का ध्यान आकर्षित किया। और भी अधिक आश्चर्य युवराज ने प्रकट किया, "तुम सब और यहाँ?"

"जी, महाराज जी! आदेश पालन हो तो हमारा धर्म है।"

"किन्तु आदेश देने वाले गए कहाँ?"

"अपराध क्षमा हो, महाराज जी! आपका ही आदेश तो पालन किया जा रहा है।"

"मेरा आदेश! मैंने कोई आदेश नहीं दिया। अवश्य भ्रम हुआ है तुम लोगों को।"

"सुन रही हो तुम लोग? मेरी आशंका सच निकली न? मैं जानती थी कि महाराज जी ऐसा आदेश कभी नहीं दे सकते। निषेधाज्ञा का उल्लंघन करने का साहस हम न जुटा पा रही थी, मगर महाराज जी के आदेश की अवहेलना भी कैसे की जा सकती थी।"

"सिर झुकाकर खड़े होने से काम नहीं चलेगा। शीघ्र बताओ कि शक्तिधर गये कहाँ।"

"बस, आदेश देने के बाद से दिखाई नहीं दिये। होना तो यहीं कहीं चाहिये। बाहर कैसे जा सकते हैं?"

"शक्तिधर !" युवराज की पुकार में यथेष्ट शक्ति आभासित हो उठी थी।

शक्तिधर ने तत्क्षण अपनी उपस्थिति का आभास कराया, "महाराज जी की सेवा में दास उपस्थित है।"

श्रीधर को हाथ बांधे नतमस्तक, अपने समक्ष खड़े देख युवराज ने सगर्व घोषणा की, "शक्तिधर ! आज से तुम अपने को मौर्य साम्राज्य का महासेनापति समझो।"

"सेवक की अज्ञानता क्षमा हो। कोई अपराध हो गया क्या ?"

"नहीं शक्तिधर ! मैं मौर्य साम्राज्य का सम्राट और तुम महासेनापति। तुम्हारे अन्य सहयोगी कहां हैं ?"

"महाराज जी की सेवा में अभी उपस्थित होते हैं।" श्रीधर ने दो बार ताली बजाई। एक-एक करके सभी श्रीधर के पीछे आ-आकर खड़े होते चले गये।

युवराज ने सगर्व आदेश दिया, "सम्पूर्ण सैन्य-शक्ति को सौ भागों में विभाजित कर दो और इनमें से प्रत्येक को एक-एक भाग का नायक बना दो।"

"महाराज जी ! अब आप तो मौर्यशक्ति शिरोमणि हो गये हैं। शेष निन्यान्वे ही तो हैं।"

"ओह ! ठीक है। निन्यान्वे में ही विभाजित कर दो।"

"जो आज्ञा। किन्तु एक प्रार्थना है।"

"प्रार्थना क्यों ? आवश्यकता कहो, अभिलाषा बोलो, तुम सब तो भाई के समान हो। जो इच्छा हो, निर्भय होकर कहो।"

"यह सहसा परिवर्तन दास की समझ में नहीं आया।"

"अरे शक्तिधर ! महाराज जी स्वर्गवासी हो गये हैं। निधन के पूर्व उन्होंने मुझे सम्राट पद पर प्रतिष्ठित किये जाने की घोषणा की है।"

"महाराज जी का स्वर्गवास हो गया और आप यहां ?"

"इसमें तुम्हें आश्चर्य क्यों ? क्या इससे अधिक सुरक्षित स्थान और कोई दूसरा हो सकता है। न जाने वह बुड्ढा कब क्या कर बैठे।"

"यदि इतना ही भय है आपके मन में तो मुझे अनुमति देते क्यों नहीं ?"

"नहीं, उसकी शक्ति का अनुमान तुम्हें नहीं है। मेरे पिता और पितामह तक उसके आदेश का पालन करते थे। मगध की प्रजा तो उसे भगवान की भांति पूजती है। और न जाने क्या शक्ति है उसमें कि सामने जाते ही विरोधी की शक्ति का जैसे अपहरण-सा हो जाता है। अनेक बार मैंने स्वयं अनुभव किया कि जो भी निश्चय करके मैं गया, वह न जाने कहां उसे देखते ही विलीन हो गया। अद्‌भुत शक्ति है उसमें। समझ में नहीं आता कि न तो

उसमें शारीरिक शक्ति ही शेष रही है, न कोई अस्त्र-शस्त्र चलाना ही उसे आता है, न वह किसी से कुछ लेता है, न किसी को वह कुछ देता ही है, फिर भी दिनरात उसकी कुटिया के द्वार पर अपार जनसमूह एकत्र रहता है।"

"अब तो आप भीड में से एक नही है। सम्राट बन गये हैं। आदेश दीजिए फिर देखिए खेल। सारा भ्रम दूर न कर दू तो मेरा नाम शक्तिधर नहीं।"

"उससे भी बड़ी उलझन अभी एक ओर है।"

"वह क्या?"

"कमार अशोक।"

"उनकी चिंता आप न कीजिए। हम निन्यान्वे भाइयो में से एक ही उनके लिए यथेष्ट है।"

"और अगर कुमार सोचता हो कि निन्यान्वे भाइयों के लिए वह अकेला ही यथेष्ट है?"

"सोचने के लिए वह स्वतन्त्र हैं। सोचें, खूब सोचें, मगर जब एक का भी सामना करना पड़ेगा, तब सोचना एक ओर रखा रह जायेगा। हम निन्यान्वे भाई किस बात में कम है? शारीरिक शक्ति मे एक-से-एक बढ़ बढ़कर है। दाँवपेंच मे जो कौशल प्राप्त है, उसके सामने बड़े-बड़े पुराने गुरु तक पानी माँगते है। अस्त्र-शस्त्र संचालन में तो कोई बराबरी कर ही नहीं सकता। क्या आपने एक हाथ से सूंड को उमेठकर हाथी को बैठते हुए नहीं देखा है? क्या एक घूसे से भैंसे को धराशायी नही किया गया है? क्या मेरे एक भाई की उछाल देखकर चीता एक बार भ्रम में नहीं पड़ गया था? शेर के दाँतों को गिनते हुये तो आपने कई बार मेरे भाइयों को देखा ही है। पानी मे मगर के साथ मल्लयुद्ध देखकर तो आपने भी दाँतों तले उँगलियाँ दबा ली थी। अगर हम कही दुर्बल हैं तो आपके आदेश के समक्ष। आप आदेश देकर देखें भर। आदेश का पालन कितनी शीघ्र और सफलतापूर्वक होता है। तरस रहे है सभी भाई महाराज जी के आदेश के लिये।"

"शक्तिधर! महाराज हैं हम दूसरों के लिये। तुम्हारे लिये तो भाई ही [illegible]। महाराज बनने पर भी मुझे भाई ही समझो। मुझे विश्वास है, जब तक हम एक हैं, हमारा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।"

"यह तो महाराज जी का बड़प्पन है जो अपने को हम लोगों में से एक समझते है। वैसे आप हैं महाराज और हम हैं आपके आज्ञाकारी सेवक। अपनी सभी उलझनें आप हमे सौंप दीजिये। आप निश्चिततापूर्वक नृत्य-गान का आनन्द लीजिये। हर बिगड़ी को हम बना लेंगे। हर कुदृष्टि को हम सदा के लिये फोड़ देंगे। व्यक्ति तो दूर की बात है, कुविचार तक पास न फटकने

पायेंगे।"

"यही विश्वास तो मुझे यहाँ तक खींच लाया है। तनिक किसी को बाहर भेजकर पता करो कि कहाँ वर्षा हो रहा है। कोई विशेष बात हो तो सूचित करना, वरना थोड़ी देर के लिए मैं विश्राम करना चाहता हूँ। यथेष्ट शैथिल्य की अनुभूति हो रही है।"

"अवश्य विश्राम करें, महाराज जी। सब व्यवस्था पूर्ववत् है। शेष भार मुझ पर छोड़ दें।"

"हो सके तो अमात्य खल्लाटक से अवश्य भेंट कर लेना।"

"जो आज्ञा। आदेश दें तो बुड्ढे की उस कुटिया तक चक्कर लगा आऊँ।"

"कोई आवश्यकता नहीं, वहाँ से बुलावा आने ही वाला है। तुम तो जानते ही हो कि बिना बुलाये हम कहीं भी जाना पसन्द नहीं करते।"

"जी, जो आज्ञा। अब आप विश्राम कीजिए। भाइयों का पूरा समूह सतर्क है। कुछ भी अप्रत्याशित न घटने पायेगा। हम सब भाई एक मत हैं और रहेंगे। जब तक एक के भी शरीर में प्राण शेष है, महाराज जी निर्विघ्न शासन करें।"

"शक्तिधर! तुम केवल कुमार पर दृष्टि रखना। शेष स्वतः सामान्य हो जायेगा।"

"कुमार अशोक एक पल के लिए भी मेरी दृष्टि से ओझल न होने पायेंगे।"

"अत्यधिक सतर्कता अपेक्षित है।"

"महाराज जी, पूर्ण निश्चिततापूर्वक विश्राम करें। मुझे अनुमति दें। तनिक दृष्टि विस्तार करूँ जाकर।"

"अवश्य, शक्तिधर! विशेष सतर्कता ऐसे ही अवसरों पर तो अपेक्षित होती है।"

"अपने सेवक शक्तिधर को विश्वास के अनुरूप ही पायेंगे, महाराज जी।"

"बस, दूर मत जाना। रहना आस-पास ही।"

"जो आज्ञा।" शक्तिधर शिष्टाचार की सक्रिय मुद्रा धारण कर वहाँ से हट आया।

●●●

कुमार अशोक को महाराज के देहावसान की जैसे ही सूचना मिली, अर्ध-शायित अवस्था से वह तत्क्षण उठ बैठे और निर्णयात्मक स्वर भी उनके मुंह से निकले बिना न रहा, "मुझे अविलम्ब मगध पहुँचना है। इस समय मुझे वहीं होना चाहिए था।" आगे आदाका भी व्यक्त की, "न जाने माँ किस स्थिति में होंगी। प्रतीक्षारत गुरुदेव का समय बड़ी बेचैनी में कट रहा होगा। अमात्य खल्लाटक अपनी प्रकृति के अनुसार उखाड़-पछाड़ में लगा होगा। सुसीम भइया न जाने किन रंगरेलियों में खोये होंगे। बड़ा संकटमय अवसर होता है यह। महाराज जी के निधन की सूचना वन में आग की भाँति फैल चुकी होगी। जो ऐसे ही अवसर की ताक में रहते हैं, उन्होंने सिर उठाने प्रारम्भ कर दिये होंगे। अराजक तत्वों की गतिविधियाँ साकार हो उठी होंगी। सभी अनिश्चयात्मक स्थिति से लाभान्वित होने के लिये कटिबद्ध होंगे।" राधागुप्त को लक्ष्य कर अशोक ने सामयिक आवश्यकता प्रकट की, "अच्छा, मैं तो यहीं से अविलम्ब प्रस्थान करता हूँ। आप चाहें तो व्यवस्थित होकर पीछे से आइए।"

"नहीं, यहाँ की व्यवस्था का भार कुछ समय के लिए विशालदत्त को सौंपे दे रहा हूँ। आधे सैनिकों को भी यहीं छोड़े दे रहा हूँ। शेष सैनिकों को लेकर मैं भी आपके साथ ही चलूंगा। गुरुदेव का आदेश भी तो ऐसा ही है।"

"किन्तु मैं शीघ्रातिशीघ्र मगध पहुँचना चाहता हूँ।"

"पहुँचना भी चाहिए। गति के कारण कुछ ही समय का अन्तर पड़ेगा। गुरुदेव को यह तो नहीं सुनना पड़ेगा कि मैं तक्षशिला में ही हूँ। मार्ग में हूँ। कुछ समय में ही पहुँचने वाला हूँ—यह सुनकर गुरुदेव शोषित तो न होंगे। उन्हें अपने किसी भी सामयिक निर्णय में परिवर्तन तो न करना पड़ेगा।"

"किन्तु, सहसा तो आप चल देंगे नहीं। जिन्हें भी व्यवस्था आप सौंपेंगे, उन्हें समझाना तो पड़ेगा ही। हर वस्तुस्थिति से अवगत कराये बिना आप कैसे प्रस्थान कर सकेंगे। आपको लगेगा अभी यथेष्ट समय। तब तक कदाचित मैं मगध पहुँच भी जाऊँ।"

"कुमार! आपके कथन में निहित सत्यता को अस्वीकार करना उचित तो न होगा और विलम्ब किसी भी अवांछित परिस्थिति के आमन्त्रण के लिये यथेष्ट कारण सिद्ध हो, यह भी विवेक सम्मत नहीं है। किन्तु एक अनुरोध

और है ?"

"वह क्या ? शीघ्र बोलिये ।"

"इस प्रासाद विशेष की व्यवस्था के विषय में कुछ सोचा है ?"

"जो उचित समझें, करें । प्रस्थान के अतिरिक्त कुछ भी सोच पाना इस समय मेरे लिये सम्भव नहीं है ।"

"यदि कुछ ने साथ चलने का आग्रह किया ?"

"सम्भव ही नहीं है । मेरी गति कितनी असामान्य होती है, आप तो जानते ही हैं ।"

"आपके साथ नहीं । समझाने पर भी मेरे साथ चलना चाहा तो ?"

"जानबूझ कर कोई अपने को संकट में क्यों डालना चाहेगा ? मगध इस समय किसी भी दृष्टि से निरापद नहीं है ।"

"फिर भी, जैसा आदेश हो ।"

"इस समय मुझे किसी भी समस्या में उलझाइए नहीं । कुछ भी निर्णय कर पाने की मेरी मन:स्थिति नहीं है । आपको पूर्ण अधिकार है । जो चाहे, निर्णय करें । बस ! चलता हूँ । यहाँ सब व्यवस्थित करने के बाद ही आप प्रस्थान कीजिएगा ।"

"जो आज्ञा । गुरुदेव जी से ·· ·····।"

राधागुप्त की पूरी बात सुनने के पूर्व ही कुमार अशोक ने अश्व को एड़ लगाई और वल्गा के संकेत द्वारा अश्व को गति ग्रहण करने के लिये विवश कर दिया । देखते-देखते अश्व हवा से बातें कर उठा था । धूल का उठता गुब्बार गति की तीव्रता के संकेत के लिये यथेष्ट था ।

●●●

कुमार अशोक के अश्व की जो गति तक्षशिला सीमा पर थी, वही गति मगध सीमा में प्रवेश के क्षणों में थी। कितना लम्बा मार्ग कितने समय में तय हो गया–इस ओर ध्यान देने का अवकाश कुमार के पास न था। अश्व सीधे गुरुदेव की कुटी की दिशा में मुड़ गया था। जाह्नवी के तट पर सर्वोच्च टीले पर स्थित कुटी पर दृष्टि थी कुमार की। गति लक्ष्य दृष्टि को अविलम्ब स्पर्श कर लेना चाहती थी। कुटी की सीमा में प्रवेश करते ही कुमार ने अश्व को गतिहीन कर छोड़ दिया और पैदल ही उसी तेजी से कुटी की ओर बढ़े। आशातीत संख्या में दर्शनार्थी वहाँ एकत्र थे। किन्तु सब मौन तपस्वी-से प्रतीत हो रहे थे। वहाँ न गति थी न स्वर। कुमार अशोक की तीव्रगति भी सहमती चली गई। कुटी द्वार सदा उन्मुक्त रहते थे। कुमार की दृष्टि कुटी-द्वार पर गड़कर रह गई। व्यक्तिगत स्तर पर न कुमार ने किसी को देखा और न किसी ने अभिवादन की मुद्रा ही धारण की। इसके पूर्व कि कुमार अशोक कुछ क्षणों के लिए किंकर्तव्य विमूढ़ हो उठें, उन्हें सुनाई दिया, "स्वागत है कुमार का। रुकिये मत, आगे बढ़ते चले आइए। कर्तव्यनिष्ठ प्राणी के लिए कुटीद्वार सदा उन्मुक्त रहते हैं।"

कर्तव्याकर्तव्य के भँवर में फँसे कुमार को जैसे कोई सशक्त सम्बल प्राप्त हो गया हो। वह तेजी से कुटी द्वार की ओर बढ़े। भीतर से पुनः सुनाई दिया, "समय की सत्ता को स्वीकार करने वाले को विजयश्री सदा वरण करती है। ठीक समय पर आ पहुँचे कुमार। राधागुप्त साथ न आ सका होगा। तनिक दीर्घसूत्री है। मार्ग में पिछड़ गया होगा।"

"गुरुदेव! अशोक प्रणाम करता है।" कुमार ने हाथ जोड़ सिर झुका दिया।

"सदा कर्तव्यनिष्ठ रहो। यहाँ की परिवर्तित परिस्थिति से तो अवगत हो ही चुके होगे। स्वर्गीय महाराज जी युवराज सुसीम के राज्यारोहण की अभिलाषा व्यक्त कर गये हैं। युवराज के पक्षधर अत्यन्त उत्साहित हैं। युवराज का अंतरंग भाईमण्डल भिन्न-भिन्न प्रकार की उद्घोषणायें करता फिर रहा है। अमात्य खल्लाटक का उन्हें प्रत्यक्ष समर्थन प्राप्त है।"

"मेरे लिए आज्ञा गुरुदेव?"

"महाराज जी के निधन के कारण चालीस दिन तक शोक मनाये जाने

की जो घोषणा करदी गई है, उसके अनुसार कोई भी मंगलकार्य सम्पन्न न हो सकेगा। यथेष्ट समय है अभी। इसी बीच निर्णय होना है कि मौर्य-साम्राज्य किन हाथों में सुरक्षित रह सकेगा।"

"गुरुदेव ! कथन का अभिप्राय समझ नहीं सका। तनिक और स्पष्ट करने की कृपा करें।"

"कुमार ! मेरा विश्वास था कि समय ने तुम्हें और अधिक समझदार बना दिया होगा।"

"गुरुदेव ! क्षमा करें। समय की आवश्यकता को मैं भली-भाँति समझता हूँ, किन्तु जो उत्सर्ग सम्भावित है, वह क्या विचारणीय नहीं है ?"

"नहीं कुमार। उपलब्ध के समक्ष उत्सर्ग का कोई महत्व नहीं। सदा स्मरण रखो–निर्माण की आधारशिला उत्सर्ग की नींव पर ही रखी जाती है।"

"तो क्या उत्सर्ग इतना नगण्य है कि उस पर ध्यान दिया ही न जाय ?"

"नहीं, ध्यान देने का अभिप्राय होगा लक्ष्यभ्रष्ट होना। लक्ष्यभ्रष्ट प्राणी अपने अस्तित्व तक का अधिकार खो देता है। किस भ्रम में हो कुमार ? कौन किसकी चिंता करता है। सब मन के दास हैं। मन की अर्जनशक्ति है कर्तव्य। इसी कर्तव्य-पालन के बहाने मानव अपनी मनोभिलाषा की तुष्टि करता है।"

"किन्तु गुरुदेव ! आपकी ऐसी कोई भी मनोभिलाषा समझ में नहीं आती ?"

"किन्तु है अवश्य। मेरी एकमात्र मनोभिलाषा है मौर्य साम्राज्य को निर्विघ्न देखना। अभी तक मौर्य-साम्राज्य को जैसे सशक्त-संरक्षक प्राप्त हुए हैं वैसे ही सुरक्षित हाथों में इसका सचालन देखने की कामना है। मन की इसी कामना के वशीभूत हो उन निर्मम निर्णयों तक को घोषित करने के लिए विवश हो जाता हूँ जिनमें कतिपय बुद्धिजीवी वर्ग को मेरे पक्षधर होने की गंध आने लगती है। उस गंध को मैं अस्वाभाविक नहीं मानता, किन्तु पक्षधरता भी उतनी ही स्वाभाविक है। तटस्थ होने के भ्रम मे हम जी भले ही लें, किन्तु सदा तटस्थ बने रहना है बहुत कठिन। गिरि कन्दराओं में निवास करने वाले वीतरागी प्राणी तक तटस्थ नहीं रह पाते हैं। मन के वशीभूत होकर ही वे संसार से पराङमुख होते है, तटस्थ फिर भी नहीं रह पाते हैं। विश्वास है तुम भी चाहते होगे कि जिस मौर्य-साम्राज्य को तुम्हारे पिता-पितामह ने अपने पौरुष पराक्रम के बल पर इस स्थिति तक पहुँचाया है, वह किन्हीं दुर्बल हाथों मे पड़कर नष्ट न हो जाय।"

"फिर किन हाथों को आप मौर्य साम्राज्य के संरक्षण में सक्षम समझते हैं ?"

"तुम्हारे, कुमार अशोक ! तुम्हारे हाथों में ही यह मौर्य साम्राज्य सुरक्षित रह सकेगा। युवराज की चण्डाल चौकड़ी इसके सम्मान को सुरक्षित न रख सकेगी। वे इसे विलासिता का साधन बनाकर अराजकता का नंगा-नाच करेंगे। अन्यायजन्य अव्यवस्था की वृद्धि होगी। अराजकता की उपस्थिति में एकता सम्भव नहीं है। जहाँ एकता नही होगी, वहाँ शक्ति सम्भव नही है और शक्तिहीन साम्राज्य कितने दिन अपना अस्तित्व सुरक्षित रख सकेगा। कुमार ! तुम संयमी हो इसीलिए शक्तिशाली हो, प्रगतिप्रिय हो, इसीलिए परिश्रमी हो, सूझ-बूझ से काम लेते हो, इसीलिए दूरदर्शी हो, और महात्वाकांक्षी हो, इसीलिए तुम्हारे लिए असम्भव कुछ भी नहीं है। मौर्य साम्राज्य का सत्ताधारी शासक तुम्हे बनना है कुमार। युवराज सुसीम को अपने मार्ग से तुम्हें हटाना है और सदा-सदा के लिए उस चण्डाल चौकड़ी को समाप्त करना है जिसका नेतृत्व प्राप्त है खल्लाटक को। यदि खल्लाटक मेरा विरोधी न होता तो कदाचित वह तुम्हारा ही पक्षधर होता। हृदय से वह मौर्य साम्राज्य का शुभचिंतक कम नहीं है। इसका निर्णय समय पर छोड़ दो कि तुम्हारे लिए कौन अधिक सहायक है। विश्वास रखो, खल्लाटक के क्रिया-कलाप तुम्हारे पक्षधर जब भी प्रतीत हुए तभी मैं नीति संचालन की सक्रियता से संन्यास ले लूंगा। मेरी दृष्टि मे राधागुप्त ही इस समय एकमात्र तुम्हारा ऐसा पक्षधर है जिसकी दृष्टि में तुम मौर्य साम्राज्य से भी महान हो।"

"यह दृष्टि तो सर्वथा अनुचित है।"

"हाँ, किन्तु तुम्हारी दृष्टि मे मौर्य साम्राज्य ही सब कुछ है, इसलिये किसी भी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं है। कुमार ! एक बात की गांठ और बांध लो। इस पृथ्वी पर मानव ही सर्वोच्च सत्ता है। मानव से परे कुछ नहीं है। मानव निर्माता है मानव ही संहारक है। मानव विशेष के संकेत पर साम्राज्य बनते-बिगड़ते हैं। यद्यपि मानव का समय साम्राज्य की अपेक्षा कम माना जाता है, किन्तु मानव कर्ता है। कर्ता की क्रियात्मकता उसे कभी नहीं मरने देती। उसके युगान्तरकारी कार्य उसे अविस्मरणीय ऐतिहासिक मानव की कोटि मे प्रतिष्ठित कराते हैं। ऐतिहासिक मानव अमरत्व का अधिकारी होता है। अमर न साम्राज्य होता है न मानव, बल्कि अमर होते हैं कार्य और कार्यों का कर्ता होने के नाते मानव अमर माना जाता है। कुमार ! तुम ऐसा ही एक मानव अपने को समझो जिसके कार्य मौर्य साम्राज्य को ही समस्त नहीं बनायेंगे, बल्कि तुम्हें भी अमरत्व प्रदान करेंगे। तुम्हारे युगान्तरकारी कार्यों के रूप मे तुम्हारा नाम सदा-सदा

के लिए समय की शिला पर अंकित हो जायेगा। जाओ कुमार अशोक और सिद्ध करो कि तुम ऐसे ही कार्मों के कर्ता हो जो कालजयी होने की शक्ति से सम्पन्न हैं।"

"जो आज्ञा, गुरुदेव। आशीर्वाद दीजिए कि कर्तव्यपथ से कभी विचलित न होऊँ।"

"मेरा शुभाशीर्वाद सदा तुम्हारे साथ है। किन्तु ध्यान रखना शौर्य ही नहीं पर्याप्त सजगता भी अपेक्षित है।"

"जो आज्ञा।"

"कोई भी पग उठाने से पूर्व राधागुप्त की प्रतीक्षा करना अधिक श्रेयस्कर होगा।"

"उन्हें यहाँ तक आने में समय लग सकता है। मेरे आने की सूचना सम्भवतः फैल भी चुकी होगी। प्रतीक्षा की स्थिति अब रही नहीं। कुछ भी कर उठाने का अवसर आ गया है। हाँ, इतना आश्वासन अवश्य देता हूँ कि अपनी ओर से कोई पहल न करूँगा किन्तु कोई अवांछित घटना की उपेक्षा भी न कर सकूँगा।"

"कुमार! तुम्हारे विवेक के प्रति मैं आश्वस्त हूँ और कुछ लोग तुम्हारे सहयोगी भी प्रतीत होंगे।"

"कौन लोग हैं वे?"

"विपरीत परिस्थिति में प्राणों तक का उत्सर्ग करने वाले लोग हैं। उन्हें गुप्त ही रहने दो। बस, मेरे ऊपर विश्वास करो।"

"जो आज्ञा। अब अनुमति दीजिए। सूचना से पूर्व माँ के दर्शन करना चाहता हूँ।"

"अवश्य जाइए, कुमार। अविलम्ब जाइए। माँ सबसे बड़ी सहायिका सिद्ध होंगी।"

"प्रणाम गुरुदेव।" कुमार अशोक कुटी के बाहर निकल गये।

अमात्य खल्लाटक ने युवराज के कक्ष में तेजी से प्रवेश किया और जानना चाहा, "कुछ सुना आपने ?"

"क्या, आप ही सुना दीजिए न। अधिक उतावले दिखाई दे रहे हैं।"

"सूचना ही ऐसी है।"

"क्या है सूचना, तनिक मैं भी तो सुनूं।"

"तो क्या अभी आप तक सूचना नहीं पहुँची ?"

"आपके साथ ही तो सूचना आती है। और आपकी अनुपस्थिति में जो सूचनायें आती हैं, उनमें आपकी कोई रुचि है नहीं। कहिये क्या सूचना लाये हैं ?"

"कुमार अशोक महामात्य की कुटी तक पहुँच चुके हैं।"

"क्या !" युवराज सुनते ही उछल पड़े और आश्चर्य व्यक्त किया, "अशोक का मगध में प्रवेश हो गया और महामात्य तक पहुँच भी गया। मेरे व्यक्ति करते क्या रहे ?"

"सेवा में यही सूचना निवेदित करने के लिए बाहर बहुत देर से प्रतीक्षा कर रहे हैं।" शक्तिधर बीच में बोला।

"अब क्या होगा ?"

"वही होगा जो आपका आदेश होगा।"

"नहीं शक्तिधर, अब वह होगा जो अमात्यवर चाहेंगे।"

खल्लाटक ने सामयिक आवश्यकता पर बल दिया, "युवराज जी ! आप करेंगे स्वागत कुमार का। किसी भी स्थिति में विरोध व्यक्त न होने देंगे। और शक्तिधर तुम रहोगे युवराज जी के अंगरक्षक के रूप में। बहुत सावधानी की आवश्यकता है। कुमार की क्षिप्रता अनुपम है।

"शक्तिधर का सामना पड़ेगा तो सब क्षिप्रता भूल जायेंगे।"

"या भुला देंगे—यह तो समय ही बतायेगा। आप मात्र सावधान रहिए। और यह मत भूलिये कि आप मात्र युवराज के अंगरक्षक हैं।"

"अमात्यवर ! आप आश्वस्त रहिए। शक्तिधर में साम्राज्य-रक्षक सिद्ध करने की क्षमता है। मात्र अवसर मिलना चाहिए।"

"कुमार अशोक का मगध में आगमन किसी भी अवसर की उपस्थिति समझिये। कुमार की चाल समझना बड़ी टेढ़ी खीर है। यह कब क्या सोचते

और करते हैं-जानना सबके वश की बात नहीं है।"

"जो किसी के वश का नहीं होता है, वह शक्तिधर के वश का हो जाता है।"

"फिर तो यह सब सम्हाल ही लेंगे। किसी की क्या आवश्यकता है।" अमात्य ने अन्यमनस्कता प्रकट की।

"नहीं अमात्यवर ! शक्तिधर सम्हाल तो लेंगे, किन्तु निर्देश आपका ही अपेक्षित है। महामात्य किस बात का क्या अर्थ निकालते हैं, किसे क्या आदेश देते हैं, किसके प्रति उनमें मन-मस्तिष्क में क्या भाव है-इसे आपसे अधिक कौन समझ सकता है। स्वर्गीय महाराज जी की अंतिम अभिलाषा को वह किस सीमा तक महत्व देंगे-इसे वह स्वयं समझते है या फिर आप।"

"इसीलिए तो सावधान कर रहा हूँ। सहसा विरोध नहीं होना चाहिए। पहले मन्तव्य समझना आवश्यक है। अच्छा, अब मुझे अनुमति दीजिए। सतर्कता से काम लीजिए। और मेरी प्रतीक्षा कीजिए।"

"बहुत अच्छा, अमात्यवर।" खल्लाटक के जाने के बाद युवराज ने शक्तिधर को दृष्टि में भरकर पूछा, "पहचान लिया ? यही हैं अमात्य खल्लाटक। अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि और नीतिविशारद हैं। मन्त्रिपरिषद में महामात्य के पश्चात् इन्हीं का स्थान समझा जाता है। अन्दर-ही-अन्दर दोनों परस्पर विरोधी भी हैं। सामने तो यह महामात्य का विरोध नहीं करते हैं, किन्तु अन्धसमर्थक भी नहीं हैं। यदा-कदा अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का आभास अवश्य करा देते हैं। महामात्य के स्थान के यही अधिकारी भी समझे जाते हैं। हाँ, कुमार अशोक इन्हें पसंद नहीं करता है। उसकी रीति नीतियों का यह समर्थन भी नहीं करते हैं। टकराव की सम्भावना है।"

"किनके बीच ? कुमार या महामात्य ?"

"अमात्य खल्लाटक का मत है कि महामात्य और कुमार एक हो जायेंगे।"

"देखिये, युवराज जी ! अमात्यवर को आप रखिये अपने पास। आप दीजिए महत्व उन्हें। आपकी दृष्टि में होंगे वह नीतिकुशल। मुझे तनिक भी यह समझ में नहीं आये। दूर-दूर से चुन-चुनकर जो निन्यानवे योद्धा एकत्र किये गये हैं, इनके अनुसार तो वे सब व्यर्थ है। उनका क्या काम है ? विरोध तो करना है नहीं। नीति-बीति हम न जानते हैं और न समझना ही चाहते हैं। हम तो केवल शत्रु को पहचानते हैं और सीधे उस पर प्रहार करना जानते हैं। आप शत्रु की ओर संकेत भर कर दीजिए। फिर देखिए, उसका अस्तित्व कैसे मिटता है।"

"शक्तिधर ! तुम्हारी इसी शक्ति ने तो तुम्हें 'भाई' की कोटि में ला बिठाया है।"

"युवराज जी ! हम निन्यान्वे भाई हैं। एक-से-एक बढ़-चढकर हैं। कोई किसी से कम नही हैं। एक दूसरे पर प्राण न्योछावर के लिए सदा तैयार रहते हैं। निन्यान्वे शरीर एक प्राण है सब-के-सब। सबने एक साथ प्रतिज्ञा की है—जियेंगे तो साथ और मरेंगे तो साथ।"

"वाह ! यही एकता तो तुम्हारी शक्ति है। जब तक यह एकता बनी रहेगी, तुम्हें कोई पराजित नही कर सकता।"

"किन्तु शक्ति-प्रदर्शन का अवसर तो दीजिए। प्रमाण भी तो प्रस्तुत होना चाहिए।"

"वह अवसर किसी क्षण भी उपस्थित हो सकता है। बस, प्रस्तुत रहो। किसी के भुलावे में मत आओ।"

"हम अपने अतिरिक्त किसी का विश्वास नही करते।"

"फिर तो मेरा भी विश्वास नहीं करते होगे ?"

"आप तो हममें से ही एक है। आपको मिलाकर ही तो हम निन्यानवे हैं। क्या आप अपने को पृथक समझते हैं ?"

"नही, किन्तु फिर यह 'युवराज सम्बोधन क्यों ?"

"क्योंकि युवराज के लिये ही सब तैयारियाँ हैं। और फिर अब तो आप 'महाराज' बनने वाले हैं। 'युवराज' सम्बोधन तो स्वतः बन्द हो जायेगा।"

"शक्तिधर ! कुमार अशोक पर तुम्हे दृष्टि रखनी है। वह कभी भी मुझसे मिलने आ सकता है।"

"बस, आप एक बार पहचनवा भर दीजिए। आपके पास फटकने भी न पायेंगे।"

"नही, आने देना, रोकना मत। उसके मन्तव्य से अवगत होना भी तो आवश्यक है। बस, रहना तुम मेरे आस-पास ही। वैसे यह मेरा सम्मान करता है। अपमानित करने की धृष्टता उसने कभी की नहीं है। किन्तु परिस्थिति बदल गई है। वह भी बदल सकता है।"

"आप निश्चिन्त रहिए। आने भर दीजिए, उन्हें। जिस भाव से वह आप से मिलेंगे, उसी के अनुरूप उनके साथ व्यवहार होगा। अब आप विश्राम कीजिए। काफी समय हो गया है। थक गये होंगे आप।"

"हाँ, न जाने क्यों जरा-जरा-सी देर मे थकान अनुभव होने लगती है।"

"एक पल के लिए भी निश्चिन्त तो आप हो नही पा रहे हैं। आप अपने कक्ष मे चलिए। नृत्यगान की व्यवस्था पूर्ववत् है। पेय लेकर मनोरंजन

कीजिए चलकर। उठिए, इस मन्त्रणा कक्ष में जब तक रहेंगे, विश्रान्ति की अनुभूति नहीं होगी।"

"चलो भाई।" युवराज सुसीम उठते हुए बोले, "अन्यथा कुछ सम्भव भी तो नहीं है। जो होगा, देखा जायेगा।"

"वह देखना मेरा काम है। आप चिन्तामुक्त होइए। यहाँ तक कोई भी तभी पहुँच पायेगा, जब सभी भाइयों को अपने मार्ग से हटा लेगा। और सभी भाइयों का सफाया कर सके, ऐसा वीर अभी तक तो धरती पर जन्मा नहीं है। आप यहीं आराम कीजिए। मैं देखता हूँ बाहर।" कथन के साथ ही शक्तिधर बाहर की ओर चल दिया।



महारानी शुभद्रांगी को जैसे पुत्र के आगमन की प्रतीक्षा ही थी। अशोक को देखते ही उनका शोकग्रस्त मुखमण्डल चमक उठा। स्वागत-भाव उन्होंने व्यक्त किया, "आ गया अशोक बेटा?"

"हाँ, मा! तुम कैसी हो?"

"जैसा महाराज जी छोड़ गये हैं, अब तो वैसे ही जीवन काटना है।"

"मां! जीवन और मृत्यु तो दैवाधीन होता है। जब तक सांस है तब-तक आस रखनी चाहिए।"

"वह तो है, बेटा। मरना कठिन है, इसलिए जीना पड़ेगा। महाराज जी के स्वर्गवासी होने की सूचना पाते ही तू चल पड़ा होगा? मार्ग में कोई कष्ट तो नहीं मिला? किसी ने मार्ग रोका तो नहीं?"

"अशोक का मार्ग रोकने का किसमें साहस है? न किसी ने रोका न मैं रुका ही। तक्षशिला से सीधा चला आ रहा हूँ।"

"समय-समय की बात होती है, बेटा। महाराज जी रहे नहीं। सिंहासन खाली है। दण्ड का भय समाप्त है। कोई किसी की नहीं सुन रहा है। हर एक किसी-न-किसी अवसर की प्रतीक्षा में है।"

"वैसा अवसर, मां, मेरे जीवित रहते कभी न आने पायेगा। मैं आ गया हूँ, मां। एक-एक को देख लेता हूँ।"

"बेटा! महामात्य जी से मिले?"

"हाँ, मां ! उन्हीं से मिलकर आ रहा हूँ और आप से मिलने के बाद भइया सुसीम से भेंट करूंगा।"

"सुसीम को तो स्वर्गीय महाराज जी अपना उत्तराधिकारी बनाने की अभिलाषा भी व्यक्त कर गये हैं। फिर भी, न जाने क्यों वह सशंकित है।"

"स्वाभाविक है, मां। इतना बड़ा मौर्य साम्राज्य है। उत्तर में हिन्दुकुश से लेकर पूर्व में मैसूर तक राज्य सीमा का विस्तार है। इतने सुविस्तृत साम्राज्य में सदा सशंकित रहने की आवश्यकता है।"

"नहीं, अशोक बेटा ! आशंका का आधार है बेटा तू।"

"मैं ! क्यों मां ? सुसीम भइया तो युवराज हैं। युवराज ही सदा उत्तराधिकारी होता है। और फिर स्वर्गीय पिताजी अपनी अभिलाषा भी भइया के पक्ष में ही प्रकट कर गये हैं।"

"कदाचित तेरे उद्धत स्वभाव के प्रति उनके मन में आशंका है।"

"उनकी आशंका सर्वथा अनुचित है, मां। अभी जाता हूँ, भइया के पास। उनकी आशंका निर्मूल हो जायेगी।"

"बड़ा अच्छा होगा, बेटा। मगर सुना है कि तेरे भइया ने अनेक योद्धा अपने चारों ओर एकत्र कर रखे हैं। कहीं उनसे भिड़न्त न हो जाय।"

"नहीं मा ! मैं भइया सुसीम का छोटा भाई अशोक हूँ। क्या वे इस सत्य से भी अवगत न होंगे ?"

"होना तो अवश्य चाहिए, किन्तु न जाने क्या धारणा बना रखी हो।"

"फिर तो मां। केवल युवराज मेरे भइया है। उनका सम्मान करना मेरा कर्तव्य है। शेष जो भी जिस भाव से मिलेगा, उसके साथ मेरा वैसा ही व्यवहार होगा।"

"वह तो मैं जानती हूँ। तू भला कब चूकने वाला है। हाँ, अमात्य राधागुप्त कहाँ हैं ?"

"मार्ग में होंगे, मां। दो-चार दिनों में ही आ पहुँचेंगे।"

"फिर तू उनकी प्रतीक्षा कर ले। उनके साथ ही तू सुसीम से भेंट करने जा।"

"नहीं बेटा ! मैं अपनी दुर्बलता प्रकट कर रही हूँ। अब तू ही एकमात्र सहारा रह गया है। कभी-कभी क्षुद्र पिपीलिका भी भीमकाय गज के प्राणान्त का कारण बन जाती है।"

"मां ! गुरुदेव ने मुझे यथेष्ट सावधान कर दिया है। और फिर महासेनापति जी से भी वस्तुस्थिति का परिज्ञान प्राप्त किये लेता हूँ जाकर। मुझे विश्वास है, वह मुझसे कुछ भी अव्यक्त न रखेंगे।"

"अवश्य भेंट कर लो, किन्तु पूर्ण विश्वास करना गुरुदेव का ही।"

"और उससे भी अधिक तुम्हारा, मां।"

"मैं अब किस योग्य हूँ। महाराज जी जीवित होते तो कदाचित कुछ सहायता कर भी पाती।"

"फिर भी मां। तुम मेरी माँ हो। मेरे लिए शक्ति की स्रोत हो। तुम्हारा दर्शन मात्र मेरे प्रोत्साहन के लिए यथेष्ट है। मां, मेरे लिए गुरुदेव जी से भी अधिक विश्वसनीय तुम हो।"

"फिर भी, बेटा। मैं मंगलकामना मात्र ही तो कर सकती हूँ। विघ्न-विदारक विनायक तुम्हारे जीवन-पंथ को विघ्नविहीन बनायें।"

"बस मां। तुम्हारा यही आशीर्वाद मेरा सम्बल है। इसी के सहारे मैं जीवन के झंझावातों के मध्य अडिग, अचंचल खड़ा ही न रहूँगा, वरन् विरोधी शक्तियों का समूल उन्मूलन करता हुआ जीवन-पथ पर अग्रसर होता रहूँगा।"

"मेरा आशीर्वाद सदा तेरे साथ रहेगा। अविरल अग्रसर रहकर तू विश्व-विजय कर सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।"

"मां, पुत्र के नाते मैं मां के विश्वास को खण्डित नहीं होने दूँगा।"

"ईश्वर करे, इस आत्मविश्वास में कभी-कमी न आये।"

"मां ! फिर मुझे अनुमति दीजिए।"

"इतनी शीघ्र ? इतनी लम्बी यात्रा करके आज तो तू आया है। थोड़ी देर विश्राम कर ले। फिर चले जाना।"

"नहीं मां ! जो करना है, उसे समाप्त करके ही विश्राम करना सुखद होता है।"

"तू मानेगा थोड़े ही। जब भी तू जिस बात पर अड़ा, पूरा करके ही माना। जाना ही चाहता है तो जा। मगर, ध्यान रखना, अत्यधिक सतर्कता की आवश्यकता है।"

"जो आज्ञा, मां-।" मां के चरण स्पर्श कर कुमार अशोक उठ खड़े हुए और बाहर की ओर तेजी से बढ़े।

युवराज सुसीम के निवास तक पहुँचने में कुमार अशोक को देर नहीं लगी,

किन्तु मुख्य द्वार पर ही वह रोक लिया गया, "कौन हैं आप ?"

"पहले प्रश्न मैंने किया है । उत्तर भी मुझे पहले ही चाहिए ।"

"यहाँ प्रश्न किये जाते हैं । उत्तर नहीं दिये जाते ।"

"और मुझे उत्तर देने का अभ्यास नहीं । फिर भी, यदि उत्तर चाहिए ही तो उत्तर देगी मेरी यह असि ।" अशोक के हाथ में नग्न असि आ चुकी थी ।

अशोक की असि के स्वागत के लिए उधर अनेक असि चमक उठी । पीछे से पुरुष ध्वनि ने सावधान किया, "ठहरो । यह कुमार अशोक हैं अपने युवराज जी के छोटे भाई । समस्त असि कोष्ठबद्ध हों ।" किन्तु कुमार अशोक की असि ज्यों की त्यों चमकती रही । वही मुख ध्वनि आगे भी अशोक को सुनाई दी, "कुमार ! आप भी असि को कोष्ठ में स्थान दें ।"

"कदापि नहीं । कहाँ हैं भइया सुसीम ?"

"आप शांत तो हों ।"

"मुझे भइया से अविलम्ब मिलना है ।"

"अवश्य मिलिये । रोकता कौन है आपको । किन्तु वे अभी निद्रासीन हैं। थोड़ी देर प्रतीक्षा करनी पड़ेगी ।"

"प्रतीक्षा का मुझे अभ्यास नहीं । मैं उन्हें जगा लूंगा ।"

"उनका आदेश है कि किसी भी मूल्य पर उनकी निद्रा भंग न की जाय। उनके आदेश की अवहेलना कैसे की जा सकती है ?"

"इसका उत्तरदायित्व मुझ पर छोड़ो । मैं उनके क्रोध का शमन कर लूंगा ।"

"किन्तु कर्मचारियों की कर्तव्यपरायणता तो भंग होगी ।"

"फिर तो यह असि मार्ग प्रशस्त करेगी ।" कुमार अशोक ने असि सीधी की ।

"ठहरिए कुमार ! व्यर्थ मे संघर्ष में मत उलझिए । थोड़ी देर प्रतीक्षा करने मे क्या हानि है ।"

"निरर्थक बातें सुनने का मुझे अभ्यास नहीं । व्यवधान को समाप्त करना मुझे आता है ।" असि की नोक की सीध मे कुमार ने आगे बढ़ने की चेष्टा की ।

अनेक असि की नोकों को लक्ष्यकर कुमार अशोक ने सावधान किया, "क्यों व्यर्थ में प्राणों से हाथ धोना चाहते हो ! सब-के-सब एक साथ यमलोक पहुँच जाओगे । हटो सामने से ।" कुमार अशोक ने शक्तिभर गर्जना की ।

"अरे अशोक भाई तुम !" पीछे से युवराज सुसीम का कण्ठस्वर गूंजा,

"हटो सब लोग । मार्ग दो अशोक को । पहचानते नहीं तुम लोग । यह कुमार अशोक हैं । मेरे छोटे भाई । प्राणों से भी अधिक मुझे प्रिय भाई हैं यह मेरे । इन्हें ससम्मान अन्दर आने दो । आओ भाई अशोक । सूचित कर दिया होता तो मार्ग में ही लेने आ जाता । सब लोग ध्यान देकर सुनो—'भाई अशोक का भरपूर स्वागत होना चाहिये । किसी भी प्रकार की कमी नहीं रहनी चाहिए । खड़े क्यों हो ? आगे बढ़ो । मेरे निकट आओ । हृदय से लगो आकर मेरे भाई । ये नेत्र तुम्हें देखने के लिए तरस गये हैं । आ मेरे भाई । गले से लग जा आकर ।" युवराज सुसीम की दोनों बाहें फैल गई थीं ।

कुमार अशोक ने खड़े-खड़े ही कहा, "भइया !" आप बाहर आ जाइए । इस प्रासाद के रंगढंग कुछ संदिग्ध हैं । आइए । राजप्रासाद में बैठकर बातें करेंगे ।"

"अशोक ! तुम्हें अपने भइया पर विश्वास नहीं है ? जहाँ मैं हूँ वहाँ तुम निश्चिन्त रहो । हम एक प्राण दो शरीर हैं । और फिर यह तो मेरा व्यक्तिगत निवास है । इसे अपना ही निवास समझो और आराम से अन्दर चलकर बैठो । थके होगे । लम्बी यात्रा पूरी की है । हटो तुम लोग । मार्ग में खड़े क्यों हो ? अशोक के सम्मान में मस्तक अभी तक नहीं झुके ?"

"भइया ! आप आइए, मेरे साथ चलिए । न यह स्थान सुरक्षित है और न ये लोग ही विश्वसनीय हैं । आप इन पर भरोसा मत कीजिए ।"

"फिर क्या भरोसा करूँ तुम जैसे भाई पर जो अवज्ञा कर रहा है ?"

"भइया !" कुमार अशोक दहाड़े, "तुम्हारा मस्तिष्क इन लोगों ने विकृत कर रखा है । अपने-पराये की पहचानने की शक्ति आपने खो दी है । आप बहुत बड़े भ्रम में हैं । ये लोग आपको कहीं का नहीं रखेंगे ।"

"जहाँ हूँ इस समय, इससे सुरक्षित स्थान दूसरा हो नहीं सकता और जो तुझे अविश्वसनीय प्रतीत हो रहे हैं वे तुझसे अधिक विश्वसनीय हैं ।"

"फिर तो निर्णय गुरुदेव जी के समक्ष ही होगा ।"

"उसकी भी मुझे चिन्ता नहीं । निर्णय हम कर चुके हैं । मगध का सिंहासन मेरा है । मौर्य साम्राज्य का राजदण्ड मेरे हाथ में है । मुझमें अपने अधिकार को सम्हालने की शक्ति है ।"

"गुरुदेव का अपमान असह्य है । किन्तु उनकी अनुमति के बिना मैं हाथ उठाना नहीं चाहता ।"

"फिर जा, अवसर है, ले आ अनुमति । जीवन के जो क्षण शेष हैं, उन्हें भाग-दौड़ में गुजार ले । हाथ कुछ नहीं लगना है । दिन में स्वप्न देखना छोड़ दे ।"

"फिर तो आज ही निर्णय होकर रहेगा।" कुमार ने दृढ़ निश्चय प्रकट कर अश्व की वल्गा थामी और तेजी से लौट पड़े।

शक्तिधर ने टोका, "महाराज जी ! इस असावधानी का बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ेगा।"

"अर्थात् ?"

"शत्रु को अवसर देना मृत्यु को आमन्त्रित करना है।"

"फिर जाने क्यों दिया ? समाप्त कर देना चाहिए था।"

"आपकी उपस्थिति की अवमानना होती।"

"मेरी अवमानना और वह भी, शक्तिधर, तुम्हारे द्वारा ! असम्भव। तुम्हें पूर्ण अधिकार है। जो उचित समझो करो। मुझे तो बस, विश्राम करने दो।" कथन के साथ ही युवराज सुसीम लौट पड़े अन्दर की ओर शक्तिधर की घोषणा अपने कानों से सुनते हुए, "भाइयों ! महाराज जी का शत्रु हमारा शत्रु है। शत्रु को हम जीवित देखना पसन्द नहीं करते। ध्यान रहे। शत्रु समक्ष आये, समाप्त कर दो। न किसी के आदेश की अपेक्षा है न किसी अनुमति की आवश्यकता है।"



कुमार अशोक सीधे जा पहुँचे महामात्य आचार्य चाणक्य की कुटी पर। महामात्य जैसे उन्हीं की प्रतीक्षा कर रहे थे। कुमार को देखते ही उन्होंने स्वागत-भाव व्यक्त किया, "आओ कुमार ! सब व्यवस्था की जा चुकी है। अधिक उद्विग्न होने की आवश्यकता नहीं। इस असंदिका पर बैठ जाओ।" कुमार अशोक के स्थान ग्रहण करते ही महामात्य ने अन्य उपस्थित व्यक्ति से परिचय कराना चाहा, "इनसे तो परिचित होगे ही ?"

"जी हाँ, यह महाबलाध्यक्ष जी हैं।"

"यह परिवर्तित परिस्थिति से पूर्णतया अवगत हैं। मेरे विचारों से सहमत भी हैं। सम्पूर्ण सैनिक शक्ति इनके नियन्त्रण में है। यह आपका साथ देने के लिए तैयार हैं। इनका सहयोग लीजिए और एक-एक मौर्य साम्राज्य के शत्रु का सफाया कर डालिए। रक्त-सम्बन्धों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। स्वच्छता के लिए निर्ममता अपरिहार्य है।"

"बस, आपकी अनुमति की ही आवश्यकता थी।"

"और हाँ, अभी-अभी सूचना मिली है कि अमात्य राधागुप्त आज रात्रि तक मगध आ पहुँचेंगे।"

"गुरुदेव! शत्रुओं का सफाया तो हो जायेगा। किन्तु उसके पश्चात क्या होगा?"

"वही जो मौर्य साम्राज्य के हित में होगा।"

"अर्थात ?"

"मेरी दृष्टि में मौर्य साम्राज्य का हित सर्वोपरि है। इसकी रक्षा सशक्त हाथों में ही सम्भव है। विलासी और दुराचारी शासक इसकी प्रतिष्ठा की रक्षा नहीं कर सकता। मैं नहीं चाहता कि मौर्य साम्राज्य की एकता को आँच भी आने पाये।"

"सम्भव है, युवराज को भी प्राणों से हाथ धोने पड़ें।"

"वह तो अपरिहार्य स्थिति है। जब तक वह जीवित हैं, मौर्यशक्ति असुरक्षित है।"

"और फिर अमात्य परिषद का क्या होगा?"

"उसका सामना करने का उत्तरदायित्व मेरा। यों प्राकारान्तर से अमात्य परिषद के अधिकांश सदस्य वस्तुस्थिति से अवगत हैं, किन्तु कोई भी विवाद में फँसना नहीं चाहता। सब मौन हैं। मात्र प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

"फिर अनुमति है?"

"किन्तु सुनियोजित पग उठाने की अत्यन्त आवश्यकता है।"

बीच में महाबलाधिकृत बोले, "मेरे विचार से तो अमात्य राधागुप्त की प्रतीक्षा कर ली जाय।"

"अवश्य। राधागुप्त की दृष्टि बड़ी व्यावहारिक होती है। वह पीछे हटकर आगे बढ़ने में प्रवीण हैं। वह मात्र अमात्य ही नहीं, कुशल सैनिक भी हैं। संघर्ष के क्षणों में उनकी उपस्थिति विशेष विश्वसनीय सिद्ध होगी।"

"इसका अभिप्राय है कि रात्रि तक मैं निष्क्रिय रहूँ?"

"निष्क्रिय क्यों? वस्तुस्थिति से और अधिक अवगत होने की चेष्टा कीजिए। रणनीति निर्धारित कीजिए। शत्रु के अशक्त पक्षों को खोजिए। कहाँ पर कितनी शक्ति अपेक्षित है, ध्यान दीजिए। किसी भी परिवर्तन के पूर्व तैयारी के क्षण कम महत्वपूर्ण नहीं होते। इनका भरपूर लाभ उठाइए।"

"इस बीच शत्रु आक्रमण कर बैठे तो?"

"उसके लिए महाबलाधिकृत जी आपके साथ हैं। पूर्ण सुरक्षाव्यवस्था का उत्तरदायित्व इन्होंने ले रखा है। संघर्ष की दृष्टि से जो स्थल-बिन्दु विशेष संवेदनशील हैं, उन पर सैनिक उपस्थित कर दिये गये हैं। सन्नद्ध सैनिकों को देखते ही सामान्य जन को तो सांप सूंघ जाता है और जो उपद्रवी

होते हैं वे भी कम भयभीत नहीं होते । कोई भी विध्वंसक पग उठाने के पूर्व सौ बार सोचते हैं । और विश्वास रखो जो तनिक भी स्वच्छन्द आचरण का परिचय देगा, वह सैनिकों के हाथों मृत्यु का ग्रास बनेगा ।"

अशोक उठते हुए बोले, "फिर मैं राजप्रासाद में ही प्रतीक्षा करूंगा ।"

"ठीक, यह महाबलाधिकृत जी आपसे वहीं भेंट कर लेंगे । अच्छा हो, आप राजप्रासाद तक कुमार के साथ चले जायें ।"

"जो आज्ञा ।" महाबलाधिकृत भी उठकर खड़े हो गये ।

कुटी के बाहर आने में महाबलाधिकृत ने कुमार अशोक का अनुसरण किया ।



युवराज सुसीम के विश्राम कक्ष में ही अमात्य खल्लाटक उच्च स्वर में डांट रहे थे, "तुम लोग भोजन करने और परस्पर वाद-विवाद के अतिरिक्त भी कुछ जानते हो ? कभी भी सोचने का कष्ट किया कि कितना महत्वपूर्ण कार्य तुम्हें सौंपा गया है ? युवराज के सिंहासनासीन होते ही जानते हो मौर्य साम्राज्य के कितने महत्वपूर्ण अधिकारी के पद को सुशोभित करोगे ? क्या नहीं उपलब्ध होगा उस समय ? कितने लोग दर्शनों के लिए लालायित होंगे ? कृपाकांक्षी के रूप में कितने प्रजाजन चक्कर काटेंगे ? जब भी कोई राजदरबार पर उत्सव मनाया जायेगा, सबसे आगे बैठने का सौभाग्य प्राप्त होगा । जहां खड़े हो जाओगे, चारों ओर भीड़ एकत्र हो जायेगी । जिस पर दृष्टि डाल दोगे, उसी का जीवन धन्य हो जायेगा । आमन्त्रण पर-आमन्त्रण सेवा में प्रस्तुत होंगे । कहीं भाषण के लिए आमन्त्रित होगे तो कहीं उद्घाटनकर्ता के रूप में सम्मानित होगे । विशेष महत्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में सम्मान सदा हाथ जोड़े खड़ा रहेगा । किन्तु तब, जब आप लोग अपने उत्तरदायित्व के प्रति सजग रहेंगे । तनिक भी चूके नहीं कि गये काम से । पग-पग पर आजीवन अपमानित होना पड़ेगा । असम्भव नहीं कि प्राणों से भी हाथ धोना पड़े । तनिक भी प्रमाद उस भावी यातनापूर्ण जीवन जीने के लिए विवश बना सकता है । जिस तत्परता की अपेक्षा है, उसकी आप लोग उपेक्षा कर रहे हैं । विरोधी स्थान-स्थान पर सशक्त हैं । सौंप दी दृष्टि

से हर गतिविधि का निरीक्षण-परीक्षण कर रहे हैं। शक्तितंतु का जाल फैलता जा रहा है। आपलोग कूपमण्डूक बने निश्चिन्तता की नींद ले रहे हैं।

"आर्य ! क्या कहा ?" युवराज सुसीम ने अर्धोन्मीलित नेत्रों को खोलने की असफल चेष्टा की।

खल्लाटक ने स्थिति स्पष्ट की, "युवराज जी ! यह भीड़ जो आपने अपने चारों ओर एकत्र कर रखी है, अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर रही है। उपेक्षा संकटकालीन क्षणों को आमन्त्रित कर रही है। शक्तिधर ! आपके रहते यह स्थिति कैसे सम्भव बनती जा रही है ?"

"अमात्यवर ! मैं तो सदा क्रिया में विश्वास रखने वाला व्यक्ति हूँ। युवराज जी ही सदा आड़े आ जाते हैं। जब भी कहीं कुछ देर के लिए भी चला जाता हूँ, युवराज जी की पुकार छत फाड़ने लग जाती है। तब तक यह शान्त नहीं होते, जबतक मैं अपनी उपस्थिति का आभास इन्हें भली भाँति नहीं करा देता हूँ। अब आप ही बताइए कि ऐसी परिस्थिति में किया क्या जा सकता है।"

"किन्तु आप यह भी क्यों भूल जाते हैं कि मैंने आपको सम्पूर्ण अधिकार सौंप रखे हैं। आप जिस शक्ति का जैसा उचित समझें उपयोग कर सकते हैं। कुमार अशोक तक्षशिला से मगध आ पहुँचा है। महामात्य चाणक्य की कुटी तक हो आया है। राजप्रासाद में अपनी रानी माँ के माध्यम से वस्तु-स्थिति का निरीक्षण कर लिया है। सुनने में आया है कि उसने महाबला-धिकृत को भी अपना पक्षधर बना लिया है। अमात्यपरिषद के प्रमुख अमात्यों तक से भेंट करने के प्रयास चल रहे हैं। मुझे भी आमन्त्रण मिला है। देखता हूँ कि क्यों टुकड़े फेंकता है। जितना चतुर है उतना ही क्षिप्र भी है। अकेले होने की अनुभूति को वह अवसर ही नहीं दे रहा है। सदा किसी-न-किसी के साथ विचार-विमर्श में संलग्न रहता है। आशंका है कि कहीं अकेले ही भाड़ फोड़ने वाला चना न प्रमाणित हो।"

"बस, इतना ही यथेष्ट है। अब आपको कुछ भी कहने का अवसर नहीं मिलेगा। आज ही कुमार को ठिकाने लगाये देता हूँ। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। युवराज ही युवराज सर्वत्र दृष्टिगोचर होंगे। कुमार का नाम लेने वाला भी कोई न बचेगा।"

"वाह शक्तिधर ! कितना मनमोहक अभिनय कर लेते हो। कितनी लुभावनी योजना प्रकट की है।"

"अमात्यवर ! यह नाटक नहीं, यथार्थ है। कल प्रातः कुमार का नाम

भी सुनने को न मिलेगा।"

"पहचानते हो कुमार को ?"

"भलीभांति। सामना भी हो चुका है।"

"कौन सफल रहा ?"

"निर्णय करना कठिन है।"

"अपनी सफलता जब संदिग्ध लगे तब असफलता ही समझना चाहिये। शक्तिधर! कुमार राजपरिवार का एक ऐसा प्राणी है सफलता जिसके वरण के लिए अनुसरण कर रही है और वह ऐसा है जो उपेक्षा भाव से सफलता को तिरस्कृत कर रहा है। वह एक होकर भी अनेक है। कुमार होकर भी वह युवराज से अधिक महत्वपूर्ण बन गया है। न जाने कौन सा मन्त्र उसने सिद्ध कर रखा है जिससे उसने महामात्य तक को वशीभूत कर रखा है। देखो शक्तिधर! कुमार अशोक रक्त सम्बन्ध की दृष्टि से युवराज का भाई है किन्तु सशक्त प्रतिद्वन्द्वी भी है। उत्तराधिकारी होने के नाते ही युवराज सम्राट-पद के अधिकारी हैं, अन्यथा कुमार अशोक में सम्राट-पद के अनुकूल विशेषताएं अधिक हैं। इस प्रसंग को लेकर महामात्य के साथ मेरा यथेष्ट वाद-विवाद हो चुका है, किन्तु तुम तो जानते ही हो कि महामात्य अपने पक्ष के प्रति अन्दर से जितने दृढ़ हैं बाहर से उसे प्रस्तुत करने में उतने ही कुशल भी हैं। उनके तर्काश्रित विचार कम प्रभावपूर्ण नहीं होते, किन्तु अधिकारी को अधिकार से वंचित किया जाना मुझे सह्य नहीं है। युवराज न्यायतः सम्राट-पद के उत्तराधिकारी हैं। न्याय का समर्थन मेरे जीवन का मूल सिद्धान्त है। सिद्धान्त के मूल्य पर मैं कोई भी समझौता कभी नहीं कर सकता। मैं सम्हाल रहा हूं अमात्य परिषद को। और तुम सामना करो कुमार अशोक की शक्ति का।"

"आज रात ही निर्णय हुआ जाता है। न्याय के समर्थन में मेरी भी आस्था है।"

"फिर मैं चलता हूं। युवराज की सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था रखना। तनिक भी असावधानी अनर्थकारी होगी।"

"आप पूर्ण निश्चिन्त रहें। युवराज जी हमें प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं। जब अट्ठानवे भाई अपना सिर कटा लेंगे तब युवराज को कोई छूने पायेगा।"

"बस, महाबलाधिकृत का पद अपने लिए सुरक्षित समझो। तुम्हारे शेष अनुयायी अमात्य परिषद के सदस्य तो बन ही जायेंगे।"

"कर्म पर मुझे विश्वास है। फल की आशा मैं कभी नहीं करता हूं।"

"फिर तो तुम अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह सफलतापूर्वक कर सकते हो।"

"सद्भावना के लिए धन्यवाद।"

"यथेष्ट सतर्कता अपेक्षित है। कर्तव्य पालन करते हुए अमात्य खल्लाटक ने युवराज का निवास छोड़ दिया।



अमात्य परिषद के अधिकांश सदस्यों को महामात्य ने अपनी कुटी पर आमन्त्रित कर लिया था। खल्लाटक जिस अमात्य के निवास पर पहुँचे, वहाँ उन्हें निराशा ही हाथ लगी। ज्यों-ज्यों उन्हें असफलता मिल रही थी, त्यों-त्यों उन्हें भविष्य अंधकारमय दिखाई दे रहा था। खल्लाटक भी अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न अमात्य थे। भाषणकला में वह पारंगत थे। अगाध पाण्डित्य के वह धनी थे; निर्लोभी और अपरिग्रही वह प्रथम श्रेणी के थे। तर्कसंगत बात करने में यदि किसी का लोहा वह मानते थे तो वह थे महामात्य आचार्य चाणक्य। अमात्य परिषद तक उन्हें आचार्य चाणक्य का उत्तराधिकारी मानती थी। किन्तु महामात्य जैसे दूरदर्शी वह न थे। दूरदर्शिता का वह गुण अर्जित किया था राधागुप्त ने। अमात्य राधागुप्त की स्थिति अशोक के साथ वही थी जो खल्लाटक की युवराज सुसीम के साथ थी, किन्तु दोनों की स्थितियों में पर्याप्त अन्तर था। कुमार अशोक और अमात्य राधागुप्त की वैचारिक टकराहट जहाँ प्रायः हो जाया करती थी, वहाँ युवराज सुसीम खल्लाटक का परामर्श नेत्र बन्द कर स्वीकार कर लिया करता था। खल्लाटक भली-भाँति समझते थे कि युवराज ही सम्राट-पद को सुशोभित करेंगे और उनकी स्थिति ठीक महामात्य जैसी होगी। किन्तु अमात्य राधागुप्त अपने गुरुदेव महामात्य आचार्य चाणक्य के निर्देशानुसार आचरण कर रहे थे। न उन्हें विश्वास था कि कुमार अशोक कभी मगधपति बनेंगे और न वह अपने को महामात्य के पद के योग्य समझते थे। हाँ, राजनीतिक गतिविधियाँ कभी-कभी सोचने के लिए विवश अवश्य करती थीं कि कभी भी, कुछ भी, सम्भव है। राजनीति में न कुछ असम्भव है न कुछ सुनिश्चित। फिर किसी भावी आशा की डोर में बँधकर डोलने में उनका विश्वास न था। वह समझते थे कि गुरुदेव ने कुमार अशोक की उच्छृंखलता

को नियन्त्रित करने के लिये उन्हें साथ रहने का आदेश दिया है। वह एक आज्ञाकारी शिष्य की भांति कुमार अशोक के आचरण के मात्र पर्यवेक्षक ही न थे, वरन् सुनियन्त्रक भी थे।

कुमार अशोक को मगध की गतिविधि के समझने में विशेप समय न लगा था। राजप्रासाद के भृत्यवर्ग के स्वभाव से वह पहले ही परिचित थे। अमात्यों की ओर उन्होंने कभी ध्यान दिया नहीं। इसके लिए वह राधागुप्त को पर्याप्त समझते थे। सम्राट-पद का प्रत्याशी होने का विचार उनके स्वप्न में भी कभी न आया था, इसलिए सैन्यशक्ति की ओर भी उन्होंने कभी ध्यान न दिया था। अदम्य साहस और अप्रतिम शौर्य के धनी कुमार अशोक को निर्द्वन्द्वता का जीवन जीने में विश्वास था किन्तु जब वह बड़े भाई सुसीम को चौपट मण्डली के चंगुल में देखा तो वह महामात्य की बातों पर विचार करने के लिये बाध्य हो गये। ज्यों-ज्यों वर्तमान परिस्थिति पर का अवलोकन करते गये, त्यों-त्यों विचारधारा गहनतर होती चली गई। यथार्थ दृष्टि के समक्ष उजागर हो उठा। महत्वाकांक्षा ने पंख फैलाये। सुविस्तीर्ण मौर्य साम्राज्य का लहलहाता शक्तिसागर दृष्टिपर्यन्त परिलक्षित होने लगा। बड़ा मनमोहक लगा वह दृश्य। स्वप्न में भी उसे ही देखने का मन चाहने लगा। जब चाह जाग्रत हो उठी तब शक्ति पर दृष्टि गई। शक्ति के अनुसार प्रयत्न अस्तित्व में आये। ज्यों-ज्यों कुमार अशोक प्रयत्नशील होते गये त्यों-त्यों कर्त्तव्य का क्षितिज सुविशाल होता चला गया। कभी-कभी उज्जैन और तक्षशिला निवास की युवराज सुसीम के अत्याचारों की कहानियाँ दृश्यरूप में कौंधने लगीं। जैसे ही कोई रोती-कलपती निरीह अबला स्मृतिपटल पर दृश्यरूप में कौंधती वैसे ही अशोक का मन उसके रक्षक के रूप में प्रस्तुत होने के लिये मचल उठता। पर्याप्त विचार करने पर वह एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते "यदि अत्याचारियों से दुर्बल और अशक्त प्राणियों की रक्षा करनी है तो उसे सम्राट पद ग्रहण करना होगा। गुरुदेव की भी तो कुछ ऐसी ही इच्छा है। गुरुदेव की इच्छा कभी अनुचित हो नहीं सकती। कौन है उनसे बड़ा मौर्य साम्राज्य का शुभचिंतक। क्या अपमान नहीं सहा उन्होंने साम्राज्य-निर्माण के लिये ? विषम परिस्थितियों को कैसे-कैसे सम्हाला उन्होंने। धैर्य और साहस का कब-कब परिचय उन्होंने नहीं दिया ? और अपने लिये उन्होंने किया क्या ? कुछ भी तो नहीं। न वैभव-विलास को कभी निकट फटकने दिया न पद-अधिकार का कभी भोग किया। मात्र एक कुटी में गंगा तट पर निवास करते हैं। नाम के लिए उनके पास आज कुछ भी नहीं है, लेकिन साम्राज्य में होता वही है जो वह चाहते हैं। इच्छाओं का उन्होंने दमन कर रखा है। इच्छाओं के

अस्तित्व को वह मनुष्य की दुर्बलता का प्रतीक मानते हैं। भावों को भी वे विचारों के अंकुश से अनियन्त्रित नहीं होने देते। उनकी दृष्टि में मानव विचारशील प्राणी है। विचार ही उसके लिये सर्वस्व हैं। वैचारिक दृष्टि से जो उचित है वही ग्राह्य है। जहाँ विचारशक्ति का प्राधान्य होता है, भाव वहाँ ठहर नही पाते। और यदि भाव विशेष सशक्त भी हुआ तो उसे वैचारिक वेश धारण करते देर नहीं लगती। अरे! यह क्या? यह तो मैं गुरुदेव के प्रति दूसरों की धारणाओं को दुहराने लगा। मैं तो विस्मृत ही कर बैठा कि मुझे क्या करना है। करना क्या है जो गुरुदेव का आदेश होगा, उसे ही पालन करूँगा। गुरुदेव को मुझसे बड़ी आशाएँ हैं। कदाचित नहीं। वह आशा कभी नहीं करते। विश्वास आधार होता है उनके आदेश का। आशावादी को कभी-कभी निराश भी होना पड़ता है, किन्तु जिनके अन्दर विश्वास का बल होता है, उनके प्रयत्न कभी असफल नहीं होते। असफलता का भी अस्तित्व होता है—यह उन्होंने कभी जाना ही नहीं। बड़ा कठिन है निर्णय कर पाना कि सफलता ने उन्हें वरण किया है या उन्होंने सफलता का वरण किया है। वास्तव में गुरुदेव सफलता के पर्याय हैं, गुरुदेव के सफल जीवन का विश्लेषण करके इस निष्कर्ष पर पहुँचना क्या उचित न होगा कि सफल उन्हीं का जीवन माना जाता है जो दूसरों के लिए जीते हैं। मैं भी जियूँगा गुरुदेव की भाँति दूसरों के लिए। किन्तु पहले गुरुदेव के आदेश का पालन तो कर लूँ। ओ हाँ, अभी मैं हूँ ही किस योग्य। कष्टों और अभावों का तो कभी सामना किया नहीं। अपमान और अनादर के कभी दर्शन किये नहीं। इनके अभाव में जीवन दर्शन में परिपक्वता नहीं आती। अपने जीवन का उषाकाल ही तो है अभी। अभी से क्यों गुरुदेव के जीवन दर्शन को अपनाने लगूँ। यह तो अवस्था होती है सक्रियता की, कुछ करने की, उसे भी कर डालने की जो कठिन और दुष्कर होता है। फिर तो मुझे बस करना है और वह करना है जो गुरुदेव के आदेशानुसार हो। मैं तो एक सैनिक की भाँति मात्र आदेशपालक हूँ। जब सैनिक हूँ तब फिर यह निष्क्रियता क्यों? विराम क्यों गतिविधियों में? हाथ पर-हाथ धर कर बैठने से कहाँ वह उपलब्धि सम्भव है जो गुरुदेव के आदेश में सन्निहित रहती है। उठूँ, चलूँ और देखूँ कि वातावरण कहाँ तक अनुकूल बन सका है।

मौर्य साम्राज्य के सत्ता केन्द्र मगध की स्थिति अत्यन्त असामान्य हो उठी थी। हर तटस्थ व्यक्ति सतर्क था किन्तु साथ ही निष्क्रिय भी था। परिवर्तन की प्रतीक्षा में अपनी भूमिका निर्धारित न कर पा रहा था। देखने-सुनने की क्रियाओं को प्रधानता मिल गई थी, बोलना तो लगभग बन्द ही हो गया था। गति की क्षिप्रता में अवश्य आशातीत वृद्धि हो गई थी। हर एक चल नहीं भाग रहा था, किन्तु किस ओर स्वयं भी कदाचित नहीं जानता था। कुछ ही देर पूर्व की सूचना सहसा असत्य रूप धारण कर लेती थी अनिश्चयात्मकता दौड़ रही थी। जो जिसे खोज रहा था, वह उसे मिल न रहा था। जिनसे भेंट होने की आशा न थी, वे अनायास ही मिल रहे थे। आयास और अनायास का अद्‌भुत संयोग था। इसी संयोग के परिणामस्वरूप टकरा गये दो अश्वारोही कुमार अशोक से। अशोक के अश्व की गति अत्यन्त असामान्य होती थी। इसी सूचना के आधार पर दोनों अश्वारोहियों ने मार्ग में अपने अश्वों को अवरोधस्वरूप खड़ा कर दिया। कुमार अशोक के लिए यह अप्रत्याशित स्थिति थी। अश्व की गति को विराम दे कुमार अशोक ने प्रश्न किया, "कौन हो तुम लोग ?"

"स्वयं ही पहचान लीजिए।"

"मेरे पास व्यर्थ की बातों के लिए समय नहीं है। शीघ्र अपना परिचय दो।"

"और अगर हम कहें कि महाराज जी परिचित हैं। तनिक ध्यान दें।"

"तनिक ध्यान दें! महाराज जी!! परिचित हैं!!! स्वर तो कुछ पहचाना सा लगता है।" कुमार अशोक ने स्मृति पर बल दिया, तुम दोनों शैला और पद्मा तो नहीं हो ?"

एक ने दूसरी की ओर देख कहा, "देखा पहचान लिया न महाराज जी ने। महाराज जी! यह पद्मा कहती थी कि आप पहचानेंगे नहीं। किन्तु मुझे पूर्ण विश्वास था कि आप देखते ही पहचान लेंगे।"

"किन्तु तुम लोगों का यह वेश और ये अश्व! यह सब क्या है ?"

"लम्बी यात्रा थी। अमात्य जी के साथ चलना था। अश्व के अतिरिक्त अन्य उपाय न था। रहा वेश तो यही निरापद लगा। मार्ग में एक भी सैनिक न पहचान पाया। केवल अमात्य जी वास्तविकता से परिचित थे।

उन्हीं के आदेशानुसार यह वेश धारण करना पड़ा । किन्तु आपने फिर भी पहचान लिया ।"

"तुम लोग ठहरी कहाँ हो ? कोई सम्बन्धी है यहाँ ?"

"महाराज जी के अतिरिक्त कौन है यहाँ हम लोगों का ।" शैलवाला की दृष्टि नत हो चुकी थी और स्वर नम ।

"तुम दोनों राजप्रासाद तक चलो । मुख्य द्वार पर प्रतीक्षा करना । नहीं, लो यह मुद्रिका ।" उँगली से मुद्रिका उतार धैसा की ओर बढ़ा कुमार ने समझाया, "जहाँ व्यवधान प्रतीत हो, इसे दिखा देना । महारानी तक पहुँच जाना । अपना परिचय देना । इस मुद्रिका के कारण वह तुम्हारा विश्वास कर लेंगी । जो सुख-सुविधा चाहोगी, सब वहाँ उपलब्ध हो जायेगा ।"

"आप कब तक पधारेंगे ?"

"शीघ्र आने की चेष्टा करूँगा । विलम्ब भी हो सकता है । वहाँ तुम्हें कोई कष्ट नहीं मिलने पायेगा । सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था है ।"

"किन्तु हम दोनों रनिवास में विश्राम करने नहीं आईं हैं । तक्षशिला से मगध तक की सहयात्रा की अनुमति अमात्य जी ने इसी आधार पर दी थी कि हम दोनों अपने को आपकी अनुचरी सिद्ध कर दिखायेंगी । जब तक आप राजसिंहासन पर विराजमान न हो लेंगे तब तक के लिए नृत्य-गान से हमारा परिचय भी नहीं व्यक्त होना चाहिए । आप इस मुद्रिका को अपने पास ही रखें । हमें अवसर दें कि हम आपकी अनुचरी सिद्ध हो सकें ।"

"नहीं, तुम दोनों मेरी अतिथि हो । कुशल नृत्यांगना हो, अनुपम नृत्यांगना ही तुम्हें सिद्ध करना है ।"

"फिर तो वापस जाना पड़ेगा ।" पद्मा के स्वर में निराशा उभर आई थी ।

"क्यों ?"

"महामात्य जी के आदेश की अवहेलना कैसे की जा सकती है ।"

"मैं अमात्य राधागुप्त को समझा दूंगा ।"

"फिर भी, वचन-भंग की दोषी तो मानी ही जायेंगी ।"

"मैं जो कहता हूँ, उसे मानो । समय ठीक नहीं है । असुरक्षा की भावना सर्वत्र व्याप्त है । तुम नारियाँ हो । कलासेवी हो । कला की उपासना के लिए एकान्त और सुरक्षित वातावरण चाहिए ।"

"अपराध क्षमा हो, महाराज जी । हम दोनों ने अश्वारोहण और अस्त्र-शस्त्र-संचालन का पर्याप्त अभ्यास कर लिया है ।"

जब कुमार अशोक ने समझ लिया कि दोनों ने अनुचरी के रूप में बने

रहने की ठान रखी है तब समझाया, "लम्बी यात्रा का कष्ट उठाया है। सामान्य होने के लिए कुछ तो विश्राम चाहिए ही। और फिर यहाँ की स्थिति के विषय मे भी तो समझना-समझाना है। राजप्रासाद में ही बैठकर निश्चिन्तता पूर्वक वार्तालाप हो सकेगा। लो यह मुद्रिका।"

मुद्रिका लेते हुए चैता बोली, "शीघ्र लौटिएगा। अधिक प्रतीक्षा न कराइएगा।"

"बस, आगे-आगे तुम दोनो चलो। पीछे से मैं आता हूँ। केवल अमात्य राधागुप्त से कुछ परामर्श करना है। मार्ग में भेंट हो गई तो उन्हें भी साथ लेता आऊँगा।"

"ना बाबा! उन्हें साथ न लाइएगा। उनसे बड़ा डर लगता है। स्त्री वेश में अगर उन्होने देख लिया तो हम कही की न रहेंगी।"

"सच! इतना डरती हो उनसे?"

"इतना निर्मम पुरुष नहीं देखा हमने। स्वभाव में तनिक भी लोच नहीं है। सिद्धान्त के वह बड़े पक्के हैं। जिस समय जिससे मिलना या जो काम होना है, उसके अतिरिक्त न वह कुछ सुन सकते हैं, न देख ही सकते हैं। वज्रवत् कठोर हैं अमात्य जी।"

"समझा दूंगा। तुम्हारे प्रति वह कठोर नहीं रहेंगे।"

"न न न। बिल्कुल नही। भूल कर भी चर्चा न कर बैठिएगा। अगर उन्हें आभास भी हो गया कि हम दोनों ने अपनी धारणा उनके प्रति प्रकट कर दी है तो वे इन दोनों अश्वों का मुह तक्षशिला की दिशा में मोड़े बिना मानेंगे नही।"

"तक्षशिला एक-न-एक दिन जाना तो है ही। शीघ्र ही सही।"

"नहीं, कदापि नहीं जाना है। कभी नहीं जाना है।"

"चैता! तेरी जिह्वा पुनः अनियन्त्रित हो उठी है। सोच-समझ कर इसका प्रयोग किया कर।"

"चैता! क्यों डांट रही हो बेचारी को। तुम्हारी तरह स्वांग भरने में चतुर अभी उतनी नहीं हो सकी है। हृदय की निर्मल है। वास्तविकता के छिपाने की कला धीरे-धीरे तुम्हारी संगत मे बनी रहेगी, तो सीख जायेगी।"

"महाराज जी! मेरे कारण चैता को डाँटिए नहीं। अकेले में यह जो प्रतिकार लेगी, उसका वर्णन कठिन है।"

"आज के प्रतिकार से परिचित अवश्य कराना। किन्हीं-किन्हीं के प्रतिकार बड़े मनमोहक होते हैं। उन्हीं मे खोने-डूबने का मन किया करता है। हाँ, तो तुम लोग सीधे राज-प्रासाद जा रही हो। न इधर न उधर। ठीक!

समझीं ?" अशोक मुस्करा उठे थे।

"जो आज्ञा।" दोनों के मस्तक नत थे।

कुमार अशोक का अश्व सीधे राजमार्ग पर पुनः दौड़ने लगा था।



कुमार अशोक और अमात्य राधागुप्त परस्पर एक दूसरे की खोज में थे। जहाँ भी उपस्थिति की सम्भावना थी, वहीं से निराश होना पड़ रहा था। अनेक प्रमुख सहयोगियों ने सहायता का प्रस्ताव भी रखा किन्तु दोनों को ही अपने प्रयास पर आवश्यकता से अधिक विश्वास था। जब विश्वास निरर्थक प्रतीत होने लगा तो दोनों ही महामात्य चाणक्य की कुटी की ओर उन्मुख हो गये। कुटी कुछ ही अन्तर पर रह गई होगी कि दोनों ही अश्व आगे निकलने के लिए गतिमान हो उठे। पीछे से सुनाई दिया, "कुमार!"

कुमार अशोक ने गरदन मोड़कर पीछे देखते हुए आश्चर्य व्यक्त किया, "श्री अमात्यवर!"

"न जाने कब से आपको खोज रहा हूँ।" राधागुप्त का अश्व काफी निकट आ गया था

"और आपकी खोज में मैं न जाने कहाँ-कहाँ हो आया।"

"आज्ञा कीजिए।"

"शीला और पद्मा भी आपके साथ ही आई हैं। आपने चर्चा तक नहीं की ?"

"कहाँ मिलीं ये आपको ? क्या राज-प्रासाद तक पहुँच गईं ?"

"नहीं मार्ग में भेंट हो गई।"

"और आपने उन्हें पहचान भी लिया ? स्वयं परिचय दिया होगा ?"

"नहीं, वेशभूषा से तो न पहचान सका, किन्तु स्वर सुपरिचित लगा।"

"जिस बात का भय था, वही हुआ।"

"किसी बात की चिन्ता न करें। हाँ, बताइए, क्यों खोज रहे थे मुझे ?"

"गुरुदेव ने स्मरण किया था।"

"फिर आइए।" अश्वों से नीचे उतर दोनों कुटी के द्वार की ओर बढ़े। कुटी की दृष्टि से दोनों ही सुपरिचित व्यक्तित्व थे। एकत्र जनसमूह फटने

वह करेंगे।"

"कुमार ! जा तो रहे हो, किन्तु शक्तिधर से सामना करने की नादानी न कर बैठना।"

"क्यों गुरुदेव ? उसकी चुनौती के समक्ष पराजय स्वीकार कर लूं ?"

"नहीं वह दम्भी है। दम्भी का सिर नीचा होता है। वह स्वतः परास्त हो जायगा। उसकी व्यवस्था कर दी गई है।"

"यदि संयोगवश मार्ग में ही ललकार बैठा ?"

"तो क्या बलहीन समझते हो अपने को ? तुम्हारे समक्ष टिकने की उसमे शक्ति नहीं। मरना तो उसे है ही। मैं नहीं चाहता कि उसका या किसी और का तुम्हारे शस्त्र से संहार हो।"

"जो आज्ञा। जैसी भी परिस्थिति होगी, देख लूंगा। चेष्टा करूंगा कि सुनकर आपको कष्ट न हो।"

"जाओ कुमार। राधागुप्त को भी साथ लेते जाओ। विषम परिस्थिति को सम्हालने में वह सहायक ही सिद्ध होगा।"

"प्रणाम गुरुदेव।" राधागुप्त भी सत्वर उठ खड़े हुए और कुमार अशोक के साथ ही कुटी के बाहर निकल आये।

उन दोनों का बाहर जाना था कि खल्लाटक ने प्रवेश किया। खल्लाटक भी उनमें से एक थे जिन्हें अनुमति की आवश्यकता नहीं होती थी। खल्लाटक ने शिष्टाचार का परिचय दिया, "महामात्य को अमात्य खल्लाटक का प्रणाम स्वीकार हो।"

"कहो, अमात्य ! असमय कैसे ?"

"अनर्थ की आशंका मुझे श्रीचरणों तक खींच लाई है।"

"अनर्थ ! कैसा अनर्थ !! आपके रहते अनर्थ !!!"

"हाँ महामात्य ! अनर्थ की आशंका ही नहीं, विश्वास भी बल पकड़ता जा रहा है।"

"कहीं यह विश्वास ही अनर्थ की जड़ तो नहीं है ?"

"नहीं महामात्य ! सम्राट-पद को लेकर अनर्थ की स्थिति उत्पन्न हो गई है। आप अब इससे राजपरिवार की रक्षा कर सकते हैं।"

"मैं ही क्यों ? आप क्यों नहीं संघर्ष को बचा सकते हैं ?"

"युवराज को तो मैं समझा लूंगा, किन्तु कुमार अशोक मेरी सुनने वाले नहीं हैं।"

"क्यों ? उचित बात क्यों नहीं सुनेंगे ? किन्तु मैं भी तो सुनूं कि वह उचित या अनुचित है क्या ?"

"आप तो भली-भाँति समझते ही हैं कि सुसीम युवराज हैं और युवराज ही सम्राट-पद का उत्तराधिकारी होता है। स्वर्गीय महाराज जी अपनी अन्तिम अभिलाषा युवराज सुसीम के ही पक्ष में प्रकट कर गये हैं। न्यायानुसार भी युवराज सुसीम ही सम्राट पद के उत्तराधिकारी हैं। जो हर दृष्टि से उचित है, उसी का समर्थन होना चाहिये।"

"फिर समस्या क्या है ?"

"समस्या बन गये हैं कुमार अशोक। वह सम्राट-पद अधिकृत करना चाहते हैं।"

"कर सकते हों तो करें। हमें और आपको या किसी को भी इस विवाद से क्या लेना-देना। किन्तु एक प्रश्न है—सम्राट-पद क्या है ? प्रजाजन की शक्ति का प्रतीक न ?"

"जी हाँ, मान्यता तो इसी धारणा की है।"

"फिर शक्ति के प्रतीक उस सम्राट-पद की गरिमा को सुरक्षित रखने की जिसमें क्षमता होगी, उसे ही तो उस पद पर आसीन होना चाहिये। कामुक, विलासी, दुराचारी, अनाचारी, शक्तिहीन और अविवेकी प्राणी को कैसे उस पद का अधिकारी समझ लिया जाय ? मात्र इसलिए कि वह युवराज है या स्वर्गीय सम्राट अपना स्वर-समर्थन प्रकट कर गये हैं। मैंने बहुत पहले ही इस स्थिति को समझ लिया था। इसी के निराकरण के लिए जब-जब अवसर आये, मैंने युवराज को उनकी प्रतिभा के प्रदर्शन के अवसर दिलाये। युवराज ने हर बार अपने को अयोग्य सिद्ध किया। क्या आप चाहते हैं कि एक अयोग्य व्यक्ति को इतना महत्वपूर्ण और विशाल साम्राज्य सौंप दिया जाय मात्र इस भय से कि राजपरिवार में संघर्ष न उत्पन्न हो। भली-भाँति समझ लो अमात्य खल्लाटक—जिसकी भुजाओं में राजदण्ड को धारण करने की शक्ति होगी, उसी के हाथों में वह शोभा ही न पायेगा वरन् उसकी गरिमा भी सुरक्षित रह सकेगी। पूरा इतिहास साक्षी है—जब-जब सत्ता दुर्बल हाथों में गयी है, नष्ट होने से नहीं बचाई जा सकी है। मैं नहीं चाहता कि मौर्य साम्राज्य की गरिमा कलंकित हो। जीते जी मैं कभी यह सहन नहीं कर सकता कि मौर्य साम्राज्य खण्डित हो। मौर्य साम्राज्य की सुकीर्तिमयी पताका सुदूर तक फहराती रहे और निरन्तर क्षेत्र विस्तार ही होता रहे—यही देखते-सुनते अंतिम सांस लेना चाहता हूँ।"

"फिर तो संघर्ष सुनिश्चित है और विनाश भी उतना ही अवश्यम्भावी है। विनाश से राजपरिवार की रक्षा अब नहीं हो सकती।"

"राजपरिवार के दो-चार प्राणियों के विनाश को आप साम्राज्य के पतन

से अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं ?"

"इस संघर्षजन्य विनाश को बचाने का कोई उपाय शेष नहीं है ?"

"नहीं, और जो है, उससे साम्राज्य शक्तिहीन बन जायेगा । आपकी समझ में कोई उपाय हो तो सुझाइये ।"

"कुमार यदि महामात्य का पद स्वीकार कर लें तो विनाश से रक्षा हो सकती है ।"

"और यदि युवराज इस पद को स्वीकार कर लें तो भी तो विनाश टल सकता है ?"

"युवराज सम्राट-पद के अधिकार को क्यों छोड़ें ?"

"कुमार में जिस सत्ता को अधिकृत करने की क्षमता है, उसकी उपेक्षा वह क्यों करें ? यही प्रश्न है मात्र श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ के मध्य चयन का । इस सम्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण सर्वविदित है । मैं व्यक्ति की अपेक्षा साम्राज्य को महत्व देता हूँ । व्यक्ति आते हैं, जाते हैं, साम्राज्य या राष्ट्र का जीवन निरन्तर प्रवहमान है । इसी जीवनदृष्टि से हमें व्यक्ति को परखना चाहिये । मेरी कसौटी पर युवराज सुसीम की अपेक्षा कुमार अशोक अधिक समीचीन सिद्ध हो रहे हैं । फिर आप पूर्ण स्वच्छन्द हैं किसी भी वैकल्पिक विचारधारा के सम्पोषण के लिए । और मेरी मान्यता से अवगत होते हुए भी आपने जो यहाँ आने का कष्ट उठाया, उसके लिए मैं आभारी हूँ ।"

"आशा की अन्तिम लौ ने भी जब निराश कर दिया तो किसी भी विचारधारा से क्या लाभ ।" नैराश्यपूर्ण दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए अमात्य खल्लाटक उठ खड़े हुए ।

महामात्य भी बैठे न रह सके । तेजी से वह कुटी के बाहर आ गये । सुदूर क्षितिज पर उनकी दृष्टि गड़कर रह गयी । कदाचित उन्हें कोई अप्रत्याशित स्वर सुनाई देने लगे थे ।

केन्द्र में था वह प्रासाद विशेष जिसमें युवराज सुसीम अट्ठान्वे भाइयों के संरक्षण में, उस क्षण की प्रतीक्षा में, समय काट रहे थे, जब उन्हें सम्राट-पद पर सुशोभित होने के लिए आमन्त्रित किया जाना था। महाराज बिम्बसार के देहावसान के बाद चालीस दिन तक का समय जो शोक काल के रूप में, महामात्य के द्वारा घोषित किया गया था, उसने युवराज को निश्चिन्त बना दिया था कि चालीसवें दिन के पूर्व तो कोई भी शुभ कार्य होना नहीं था। आमोद-प्रमोद के साधनों में डूबने-उतराने के अभ्यासी युवराज दिन को भी रात समझे हुए सुरा के मद और स्त्री के मांसल सौन्दर्य में खोये हुए थे। राग-रंग के सभी साधन उसी प्रासाद विशेष में नित नवीन सजधज के साथ युवराज की सेवा में प्रस्तुत किये जाते थे। युवराज का संसार उस प्रासाद विशेष तक ही सीमित होकर रह गया था। अमात्य खल्लाटक एकमात्र ऐसे सम्पर्क-सूत्र थे जो युवराज के शुभचिंतक ही न थे, न्याय के पक्षधर और अन्याय के विरोधी भी थे। राजपरिवार के प्रति अपने धर्मपालन में वह विशेष सजग थे। उन्हीं के सुझाव और प्रयत्नों के परिणामस्वरूप युवराज के अंगरक्षक मण्डल के रूप में अट्ठान्वे योद्धा एकत्र हो सके थे। सब-के-सब एक-से-एक बढ़-चढ़कर शूरवीर थे। प्रत्येक किसी-न-किसी अस्त्र-शस्त्र का कुशल संचालक ही न था स्पर्धाओं में अप्रतिम भी प्रमाणित हो चुका था। शारीरिक शक्ति में भी वे किसी से कम न थे। दिन के अधिकांश समय वे अभ्यास-रत रहते थे। युवराज के न निकट जाने की उन्हें आवश्यकता थी और न उनकी रुचियों से ही उन्हें कुछ लेना-देना था। वे तो मात्र उत्तरदायी थे शक्तिधर के। शक्तिधर के दिशा निर्देश में उन्हें आचरण करना था और आदेश भी उन्हें शक्तिधर का ही पालन करना था। अमात्य खल्लाटक तक की उपस्थिति उनके लिए विशेष ध्यातव्य न होती थी। हां, उद्देश्य के अनुसार उनका कार्य क्षेत्र भी सीमित हो गया था। राजप्रासाद तक ही उनकी गतिविधियाँ केन्द्रित थीं। शेष जगत का उन्हें कोई परिज्ञान न था।

महाबलाधिकृत ने महामात्य के आदेशानुसार गुप्त रूप से उस प्रासाद विशेष को चारों ओर से सैनिकों द्वारा घेर लिया था। वह घेरा जितना सुदृढ़ और सशक्त था, उतना ही अव्यक्त था। उस घेरे ने मेले का रूप धारण कर लिया था। विविध वस्तुओं की दुकानें लग गई थीं। वस्तु विक्रेता और

क्रेता सभी विभिन्न वेशभूषाधारी सैनिक थे। रंगारंग कार्यक्रम भी प्रायः होते रहते थे। स्त्रियाँ विशेष रूप से आती-जाती दिखाई देती थीं। जब भी अमात्य खल्लाटक के आगमन की सूचना मिलती, उस मार्ग विशेष में स्त्रियों का आवागमन अनायास बढ़ जाता था। अमात्य देखकर भी ध्यान न दे पाते थे। वह सीधे आते और चले जाते थे। किसी सैनिक गतिविधि की आशंका उनकी कल्पना के भी परे थे। किन्तु वे दुकानें ऊपर से सामग्रियों से भरी-पूरी दिखाई देती थीं और अन्दर-ही-अन्दर जो सुरंग बन रही थी, उसका आभास भी प्रकट न होने पाता था। जब सुरंग का निर्माण-कार्य पूर्ण हो गया, तब उसे विस्फोटक पदार्थ से भरे जाने का आदेश दिया गया। मात्र आदेश की प्रतीक्षा थी, विस्फोटक पदार्थ के बिछने में क्या देर लगनी थी। उसी के साथ एक सुरंग ऐसी भी तैयार की गई थी जो प्रासाद के बीचोबीच समाप्त होती थी। उसमें विस्फोटक पदार्थ विशेष मात्रा में भरा गया था। महाबलाधिकृत व्यवस्था से जब पूर्ण संतुष्ट हो गये तब उन्होंने ध्वनि विशेष का संकेत किया। उस ध्वनि का प्रकट होना था कि सुरंग में अग्नि का प्रवेश करा दिया गया। कदाचित पल-दो-पल का समय लगा होगा कि भीषण ध्वनि के साथ भयंकर विस्फोट प्रारम्भ हो गया। देखते-देखते प्रासाद के चारों ओर अग्नि की लपटें उठने लगीं। जो दुकानें सजी थीं, वे भी विस्फोटक पदार्थों से परिपूर्ण थीं। दुकानदारों और खरीददारों ने सैनिक वेश धारण कर लिये थे। मात्र वे पीछे हटे थे, घेरा पूर्ववत था। प्रासाद विशेष के मध्य भाग में इतना प्रलयंकारी विस्फोट हुआ कि प्रासाद सर्वप्रथम तो धुएँ में समा गया। वह टुकड़ों के रूप में आकाश मण्डल में उछलने लगा। धुएँ का स्थान लिया लपटों ने। लपटें लपक-लपक कर आकाश को चूमने का असफल प्रयास करने लगीं। चूँकि विस्फोट अप्रत्याशित था, इसलिये किसी का भी निकल भाग पाने का प्रश्न ही नहीं उठता था। सब सहसा घबड़ा उठे थे। अपने प्राणों की रक्षा के प्रयास में थे। भगदड़ मच गयी थी। सभी भाग रहे थे, किन्तु घबड़ाहट इस सीमा तक सबके मन में समा गई थी कि उल्टे-सीधे भाग रहे थे। जिधर भी भागते, उधर ही आग की लपटें दिखाई देतीं। धक्का-मुक्की में कोई गिर रहा था, कोई फिसल रहा था। कोई गिरे हुए पर गिर रहा था। जो गिरा वह दबा और जो उठा, वह भी अधमरा हुए बिना न रहा। भवन का कोई-न-कोई भाग भी टुकड़ों-टुकड़ों में गिर रहा था। उस भवन में युवा स्त्री-पुरुष ही थे। अधिकांश स्त्रियाँ अचेत हो धराशायी हो चुकी थीं। जो बलशाली युवक रक्षक के रूप में थे, वे अवश्य दुस्साहस का परिचय दे रहे थे, किन्तु भीषण अग्नि के समक्ष उनका भी बस क्या चलना था। भीतर रुकने का अर्थ था

मुड़ जाना और भागने का अर्थ था अग्नि की विकराल लपटों में अपने को झोंक देना। अग्नि के पार खड़े ये सशस्त्र सैनिक जो विस्फोटक पदार्थ तेजी के साथ अग्नि की लपटों में फेंक रहे थे। लपटें उत्तरोत्तर विकराल हो रही थीं। न शारीरिक शक्ति काम आ रही थी न शस्त्र-संचालन-कौशल ही प्राण रक्षा कर पा रहा था। योद्धा रह-रहकर दाँत पीस रहे थे। युवराज की चिन्ता किसी को न थी। उन्हें किस कक्ष में आग खा गई—किसी को ज्ञात भी न था। उछल-कूद व्यर्थ सिद्ध हो रही थी। न हाथ मलना काम आ रहा था, न छलांग लगाने में ही कोई सार्थकता थी, किन्तु बिना कुछ किये मृत्यु के मुह में समा जायें, यह भी तो कम असहनीय न था। असमर्थता कितनी पीड़ादायक होती है—इसकी अनुभूति उन्हें विवश बना रही थी। दो-चार एकत्र हो जिस ओर भी बढ़ते, उसी ओर की विकराल लपटें उन्हें लौटा देतीं। दूसरी ओर भागने की चेष्टा करते तो उससे भी भीषण लपटें लीलने को प्रस्तुत दिखाई देतीं। *अग्नि की लपटें क्या थीं मृत्यु की जिह्वाएँ थीं।* अग्नि का घेरा क्या था, काल का शिकञ्जा था। सशस्त्र सैनिक मृत्यु के दूत थे। सैनिकों के पीछे खड़ा था सैन्याधिकारी वर्ग। वह सामने ही न देख रहा था, पीछे की स्थिति का भी आकलन कर रहा था। शनैः शनैः दर्शकों का समूह बढ़ता जा रहा था। उसे आगे बढ़ने से रोकना एक समस्या बन गई थी। शस्त्रों की चमक मात्र उन्हें रोक रही थी, किन्तु पीछे का धक्का उसे बढ़ाता ही जा रहा था। एक स्थान विशेष पर खड़े थे कुमार अशोक। उनके साथ थे अमात्य राधागुप्त महाबलाधिकृत दूर से ही उन्हें देख लपके। निकट आ उन्होंने आश्चर्य व्यक्त किया, "महाराज जी! आप यहाँ?"

"यह आग कैसे लग गई? इस प्रासाद में तो सुसीम भइया का निवास था।"

"और साथ रहते थे उनके अट्ठानवे भाई।" अमात्य राधागुप्त का आश्चर्य समाप्त हो गया था।

आगे कुमार अशोक ने पूछा, "इतनी भीषण आग सहसा कैसे लग गई? किसी प्रकार यह नियन्त्रित नहीं हो सकती? भइया को बचाया नहीं जा सकता?"

"अब तक सब समाप्त हो चुका होगा। सेवा में मेरी एक प्रार्थना है, कुमार जी।"

"क्या? इस संकट वेला में क्या मैं कुछ सहायता कर सकता हूँ?"

"मात्र आप यहाँ से अविलम्ब चले जायें।"

"क्यों? इतनी बड़ी दुर्घटना है यह और मैं यहाँ से चला जाऊँ?"

"आइए, चलें।" अमात्य राधागुप्त ने समझाया, "महाबलाधिकृत ठीक कह रहे हैं। यहाँ से चलना ही उचित है। जैसी आग अनियन्त्रित है, वैसी ही भीड़ की भी अनियन्त्रित होने की सम्भावना है। और अधिक यहाँ रुकना उचित न होगा।"

"चलिए।" कुमार अशोक ने अश्व मोड़ दिया। अमात्य राधागुप्त के अश्व ने उनका अनुसरण किया उपस्थित जनदृष्टि ने दोनों को जाते हुए देखा। भीड़ में से बिलबिलाहट भरा स्वर उभरा, किन्तु वह अश्व-रव-ध्वनि में समा गया। दोनों में से किसी ने भी पीछे मुड़कर नहीं देखा।

राजप्रासाद के मुख्य द्वार पर पहुँचे तो एक शिविका पर दृष्टि पड़ी। अमात्य राधागुप्त चौंके, "यह तो गुरुदेव की शिविका है। कदाचित वह पधारे हैं।"

दोनों तेजी से मन्त्रणाकक्ष की ओर बढ़े। गुरुदेव चिरपरिचित आसन पर विराजमान थे। सामने उपस्थित थी महारानी सुभद्रांगी। परस्पर वार्तालाप चल रहा था। दोनों ने अश्व कुछ पहले ही छोड़ दिये थे। निकट पहुँचते ही दोनों ने प्रणाम की मुद्रा धारण कर ली। गुरुदेव ने आशीर्वाद दिया, सदा विजय को वरण करो। राधागुप्त ! कुछ विशेष समाचार ?"

"बड़ी भीषण आग लग गयी है। सब स्वाहा हो गया है। कोई भी जीवित नहीं बच सका है।"

"सब ज्ञात है।"

"यह अग्निकाण्ड ज्ञात है आपको ?"

"हाँ, यह तो सर्वविदित हो चुका है।"

"किन्तु भइया सुसीम कदाचित उसी में थे।"

"अग्नि भेदभाव नहीं करती है। जो भी होगा, उस प्रासाद में, अवश्य स्वाहा हो गया होगा।"

"कितना भयंकर है यह अग्निकाण्ड।"

"हाँ, है, किन्तु अब यह सामान्य हो गया है। उसके विषय में सोचना छोड़ दीजिये। मैं कल अमात्य परिषद की आपातकालीन सभा आहूत कर रहा हूँ। उसमें आपकी उपस्थिति परमावश्यक है। और ध्यान रहे, किसी भी

भुंज जाना और भागने का अर्थ था अग्नि की विकराल लपटों में अपने को झोंक देना । अग्नि के पार खड़े थे सशस्त्र सैनिक जो विस्फोटक पदार्थ तेजी के साथ अग्नि की लपटों मे फेंक रहे थे । लपटें उत्तरोत्तर विकराल ही हो रही थीं । न शारीरिक शक्ति काम आ रही थी न शस्त्र-संचालन-कौशल ही प्राण रक्षा कर पा रहा था । योद्धा रह-रहकर दाँत पीस रहे थे । युवराज की चिन्ता किसी को न थी । उन्हें किस कक्ष में आग खा गई–किसी को ज्ञात भी न था । उछल-कूद व्यर्थ सिद्ध हो रही थी । न हाथ मलना काम आ रहा था, न छलांग लगाने में ही कोई सार्थकता थी, किन्तु बिना कुछ किये मृत्यु के मुह मे समा जायें, यह भी तो कम असहनीय न था । असमर्थता कितनी पीड़ादायक होती है—इसकी अनुभूति उन्हें विवश बना रही थी । दो-चार एकत्र हो जिस ओर भी बढ़ते, उसी ओर की विकराल लपटें उन्हें लौटा देतीं । दूसरी ओर भागने की चेष्टा करते तो उससे भी भीषण लपटें लीलने को प्रस्तुत दिखाई देती । अग्नि की लपटें क्या थीं मृत्यु की जिह्वाएँ थीं । अग्नि का घेरा क्या था, काल का शिकञ्जा था । सशस्त्र सैनिक मृत्यु के दूत थे । सैनिकों के पीछे खड़ा था सैन्याधिकारी वर्ग । वह सामने ही न देख रहा था, पीछे की स्थिति का भी आकलन कर रहा था । शनैः शनैः दर्शकों का समूह बढ़ता जा रहा था । उसे आगे बढने से रोकना एक समस्या बन गई थी । शस्त्रों की चमक मात्र उन्हें रोक रही थी, किन्तु पीछे का धक्का उसे बढ़ाता ही जा रहा था । एक स्थान विशेष पर खड़े थे कुमार अशोक । उनके साथ थे अमात्य राधागुप्त महाबलाधिकृत दूर से ही उन्हें देख लपके । निकट आ उन्होने आश्चर्य व्यक्त किया, "महाराज जी ! आप यहाँ ?"

"यह आग कैसे लग गई ? इस प्रासाद में तो सुसीम भइया का निवास था ।"

"और साथ रहते थे उनके अट्ठान्वे भाई ।" अमात्य राधागुप्त का आश्चर्य समाप्त हो गया था ।

आगे कुमार अशोक ने पूछा, "इतनी भीषण आग सहसा कैसे लग गई ? किसी प्रकार यह नियन्त्रित नही हो सकती ? भइया को बचाया नहीं जा सकता ?"

"अब तक सब समाप्त हो चुका होगा । सेवा में मेरी एक प्रार्थना है, कुमार जी ।"

"क्या ? इस संकट वेला में क्या मैं कुछ सहायता कर सकता हूँ ?"

"मात्र आप यहाँ से अविलम्ब चले जायें ।"

"क्यों ? इतनी बड़ी दुर्घटना है यह और मैं यहाँ से चला जाऊँ ?"

"आइए, चलें।" अमात्य राधागुप्त ने समझाया, "महाबलाधिकृत ठीक कह रहे हैं। यहाँ से चलना ही उचित है। जैसी आग अनियन्त्रित है, वैसी ही भीड़ को भी अनियन्त्रित होने की सम्भावना है। और अधिक यहाँ रुकना उचित न होगा।"

"चलिए।" कुमार अशोक ने अश्व मोड़ दिया। अमात्य राधागुप्त के अश्व ने उनका अनुसरण किया उपस्थित जनदृष्टि ने दोनों को जाते हुए देखा। भीड़ में से चिल्लाहट भरा स्वर उभरा, किन्तु वह अश्व-पग-ध्वनि में समा गया। दोनों में से किसी ने भी पीछे मुड़कर नहीं देखा।

राजप्रासाद के मुख्य द्वार पर पहुँचते ही एक शिविका पर दृष्टि पड़ी। अमात्य राधागुप्त चौंके, "यह तो गुरुदेव की शिविका है। कदाचित वह पधारे हैं।"

दोनों तेजी से मन्त्रणाकक्ष की ओर बढ़े। गुरुदेव चिरपरिचित आसन पर विराजमान थे। सामने उपस्थित थीं महारानी सुभद्रांगी। परस्पर वार्तालाप चल रहा था। दोनों ने अश्व कुछ पहले ही छोड़ दिये थे। निकट पहुँचते ही दोनों ने प्रणाम की मुद्रा धारण कर ली। गुरुदेव ने आशीर्वाद दिया, सदा विजय को वरण करो। राधागुप्त ! कुछ विशेष समाचार ?"

"बड़ी भीषण आग लग गयी है। सब स्वाहा हो गया है । कोई भी जीवित नहीं बच सका है।"

"सब ज्ञात है।"

"यह अग्निकाण्ड ज्ञात है आपको ?"

"हाँ, वह तो सर्वविदित हो चुका है।"

"किन्तु भइया सुसीम कदाचित उसी में थे।"

"अग्नि भेदभाव नहीं करती है। जो भी होगा, उस प्रासाद में, अवश्य स्वाहा हो गया होगा।"

"कितना भयंकर है यह अग्निकाण्ड।"

"हाँ, है, किन्तु अब वह सामान्य हो गया है। उसके विषय में सोचना छोड़ दीजिये। मैं कल अमात्य परिषद की आपातकालीन सभा आहूत कर रहा हूँ। उसमें आपकी उपस्थिति परमावश्यक है। और ध्यान रहे, किसी भी

प्रकार का आमन्त्रण क्यों न हो, इस राजप्रासाद से बाहर आपको कदापि नहीं जाना है। एक बार स्वयं मैं भी बुलाऊँ तो भी नहीं। राधागुप्त ! तुम कुमार की छाया हो। समझे ?"

"जी, गुरुदेव ! कुमार जी, राजप्रासाद में ही निवास करेंगे।"

"कितना ही निकट कोई क्यों न हो, भेंट की अनुमति नहीं मिलनी चाहिये।"

"अमात्य खल्लाटक यदि स्वयं पधारें तो ?"

"कुमार अस्वस्थ हैं। भिषगवर की कक्ष के बाहर द्वार पर उपस्थिति अनिवार्य कर दी जायेगी। उनकी अनुमति के बिना कुमार से भेंट सम्भव नहीं होगी और वह अनुमति देंगे नहीं। विशेष.सावधान रहना है।"

"जो आज्ञा।"

कुमार अशोक ने पूछा, "यदि महाबलाधिकृत जी ने भेंट करना चाहा ?"

"वह नहीं आएँगे। कोई नहीं मिलेगा।"

"कुमार से किसी की भेंट नहीं होगी।" अमात्य राधागुप्त ने आश्वासन दिया।

"किन्तु कब तक ?" कुमार अशोक एकाकी जीवन की कल्पना से सिहर उठे थे।

"जब तक आप मगधपति के सिंहासन पर आसीन नहीं हो जाते हैं।"

"किन्तु यह तो एक प्रकार की यन्त्रणा होगी ?"

"अवश्य। कुछ पाने के लिए कुछ खोना भी पड़ता है। सोचना मात्र यह होता है कि पाना महत्वपूर्ण है या खोना। साम्राज्य पद के लिए कुछ भी खोना कुछ महत्व नहीं रखता। राधागुप्त ! कुमार की सम्पूर्ण व्यवस्था का उत्तरदायित्व तुम्हारे ऊपर है।"

"आज्ञा शिरोधार्य है।"

महामात्य चाणक्य के उठते ही महारानी सुभद्रांगी और कुमार अशोक भी उठकर खड़े हो गये। राधागुप्त पहले से ही खड़े थे। महामात्य ने शिष्टाचार का पालन किया और लम्बे-लम्बे डग रखते हुए कक्ष से बाहर निकल आये। राधागुप्त उनका अनुसरण कर रहे थे। मार्ग में कोई भी बात नहीं हुई। शिविका में बैठते हुए महामात्य ने पुनः सावधान किया, "तनिक भी असावधानी अनर्थकारी होगी। जहाँ असमर्थ समझना, सूचित कर देना।"

"जो आज्ञा।" अमात्य राधागुप्त नतमस्तक खड़े रह गये।

शिविका दृष्टि से दूरतर होती चली गयी।

उल्टे पैरों अमात्य राधागुप्त राजप्रासाद में लौट गये और वहीं जा पहुँचे जहाँ उन्होंने कुमार अशोक को छोड़ा था, किन्तु वह वहाँ नहीं थे। महारानी भी नहीं थीं। इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई, मात्र एक परिचारिका दृष्टिगत हुई। उसे ही संकेत से निकट बुला पूछा, "कुमार अभी तक यहीं थे। देखा है उन्हें ? कहाँ गये हैं ?"

"महारानी जी के साथ सामने की ओर गये हैं।" परिचारिका ने हाथ से भी सामने की दिशा में संकेत किया।

उसी दिशा में राधागुप्त तेजी से बढ़े। थोड़ी ही दूर बढ़ पाये होंगे कि एक स्त्री के मार्ग में व्यवधानस्वरूप उपस्थित हो जाने के कारण उन्हें रुकना पड़ा। उन्होंने जानना चाहा, "कौन हो तुम ?"

"इतनी शीघ्र भूल गये ?"

"अपना परिचय शीघ्र दो। समय नहीं है।"

"रास्तेभर साथ रही हूँ। कदाचित वेश-परिवर्तन के कारण नहीं पहचान पा रहे हैं।"

"शैलबाला तो नहीं हो, तुम ?"

"हाँ, अमात्यवर ! यह दासी शैलबाला ही है। अभिवादन स्वीकार कीजिए।" शैलबाला शिष्टाचार का पालन करने लगीं।

अमात्य राधागुप्त ने आगे प्रश्न किया, "और पद्मा भी तुम्हारे साथ ही होंगी ?"

"हाँ, हैं तो। यहीं कहीं होंगी। अभी दिखाई दे जायेंगी।"

"कुमार को देखा है ?"

"नहीं तो। कहाँ हैं ? पूरा दिन हो गया। दर्शन नहीं हुए।"

"गये तो सीधे ही हैं। साथ में महारानी भी हैं। तुम आ तो सामने से ही रही हो ?"

"जी हाँ, लेकिन यहाँ मार्गों की कमी थोड़े ही है। सम्भव है, किसी ओर मुड़ गये हों।"

"तनिक खोजने में सहायता करो। उन्हें दृष्टि से ओझल नहीं होना चाहिए।"

"क्यों ? क्या हो गया ? खो जाने का डर है क्या ? मुख्य द्वार बन्द

करवा दीजिए। बाहर निकल नहीं सकेंगे। खोने का डर समाप्त हो जायेगा। अच्छा, आप यहीं ठहरिए। मैं अभी खोजे लाती हूँ।"

"नहीं, मेरा रुकना असम्भव है। उन्हें मेरी दृष्टि की सीमा के अन्तर्गत होना परमावश्यक है।"

"फिर दृष्टि विस्तार कर लीजिए। स्वतः सीमा के अन्तर्गत आ जायेंगे।" शैलबाला आगे बढ़ने के साथ-साथ हँसती भी जा रही थी। एक स्थान पर ठिठक कर शैला आगे बोली, "अमात्यवर! और आगे बढ़ना व्यर्थ है और आप खोज भी नहीं पायेंगे।"

"क्यों? क्यों नहीं खोज पायेंगे?

"क्योंकि जहाँ वह हैं, वहाँ तो आप देख नहीं रहे हैं। वह रहे महाराज जी।" शैला ने एक दिशा की ओर संकेत कर दिया।

अमात्य राधागुप्त ने वहीं से खड़े हो देखकर जिज्ञासा व्यक्त की, "कुमार तो किसी के साथ बात कर रहे हैं! कौन है यह?"

"पद्मा को भी, भला, अमात्यवर, कैसे पहचान पायेंगे। तक्षशिला से लौटने के बाद पहली बार तो भेंट हो सकी है। बात तो कर लेने दीजिये।" शैला की बात सुनकर भी अमात्य राधागुप्त उसी ओर तेजी से बढ़ गये। शैला भी बोलती हुई पीछे-पीछे बढ़ी, "राजप्रासाद में भी ऐसा बन्धन! महाराज जी बात ही तो कर रहे हैं। तक्षशिला में तो कभी रोक नहीं थी। क्या राजप्रासाद में वार्तालाप वर्जित है?"

निकट जा अमात्य राधागुप्त ने कुमार अशोक को सावधान किया, "गुरुदेव का आदेश स्मरण है?"

"भली-भाँति स्मरण है, अमात्यवर। राजप्रासाद से बाहर न जाने का आदेश मैं पालन करूँ और मुझ पर दृष्टि रखने का कर्तव्य आप पालन करें।"

"कुमार! वार्तालाप भी तो वर्जित है।"

"किन्तु अपरिचितों के साथ। आप तो भली-भाँति जानते-पहचानते हैं। ये सुपरिचिताएँ हैं। इनके न आचरण संदिग्ध हैं न इनकी बातों पर ही शंका करने की आवश्यकता है। गुरुदेव का मन्तव्य मैं भली-भाँति समझता हूँ। दूध का जला मट्ठा फूँक-फूँक कर पीता है। गुरुदेव ऐसे धोखे खा चुके हैं। अविश्वास उनकी राजनीतिक विचारधारा का आधार बन चुका है। किन्तु अमात्यवर! आप तो मेरे स्वभाव से पूर्णतया अवगत हैं ही। मैं किसी भी व्यक्ति या किसी भी परिस्थिति से कभी भयभीत नहीं होता।"

"फिर भी, कुमार, कुछ समय के लिए यदि गुरुदेव के आदेश का अक्षरशः पालन कर लिया जाय तो ········।"

बीच मे ही कुमार अशोक बोल उठे, "अमात्यवर ! आपका कर्तव्य है मुझ पर दृष्टि रखना, मुझे टोकना नहीं। आप गुरुदेव के आदेश का पालन कीजिए। मैं भी गुरुदेव की अवज्ञा नही कर रहा हूँ। शत्रु और मित्र की पहचान मुझे भी है। तुम दोनों मेरे साथ आओ।" शैला और पद्मा गतिमान कुमार अशोक का अनुसरण कर उठीं। दोनो अमात्य राधागुप्त पर दृष्टि डाल कर मुस्करा दीं।

अमात्य राधागुप्त को परिस्थिति असह्य हो उठी। एक-एक क्षण के लिए वह सोचने के लिए बाध्य हो गये कि क्या तत्क्षण गुरुदेव की सेवा में जायें, किन्तु असमर्थता की अभिव्यक्ति की पीड़ा भी कम त्रासदायक नही होती है। वह खड़े भी न रह सके और महारानी की सेवा में उपस्थित होने के अभिप्राय से इधर-उधर देखने लगे।

अग्निकाण्ड की सूचना राजप्रासाद तक आ पहुँची थी। सम्पूर्ण भृत्यवर्ग सतर्क हो उठा था। दृष्टि से ओझल होने में ही वह अपनी सुरक्षा समझते थे। कहाँ-कहाँ घूमना चाहिए—इसका भी उन्हें पूर्ण परिज्ञान था। जब कोई भी दिखाई न दिया तो अमात्य दृष्टि की सीध में आगे बढ़े। राजप्रासाद की स्थिति से विशेष परिचित वह थे नहीं। जब भी आये, मन्त्रिपरिषद के कक्ष से ही वापस चले गये। इतना भी अन्तःप्रवेश उन्होंने कभी न किया था। जब काफी आगे बढ़ गये और फिर भी कोई न दिखाई दिया तो वह सोचने के लिए बाध्य हो गये, "कुमार पर कम-से-कम दृष्टि तो रख ही सकता हूँ। इसी बीच यदि वह राजप्रासाद से बाहर निकल गए ?" सोचते ही अमात्य उल्टे पैरों लौट पड़े और वहीं आकर खड़े हो गए जहाँ कुमार अशोक से वार्तालाप हुआ था, किन्तु अकेले कब तक खड़े रहते। थोड़ी ही देर में ऊब गये। मस्तिष्क विकल्प की खोज में संलग्न हो गया। आत्मविस्मृत-से खड़े अमात्य को पीछे से सुनाई दिया, "इस तरह कब तक खड़े रहेंगे, अमात्यवर ? थक जाएँगे। चलिए, कक्ष में आप भी विश्राम कीजिए, चलकर।" अमात्य ने गरदन मोड़कर देखा तो मुस्कुराती हुई पद्मा खड़ी दिखाई दी।

अमात्य ने आश्चर्य प्रकट किया, "कहाँ थीं तुम ? दिखाई नहीं दी ? मुझे कहाँ से देख लिया ?"

"आप ओझल होने ही कब पाये हैं ? महाराज जी को आप पर दया आ गई। आपको विश्राम की आवश्यकता है। वह सामने कक्ष आपके लिए उपयुक्त रहेगा। वहीं विश्राम कीजिए चलकर। आप अपना उत्तरदायित्व मुझे सौंप दीजिये। कुमार कक्ष के बाहर पैर भी रख सकें तो कहियेगा।"

"तुम दोनों से भी तो उन्हें दूर रखना है।"

पद्मा खिलखिला कर बोलीं, "जल के बिना भी क्या दूध का अस्तित्व सम्भव है ? असम्भव स्थिति का न अनुमान कीजिए न उसे समाप्त करने का असफल प्रयास ही। हम दोनों की ओर से आप निश्चिंत रहिए। हम जीते जी मर मिटेंगी, किन्तु कुमार के निकट विरोधी को फटकने न देंगी।"

"कहीं विश्वास अनर्थकारी न सिद्ध हो।"

"कभी-कभी आशंका यथार्थ से भी अधिक त्रासदायिनी होती है। अविश्वास का कोई उपचार नहीं है मेरे पास। केवल इतना सोचने का अवश्य कष्ट कीजिए कि विरोधी शक्ति से मिलकर हम वही तो पा सकेंगी जो इस समय भी हमें उपलब्ध है। प्राप्य को छोड़कर अप्राप्य के पीछे भागना कहाँ की बुद्धिमानी है। आइए, विश्राम कीजिए चलकर। महाराज जी आपको स्मरण कर रहे हैं।"

"चलो, यह क्यों नहीं बताया इतनी देर से ?" अमात्य राधागुप्त पद्मा के साथ हो लिये।

एक कक्ष में बैठाकर पद्मा बोलीं, एक क्षण में आई महाराज जी को सूचित करदूँ।" पद्मा कथन के साथ ही वहाँ से चली गई।

अमात्य राधागुप्त एकांत में सोचने के लिए बाध्य हो उठे, "पद्मा सी एक नारी है। नारी की माया को कौन समझ सका है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तक धोखा खा गये हैं। कहीं इसने मुझे भी मूर्ख न बनाया हो ? मुझे इस कक्ष में बन्दी बनाने की योजना तो नहीं है ? मुझे अपने रूप-जाल में तो यह नहीं फांसना चाहती है ? बड़ी चतुर है यह। बातें बड़ी इसकी लुभावनी होती हैं। विश्वास तो ऐसे अर्जित करती है जैसे इससे बड़ा शुभचिंतक संसार में दूसरा हो ही नहीं सकता है। क्या देहयष्टि है ! क्या मुद्राएँ हैं ! क्या चंचलता है ! क्या रंग में घुला रूप है ! कहीं मैं इसके वशीभूत तो नहीं हो उठा हूँ ? कदापि नहीं। मैं गुरुदेव आचार्य चाणक्य का परमप्रिय शिष्य हूँ। किसी भी स्त्री का मोहपाश मुझे बाँध नहीं सकता। कोई भी रूपराशि मुझे वशीभूत नहीं बना सकती। इस पद्मा का क्या अस्तित्व ! ऐसी सहस्रों रूपसियाँ एक साथ भी यदि अपने रूपजाल में मुझे फँसाना चाहें तो भी मैं अपने गुरुदेव का शिष्य ही प्रमाणित होऊँगा। फिर पद्मा के प्रस्ताव को स्वीकार क्यों कर लिया ? इस कक्ष में क्यों आ बैठे ?" सोचते-सोचते अमात्य सहसा जैसे ही उठकर खड़े हुए, पद्मा की खिलखिलाहट उन्हें सुनाई दी, पर पद्मा कहीं दिखाई न दी। चारों ओर घूम कर भी देखा, किन्तु कण्ठस्वर उसी का सुपरिचित सुनाई दिया, "कहिए, अमात्यवर ! कैसे आ फँसे ? बड़े चतुर बनते थे। नारी को आशंका की दृष्टि से देखते हैं। नारी

को अबला समझते हैं। बदल डालिए नारी के प्रति अपनी इस धारणा को। नारी शक्तिस्वरूपा है। पुरुष को दिग्भ्रमित करने की उसमें अद्भुत क्षमता है। इसका मोहपाश बड़ा प्रबल होता है। इसमें वही फँसते हैं जो अपने को अधिक चतुर समझते हैं। वैसे आप भी कम चतुर नहीं हैं किन्तु मेरे एक संकेत पर आपकी सारी चतुराई एक ओर रखी रह गई। मेरा विश्वास कीजिए, मुझसे विश्वास पाइए। क्यों करेंगे न विश्वास का आदान-प्रदान ?"

"पर तुम हो कहाँ ? सामने तो आओ।"

"किसे पुकार रहे हैं, अमात्यवर ?" पद्मा ने प्रवेश करते हुए आश्चर्य प्रकट किया।

"तुम्हें, पद्मा, तुम्हें। कहाँ थीं तुम ? बाहर कहाँ से आ रही हो ? यहाँ कक्ष में तुम नहीं थीं ?"

"नहीं तो ! मैं तो महाराज जी की सेवा से अनुमति प्राप्त कर लौट रही हूँ।"

"फिर तो निश्चित ही धोखा हुआ है।"

"धोखा ! कैसा धोखा हुआ है, अमात्यवर ?"

"अभी मैं तुम्हारा कण्ठस्वर सुन रहा था।"

"तो इसमें धोखे की क्या बात है। और सुनिये। जितना सुनना चाहेंगे, सुनाऊँगी। विश्वास तो करें।"

"वही तो नहीं हो पा रहा है।"

"फिर चलिए, महाराज भी स्मरण कर रहे हैं।"

"चलो। शैलबाला होंगी वहाँ ?"

"हाँ, मैं रहूँ या वह। एक को तो सेवा में रहना ही चाहिए। अकेलापन मनुष्य का शत्रु होता है। शत्रु से तो अच्छा है कोई अपना हो निकट।"

कुमार अशोक के कक्ष में प्रवेश करते ही अमात्य ने शिष्टाचार की मुद्रा धारण करली। कुमार ने टोका, "पद्मा कह रही थीं कि आप एकान्त से लड़ रहे थे ?"

"यहाँ आकर यह अधिक मुखर हो गई है।"

"आपने छूट जो दे रखी है। गुरुदेव की शिक्षा को आप विस्मरण कर बैठे हैं। इनका तनिक भी विश्वास आप मत कीजिएगा। ध्यान रखिएगा, यह आपको कर्तव्य-पालन न करने देंगी। आप जो भी करना चाहेंगे, उसका उल्टा ही यह करने के लिए विवश करेंगी।"

"सत्य कह रहे हैं आप। इनके हाथों धोखा खाना बड़ा आसान है।"

"महाराज जी, अपराध क्षमा हो। इस दासी से मैंने मात्र विनोद के

लिए अनुरोध किया है ।"

"ताकि तुम अधिक सक्रिय हो सको । क्या चाहती हो तुम ? अमात्यवर को गुरुदेव के समक्ष मुंह दिखाने के योग्य रखोगी या नहीं ?"

पद्मा ने अपने दोनों कान पकड़ते हुए क्षमायाचना की, "अनजाने में अपराध के लिए भी क्षमाप्रार्थी हूँ । अमात्यवर को कष्ट पहुँचाना मेरा मन्तव्य कभी नहीं रहा ।"

"फिर क्यों हाथ धोकर पीछे पड़ी हो, अमात्यवर के ? इसी तरह अगर तुम्हारे संकेत पर नाचते रहे तो यह कहीं के न रहेंगे ।"

"हाय दइया ! महाराज जी तो दुदाढ़ी तक सांप रेंगा रहे हैं । लीजिए मैं कान पकड़ कर उठती-बैठती भी हूँ । प्राणदण्ड दें महाराज जी, यदि कभी मुंह भी खोलूं ।"

"अरी पद्मा ! तुम भी कितनी भोली हो । महाराज जी उपहास कर रहे हैं–इतना भी नहीं समझतीं ? महाराज जी तो इस सन्नाटे की ऊब को समाप्त करना चाहते हैं और तुम हो कि मरी जा रही हो । किन्तु तुमसे अधिक तो अमात्यवर की मुद्रा भयावह बनती जा रही है । अमात्यवर ! आपने तो कुछ किया ही नहीं । आप घबड़ा क्यों रहे हैं ? पद्मा बेचारी बड़ी सीधी लड़की है । छलछन्द से तो इनका नाममात्र का भी परिचय नहीं है । आप तनिक भी आशंका न करें । इनका आचरण सदा ऐसा ही निष्कपट होता है । किन्तु कभी-कभी यह स्वांग कुछ ऐसा भरती है कि देखने वाले को भ्रम हो जाता है । अमात्यवर ! आप किसी भ्रम में न रहे । यह अत्यन्त सरलमना हैं । तनिक नटखट अवश्य हैं । महाराज जी को इसका नटखटपना प्रिय जो है ।"

"क्यों देवि ! पद्मा और अमात्यवर के साथ मुझे भी लपेट में ले रही हो ? पद्मा बेचारी का क्या दोष ? जैसा तुमने समझाया है, वैसा ही व्यवहार तो इन्होंने अमात्यवर के साथ किया है ।"

"धन्य हैं महाराज जी आप भी । किन्तु मैं पद्मा नहीं हूँ"

"फिर मैं अमात्यवर भी [illegible] तुम्हारी बातों के [illegible] सकते हैं ।"

"फिर प्रतिज्ञा करो कि पद्मा को कभी मूर्ख नहीं बनाओगी । कितनी सीधी है बेचारी । जैसे मुंह में जिह्वा ही नहीं है ।"

"महाराज जी के सामने बड़ों-बड़ों की बोलती बन्द हो जाती है ।"

"फिर भी तुम बोलती रहती हो । सिर जो चढ़ गई हो ।"

"हाय दइया ! अपराध हो गया । दण्ड दीजिए महाराज जी । प्राणदण्ड दीजिए ।" शैला कुमार अशोक के चरणों में नाक रगड़ने लगी थी ।

पद्मा भी कुछ अन्तर पर ही मुंह के बल जमीन पर लेट कर सिसकियां भरने लगी थी ।

कुमार ने अमात्यवर को समझाया, "देख रहे हैं दोनों को ? हैं विश्वास के योग्य ?"

"जी, दोनों का आचरण आशंका विहीन है ।"

"फिर पार्श्ववर्ती कक्ष में विश्राम कीजिए । गुरुदेव के आदेश जन्य सतर्कता के लिए ये दोनों ही यथेष्ट हैं ।"

"जो आज्ञा ।" अमात्य राधागुप्त ने धीरे से वह कक्ष छोड़ दिया ।

कुमार अशोक ने निश्चिंतता की सांस ली और आत्मीय स्वर में आदेश दिया, "उठो क्या बचपना दिखा रही हो ? अमात्यवर को हो गया विश्वास तुम दोनों पर ।"

दोनों ने एक साथ सिर उठाया था । आंखों में आंसू अवश्य थे किन्तु अधरों पर विजय की मुस्कान भी उभर आई थी । दोनों की मुस्कान ने कुमार अशोक को मुस्कराने के लिए बाध्य कर दिया था ।



राजप्रासाद के अन्दर आशंका का भय व्याप्त था तो नगर में अग्निकाण्ड की चर्चा थी । अन्दर इतनी शान्ति थी कोई किसी से बोल भी न रहा था, जब कि बाहर सर्वत्र लोगों की दृष्टि में एक ही प्रश्न तैर रहा था, "अब क्या होगा ?"

एक दबे स्वर में पूछ रहा था, "यह आग कैसे लगी ?"

तो दूसरा जानना चाहता था, "इस प्रासाद में क्या युवराज उपस्थित थे ?"

तीसरा अनुमान लगा रहा था, "इतनी भीषण आग अनायास तो नहीं

लग सकती ।"

चौथा विश्वास व्यक्त कर रहा था, "निश्चित ही यह अग्निकाण्ड किसी सुनियोजित षड्यन्त्र का परिणाम है ।"

परिचित को हाथ पकड़कर एक ओर घसीटते हुए एक ने पूछा, "तुम यहाँ कब आये ?"

"जब सूचना मिली ।"

"किसने दी सूचना ?"

"आग स्वयं सूचना दे देती है ।"

"फिर भी, किसी ने तो कुछ कहा ही होगा ?"

"नहीं नेत्रों को आग दिखाई दे गई थी ।"

"यहाँ कौन सुन रहा है ? सच-सच बता न, वास्तविकता क्या है ?"

"जानकर तू करेगा भी क्या ?"

"पर जानूं भी क्यों नहीं ?"

"क्योंकि न जानना ही हितकर है ।"

"इतना डरपोक मैं नहीं हूँ ।"

"बहादुर कितने हो, मैं भलीभाँति जानता हूँ ।"

"अच्छा भाई डरपोक ही सही, कुछ तो बताओ । मन जाने बिना बेचैन है ।" –

"मन अपना है, पराया नहीं । अपने वश में रखो और केवल प्रतीक्षा करो ।"

"मैं सब समझता हूँ । तुम टाल रहे हो । बताना नहीं चाहते हो ।"

"क्या ? क्या कुछ हुआ है ?"

"देख-सुनकर भी नाटक कर रहे हो ?"

"यही नाटक तू भी कर, मेरे भाई । जानबूझ कर अनजान बने रहने में भलाई है । अधिक जानकार बने नहीं कि बने कोपभाजन किसी-न-किसी अधिकारी के । क्यों प्राणों को संकट में डालना चाहते हो ? चलो यहाँ से । अपना काम देखो चलकर ।"

"और यहाँ जो हुआ उसके प्रति नेत्र मूंद लूं ।"

"कान भी बन्द कर लो ।"

"और तुम्हारी तरह मुंह भी बन्द कर लूं ?"

"चतुर का यही काम है । न कुछ देखो, न सुनो और न बोलो ।"

"फिर तुम जाओ अपना काम देखो जाकर । मैं तुम्हारी तरह कापुरुष नहीं हूँ । जो दिखाई देगा, देखूंगा, जो सुनने में आयेगा, उसे सुनूंगा भी और

बोलने का अवसर मिलेगा तो बोले बिना रहूँगा भी नहीं । इतना बड़ा काण्ड हो गया और मैं हाथ-पर-हाथ धरे बैठा रहूँ ? असम्भव । मैं मगध साम्राज्य का एक जागरूक नागरिक हूँ । एक नागरिक के कर्तव्य का पालन करना मैं अपना धर्म समझता हूँ ।"

एक अधिकारी ने निकट आ धमकाया, "क्या कानाफूसी कर रहे हो ? ले जाओ इन्हें भी । हो सकता है कि इस काण्ड के मुख्य अभियुक्त ये ही हों ।"

इसके पूर्व कि दोनों ही कुछ बोल सकें उनके मुंह को सशक्त हथेलियों ने छाप लिया था ।

बड़ा ही लोमहर्षक वातावरण उत्पन्न हो गया था । बीच में आग थी । शेष प्रासाद को वह ध्वस्त कर रही थी । धू-धूकर लपटें आकाश से बातें कर रही थीं । मानव मांस के जलने की दुर्गन्ध भी वातावरण को कम विपाक्त न किये थी । कुछ अन्तर पर घेरा बांधे सन्नद्ध थे सैनिक । उनके पीछे था अधिकारी वर्ग जो देख ही नहीं, सुन भी रहा था । उनके भी पीछे थे अंगरक्षक जो सशस्त्र तो थे ही चौकन्ने भी कम न थे । इनसे भी दूर था वह दर्शक वर्ग जो नेत्र फाड़े अग्निलीला को अपलक निहार रहा था । बस, यही एक वर्ग ऐसा था जिसमें निरंतर वृद्धि ही न हो रही थी, चर्चा के कारण शोर भी पर्याप्त मात्रा में हो रहा था । उस ओर अधिकारियों के कान भी लगे थे । एक अधिकारी ने दूसरे से कहा, "बड़ा ही भयावह है यह अग्निकाण्ड । इतने विशाल और सुनियोजित अग्निकाण्ड की कल्पना तक कठिन है ।"

"सुनियोजित इसे आपने कैसे मान लिया ?"

"ऐसा सफल अग्निकाण्ड कहीं अनायास हुआ करता है । जो काण्ड उद्देश्य की पूर्ति में सक्षम हो, वह सुनियोजित ही होता है ।"

"फिर तो यह भी जानते होंगे कि इस अग्निकाण्ड के पीछे हाथ किसका है ?"

"इतना ही जानता होता तो यहाँ पड़ा न रहता । अब तक महामात्य की सेवा में निवेदन कर रहा होता ।"

"निवेदन तो अब भी कर सकते हो ।"

"क्या ?"

"जो जी में आये । कोई भी मनगढ़न्त कहानी निवेदन कर दो जाकर ।"

"महामात्य की अंतर्दृष्टि से सम्भवतः अभी तुम परिचित नहीं हो । उनका अनुमान तक वास्तविकता के सर्वाधिक निकट होता है । तथ्यहीन निवेदन तनिक भी न टिक सकेगा । तत्काल पकड़ लिया जाऊँगा । उनकी कृपा का पात्र बनने में उतना लाभ नहीं है जितनी हानि है उनके कोपभाजन

बनने में । महाराज जी के सामने तक जाने में उतना डर नहीं लगता है जितना महामात्य की स्मृति मात्र तक से भय लगता है। न जाने क्या शक्ति है उनमें कि सामना होते ही वास्तविकता प्रकट हुए बिना नहीं रहती। मुझे उनकी दृष्टि मे पुरस्कृत नही होना है।"

"यह सौभाग्य फिर महाबलाधिकृत को ही प्राप्त होना है।"

"महामात्य के वह सर्वाधिक विश्वासपात्र व्यक्ति हैं।"

"होंगे क्यों नहीं। कितनी ही बार तो वह दुस्साहस का परिचय दे चुके हैं।"

"यश भी तो कम अर्जित नही किया है। सुयश नाम को सार्थक ही सिद्ध किया है।"

"अरे! यह क्या? जले-भुने मानव अंग आकाश में उछल रहे हैं। विस्फोटक पदार्थ कदाचित अब भी शेष हैं।"

"जिसके भी मस्तिष्क की उपज होगा यह काण्ड, है बड़ा सफल आयोजक वह।"

"इस साम्राज्य मे सफल आयोजक तो एक ही हैं।"

"महामात्य की ओर तुम्हारा संकेत तो नही है?"

क्यो? क्या उनसे भी बढ़-चढ़कर कोई दूसरा है?"

"हैं तो वह अप्रतिम, किन्तु उनसे ऐसे काण्ड की आशा नहीं की जा सकती।"

"साम्राज्य के हित मे वह किसी सीमा तक कुछ भी कर सकते हैं।"

"किन्तु मुझे विश्वास नही होता।"

"सावधान! एकबार ईश्वर पर अविश्वास कर लेना, किन्तु महामात्य की शक्ति पर भूलकर भी नही। दूरदृष्टि ही तो उनकी शक्ति है।"

"शक्ति जो भी हो, लोहा उनका सभी मानते हैं। इस वृद्धावस्था में भी उनमें अभी अजेय शक्ति शेष है।"

"जब तक वह हैं तभी तक इस मगध साम्राज्य को भी निरापद समझो। न जाने कौन चूक कैसी विपदा खड़ी कर दे।"

"मगर हमारे भावी महाराज को कम मत समझो। वह स्वर्गीय महाराज जी से भी अधिक पराक्रमी और निरालस्य हैं।"

"भावी महाराज से तुम्हारा अभिप्राय?"

"युवराज यदि इस अग्निकाण्ड में भस्म हो गये हैं तो कुमार अशोक ही एकमात्र ऐसे उत्तराधिकारी हैं जिनका सम्राट-पद पर आसीन होना सुनिश्चित है।"

"यदि महामात्य चाहेंगे तो ।"

"महामात्य को चाहना पड़ेगा । उज्जैन और तक्षशिला के विद्रोहों को जितनी वीरता से उन्होंने शान्त किया है, वो किसी के वश की बात ? वह जो चाहेंगे वही महामात्य चाहेंगे ।"

"यह तो समय ही बतायेगा कि कौन किससे क्या मनवाता है ।"

"विगत सफलतायें भी तो कुछ बोलती हैं । मुझे तो पूर्ण विश्वास है कि सम्राट-पद ग्रहण करते ही कुमार अशोक अपने पिता और पितामह की भांति महामात्य के आधीन न रहेंगे ।"

"फिर यह भी समझ लीजिए कि महामात्य इस पद को भी त्याग देंगे ।"

"फिर इस पद का अधिकारी कौन बनेगा ?"

"जिसे महामात्य बना जायेंगे । वैसे अमात्य खल्लाटक के महामात्य बनने की सम्भावना है ।"

"असम्भव ! अमात्य खल्लाटक महामात्य कभी नहीं बन सकते ।"

"क्यों अमात्य परिषद के अधिकांश सदस्य खल्लाटक का सम्मान करते हैं । जब वह बोलने खड़े होते हैं तब सभी बैठ जाते हैं । एक भी उनका विरोध करने का साहस नहीं करता ।"

"लेकिन यह भी सोचा है कि अमात्य खल्लाटक का मुंह तभी खुलता है जब महामात्य परिषद में उपस्थित नहीं होते हैं ।"

"महामात्य का चुनाव तो अमात्यों के मतों के आधार पर ही होना है । जिसे अमात्य चाहेंगे वही महामात्य बनेगा ।"

"और महामात्य जिसे भी अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करना चाहेंगे, उसके पक्ष में ऐसा भाषण देंगे कि अधिकांश अमात्य उनके पक्षधर बन जायेंगे ।"

"अमात्य खल्लाटक यद्यपि अन्दर-ही-अन्दर महामात्य की नीतियों के विरोधी हैं किन्तु प्रत्यक्षतः कभी विरोध प्रकट नहीं करते हैं ।"

"बड़े लोगों की माया है । वे जानें उनका काम जाने । भीतर क्या है, बाहर क्या है—वे ही जान सकते है । व्यर्थ में क्यों हमलोग माथापच्ची करें । न ऊधव का लेना न माधव का देना । क्या आग है ! आग का इतना भीषण रूप कभी नहीं देखा ।"

"जो न देखना पड़े सो थोड़ा है । अरे ! महाबलाधिकृत जी तो इधर ही आ रहे हैं ।"

"यह भी अपने में अकेले हैं । न आगे कोई न पीछे । दिन-रात साम्राज्य-सेवा की धुन में मस्त रहते हैं ।"

"कर्तव्यनिष्ठ प्राणी का यही रूप होता है। प्रदन मात्र होता है उत्तर-दायित्व की अनुभूति का। महाबलाधिकृत जी इस दृष्टि से भी अनुपम हैं।"

"प्रशंसा तुम नहीं करोगे तो कौन करेगा। प्रोन्नति जो अभी प्राप्त हुई है।"

"बस शान्त! आगे कुछ भी बोले तो सब खोलकर रख दूंगा।"

"जीवन भर किया ही क्या है। दूसरों को खोलना और अपनी मूंदना ही काम रहा है तुम्हारा। अभ्यास पुराना है, छूटने से रहा। किन्तु साहस चाहिए महाबलाधिकृत का सामना करने का।"

"लो फिर आज यह भी देख लो। फिर न कहना कि मित्रता नहीं निभाई।"

"कभी भी निभाई है कि आज ही निभाओगे।"

"फिर मित्रता का निर्वाह ही देख लो।"

"यह तो गंगा में हाथ धोने की तुम्हारी पुरानी प्रकृति है। जिनके किये-धरे कुछ नहीं होता, वे इसी तरह धमकाते हैं।"

"देखो, पानी पर मत चढ़ाओ। चढ़ गया तो फिर उतरने वाला नहीं।"

"मुझे तो कभी कोई अन्तर नहीं लगा कि कब चढ़े और कब उतरे। सदा एक-से दिखाई देते हो। बस जिह्वा की लपालपी रहती है।"

"तुम्हीं ने कितने कुएँ खोद डाले हैं। सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे तो हैं।"

"सावधान! महाबलाधिकृत जी यथेष्ट निकट आ गये हैं। कहीं सुन लिया तो छठी का दूध याद आ जायेगा।"

"फिर शान्त रहो न। क्यों बोले जा रहे हो?"

निकट आते ही महाबलाधिकृत ने पूछा, "कोई विशेष बात?

"जी नहीं, सब ठीक है।" एक ने उत्तर दिया।

दूसरा बोला, "आपकी उपस्थिति में कोई भी गड़बड़ी कैसे सम्भव है।"

"विशेष सावधान रहने की आवश्यकता है।"

"जो आज्ञा! हम दोनों ही सजग और सतर्क हैं।" महाबलाधिकृत के आगे बढ़ने पर वह बोला, "अपनी भांति सबको समझ रखा है। स्वयं साव-धान होते तो यह अग्निकाण्ड होता ही क्यों? अब तो हम सबको तापना है, ताप रहे हैं। जो होना था सो हो गया। अब क्या होना है। और अगर कुछ होगा भी तो उसे भी इसी तरह देख लेंगे।"

"बहुत बोलता है तू। कुछ देर तो शान्त रहना सीख। आवश्यक कम अनावश्यक अधिक बोलता है।"

"अनावश्यक ही सही। मन में जो आया, बोल दिया। तेरी तरह मुंह-

चुप्पा तो नहीं हूँ । मन-ही-मन कुढ़ता तो नहीं रहता हूँ।"

"अच्छा बाबा तू जीता, मैं हारा । अब तो रहेगा चुप ?"

"इतनी देर में पहचानो अपनी वास्तविकता । पहले ही पहचान लेते तो इतनी क्यों खोपड़ी खाली करनी पड़ती । भविष्य में ध्यान रखना, प्रारम्भ में ही अपने आपको पहचान लिया करना ।"

"पहचान लिया और साथ में तुम्हें भी पहचान लिया ।"

"पहचानोगे कैसे नहीं । हम दोनों क्या अलग-अलग हैं ? एक प्राण दो शरीर जो ठहरे । आओ गले मिल लें ।" उसने दोनों हाथ फैलाये । और नेत्र बन्द कर लिये ।

दूसरे को अवसर मिल गया । वह धीरे से खिसक गया ।

उसने जब आँखें खोली तब वह दिखाई नहीं दिया । हाथ नीचे करते हुए वह बोला, "बस, इसका यही स्वभाव मुझे पसन्द नहीं । ठीक अवसर पर अवश्य धोखा देगा । ठीक है, पर बच्चू जाओगे कहाँ । जहाँ भी होगे, पकड़ ही लूंगा । ठहरो, मैं भी आता हूँ ।" सस्वर वह भी वहाँ से खिसका ।



दिन और रात निरन्तर जलने के बाद सैनिक शक्ति ने अनुमति दी कि आग बुझाई जाय । आदेश व्यक्त होते ही प्रजा घरों से पानी से भरे बरतन लेकर दौड़ पड़ी अग्निकाण्डस्थल की ओर । जल कुओं, बावड़ियों, तालाबों और पोखरों से लाया जाने लगा । पानी आग पर नहीं राख पर पड़ रहा था । सैनिक पूर्ववत् अपने स्थानों पर खड़े थे । सशस्त्र सैनिकों के भय से प्रजा कुछ भी प्रतिक्रिया न व्यक्त कर पा रही थी । अग्निकाण्ड की सूचना पा-पा कर अमात्य तक उस स्थल विशेष तक आ चुके थे, किन्तु प्रतिक्रिया व्यक्त किये बिना ही लौट गये थे । सभी समझते थे कि मगध साम्राज्य में जो भी असाधारण घटना घटित होती है, उसके सूत्रधार महामात्य ही होते हैं । अमात्य राजमार्गों पर तो नहीं, किन्तु अपने निवासों पर अपना अभिमत अवश्य प्रकट कर रहे थे ।

प्रजा प्रायः तटस्थ रहती थी । वह अग्निकाण्ड से होने वाली क्षति से उतनी दुःखी न थी जितनी भयभीत थी भावी परिवर्तन की कल्पना मात्र से ।

युवराज का महत्व प्रजा की दृष्टि में राजा के पश्चात होता था। युवराज की दु:खद मृत्यु से सभी दुखी थे। और जो कहानियाँ उस प्रासाद विशेष से सुनने को मिली थी, उन्हें सोच-सोचकर तो आश्चर्य ही हो रहा था। इतना सशक्त वीरमण्डल बिना संघर्ष के ही स्वाहा हो गया, यह तो और भी अधिक अविश्वसनीय लग रहा था, किन्तु यथार्थ के प्रति कब तक आँखें मूंदी रखी जा सकती थी। जल द्वारा ठंढी राख पर पैर रखे जाने लगे थे। चारों ओर से पानी डाला जा रहा था। प्रासाद की काली-काली जली-अधजली ऊँची-ऊँची दीवारें दिखाई दे रही थीं। पानी डालने वालों में होड़ लग गई थी कि कौन पहले दीवारों तक पहुँचे। सभी का विश्वास था कि जीवित तो कोई बचा नहीं होगा किन्तु जले हुए शवों से मृतकों की संख्या का सही-सही अनुमान अवश्य लग जायेगा। इसी विश्वास के सहारे वे प्रतिक्षण आगे बढ़ रहे थे।

उधर महामात्य ने मिलना या दर्शन देना बन्द कर दिया था। वह कुटी के अन्दर रहते या फिर टीले की चोटी पर कभी-कभी दिखाई दे जाते। न जाने वह वहाँ से क्या देखते थे। दिन में कई-बार उन्हें चोटी से चारों ओर देखते हुए देखा गया था किन्तु उनसे कुछ भी पूछने का साहस किसमें था। लोगों को यह भी अनुभव था कि महामात्य की गर्जना या घोषणा से उनका मौन अधिक भयंकर होता था। अमात्य तक आमन्त्रण की प्रतीक्षा में थे। राजपरिवार के अन्यान्य सदस्य तो और भी अधिक भयभीत थे। युवराज के शक्तिमण्डल पर उन्हें बहुत भरोसा था। उसका भी जब अस्तित्व तक न रहा तो प्राणों के मोह से वे पीड़ित हो उठे। हर एक लुकने-छिपने की चेष्टा कर रहा था। अपनी दृष्टि तक से अपने को छुपा रहा था। राजप्रासाद में सन्नाटा छाया हुआ था। गतिविधि शून्य थी। रागरंग को लकवा मार गया था। चाञ्चल्य और अल्हड़ता भी प्रसुप्तावस्था में जा पहुँची थी। सर्वत्र ध्वनि-रहित वातावरण था। यदि जीवन के कहीं दर्शन हो रहे थे तो वह कक्ष था कुमार अशोक का। उस कक्ष से कभी-कभी जोर से बोलने की ध्वनि आती थी तो कभी-कभी हँसने-खिलखिलाने का भी आभास मिलता था। जिन्हें भी यह सब सुनने को मिल रहा था, वे विश्वास न कर पा रहे थे कि इतना बड़ा अग्निकाण्ड हो गया और कुमार अशोक के मन में [illegible] विषाद की रेखा तक नहीं है। कभी महारानी शुभद्रांगी की व्यक्ति[illegible] का उस कक्ष में आती-जाती दिखाई दे [illegible] और कभी

कक्ष में जा पहुँचे। राधागुप्त उस कक्ष में टहल रहे थे। कुमार अशोक ने टोका, "अमात्यवर ! यह बेचैनी कैसी ?"

"बेचैनी ! कहाँ बेचैनी ? कैसी बेचैनी ?"

"कक्ष आराम के लिए होता है। कक्ष में टहलना बेचैनी नहीं तो और क्या है ?"

अमात्य राधागुप्त ने मन की बात खोलकर कह दी, "कुमार ! न जाने क्यों सहसा गुरुदेव स्मरण आ रहे हैं। उनकी मुद्रा तक नेत्रों के समक्ष उपस्थित है। या तो वह स्मरण कर रहे हैं या फिर वह स्वयं पधार रहे हैं।"

"और आप हैं कि यहाँ से हिल नहीं सकते। गुरुदेव के आदेश की महत्ता आपके लिए सर्वोपरि है। किन्तु मेरा विचार है कि आप जाइए और गुरुदेव के दर्शन कीजिए जाकर या फिर मैं जा रहा हूँ। सीधे गुरुदेव की सेवा में ही उपस्थित होऊँगा।"

"सम्भव है, उनका संदेश ही आ रहा हो।"

"आप कीजिए प्रतीक्षा और मैं चला।"

"कुमार ! कुमार !!" अमात्य राधागुप्त का कण्ठस्वर कुमार के कर्ण-कुहरों से टकराकर वापस आ गया। एक क्षण के लिए तो वह ठिठके फिर वह भी चल दिये उसी दिशा में। पीछे से अमात्य राधागुप्त को सुनाई दिया, "ठहरिए, अमात्यवर ! हम भी चल रहे हैं साथ आपके।"

"क्यों ? किसलिये ? इस पुरुषवेश में चलकर क्या करोगी ?"

"आप करेंगे महाराज जी का अनुसरण और हम करेंगी अनुसरण आपका। न मालूम कैसी आवश्यता पड़ जाय।"

"कुमार क्या कहकर गये हैं ?"

"आपके साथ वार्तालाप द्वारा नीरसता समाप्त करने की इच्छा प्रकट की थी, किन्तु आपके कक्ष में तो वह कुछ क्षण भी नहीं रुके। आपको बता गये होंगे कि कहाँ गये हैं।"

"हाँ, किन्तु गुरुदेव की कुटी तक मार्ग लम्बा है। नगर का वातावरण असामान्य है। मार्ग सुरक्षित नहीं है। किसी भी प्रकार की घटना घट सकती है।"

"फिर तो अवश्य ही चलना है हम लोगों को। अकेले आप क्या कर सकेंगे ? एक से दो भले और दो से तीन तो और भी उपयोगी रहते हैं।"

"अच्छा होता कि तुम दोनों यहीं रहतीं।"

"किसलिये ? न आप हैं न महाराज जी। महाराज जी के साथ ही लौट आयेंगी।"

"फिर, कुछ अन्तर से आओ, साथ नहीं।"

"जो आज्ञा।"

अमात्य राधागुप्त राजप्रासाद से बाहर निकल ही पाये होंगे कि उन दोनों ने भी पैर बढ़ा दिये।



'अमात्य परिषद की बैठक रविवार को प्रातःकाल आठ बजे होगी'—महामात्य के द्वारा प्रसारित यह घोषणा सुनकर सभी अमात्य सजग हो उठे। उनकी शिविकाएँ राजमार्गों पर दौड़ने लगीं। अमात्यों के प्रासादों में दिन-रात चहल-पहल रहने लगी। राजकीय गुप्तचर सतर्क हो उठे। विभिन्न वेषों में वे नीचे से ऊपर तक बिखर गये। कहाँ क्या हो रहा है, कौन अमात्य किस अमात्य के निवास पर कितने समय ठहरा, परस्पर वार्तालाप का विषय क्या रहा, कौन किसके यहाँ कितनी बार आया आदि विषयों पर गुप्त दृष्टियाँ केन्द्रित होने लगीं। गुप्तचर वर्ग की गतिविधियों पर दृष्टि रखने के लिए एक विशिष्ट गुप्तचर विभाग था जिसका प्रमुख अधिकारी था संसारचन्द्र। संसार चन्द्र बड़ा ही विलक्षण प्रतिभासम्पन्न अधिकारी था। वेश-परिवर्तन कला में तो वह इतना सुदक्ष था कि पहचानना असम्भव हो जाता था। अवस्था भी अधिक ही थी, किन्तु नवयुवकों में वह ऐसा खप जाता था कि नवयुवक ही प्रतीत होता था और जब वह महामात्य की सेवा में उपस्थित होता था तब वह समवयस्क प्रतीत होने लगता था। मुंह को पोपला बनाने की कला में भी वह माहिर था। पोपला मुंह लिए वह कुटी द्वार पर पहुँचा तो महामात्य का स्वागत भाव-भर कण्ठस्वर सुनने को मिला, "आओ संसार! भिक्षुक का वेश तो तुमने बहुत सुन्दर बनाया है। हाँ, तो दो दिन शेष हैं। क्या तैयारियाँ हैं?"

"तैयारियाँ तो ऐसी की जा रही हैं जैसी कभी नहीं हुईं, किन्तु आपसे भयभीत सभी हैं। अकाट्य तर्कों तक को प्रस्तुत करने में आगा-पीछा सोच रहे हैं। विषय तो असंख्य सोचे गये हैं, किन्तु सभा में उपस्थित भी किये जायेंगे, सन्देहास्पद है। और इसका मुख्य कारण है आपके द्वारा विषय की घोषणा का न किया जाना। आपके दृष्टिकोण की स्पष्टता के अभाव में सभी

अमात्य अनिश्चयात्मक स्थिति में हैं। मुझे तक तो ज्ञात है नहीं।"

"क्या नहीं ज्ञात है ? जो मुझे भी ज्ञात नहीं होता, उससे तुम अवगत रहते हो। मैं भी तो वही जान पाता हूँ जो तुम सूचित करते हो।"

"और मैं उसी की सूचना देता हूँ जिसकी आज्ञा होती है।"

"संसार ! नंदवंश समाप्त हो गया। मौर्य साम्राज्य की स्थापना हो गई। सम्राट चन्द्रगुप्त का स्वर्गवास हो गया। महाराज बिम्बसार की भी इहलीला समाप्त हो गई, किन्तु संसार पूर्ववत है। परिवर्तन का कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं हो रहा है।"

"महामात्यवर ! क्यों अपनी स्थिर स्थिति पर प्रकाश डाल रहे हैं ? संसार के मायामोह से निर्लिप्त आप पूर्ववत् साम्राज्य की सेवा करते चले आ रहे हैं। कब तक करेंगे इस उत्तरदायित्व का निर्वाह ?"

"बस, मात्र इसी परिवर्तन की प्रतीक्षा थी।"

बीच में ही संसारचन्द्र बोल उठे, "समझ गया। समझ गया !! समझ गया परिषद में क्या होना है। किन्तु आश्चर्य इस बात पर है कि इस विषय का परिज्ञान सभी को है और विरोध के लिए सब अमात्य कटिबद्ध भी हैं।"

"कितने निकट से जाना है ?"

"अमात्य रूप धारण कर-कर वार्तालाप की है।"

"प्रमुख कौन हैं ?"

"वे ही हैं—खल्लाटक, श्रीधर, शशिगुप्त, कृष्णकान्त, सुबन्धु आदि। सर्वाधिक सशक्त स्वर खल्लाटक का ही होगा।"

"वह तो सदा रहता है। राजवंश में से कौन तैयार है ?"

"तिष्यगुप्त ही प्रतिनिधित्व करेंगे। किन्तु वह पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं।"

"क्यों, वह तो सम्राट-पद के प्रत्याशियों में से थे ?"

"कदाचित वह कुमार अशोक के उग्र स्वभाव से भयभीत हैं। उनका तो विश्वास है कि कुमार अशोक परम्पराभंजक सिद्ध होंगे।"

"नई परम्पराएँ जन्म तो ग्रहण करेंगी। समय सदा एक सा नहीं रहता कभी-कभी परम्पराओं में भी परिवर्तन वांछनीय होता है।"

"जो होना होता है, मानवीय बुद्धि वैसी ही हो जाती है। अब मुझे अनुमति दीजिए। अनेक अधिकारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

"जाओ, कल प्रातः तो भेंट करोगे ही ?"

"अवश्य, आज्ञा हो तो रात्रि में ही आ जाऊँ।"

"कोई विशेष समाचार हो तो।"

"अच्छा, प्रणाम महामात्यवर।" संसारचन्द्र शिष्टाचार की मुद्रा धारण कर कुटी के बाहर हो गये।

"फिर, कुछ अन्तर से आओ, साथ नहीं।"

"जो आज्ञा।"

अमात्य राधागुप्त राजप्रासाद से बाहर निकल ही पाये होंगे कि उन दोनों ने भी पैर बढ़ा दिये।



'अमात्य परिषद की बैठक रविवार को प्रातःकाल आठ बजे होगी'—महामात्य के द्वारा प्रसारित यह घोषणा सुनकर सभी अमात्य सजग हो उठे। उनकी शिविकाएँ राजमार्गों पर दौड़ने लगीं। अमात्यों के प्रासादों में दिन-रात चहल-पहल रहने लगी। राजकीय गुप्तचर सतर्क हो उठे। विभिन्न वेषों में वे नीचे से ऊपर तक बिखर गये। कहाँ क्या हो रहा है, कौन अमात्य किस अमात्य के निवास पर कितने समय ठहरा, परस्पर वार्तालाप का विषय क्या रहा, कौन किसके यहाँ कितनी बार आया आदि विषयों पर गुप्त दृष्टियाँ केन्द्रित होने लगीं। गुप्तचर वर्ग की गतिविधियों पर दृष्टि रखने के लिए एक विशिष्ट गुप्तचर विभाग था जिसका प्रमुख अधिकारी था संसारचन्द्र। संसार चन्द्र बड़ा ही विलक्षण प्रतिभासम्पन्न अधिकारी था। वेश-परिवर्तन कला में तो वह इतना सुदक्ष था कि पहचानना असम्भव हो जाता था। अवस्था भी अधिक ही थी, किन्तु नवयुवकों में वह ऐसा खप जाता था कि नवयुवक ही प्रतीत होता था और जब वह महामात्य की सेवा में उपस्थित होता था तब वह समवयस्क प्रतीत होने लगता था। मुंह को पोपला बनाने की कला में भी वह माहिर था। पोपला मुंह लिए वह कुटी द्वार पर पहुँचा तो महामात्य का स्वागत भाव-भर कण्ठस्वर सुनने को मिला, "आओ संसार! भिक्षुक का वेश तो तुमने बहुत सुन्दर बनाया है। हाँ, तो दो दिन शेष हैं। क्या तैयारियाँ हैं?"

"तैयारियां तो ऐसी की जा रही हैं जैसी कभी नहीं हुईं, किन्तु आपसे भयभीत सभी हैं। अकाट्य तर्कों तक को प्रस्तुत करने में आगा-पीछा सोच रहे हैं। विषय तो असंख्य सोचे गये हैं, किन्तु सभा में उपस्थित भी किये जायेंगे, सन्देहास्पद है। और इसका मुख्य कारण है आपके द्वारा विषय की घोषणा का न किया जाना। आपके दृष्टिकोण की स्पष्टता के अभाव में सभी

अमात्य अनिश्चयात्मक स्थिति में हैं। मुझे तक तो ज्ञात है नहीं।"

"क्या नहीं ज्ञात है ? जो मुझे भी ज्ञात नहीं होता, उससे तुम अवगत रहते हो। मैं भी तो वही जान पाता हूँ जो तुम सूचित करते हो।"

"और मैं उसी की सूचना देता हूँ जिसकी आज्ञा होती है।"

"संसार ! नंदवंश समाप्त हो गया। मौर्य साम्राज्य की स्थापना हो गई। सम्राट चन्द्रगुप्त का स्वर्गवास हो गया। महाराज बिम्बसार की भी इहलीला समाप्त हो गई, किन्तु संसार पूर्ववत है। परिवर्तन का कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं हो रहा है।"

"महामात्यवर ! क्यों अपनी स्थिर स्थिति पर प्रकाश डाल रहे हैं ? संसार के मायामोह से निर्लिप्त आप पूर्ववत् साम्राज्य की सेवा करते चले आ रहे हैं। कब तक करेंगे इस उत्तरदायित्व का निर्वाह ?"

"बस, मात्र इसी परिवर्तन की प्रतीक्षा थी।"

बीच में ही संसारचन्द्र बोल उठे, "समझ गया। समझ गया !! समझ गया परिषद में क्या होना है। किन्तु आश्चर्य इस बात पर है कि इस विषय का परिज्ञान सभी को है और विरोध के लिए सब अमात्य कटिबद्ध भी हैं।"

"कितने निकट से जाना है ?"

"अमात्य रूप धारण कर-कर वार्तालाप की है।"

"प्रमुख कौन हैं ?"

"वे ही हैं—खल्लाटक, श्रीधर, शशिगुप्त, कृष्णकान्त, सुबन्धु आदि। सर्वाधिक सशक्त स्वर खल्लाटक का ही होगा।"

"वह तो सदा रहता है। राजवंश में से कौन तैयार है ?"

"तिष्यगुप्त ही प्रतिनिधित्व करेंगे। किन्तु वह पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं।"

"क्यों, वह तो सम्राट-पद के प्रत्याशियों में से थे ?"

"कदाचित वह कुमार अशोक के उग्र स्वभाव से भयभीत हैं। उनका तो विश्वास है कि कुमार अशोक परम्पराभंजक सिद्ध होंगे।"

"नई परम्पराएँ जन्म तो ग्रहण करेंगी। समय सदा एक सा नहीं रहता कभी-कभी परम्पराओं में भी परिवर्तन वांछनीय होता है।"

"जो होना होता है, मानवीय बुद्धि वैसी ही हो जाती है। अब मुझे अनुमति दीजिए। अनेक अधिकारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

"जाओ, कल प्रात: तो भेंट करोगे ही ?"

"अवश्य, आज्ञा हो तो रात्रि में ही आ जाऊँ।"

"कोई विशेष समाचार हो तो।"

"अच्छा, प्रणाम महामात्यवर।" संसारचन्द्र शिष्टाचार की मुद्रा धारण कर कुटी के बाहर हो गये।

"फिर, कुछ अन्तर से आओ, साथ नहीं।"

"जो आज्ञा।"

अमात्य राधागुप्त राजप्रासाद से बाहर निकल ही पाये होंगे कि उन दोनों ने भी पैर बढ़ा दिये।



'अमात्य परिषद की बैठक रविवार को प्रातःकाल आठ बजे होगी'—महामात्य के द्वारा प्रसारित यह घोषणा सुनकर सभी अमात्य सजग हो उठे। उनकी शिविकाएँ राजमार्गों पर दौड़ने लगीं। अमात्यों के प्रासादों में दिन-रात चहल-पहल रहने लगी। राजकीय गुप्तचर सतर्क हो उठे। विभिन्न वेषों में वे नीचे से ऊपर तक बिखर गये। कहाँ क्या हो रहा है, कौन अमात्य किस अमात्य के निवास पर कितने समय ठहरा, परस्पर वार्तालाप का विषय क्या रहा, कौन किसके यहाँ कितनी बार आया आदि क्रियाओं पर गुप्त दृष्टियाँ केन्द्रित होने लगीं। गुप्तचर वर्ग की गतिविधियों पर दृष्टि रखने के लिए एक विशिष्ट गुप्तचर विभाग था जिसका प्रमुख अधिकारी था संसारचन्द्र। संसार चन्द्र बड़ा ही विलक्षण प्रतिभासम्पन्न अधिकारी था। वेश-परिवर्तन कला में तो वह इतना सुदक्ष था कि पहचानना असम्भव हो जाता था। अवस्था भी अधिक हो गी, किन्तु नवयुवकों में वह ऐसा खप जाता था कि नवयुवक ही प्रतीत होता था और जब वह महामात्य की सेवा में उपस्थित होता था तब वह समवयस्क प्रतीत होने लगता था। मुंह को पोपला बनाने की कला में भी वह माहिर था। पोपला मुंह लिए वह कुटी द्वार पर पहुँचा तो महामात्य का स्वागत भाव-भरा कण्ठस्वर सुनने को मिला, "आओ संसार! भिक्षुक का वेश तो तुमने बहुत सुन्दर बनाया है। हाँ, तो दो दिन शेष हैं। क्या तैयारियाँ हैं ?"

"तैयारियां तो ऐसी की जा रही हैं जैसी कभी नहीं हुई, किन्तु आपसे भयभीत सभी हैं। अकाट्य तर्कों तक को प्रस्तुत करने में आगा-पीछा सोच रहे हैं। विषय तो असंख्य सोचे गये हैं, किन्तु सभा में उपस्थित भी किये जायेंगे, सन्देहास्पद है। और इसका मुख्य कारण है आपके द्वारा विषय की घोषणा का न किया जाना। आपके दृष्टिकोण की स्पष्टता के अभाव में सभी

अमात्य अनिश्चयात्मक स्थिति में हैं। मुझे तक तो ज्ञात है नहीं।"

"क्या नहीं ज्ञात है ? जो मुझे भी ज्ञात नहीं होता, उससे तुम अवगत रहते हो। मैं भी तो वही जान पाता हूँ जो तुम सूचित करते हो।"

"और मैं उसी की सूचना देता हूँ जिसकी आज्ञा होती है।"

"संसार ! नंदवंश समाप्त हो गया। मौर्य साम्राज्य की स्थापना हो गई। सम्राट चन्द्रगुप्त का स्वर्गवास हो गया। महाराज बिम्बसार की भी इहलीला समाप्त हो गई, किन्तु संसार पूर्ववत है। परिवर्तन का कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं हो रहा है।"

"महामात्यवर ! क्यों अपनी स्थिर स्थिति पर प्रकाश डाल रहे हैं ? संसार के मायामोह से निलिप्त आप पूर्ववत् साम्राज्य की सेवा करते चले आ रहे हैं। कब तक करेंगे इस उत्तरदायित्व का निर्वाह ?"

"बस, मात्र इसी परिवर्तन की प्रतीक्षा थी।"

बीच में ही संसारचन्द्र बोल उठे, "समझ गया। समझ गया !! समझ गया परिषद में क्या होना है। किन्तु आश्चर्य इस बात पर है कि इस विषय का परिज्ञान सभी को है और विरोध के लिए सब अमात्य कटिबद्ध भी हैं।"

"कितने निकट से जाना है ?"

"अमात्य रूप धारण कर-कर वार्तालाप की है।"

"प्रमुख कौन हैं ?"

"वे ही हैं—खल्लाटक, श्रीधर, शशिगुप्त, कृष्णकान्त, सुबन्धु आदि। सर्वाधिक सशक्त स्वर खल्लाटक का ही होगा।"

"वह तो सदा रहता है। राजवंश में से कौन तैयार है ?"

"तिष्यगुप्त ही प्रतिनिधित्व करेंगे। किन्तु वह पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं।"

"क्यों, वह तो सम्राट-पद के प्रत्याशियों में से थे ?"

"कदाचित वह कुमार अशोक के उग्र स्वभाव से भयभीत हैं। उनका तो विश्वास है कि कुमार अशोक परम्पराभंजक सिद्ध होंगे।"

"नई परम्पराएँ जन्म तो ग्रहण करेंगी। समय सदा एक सा नहीं रहता कभी-कभी परम्पराओं में भी परिवर्तन वांछनीय होता है।"

"जो होना होता है, मानवीय बुद्धि वैसी ही हो जाती है। अब मुझे अनुमति दीजिए। अनेक अधिकारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

"जाओ, कल प्रातः तो भेंट करोगे ही ?"

"अवश्य, आज्ञा हो तो रात्रि में ही आ जाऊँ।"

"कोई विशेष समाचार हो तो।"

"अच्छा, प्रणाम महामात्यवर।" संसारचन्द्र शिष्टाचार की मुद्रा धारण कर कुटी के बाहर हो गये।

ooo

सम्पूर्ण पाटलिपुत्र नगर सहसा एकसाथ जाग उठा था। बड़ी चहल-पहल दिखाई दे रही थी। दौड़-धूप चरम सीमा पर थी। प्रत्येक व्यस्त था। कोई किसी की बात न सुन रहा था। लक्ष्य प्राप्त के प्रयास में हर एक इतना ध्यानावस्थित था कि व्यवधान के चिह्न तक प्रकट न हो पा रहे थे। अमात्यपरिषद की सभा का आयोजन जो था। सभी अमात्यों को नगर के विभिन्न अंचलों से सभाभवन की ओर आना था। अधिकांश अमात्यों की सवारी का साधन शिविकायें ही थीं। कम-से-कम चार व्यक्ति शिविका के लिए आवश्यक समझे जाते थे। उनकी तैयारी में उनके पूरे परिवार व्यस्त थे। वे वस्त्र-परिवर्तन मात्र ही न कर रहे थे, विविध पदार्थों से उन्हें सुगन्धित भी बना रहे थे। सभाभवन लगभग नगर के केन्द्र में स्थित था। सभाभवन तक जाने वाले राजमार्ग रात्रि में धोये ही न गये थे, उनके दोनों ओर दूर-दूर तक सफाई कर दी गई थी। चौराहों पर सरकारी कर्मचारियों की विशेष व्यवस्था थी। ये मार्ग-निर्देशन ही न कर रहे थे, जनसमूह को नियन्त्रित बनाए रखने की भी असफल चेष्टा कर रहे थे। भीड़ भी कि शनैः शनैः बढ़ती ही जा रही थी किन्तु किसी भी स्तर पर शालीनता भंग न होने पा रही थी। शिष्टाचार का पर्याप्त मात्रा में पालन हो रहा था। राजमार्ग पर एक भी पशु दृष्टिगत न हो रहा था। राज्याधिकारियों को भी तो सभास्थल पर पहुँचना आवश्यक था। उनके स्वागत हेतु राजकर्मचारियों को उनसे पूर्व अपने-अपने कर्तव्य बिन्दुओं पर उपस्थित हो जाना था। सामान्यजन-अधिकारियों और कर्मचारियों को एक साथ देखने के लिये उत्सुक था। जनसमूह उस गति से अग्रसर न हो पा रहा था जिस तीव्रता से उनकी उत्सुकता आगे बढ़ रही थी। यद्यपि सभाभवन के बाहर सुविस्तृत भू-भाग था जिसमें विशाल जनसमूह एकत्र हो सकता था तथापि स्थान की सीमा थी, जनसमूह की नहीं। देख-देखकर प्रत्येक इस बात पर भी कम आश्चर्य न हो रहा था कि पाटलिपुत्र नगर में इतना बड़ा जनसमूह निवास करता था। किन्तु उन्हें क्या ज्ञात था कि अवन्ती, पश्चिमदेश, सौराष्ट्र, आनर्त, अपरान्त, तक्षशिला, अंग, वंग और कलिंग आदि निकटवर्ती राज्यों से उससे भी अधिक जनसमूह दर्शक के रूप में नगर में प्रविष्ट हो चुका था और वह सभाभवन के चारों ओर रात्रि के अन्तिम प्रहर से ही एकत्र होना प्रारम्भ हो गया था। पाटलिपुत्रवासी जिन्हें जहाँ तक पहुँचने का

अभ्यास था, वे उससे अन्तर तक भी न पहुँच पा रहे थे। वे जितने आश्चर्य-चकित थे, उतने ही निराश भी हो चले थे। उन्होंने अधिकारियों और कर्मचारियों के परिचय का लाभ भी उठाना चाहा, किन्तु प्राङ्गण मे स्थान हो तब न। भरसक चेष्टा करने पर भी वे सरक ही पा रहे थे। निराश होने पर राजमार्गों के दोनों ओर ही खड़े होकर शिविकाओं को जाते हुए देखने मे ही अपनी उपस्थिति की सार्थकता उन्हे अनुभव हुई। समय गतिमान था। शिविकायें भी क्या थी; विविधताओं का अद्भुत संगम था। कोई बड़ी थी तो कोई छोटी, कोई ऊँची थी तो कोई नीची, कोई सामान्य थी, तो कोई असामान्य, किसी को चार व्यक्ति खीच रहे थे तो किसी-किसी को अधिक। अधिकांश शिविकायें खुली थीं। शिविकाओं में बैठे अमात्य राजमार्ग के दोनों ओर के दृश्यों का भरपूर आनन्द लेना चाहते थे। दर्शक भी एक-एक अमात्य को झुक-झुककर देख ही न रहे थे, सुपरिचित होने का सस्वर परिचय भी दे रहे थे। कुछ उमंगित हो हाथ भी हिला रहे थे। होड़ का प्रदर्शन हो रहा था कि कौन कितने अमात्यों को पहचानता था। दर्शक बीच-बीच में अमात्यों की विशेषताओं तक का वर्णन कर चले थे। उन वर्णनों तक मे होड़ लग गई थी। होड़ में शोर अधिक हो चला था। शोर में वास्तविकता दबती जा रही थी। उस दबाव में बढ़ती भीड़ का भार अधिक था। जब अन्तिम शिविका भी निकल गई तो प्रतीक्षा धैर्य खो बैठी। जनसमूह राजमार्ग पर आ गया। स्थिर पैर गतिशील हो उठे। लक्ष्य वही था सभाभवन। धक्का-मुक्की भी अस्तित्व में आ गई थी। यद्यपि शारीरिक शक्ति-प्रदर्शन का अवसर न था तथापि शक्ति-प्रयोग के सहारे दूसरों को पछाड़ने में अपने अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध करने में भी पीछे न रहना चाहते थे। किन्तु सभाभवन के समक्ष जो जनसागर घनत्व के कारण शान्त प्रतीत हो रहा था, वह सहसा लहरा उठा। भूकम्प-सा लगा। उच्चतम शिविका को असंख्य दृष्टियों ने लक्ष्य किया। समझ गये लोग कि वह महामात्य की ही शिविका थी। महामात्य की शिविका का आगमन निर्धारित समय की उपस्थिति का प्रतीक था। मार्ग तो पहले से ही सुरक्षित रखा गया था फिर भी, सुरक्षा की दृष्टि से अतिरिक्त सतर्कता अधिकारियों के द्वारा व्यवहृत की जा रही थी। उसी के कारण जनसागर लहरा उठा था। शिविका की गति भी असामान्य थी। वह देखते-देखते सभाभवन के मुख्यद्वार से अन्दर प्रविष्ट हो गई। सभाभवन के अन्दर का दृश्य और भी अधिक दर्शनीय था प्रवेश द्वार के ठीक सामने विशाल मंच बना था जिस पर मगध सम्राट बैठता था। वह खाली था। उसके पीछे राजपरिवार के सदस्य बैठते थे। वहाँ भी कोई न था। राजपरिवार के एक भी सदस्य का वहाँ न

होना, कम आश्चर्यजनक न था। अमात्य अवश्य अपने-अपने निर्धारित स्थानों पर उपस्थित थे। महामात्य के आगमन पर सभी उठ खड़े हुए थे। महामात्य ने एक विहगम दृष्टि डाली उपस्थित अमात्यों पर। किनारों पर उपस्थित सरकारी अधिकारी उनकी दृष्टि से ओझल न रह सके थे। महामात्य निरीक्षण कर भंगिमा धारण कर अपने स्थान तक पहुँचे और पार्श्व में उपस्थित राधागुप्त से प्रश्न किया, "कुमार कहाँ हैं ?"

"बस, आ ही रहे होंगे।"

"सभा के लिये यही समय तो निर्धारित था ?"

"लीजिए, यह आ भी रहे हैं।" सभाभवन में प्रवेश करते हुए कुमार अशोक को लक्ष्य किया राधागुप्त ने।

कुमार अशोक की गति भी स्वभाव के अनुरूप ही असामान्य थी। अमात्यों की दृष्टि के केन्द्रबिन्दु महामात्य के स्थान पर कुमार अशोक बन गये थे। महामात्य के निकट पहुँचते ही कुमार अशोक ने प्रणाम की मुद्रा धारण की। महामात्य ने आशीर्वाद दिया, "उत्तरोत्तर यशस्वी बनो।" थोड़ा मस्तक और अधिक झुकाकर कुमार अशोक ने आशीर्वाद ग्रहण किया और आदेश की प्रतीक्षा में सीधे तनकर खड़े हो गये।

महामात्य ने सामयिक आवश्यकता को प्रकट किया, "अभी मगध सम्राट के प्रतिनिधि के रिक्त स्थान को सुशोभित कीजिए।" कुमार अशोक के निर्देशित स्थान के ग्रहण करते ही महामात्य ने सभा को सम्बोधित किया, "सम्मान्य सम्राट प्रतिनिधि कुमार जी उपस्थित अमात्यों, अधिकारियों एवं विशिष्ट नागरिको! जिस प्रकार व्यक्ति आते हैं और चले जाते हैं, किन्तु राष्ट्र का जीवन सतत प्रवहमान रहता है, उसी प्रकार सम्राट सत्ता धारण करते हैं और अशक्त होने पर सत्ता से च्युत होते हैं, किन्तु सम्राट-पद की महत्ता अक्षुण्ण रहती है। मगध साम्राज्य का यह सम्राट-पद आज रिक्त है। स्वर्गवासी महाराज जी के अभाव की अनुभूति विशेष पीड़ादायिनी प्रतीत हो रही है। किन्तु पीड़ा प्रकृत्या अल्पकालीन होती है। विस्मृति के गर्भ में यह समा जाती है। सम्राट-पद का अधिक समय तक रिक्त रहना सुशासन की दृष्टि से अधिक हितकर नहीं है। इस पर किसी-न-किसी को तो आसीन होना ही है। किन्तु अब वह विकल्प की स्थिति भी नहीं रही। इस समय मगध सम्राट के गौरवशाली पद के अनुरूप एक मात्र उत्तराधिकारी आप लोगों के समक्ष उपस्थित हैं कुमार अशोक। मैं कुमार अशोक को इस सम्राट-पद के सर्वथा उपयुक्त समझता हूँ। मैं उनके विगत जीवन की महत्वपूर्ण उपलब्धियों से पूर्णतया अवगत हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मगध साम्राज्य की

प्रतिष्ठा इनके हाथों में सुरक्षित रहेगी। जिन्हें मेरे इस प्रस्ताव के विरुद्ध जो कुछ भी कहना हो, स्वतन्त्रता पूर्वक अपने विचार व्यक्त करें।" महामात्य अपने निर्धारित स्थान पर बैठ गये।

जब कोई न उठा अपने स्थान से तो राधागुप्त ने खड़े हो निवेदन किया, "अमात्य खल्लाटक से मेरा निवेदन है कि वह महामात्य के प्रस्ताव का समर्थन करने का कष्ट करें।"

विवश हो अमात्य खल्लाटक को उठकर खड़ा होना पड़ा। वह बोले, "सभाभवन में उपस्थित महानुभावों! सर्वप्रथम मैं भावी मगध सम्राट कुमार अशोक को बधाई देता हूँ और इसके पश्चात महामात्य की सम्राट-पद के लिए सम्राट चयन क्षमता के समक्ष नतमस्तक होता हूँ। कोई विकल्प नहीं है। सम्पूर्ण अमात्य-परिषद एक स्वर से रिक्त सम्राट पद पर कुमार अशोक के चयन का समर्थन करती है।"

महामात्य सहसा उठ खड़े हुए, "अमात्य खल्लाटक ने अपने समर्थन द्वारा परिषद की सहमति को स्वर ही प्रदान किया है। मैं कुमार अशोक की सेवा में निवेदन करना अपना धर्म समझता हूँ कि वह मगध सम्राट-पद को विधिवत् सुशोभित करें। कहाँ हैं राजपुरोहित जी ?"

"प्रणाम महामात्य जी ! मैं प्रस्तुत हूँ।"

"आप शास्त्रोक्त विधि से कुमार अशोक को सम्राट-पद पर सुशोभित कीजिए।"

"आइए, कुमार। आगे बढ़िए।" मन्त्रोच्चारण के साथ, "लीजिए यह जल, हाथ धोइए। इस मंगल कलश का पूजन कीजिए। पूजन के पश्चात आप सम्राट-पद ग्रहण कीजिए।" बैठने के पश्चात राजपुरोहित ने कुमार अशोक के मस्तक पर राजमुकुट रखा। मगध सम्राट की जय-जयकार से सभाभवन गूंज उठा। उसी के मध्य राजपुरोहित ने सम्राट अशोक को राजदण्ड थमाया। राजदण्ड धारण करते ही सम्राट अशोक ने दाहिनी भुजा उठा घोषित किया, "यह राजदण्ड मेरी दृष्टि में न्यायदण्ड है। पक्षपात रहित न्याय मेरा राजदर्शन होगा। किसी भी मूल्य पर पक्षपात, अन्याय को समर्थन न मिलेगा। मेरी दृष्टि में अन्यायी अत्याचारी होता है और अत्याचारी को जीवित रहने का अधिकार नहीं होता। सुपुष्ट प्रमाण के अभाव में अन्याय के अस्तित्व की रक्षा न हो सकेगी।"

बीच में ही आचार्य चाणक्य बोल उठे, "महाराज जी ने जो सूत्रवत् शासन-दर्शन व्यक्त किया है, वह यथेष्ट है नीतिनिदर्शन के लिए। इस अवसर पर मेरा एक प्रस्ताव और है। मैं अब इस महामात्य पद से मुक्त होना

चाहता हूँ । मेरी इच्छा है कि आपलोग सर्वसम्मति से किसी को भी इस पद के लिए चुन लें । महाराज जी अब मुझे अनुमति दें । महाबलाधिकृत सुयश आपकी सेवा में उपस्थित हैं ही । शेष जब भी मेरी सेवा की आवश्यकता अनुभव करें, सूचित करवा दें । प्रणाम !" महामात्य जिस गति से सभा भवन में पधारे थे, उससे भी तीव्र गति से बाहर निकल गये । सम्राट अशोक तक खड़े हो गये थे । महामात्य के दृष्टि से ओझल होते ही 'मगध सम्राट अशोक की जय' की ध्वनि रह-रहकर गूंजने लगी । सम्पूर्ण वातावरण जयजयकार से निनादित हो उठा था । इस बीच महाबलाधिकृत महामात्य का संकेत पाकर सम्राट के निकट आ गये । परम्परागत रूप में अमात्य राधागुप्त ने दोनों हाथ उठा सभा के विसर्जन का संकेत व्यक्त किया । अमात्य खड़े तो थे ही, विसर्जन का संकेत पाते ही अपने स्थानों से हिले और मुख्य द्वार की ओर खिसकने लगे । अमात्यों के ललाट उनके चिंतित मन-मस्तिष्क का परिचय दे रहे थे । देखते-देखते सभाभवन रिक्त होता चला गया । राजपरिवार के निकास के लिए जो द्वार निर्धारित था, उसी से सम्राट अशोक ज्यों ही सभा से बाहर न हुए, राधागुप्त भी संकेत पर अनुसरण कर उठे । सुयश ने भी उसी द्वार से सम्राट का अनुसरण करना अपना कर्तव्य समझा ।

अमात्य परिषद के निर्णय से अवगत होते ही सभाभवन के बाहर विशाल प्रांगण में प्रतीक्षारत उपस्थित जन समूह सम्राट की जयजयकार द्वारा अपने आन्तरिक उल्लास का प्रदर्शन कर उठा, किन्तु यह उल्लास गतिशील था । जनसागर राजमार्गों पर प्रवाहित हो उठा था ।



कुमार से सम्राट अशोक बनते ही गति में अन्तर आ गया । दृष्टि परिवर्तित हो गई । जो दृष्टि नत किनारों पर दिखाई देते थे, उनके सिर झुके हुए थे । अशोक का मस्तक गर्व से उन्नत था । वह ऐसे चल रहे थे जैसे किसी को पहचानते ही न हों । सम्भावना के विपरीत मुड़ते ही महारानी सुभद्रांगी ने टोका, "इधर कहाँ बेटा ? सीधे चलो न ।"

महारानी के स्वर ने अशोक को आकृष्ट किया । उन्होंने पूछा, "मां ! कहाँ थी तुम ? दिखाई नहीं दीं ?"

"अपने सम्राट बेटे के पीछे ही तो थी। आज मैं बहुत प्रसन्न हूँ, बेटा! मेरी जन्म-जन्म की साध आज पूरी हो गई। अपने बेटे अशोक को सम्राट अशोक के रूप में देख लिया, अब मुझे मृत्यु का वरण करने में कोई कष्ट न होगा।"

"अच्छा माँ! तुम चलकर विश्राम करो। मैं अभी आता हूँ।"

"बहुत अच्छा! पर आना शीघ्र।"

"बहुत शीघ्र माँ।" सम्राट अशोक जिधर मुड़े थे, उसी दिशा में आगे बढ़ गये।

वह एक एक वस्तु का निरीक्षण कर रहे थे। राजप्रासाद के मार्ग अपरिचित प्रतीत हो रहे थे। मार्गों के दोनों ओर विनिर्मित कक्ष सुख-सुविधापूर्ण तो थे, किन्तु वे किनके उपयोग में आते थे, जानने के अभिप्राय से सम्राट अशोक ने पूछा, "इनमें कौन रहता है?"

"महाराज जी की जय हो। राजप्रासाद के इस भाग में भृत्यवर्ग रहता है। परिचारक-परिचारिकायें इनमें विश्राम करते हैं।"

"राजप्रासाद की व्यवस्था के लिए कौन उत्तरदायी है?"

"रक्षकवर्ग आगे रहता है। कदाचित बाहर ही दर्शनार्थ खड़े होंगे।"

"कितनी संख्या में हैं?"

"लगभग दो सहस्त्र होंगे।"

"इस दिशा में क्या है?" बाईं दिशा की ओर संकेत किया सम्राट अशोक ने।

"महाराज जी! यह सामने खाद्य भण्डार गृह है। तेल और घी की बावड़ियां हैं।

"और दाहिनी ओर क्या है?"

"सभा भवन है।"

सहसा लौट पड़ने पर सम्राट अशोक की दृष्टि अमात्य राधागुप्त पर पड़ी। सम्राट अशोक ने आश्चर्य व्यक्त किया, "अमात्यवर! आप साथ हैं?"

"जी, महाराज जी! कुछ आवश्यक परामर्श करना है।"

"आज परामर्श नहीं। आज इन्हें देखने दो जिन्हें न कभी देखा और कदाचित कभी देखने का अवसर मिलेगा भी नहीं। क्या जानना आवश्यक नहीं है कि किनके मध्य रह रहा हूँ? राजप्रासाद के ये मार्ग ही अपरिचित हैं। जो अपने निवास से ही भलीभाँति परिचित नहीं होगा उस सम्राट को अपने साम्राज्य के विषय में क्या ज्ञात होगा।"

"इन छोटी-छोटी बातों पर कहाँ तक ध्यान देंगे, महाराज जी?"

"छोटी बातों की उपेक्षा करने वाला बड़ी बातों को तह तक कभी नहीं पहुँच सकता है। अमात्यवर! गुरुदेव की शिक्षा इतनी शीघ्र विस्मरण कर बैठे—संसार में न कुछ छोटा है, न बड़ा। सामयिक परिस्थितियाँ छोटे-बड़े का निर्धारण करती हैं।"

"ओह! गुरुदेव प्रतीक्षा कर रहे होंगे।" राधागुप्त को स्मरण हो आया।

"देखिए, इतनी छोटी-सी बात भी स्मरण नहीं रह सकी। स्मरण रहना भी नहीं चाहिए। न ध्यान देने योग्य छोटी बात जो है।"

"बस, महाराज जी, आज्ञा दें। गुरुदेव की सेवा से अभी लौटता हूँ। जाने भर की देर है।"

"नहीं अमात्यवर! निश्चिन्ततापूर्वक जाइए। गुरुदेव के परामर्श से लाभान्वित होइए। शीघ्रता की कोई आवश्यकता नहीं। धैर्यपूर्वक समस्याओं पर ध्यान दीजिए, सुनिश्चितता की स्थिति प्राप्त होने पर ही किसी क्रिया को अस्तित्व धारण करने दीजिए।"

"जो आज्ञा, महाराज जी।" शिष्टाचार का पालन करते हुए अमात्य राधागुप्त वहाँ से प्रस्थान कर गये।

सुपरिचित मार्ग द्वारा निवास सम्भाग की ओर बढ़ते हुए सम्राट अशोक ने एक-एक सेवक को दृष्टिगत किया। सेविकाएँ अधिक थीं। उनमें से भी एक शस्त्रधारिणी को दृष्टि का केन्द्र-बिन्दु बना सम्राट अशोक ने पूछा, "इन अस्त्र-शस्त्रों को चलाना भी जानती हो?"

पैंतरा बदलकर वह सन्नद्ध हो गई और धनुष पर बाण चढ़ाकर बोली, "महाराज जी आदेश दें। किसे लक्ष्य बनाऊँ?"

"यह उल्टे हाथ से लक्ष्य-संधान कैसा?"

"हम यवन नारियाँ इसी हाथ को सीधा मानती हैं। प्रारम्भ से ऐसा ही अभ्यास किया है।"

"कितनी दूर तक यह तीर जा सकता है?"

"जहाँ तक दृष्टि आ सकती है।"

"फिर उस पताका को भेद कर दिखाओ।" सम्राट अशोक ने पताका को दृष्टिगत किया।

यवनी के धनुष से तीर छूटा और पताका में बिंधकर रह गया। यवनी ने और भी शस्त्र-संचालन-कौशल का परिचय देना चाहा, "इस कटार का भी संचालन-कौशल दिखाऊँ, महाराज जी? यह अचूक प्रहार वापस भी आ जाता है।"

"वह कैसे?"

"यह देखिए ।" यवनी ने कटार पूरी शक्ति से फेंकी । सामने की दीवार से वह टकराकर वापस यवनी के उसी हाथ में आ गई ।

"वाह ! यह कौशल तो अनुपम है । क्या इन सभी को यह कौशल प्राप्त है ?"

"जी महाराज जी । इनमें से एक तो आँखों में पट्टी बाँध कर भी लक्ष्य-संधान कर लेती है । आज्ञा हो तो दिखवाऊँ ?"

"नहीं, इस समय नहीं । फिर कभी अवश्य देखूँगा । तुम सब मेरे निवास की रक्षिकायें नियुक्त की जाती हो ।"

"अहोभाग्य महाराज जी ।"

"ध्यान रहे, कर्तव्यनिष्ठा ही पुरस्कृत होगी ।"

"यह तो हम यवनियों का जन्मजात स्वभाव है । महाराज जी को कभी अन्यथा दृष्टि का अवसर न मिलेगा ।"

"आवश्यकता पड़ने पर कभी भी आ सकती हो । यह तुम्हारा अधिकार होगा ।"

"परम सौभाग्य है हमारा । जब भी, महाराज जी, स्मरण करेंगे, सेवा से विमुख न पायेंगे ।"

और आगे बढ़ने पर कुछ ही अन्तर पर महारानी शुभद्रांगी थाल में दीपक लिए अपने पुत्र सम्राट अशोक के स्वागतार्थ खड़ी दिखाई दीं । सम्राट अशोक अपने को न रोक सके । तेजी से आगे बढ़े और निकट पहुँच मा के चरणों में झुक गये । महारानी माँ के हाथों में तो थाली थी । वह सम्राट अशोक को झुकने से रोक तो न सकीं किन्तु आशीर्वाद की झड़ी अवश्य लगा दी, "युग-युग जियो बेटा । पृथ्वीपर्यन्त मगध साम्राज्य का विस्तार हो । यथेष्ट यश अर्जित करो । एक भी शत्रु शेष न रहे । मानव मात्र तेरी कीर्ति का गुण-गान करे । जब तक मानवता रहे तब तक तेरी गाथा अमर रहे । तुझे कभी किसी के समक्ष झुकना न पड़े ।"

"अपनी मां के चरणों में तो यह शीश सदा ही झुका रहेगा ।"

"किन्तु बेटे के रूप में, सम्राट के वेश में नहीं ।"

"बस मां, इसी आशीर्वाद की तो अपेक्षा थी ।"

"आज मेरा रोम-रोम प्रसन्न है । जब भी तू जो चाहेगा, वही आशीर्वाद प्राप्त होगा ।" थाल एक ओर रखते हुए महारानी ने दोनों बाहें फैलाकर वात्सल्य भरे स्वर में आवाहन किया, "आ मेरे बेटे गले लग जा । अतृप्त अभिलाषा आज पूर्ण हुई है । तुझे इस रूप में देखने के लिये न जाने कब से मेरे नेत्र तरस रहे थे । वाह बेटे । स्वर्गसुख की अनुभूति हो रही है । मेरे

ये नेत्र तुम्हें सदा समुचित ही देखें।" बाहों के बन्धन से मुक्त करते हुए वह आगे बोलीं, "जा, विश्राम कर जा कर। शैला और पद्मा प्रतीक्षा कर रही हैं। यद्यपि कर्तव्य का उन्हें पर्याप्त बोध है, तथापि मैंने सावधान यथेष्ट मात्रा में कर दिया है। पूर्ण विश्वसनीय लगी दोनों। परीक्षण की कसौटी पर खरी उतरी हैं। दोनों में परस्पर भी सौमनस्य है। किसी भी विषम स्थिति में एक दूसरे की विरोधी नहीं बनेंगी।"

"मां ! जैसी आपकी आज्ञा। अभी तक तो विश्वसनीय लगी हैं।"

"भविष्य में भी विश्वसनीय ही सिद्ध होंगी।"

"फिर चलूं मां ?"

"हाँ बेटा, जा। एक-एक पग सावधानी के साथ आगे बढ़ाना है।"

"मां ! आपका आशीर्वाद मुझे सावधान बनाये रखने के लिए पर्याप्त है।" सम्राट अशोक प्रणाम की स्मयमान मुद्रा धारण करते हुए आगे बढ़ गये।

राजप्रासाद के दाहिने मध्य भाग में एक राजकीय आवास विशेष था जिसे सम्राट का निजी निवास माना जाता था। उसे खूब सजाया गया था। मार्ग पुष्पों से आपूरित था। सुगन्धित पदार्थ अव्यक्त रूप में वातावरण को मोहक बना रहे थे। सब कुछ नया कर दिया गया था। सम्राट अशोक की दृष्टि को कुछ भी परिचित नहीं प्रतीत हो रहा था। दूर से ही शैला और पद्मा मंगल कलश लिये हुए खड़ी दिखाई दीं। उन्हें देखकर सम्राट मुस्कराये, किन्तु उनकी दृष्टियां नत थीं। उनमें तो प्रतीक्षा की आतुरता तक का आभास पाना कठिन था। सम्राट अशोक की गति कुछ तीव्र हो गयी थी। प्रकृत्या पहचानने का भाव जाग्रत हो उठा था, किन्तु असम्भव लगा। दोनों दो होकर भी एक थीं। विचार और भाव से ही नहीं, देहयष्टि और वेशभूषा से भी दोनों में यहीं कोई अन्तर न था। ज्यों-ज्यों अन्तर मिटता गया त्यों-त्यों सम्राट अशोक की जिज्ञासा तीव्रतर होती चली गई। अन्ततोगत्वा वह स्वर में व्यक्त हो उठी, "वाह पद्मा ! आज तो तुमने शैला को भी पछाड़ दिया।" कोई प्रतिक्रिया देखने को जब न मिली तब उन्होंने आगे जिज्ञासा को शान्त करने की चेष्टा की, "किन्तु एक बात में शैला अब भी आगे है।"

दोनों एक साथ बोल उठीं, "जी महाराज जी, अपराध क्षमा हो। वे दोनों ही आगे हैं।"

सुनते ही सम्राट अशोक की दृष्टि का भ्रम भग हुआ। वह और भी तेजी से आगे बढ़े, किन्तु रुके भी वह उतनी ही गति से। कभी एक को देखते तो कभी दूसरे को। कभी दोनों को एक साथ देखते और अन्तर खोजने की चेष्टा

करते और कभी असमर्थता की अनुभूति से विवश हो उठते क्षणमात्र के लिए। दूसरे ही क्षण सम्राट की वह भावना आड़े आ जाती और प्रयत्नवान हो उठते, "काश ! विधाता ने सांचा बदल दिया होता।"

"तो क्या होता, महाराज जी ?"

"बस, यही स्वर तो तुम्हें पद्मा से पृथक करता है।"

"चूक हो गई, महाराज जी ! पद्मा जीत गई और मैं हार गई। हम दोनों के मध्य यह शर्त थी कि जो बोलेगा वही हारेगा।"

"किन्तु दीक्षा ! तुमने हमें तो जिता दिया।"

"महाराज जी को तो विजय ने सदामर्वदा के लिए वरण कर लिया है। पराजय भला कैसे पास फटक सकती है।"

"तुम्हारे जीते जी न ?"

"नहीं, पद्मा की सतर्कता के बल पर।"

"पद्मा अभी तक गुस्से में है।"

"हाय दइया ! महाराज जी यह क्या कह रहे हैं। गुस्सा और मैं ! कदापि नहीं। इस प्रसन्नता के अवसर पर भी कहीं कोई अन्यथा भाव के वशीभूत हो सकता है। हम प्रसन्न ही नहीं है, बल्कि दोनों के मध्य आज रात्रि में नृत्य प्रदर्शन द्वारा इस बात की होड़ लगी है कि कौन अधिक महाराज जी को प्रसन्नता की अनुभूति करा सकता है।"

"फिर तो अनुपम होगी नृत्य प्रतिद्वन्द्विता।"

"अवसर भी तो अनुपम है। हम दोनों ने मिलकर नई नृत्य शैली की संरचना की है। विश्वास है, महाराज जी आश्चर्यचकित हुए बिना न रहेंगे।"

"रात्रि मे न ?"

"जी हाँ, रात्रि में ही।"

"फिर अभी से क्यों सेवा से वंचित कर रखा है। विश्राम की अपेक्षा है।"

"ओह ! अपराध हो गया, महाराज जी। अप्रतिम आह्लाद के कारण आत्मविस्मृति के वशीभूत हो गई। मात्र इस बार क्षमा कर दीजिए। भविष्य में ऐसे अपराध की आवृत्ति नहीं होगी।"

"और क्षमा करना मुझे प्रिय लगता हो तो ?"

"अपराध भावना के वशीभूत होना पड़ेगा।"

"और होड़ लगाने पर वैसा ही आचरण भी करना होगा।"

"कदापि नहीं महाराज जी, आपराधिक आचरण हम लोगों के द्वारा कदापि सम्भव नहीं है हम तो महाराज जी को प्रसन्न देखना चाहती हैं।"

"और वह भी मात्र नृत्य के द्वारा ?"

"महाराज जी ! अपराध क्षमा हो । यह सम्पूर्ण जीवन ही नृत्य है। नृत्य के परे है क्या ? मात्र मृत्यु । जन्म और मृत्यु के बीच नृत्य ही नृत्य तो है । नृत्यांगना जब नृत्यमय हो जाती है तब दर्शक नर्तन कर उठता है । भावनाएँ मचलने लगती हैं । अंग-अंग में थिरकन उत्पन्न हो जाती है । मात्र दृष्टि स्थिर हो जाती है । उसमें नृत्य जो समा जाता है । नृत्य के आनन्द का भार क्या साधारण होता है ? किन्तु यह भार होता सर्वाधिक प्रिय है ।"

"होता होगा तेरे लिए सर्वाधिक प्रिय ।" बीच मे शैला ने हस्तक्षेप किया, "महाराज जी को विश्राम करने दोगी या नहीं ?"

"लो अभी सुलाये देती हूं ।" पद्मा ने नृत्य की मुद्रा धारण की और नृत्य विशेष प्रारम्भ कर दिया ।

"पद्मा ! यह दिन है । रात्रि का नृत्य दिन में ठीक नहीं । महाराज जी को मात्र विश्राम करना है, सोना नही ।"

"फिर तो मेरी उपस्थिति वर्जित है । तुम अपने कर्तव्य का पालन करो ।"

"पर तुम जा कहाँ रही हो ? यही रुको न ।"

"ना बाबा ! मेरे कर्तव्य पालन के समय तुम भी उपस्थित रहना चाहोगी, वह मुझे सहन न होगा ।"

"बड़ी लाजवन्ती बन रही हो ।"

"बड़ी न सही, तुमसे छोटी तो हूं ही ।"

"फिर कहना मानों और यही रुको । कही मत जाओ । और जो महाराज जी का आदेश हो, वह करो ।"

"बस, शैला ! तुम्हारा यही गुण मुझे विमुग्ध बनाने के लिए यथेष्ट है । तुम्हारे निर्णय इतने सामयिक होते हैं कि, लो यह पुरस्कार ।" महाराज अशोक ने अपने गले से हार उतार कर शैला के गले मे डाल दिया ।

"अहो भाग्य ।" शैला के स्वर में ध्वनित हुआ, "जीवन धन्य हो गया। और लो पद्मा । तुम भी इसे धारण कर अपना जीवन धन्य करो ।" कथन के साथ ही शैला ने गले से हार उतारना चाहा ।

महाराज अशोक ने टोका, "नही, शैला ! पद्मा इस दूसरे हार के द्वारा पुरस्कृत होंगी ।" महाराज अशोक के हाथों दूसरा हार ऐसा उछला कि पद्मा के झुके गले मे जा पड़ा ।

पुरस्कार गरिमा से पद्मा का सिर और अधिक झुक गया ।

शैला ने पहले तो प्रतीक्षा की किन्तु जब पद्मा के मुंह से कृतज्ञता का स्वर न फूटा तो वह बोली, " महाराज जी का सूना गला शोभा नही देता ।

अभी लाती हूँ दूसरे हार।" शैला उठने लगीं।

महाराज अशोक ने टोका, "कोई आवश्यकता नहीं। तुम लोग किस हार से कम हो। किसी भी गले की शोभा बन सकती हो।"

"महाराज जी!" शैला प्रसन्नतावेग से अभिभूत हो आगे न बोल सकीं और श्रीचरणों में झुककर दुहरी हो गईं।

महाराज अशोक ने हाथ से शैला के सिर को स्पर्शकर कहा, "उठो शैला, पद्मा को सम्हालो। दोनों एकांत में मिल बैठकर निर्णय करो कि किसे क्या करना है। कुछ क्षणों के लिए मुझे भी एकांत अपेक्षित है।"

"किन्तु महाराज जी को तो विश्राम की अपेक्षा थी? क्या हम दोनों की उपस्थिति महाराज जी के विश्राम में बाधक है?"

"नहीं, किन्तु तुम दोनों ही कर्तव्यजन्य सेवा की सजीव प्रतिमाएँ हो। कर्तव्य-पालन और विश्राम परस्पर दो विरोधी स्थितियां है। दोनों की एक साथ उपस्थिति सम्भव नहीं है।"

"महाराज जी सर्वशक्तिमान हैं। आपके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। इस विरोध को निर्मूल कर दीजिए न।" क्या यह सम्भव नहीं है कि हमारी सेवा आपके लिए विश्राम रूप धारण कर ले?"

महाराज अशोक ने हँसते हुए समझाया, "शैला! जो चाहोगी, हो जायगा; किन्तु अभी धैर्य रखो। जो कहूँ, वह करो।"

"जो आज्ञा महाराज जी।" शैला ने पद्मा पर दृष्टि डाली और बोली, "पद्मा! आ चलें। महाराज जी को विश्राम करने दें।"

पद्मा ने कण्ठस्वर के साथ सिर उठाया। शैलाने शीघ्रता से टोका, "पद्मा! रोक लो अपने इस स्वर को। महाराज जी सम्राट के कर्तव्य-भाव से आन्दोलित हैं। आओ चलें। अधिक व्यवधान बनना ठीक नहीं।"

सम्राट अशोक ने हस्तक्षेप किया, "शैला! मुखरित होने दो पद्मा के इस स्वर को। मुझे यह स्वर बहुत प्रिय है। बहुत दिनों के बाद सुनने को मिल रहा है यह स्वर। आह! कितनी मधुर स्मृतियों का संवाहक है यह स्वर।" सम्राट अशोक वर्तमान स्वर लहरियों पर आरूढ़ हो खो गये अतीत की मधुरिम स्मृतियों में। उनके नेत्र बन्द हो गये थे।

शैला भी मौन हो गईं। कभी वह सम्राट अशोक के मुखमण्डल पर दृष्टि डालतीं तो कभी पद्मा की स्वरसाधना पर विमुग्ध हो उठतीं, किन्तु कर्तव्य-बोध-विहीन वह कभी भी न हो पातीं। अपनी सजगता पर उन्हें विश्वास था और विश्वास ही उनका मूल धन था। पद्मा की प्रारम्भिक स्वर साधना शाब्दिक अभिव्यक्ति में परिणत हो चली थी,—"काहे प्रीति कियो।"

पद्मा को गाते हुए असंख्य बार शीला सुन चुकी थीं। कौन था ऐसा गीत जिसे अनेक बार शीला ने न सुना हो, किन्तु रागबद्ध यह गीत वह पहली बार सुन रही थीं। उन्हें भी कम मनोमुग्धकारी न लग रहा था, किन्तु उससे भी अधिक आश्चर्य उन्हें सम्राट की मनःस्थिति पर हो रहा था। उन्हें विश्वास ही न हो पा रहा था कि ऐसे कर्मनिष्ठ सम्राट कैसे स्वरसंधानयुक्त इस गीत के वशीभूत हो आत्मविस्मृत हो गये। वह अडोल सम्राट जी के अंग-प्रत्यंग को देख रही थीं। केवल सांसों के आवागमन को हृदयानुभूति द्वारा वह सम्राट की उपस्थिति को लक्ष्य कर रही थीं। और उससे भी अधिक विस्मित थीं पद्मा के सामयिक निर्णय पर। जिसे टोक-टोककर वह समय-बोध कराया करती थी, वह उनसे आगे निकल गई और इतनी सफलतापूर्वक महाराज जी को अपनी स्वरसाधना के वशीभूत बना लिया, यह कम आह्लादकारी न था। पद्मा की नवीन शक्ति का उन्हें परिचय मिल रहा था। वह भी अडोल-सी थीं। टस-से-मस न हो पा रही थीं। पद्मा का स्वर मधुर-से-मधुरतर होता जा रहा था। गीत की भाव गरिमा ने उसे मधुरतम बनाने में कुछ उठा न रखा था। शीला ने स्वयं अनुभव किया कि गीत की आगामी पंक्ति में और अधिक विह्वल बनाने की क्षमता है। वह स्वयं भी आत्मविस्मृत-सी हो उठीं। स्वर और भाव के अद्भुत संयोग ने उन्हें ऐसा आत्मविभोर किया कि वह उसकी समाप्ति पर चौंके बिना न रह सकीं। विस्फारित नेत्रों से उन्होंने सम्राट के मुखमण्डल की ओर देखा। बड़ी ही मंदगति से नेत्रोन्मीलन हो रहा था। सम्राट ने पद्मा को दृष्टिगत कर पूछा, "पद्मा! कौन हो तुम? अपना परिचय दो। महादेवी तुम हो नहीं।"

पद्मा ने सिर उठा महाराज जी को भरपूर दृष्टि से देखा और स्वीकार किया, "महाराज जी का अनुमान भ्रमविहीन है। मैं महादेवी नहीं हूँ, महाराज जी की दासी पद्मा ही हूँ।"

"फिर यह गीत तुमने कहां से सीखा? इसे तो मैंने महादेवी के मुख से सुना है। इसी गीत ने मुझे महादेवी के निकट पहुँचाया था। बिल्कुल ऐसा ही गाती थीं महादेवी। कुछ भी अन्तर नहीं अनुभव होने पाया।"

"गुरुजी को भी प्रायः यह गीत सुनकर भ्रम हो जाता था। जब तक सामने से चेहरा न देख लेते, उनका भ्रम दूर न होता था। यही तो एक गीत था जिसे हम और महादेवी जब भी मिलकर गाती थीं, प्रकृति तक स्तब्ध रह जाती थी। विघ्न-विहीन वातावरण में यह गीत उतना प्रभावशाली बन पड़ता था कि गीत की समाप्ति के बाद भी सामान्य होने में कुछ समय लग जाता था।"

"तो तुम और महादेवी एक ही संगीत गुरु की शिष्यायेंमात्र हो या और भी कुछ सम्बन्ध है ?"

"इसके अतिरिक्त हम दोनों कभी सहमत न हो सकीं कि दोनों में कौन बड़ा और छोटा है। वह मुझे बड़ा मानती थीं और मैं उन्हें। जब से वह किसी राजकुमार के प्रेमपाश में आबद्ध हुई तब से भेंट भी न हो सकी और फिर यह शैला भी तो मुझे यहाँ खींच लाई है। आगे उनके सम्बन्ध में कुछ भी सूचना नहीं मिल सकी है।"

"आगे जानना क्या चाहती हो ?"

"कुछ नहीं महाराज जी, मन को संतोष हो जाता यदि पता लग जाता कि वह राजकुमार कौन था और उसके साथ वह सुखी हैं।"

"तो सुनो पद्मा, तुम्हारी सखी महादेवी का वह राजकुमार मैं ही हूं। विश्वास करो पद्मा, जितने दिन भी मैं महादेवी के साथ रहा, निरन्तर आग्रह करता रहा साथ चलने के लिए, किन्तु वह बराबर यही कहती रहीं कि जब मैं सम्राट बन जाऊंगा तभी वह मेरे साथ अपने सम्बन्ध को घोषित करेंगी।"

"फिर कब आ रही हैं महादेवी यहाँ ?"

"वह स्वयं तो आने से रहीं। उन्हें लाने जाना पड़ेगा और वह भी मुझे स्वयं।"

"फिर महाराज जी ! जब तक वह आ नहीं जातीं, मैं यह गीत आपको सुनाती रहूँगी। हम दोनों एक साथ गायेंगी तो और भी अच्छा लगेगा।"

"तुम दोनों एक साथ गाओगी ही नहीं, रहोगी भी।"

"फिर महाराज जी, इस दासी को अनुमति दें।" शैला ने उठने का उपक्रम किया।

"अरे शैला ! तुम इन गंगा-यमुना के साथ सरस्वती बनकर रहोगी। संगम की रमणीयता तो तभी सिद्ध होगी।"

"अहो भाग्य ! आज्ञा शिरोधार्य है। कुछ पेय लाऊँ ? यथेष्ट समय व्यतीत हो चुका है।"

"क्या ! और मुझे ज्ञात ही न हो सका। बड़ी व्यग्रता से प्रतीक्षा हो रही होगी।" महाराज अशोक बड़ी ही क्षिप्रता से उठ खड़े हुए।

शैला ने साथ ही खड़े होते हुए आग्रह किया, "कुछ तो ग्रहण कर लीजिए।"

स्मयमान मुद्रा धारण कर सम्राट अशोक बड़े ही स्निग्ध स्वर में बोले, "स्वरलहरी का जो रसास्वादन कर चुका हूँ, वह पदार्थगत आस्वाद से कहीं सुमधुर और संतोषप्रदायक है। अब लौटने पर ही अनुरोध की स्वीकृति

सम्भव हो सकेगी ," और लम्बे-लम्बे डग रखते हुए महाराज अशोक वहाँ से प्रस्थान कर गये । वीला और पद्मा दोनों ही खड़ी अपलक देखती रह गयीं । सम्राट के दृष्टि से ओझल होने पर दोनों ने एक दूसरे को देखा और मुस्करा दीं । दोनों ने एक दूसरे का ऐसे हाथ थामा जैसे आजीवन एक साथ रहने के लिए संकल्पित हो उठी हों ।



जिज्ञासु प्रवृत्ति के तो सम्राट अशोक बचपन से ही थे । अवस्था के साथ-साथ इस प्रवृत्ति विशेष में भी सम्वृद्धि होती चली गयी । जो कुछ भी दृष्टिगत होता, कानों से सुनाई दे जाता, नाक से सुघाई पड़ जाता अथवा स्पर्श के अन्तर्गत आ जाता, उसकी तह तक जाने की उनकी भरसक चेष्टा रहती । इसके लिए न वह समय देखते, न स्थान । न पात्र के सम्बन्ध में विचार करते, न घटना के स्तर को ध्यान में रखते । उनका लक्ष्य होता था अज्ञात से अवगत होना, क्योंकि उनकी मान्यता थी कि छोटी घटना, या वस्तु का महत्व कम नहीं होता । जीवन को संचालित छोटी-छोटी चीजें ही करती हैं । इनकी उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए । और उनका विश्वास तो यहाँ तक था कि छोटी-छोटी चीजें ही मिलकर बड़ी घटनाओं की सृष्टि करती हैं । लघुता महत्ता का बीज होता है । बीज पर दृष्टि रखिए, वृक्ष का प्रत्येक अवयव स्वतः समझ में आ जायेगा । इसी जीवन दृष्टि के साथ सम्राट अशोक ने शासक के रूप में कार्य करना प्रारम्भ किया । जहाँ भी जाते, जिधर से भी गुजरते, जिससे भी मिलते, जिज्ञासु वृत्ति द्वारा ऐसा परिचय ही नहीं अन्तरंगता भी प्राप्त करते कि सुदीर्घकालीन सुपरिचित प्रतीत होने लगता । इसके साथ-साथ अव्यक्त रूप में एक और जीवनदर्शन कार्य कर रहा था कि किसमें क्या परिवर्तन किया जाय कि वह और अधिक उपयोगी प्रतीत होने लगे अथवा वह किसी के लिए भी क्या कर सकते हैं जिससे वह अपना बन जाय । राजप्रासाद का एक-एक व्यक्ति, अधिकारी अथवा कर्मचारी सुपरिचित बन गया था । प्रत्येक ऐसा समझने लगा था कि सम्राट की दृष्टि उसी पर है । अपने कर्त्तव्यपालन के अतिरिक्त न तो वह कुछ सोच ही पाता था न करने की गुप्त चेष्टा ही करता था । चारों ओर देखभाल का कभी परस्पर वार्ता-

लाप भी करते तो प्रत्येक को यही अनुभव होता कि वह सम्राट अशोक से ही बातें कर रहा है। राजप्रासाद का जीवन स्वचालित यन्त्रवत् हो उठा था। और सबसे विशेष बात जो प्रत्येक अनुभव कर उठा था, वह थी सर्वत्र अनायास सम्राट की उपस्थिति। राजमाता शुभद्रांगी तक टोक देतीं, "हमारा सम्राट बेटा न जाने कब और कहाँ से प्रकट हो जाता है।"

सम्राट अशोक हँसकर उत्तर देते, "माँ! तुम्हीं तो कहती हो कि दूसरों का सब कुछ जानो और अपना कुछ भी न जानने दो।"

"तू भी हर बात की गाँठ बाँध लेता है। न जाने कब मुँह से निकल गई होगी यह बात और तूने सदा के लिये इसे मन्त्र बना लिया।"

"पुत्र के लिए माँ की हर बात मन्त्र होती है। चेष्टा करता हूँ माँ कि तुम्हारी किसी भी बात का अनादर न होने पाये।"

और जब सम्राट अशोक अपने निजी निवास अथवा विश्राम-गृह में होते तो इसके पूर्व कि चैला अथवा पद्मा आदि कुछ भी जिज्ञासा व्यक्त कर सकें अशोक उनके नवीन परिधानों अथवा अन्यान्य सौन्दर्य प्रसाधनों के विषय में ऐसी जिज्ञासायें व्यक्त करना प्रारम्भ कर देते कि वे बेचारी चाहकर भी कुछ न पूछ पातीं, किन्तु सम्राट अशोक की इस कला विशेष से वे अनभिज्ञ भी नहीं हैं, इस तथ्य से अवगत कराये बिना भी न रहतीं, "धृष्टता क्षमा करें, महाराज जी। बाहर से श्रीमान जी पधार रहे हैं। नवीन समाचारों का कोष तैयार हो गया होगा। किन्तु कुछ भी जानने का अवसर दें महाराज जी तब न।"

"ओफ् चैला! तुम्हारे और पद्मा के सामने तो मुंह खोलना तक अपराध है।"

पद्मा तपाक से बोल उठीं, "अपराध और महाराज जी। असम्भव। यह उत्तरदायित्व तो हम दोनों का है। महाराज जी ठहरे सर्वशक्तिमान सम्राट। समर्थ सम्राट अपराध से परे होता है। अपराध तो हम दासियों का मूल धर्म है। इसी के सहारे तो हम महाराज जी की सेवा का सौभाग्य प्राप्त कर पाती हैं। इस सौभाग्य से क्यों वंचित कर रहे हैं महाराज जी?"

"पद्मा! बड़ी चतुर हो तुम। प्रश्न किये बिना मानी नहीं।"

"प्रश्न नहीं याचना है महाराज जी की सेवा में। प्रश्न करने का दुस्साहस तो अन्तिम अपराध होगा।"

"ठीक वैसा ही न जैसा अभी मैंने किया है?"

"क्या महाराज जी ने अभी कुछ किया है?"

"वाह पद्मा! अब तो तुम चैला के भी कान काटने लगी हो।"

"महाराज जी धृष्टता के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ। शैला आज वैसे ही रुष्ट हैं और यह सुनकर तो मुझे इस राजप्रासाद से भगाकर ही पानी पियेंगी।"

शैला ने तिरछी दृष्टि से पद्मा की ओर देखा।

"शैला की क्रोधपूर्ण दृष्टि पर ध्यान गया महाराज जी का।"

"पद्मा तू ऐसे प्रश्न-पर-प्रश्न किए जा रही है जैसे महाराज जी कुछ समझते नहीं। तुम जैसी न जाने कितनों को महाराज जी दृष्टि निःक्षेप मात्र से धराशायी कर देते होंगे।"

"नहीं शैला। विश्वास करो। तुम दोनों जैसी मिलीं केवल विदिशा में महादेवी। उनकी वाक्‌चातुर्यकला भी अनुपम है। सौंदर्य और संगीत की देवी तो वह हैं ही, बौद्धिक क्षमता भी उनमें आश्चर्यजनक है।"

"कब वह पधार रही हैं ?"

"जाना पड़ेगा। वैसे तो वह आने से रहीं।"

"महाराज जी को इतना अवकाश कहाँ। न जाने कब से गए तो अब पधारे हैं। कितनी तो समस्यायें हैं।"

"इसी समस्या के समाधान में समय लग रहा है। मन्त्रिपरिषद के अन्तर्गत मैं एक ऐसी अन्तरंग परिषद का गठन कर रहा हूँ जो सभी समस्याओं के निदान में सक्षम होगी। और इस परिषद की विशेषता होगी स्त्री-पुरुषों की संख्या में समानता। तुम दोनों का नाम इसमें सम्मिलित कर लिया गया है।"

"महाराज जी ! कितना कम अवसर तो सेवा का मिल पाता है, उससे भी वंचित क्यों किए दे रहे हैं ?"

"कदाचित तुम भी समझती होगी कि मुख्य समस्या नारी है। नारी से सम्बन्धित जो भी स्थितियाँ हैं, वे ही समस्यायें हैं। मेरा विश्वास है कि इन समस्याओं का जितना सुन्दर समाधान नारी खोज सकती है, उतना पुरुष नहीं। पुरुष तो मात्र साधन होते हैं उन समाधानों को साकार रूप देने में। तुम लोग चाहो तो इस परिषद में पुरुष एक भी न रखा जाय।"

"महाराज जी तो इस परिषद के अध्यक्ष होंगे ही ?"

"यह भी एक समस्या है।"

"इसमें समस्या क्या है ! महाराज जी यदि अनुचित न समझें तो राजमाता को अध्यक्ष घोषित कर दें।"

"उत्तम ! सर्वोत्तम !! देखा कितनी शीघ्र और कैसा सुन्दर समाधान उपस्थित कर दिया है। यह है स्त्री बुद्धि। इसीलिए तो सारी मानव जाति स्त्री की शक्ति के समक्ष नतमस्तक होती है।" सम्राट अशोक ने तनिक सिर

झुकाया।

पद्मा हँसे बिना न रह सकीं, "महाराज जी ने अभिनय का अभ्यास तो कभी किया नहीं ?"

"सम्पर्क का प्रभाव स्वाभाविक है।" और दोनों की प्रसन्नतासूचक मुख-ध्वनि मे सम्राट अशोक का हास्य प्रमुख हो उठता।

और सम्राट अशोक जब भी राधागुप्त के साथ होते, विचार-विषय गम्भीर होते, विशेष रूप से राजनीतिक या प्रशासन सम्बन्धी। अमात्य राधागुप्त परम्परा का परिज्ञान कराते तो सम्राट अशोक अवश्य प्रतिवाद करते, "अमात्यवर! परम्परायें समय अथवा परिस्थिति विशेष की देन होती है। परिवर्तित समय अथवा परिस्थिति में भी परम्परा का परिपालन मेरी दृष्टि से अधिक हितकर नही हो सकता। जो मौलिक रूप से कुछ भी सोचना-समझना ही नही चाहते अथवा उपस्थित परिस्थिति के साथ संघर्ष करना ही नहीं चाहते, वे परम्परा की शरण में जाकर अपनी अकर्मण्यता को आवरणित करते हैं। अन्यथा समय के साथ समस्या या परिस्थिति जितनी नवीन होती है, उसका समाधान भी उतना ही नया होना चाहिए। नवीनता को प्राचीनता की शक्ति के सहारे जो दबाना चाहते है वे अधिकांशतः तो असफल होते है। यदि यत्किंचित सफलता उन्हें मिल भी गई तो वह अल्पकालिक या भ्रामक होती है। मेरे विचार से परम्पराओं को दूर से ही प्रणाम कीजिए। उनकी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए इतनी क्रिया ही यथेष्ट है। सदा स्मरण रखिए, समस्यायें सदा नवीन होती हैं। नवीनता का यदि अभाव है तो वे जीवन सत्य रूप हैं। समस्याओं का जनक होता है परिवर्तन और परिवर्तन नवीनता का दूसरा नाम है। नवीन समस्या का समाधान ही नही साधन भी नवीन ही होना चाहिए। परम्परा नाम है प्राचीनता का। प्राचीनता संवलित होती है आस्था और विश्वास से। और आस्था और विश्वास को संरक्षण प्राप्त होता है निष्क्रियता के क्रोड़ में। परम्पराओं का विरोध मत कीजिए। शान्त नागो को छेड़ने से कोई लाभ नही। जिन्हें निष्क्रियता मे ही शान्ति की अनुभूति होती है, उन्हें निष्क्रिय ही बना रहने दो। हमारी नीति होगी नवीन। हर नीति का मूलस्वर होगा नवीन। अभी तक जो भी होता आया है वही होता रहे तो फिर हमारा अस्तित्व ही क्या। हर स्थिति और हर सम्बन्ध का मूल्यांकन ही नहीं पुनर्मूल्यांकन होना चाहिए। मूल्यांकन की दृष्टि होगी

नवीन। मुझे नवीनता प्रिय है और मेरा विश्वास है कि हर मानव नवीनता प्रेमी होता है क्योंकि आकर्षण होता है नवीनता में ही और आकर्षण मानव स्वभाव की नैसर्गिक दुर्बलता है। इसका अभाव अरुचिकारक होता है। हमें नित नवीन बना रहना है। नवीनता हमारा लक्ष्य है, लक्ष्य-प्राप्ति के प्रयास नवीन होने चाहिए। चेष्टा कीजिए कि सीमावर्ती जो भी राज्य हैं और उनके साथ जैसे भी सम्बन्ध हैं, उनके परम्परागत स्वरूपों को समाप्त करना है, उनमें नवीनता का संचार होना आवश्यक है।"

अमात्य राधागुप्त 'जो आज्ञा महाराज जी' कहकर वहाँ से विदा हो जाते। जो कुछ भी सोचकर आते, सम्राट अशोक के समक्ष सब भूल जाते। मार्ग में सोचकर पश्चाताप करते कि उन्होंने वह क्यों नहीं कहा जो सोचा था।

समय के साथ-साथ सम्राट अशोक जनसामान्य की पहुँच के परे होते जा रहे थे। जिन्हें सम्राट के नैकट्य पर गर्व था, वे आशंकित हो उठे थे। किन्तु सम्राट का आचरण सर्वथा सामान्य था। वैचारिक धरातल जितना असाधारण था, व्यावहारिकता उतनी ही आत्मीय और स्नेहमयी थी। सम्राट अशोक के विचार ही नहीं आचरण भी सरस कला रूप धारण कर प्रजाजनों में प्रचारित हो उठे थे।



युवराज सुसीम और उनके बन्धुमण्डल की समाप्ति के साथ ही राजपरिवार की परस्थितियाँ सम्राट अशोक के सर्वथा अनुकूल हो गई थीं। दूर तक-कहीं कोई विरोध न था।

मगध के सीमावर्ती राज्य—अवन्ती, पश्चिम देश, सौराष्ट्र, आनर्त, अपरान्त, तक्षशिला, अंगवंग—मित्र बन गये थे। इन राज्यों के साथ सद्भावना और सहयोग का आदान-प्रदान हो चला था। मगध के दो मुख्य प्रान्तों—तक्षशिला और उज्जैन—में विद्रोहात्मक स्थिति पूर्णतया समाप्त हो गई थी। प्रदेष्टाओं ने स्वयं सशरीर उपस्थित हो सम्राट के समक्ष शान्ति और सुव्यवस्था के प्रति विश्वास व्यक्त किया था। सम्राट अशोक जितना समय राजनीतिक परिस्थितियों के अध्ययन—मनन में देते थे, उससे कम ध्यान वह नृत्य, नाटक, चेटक, शिल्प, संगीत, धनुर्विद्या, शिल्पविद्या, मल्ल विद्या और चित्रकारी आदि

लोकप्रिय कलाओं के संविकासन के लिए न देते थे। एक ओर जहाँ शौर्य और पराक्रम अभिनन्दित हो रहा था, दूसरी ओर वहीं विविध कलात्मक अभिरुचियों को पर्याप्त प्रशंसा प्राप्त हो रही थी। वैयक्तिक स्मृति जहाँ कालजयी होती है, वहीं जनस्मृति अचिरात काल के गाल में समा जाती है। भूल चले थे मगध राज्यवासी अपने दैनिक अभावों को। विपदाओं आपत्तियों को स्मृतिकोष मे संरक्षण प्राप्त हो गया था। नित नवीन उपलब्धियों, परिवर्तनों और निर्माणात्मक स्थितियों से परिचय प्राप्त हो रहा था। पुनर्सृष्टि की दुन्दुभी चारों ओर बज उठी थी। हाँ, राजप्रासाद के बाहर जब भी सम्राट अशोक पैर रखते, दर्शनार्थ जनसागर उमड़ पड़ता था। प्रजा सम्राट अशोक की दुर्बलता थी। उसकी उपेक्षा वह किसी भी मूल्य पर न कर पाते थे। जहाँ भी उन्हें जनसमूह एकत्र दिखाई देता, वहीं वह रुक जाते थे। रुकने पर जनसमूह को सम्बोधित करना भी आवश्यक हो जाता था। प्रायः वह एक ही बात दुहराते थे—"समय शक्ति है, सम्पत्ति है। समय जीवन है। इसका सदुपयोग करो। समय नष्ट करना अपने हाथों से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना है। समय का मूल्य आंको। और समय की सार्थकता है परिश्रम में। जितना अधिक परिश्रम कर सको, करो। परिश्रम से सुख समृद्धि में श्रीवृद्धि होगी। समय, श्रम और सुख की त्रिवेणी में अवगाहन करो। जीवन की सार्थकता गतिशील बने रहने मे है। और गतिशील होने का अभिप्राय है नित नवीनता के दर्शन। उस दर्शन की सुखानुभूति परिश्रमी प्राणी को ही सम्भव है। मुझे विश्वास है, मगधवासी अत्यन्त परिश्रमी, गतिशील और समय की सत्ता को भलीभाँति पहचानते हैं। मेरे इस विश्वास की रक्षा मगध के प्रजाजनों का धर्म है। जय मगध।" और सम्राट अशोक जब आगे बढ़ जाते तब जनता नई प्रेरणा नई स्फूर्ति से आन्दोलित हो सम्राट की जय-जयकार कर उठती।

सम्राट अशोक को विश्वास था आगे बढ़ने में। जय-जयकार की गगनभेदी जनध्वनि उनका अनुसरण न कर पाती। अपनी सीमाओं मे सिमटकर रह जाती।

शनैः शनैः स्थिति यहाँ तक आ पहुँची कि सम्राट अशोक सर्वशक्तिमान सम्राट बन बैठे। अमात्य परिषद का आवाहन भी कम हो गया। वैचारिक दृष्टि से जो भी निर्णय उचित प्रतीत होता सम्राट अशोक मात्र अमात्य परिषद को उससे अवगत भर करा देते। जब भी अमात्य राधागुप्त अमात्य परिषद के अधिकार क्षेत्र पर बल देते, सम्राट अशोक की सहनशक्ति में विस्फोट हुए बिना न रहता, "अमात्यवर ! अमात्य परिषद मात्र सम्राट के सहयोग के निमित्त है। सहयोग का अभिप्राय यह तो नहीं होता कि उचित निर्णय में भी व्यवधान उपस्थित किया जाय। अमात्य परिषद को अंतिम निर्णायक शक्ति के रूप में जो स्वीकारते होंगे, वे अब जीवित नहीं हैं। जीवित हैं सम्राट अशोक। सम्राट अशोक बहुत सोच-समझ कर ही किसी निर्णय से अमात्य-परिषद को अवगत कराता है। यही क्या कम है कि अमात्य परिषद को सूचित करने के पूर्व किसी भी निर्णय का कार्यान्वयन नहीं प्रारम्भ होता। शुभ होगा कि इतने में ही अमात्य परिषद अपनी प्रतिष्ठा सुरक्षित समझे। अमात्यवर ! ध्यान रखिये, अमात्य परिषद मानसिक विलास का एक संगठन मात्र है। उसके द्वारा कुछ किये धरे तो होना नहीं है। जो भी करना या होना है, उसका उत्तरदायित्व है साम्राज्य शक्ति पर। और साम्राज्य शक्ति होती है जनशक्ति और यह भी मत भूलिए कि जनशक्ति का प्रतिनिधि होता है सम्राट। संयोगवश सम्राट हूँ मैं। भविष्य में ध्यान रहे कि अमात्य परिषद को सम्राट की बात मान्य होनी चाहिए। अमात्य परिषद न प्रजा है न राजा। मध्यस्थ की जो दशा होती है उसे विस्मरण नहीं किया जाना चाहिए।"

"जो आज्ञा भगवन्।"

"आज यह नवीन सम्बोधन कैसा अमात्यवर ?"

"अमात्य परिषद का प्रतिनिधि होने के नाते श्रीमान जी को सर्वशक्तिमान स्वीकार करने में ही हित है।"

"किन्तु आपके सम्बन्ध तो इसके अतिरिक्त भी हैं। आप हमारे बाल सखा हैं, गुरु भाई हैं और हैं सबसे बड़े शुभचिंतक। किसी के लिए कुछ भी हो सकता हूँ, किन्तु आपके लिए सदा तो मैं इन्हीं तीनों सम्बन्धों का सम्मिलित रूप ही रहूँगा। आप कभी भी मेरे प्रति अन्यथा भाव मन में भूल से भी न लाइएगा। और आप से मुझे यह भी आशा है कि आप मेरे किसी भी

अनुचित निर्णय का डटकर विरोध भी करेंगे। आपके द्वारा सावधान किए जाने पर मुझे प्रसन्नता ही होगी।"

"फिर गुरुदेव से एक बार परामर्श अवश्य कर लें।"

"अरे हाँ, गुरुदेव कैसे हैं ? ज्वर से मुक्ति मिली या नहीं ? भिषगाचार्य की सेवायें तो उपलब्ध होंगी ही ?"

"गुरुदेव की सेवा में भिषगाचार्य जी उपस्थित तो अवश्य हुए थे, किन्तु औषध लेना गुरुदेव ने स्वीकार नहीं किया था। स्वयं उपवास के द्वारा उन्होंने शरीर को स्वस्थ बना लिया है।"

"बहुत दिन हो गये उनके दर्शन नहीं हुए।"

"कई बार वह आपको स्मरण कर चुके हैं। आश्चर्य नहीं कि वह किसी दिन उपस्थित भी हों आकर, किन्तु आपसे भेंट की अनिश्चयात्मकता की आशंका से वह सोचकर रह जाते हैं। और फिर चलने-फिरने में जो उन्हें कष्ट होता है, उसके कारण वह और भी असमर्थ हैं।"

"उन्हें कष्ट उठाने की कोई आवश्यकता नहीं। मैं स्वयं ही उनकी सेवा में उपस्थित हो जाऊँगा।" अद्भुत है उनका जीवन और उससे भी विलक्षण है उनका जीवन दर्शन। सामयिक परिवर्तन वह कितनी सहजता से स्वीकार कर लेते हैं। इतना दृढ़ किन्तु लचीला व्यक्तित्व दुर्लभ है। दूरदर्शी तो वह अनुपम हैं ही। मगध राज्य का इतना बड़ा शुभचिंतक असम्भव है।"

"भगवन् की इसी दृष्टि के तो वह प्रशंसक हैं। प्रायः कहा करते हैं कि महाराज जी में यथार्थपरक मूल्यांकन की जो क्षमता है, वह मौर्य साम्राज्य की दृष्टि से परम हितकारी है। इतने समय में ही उन्हें विश्वास हो चला है कि मौर्य साम्राज्य आपके संरक्षकत्व में शक्तिशाली ही नहीं होगा, मानवीय स्मृति-यात्रा में अविस्मरणीय भी प्रमाणित होगा।"

"अमात्यवर ! यह सब गुरुदेव की सतत साधना के परिणामस्वरूप ही सम्भव होगा। उन्हीं के उत्सर्ग और तप का प्रताप है यह कि मौर्य साम्राज्य सुदृढ़ नीवों पर खड़ा है।"

"इन्हीं नीवों पर ही तो नीति स्तम्भ निर्मित होने हैं। भगवन् का एक-एक आचरण इन पर अंकित होगा।"

"किसलिए, अमात्यवर ?"

"भावी पीढ़ियों के मार्ग-दर्शन हेतु, भगवन् । जब भी आपके विचारों और कार्यों से उन्हें अवगत कराता हूँ तभी वह गद्गद कण्ठ स्वर में बोल उठते हैं, स्वर्गीय सम्राट चन्द्रगुप्त का शौर्य और महाराज पिताश्री बिम्बसार

की करुणा मूर्तिमान हो उठे हैं भगवन् के अप्रतिम व्यक्तित्व में। यह अनुपम संयोग निश्चय ही विस्मयकारी है। उनके दर्शन तो कदाचित ही यह शरीर करने दे, किन्तु आभास मात्र आश्वासन के लिए यथेष्ट है। और भगवन् वह नेत्र मूंद कर उस भाव जगत के जो दर्शन करते हैं, उसकी आस्वादपूर्ण तृप्ति उनके प्रशान्त मुखमण्डल पर आभासित हो उठती है। सच कहता हूँ, भगवन् मैंने आजीवन गुरुदेव के मुखमण्डल को तनावग्रस्त ही देखा है। संकल्प की दृढ़ता और निर्माण की सतर्कता के चिह्न ही सदा उनके मस्तक पर परिलक्षित हुए हैं। बड़ा सुखद लगता है जब शान्ति और संतोष के दर्शन होते हैं उनके मुख-मण्डल पर। आप, भगवन्, एक बार भी कष्ट करेंगे तो उन्हें परम प्रसन्नता होगी।"

"अमात्यवर ! फिर क्यों न अभी गुरुदेव के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त किया जाय ?"

"जो आज्ञा भगवन् !"

"गुरुदेव की शिक्षा का पालन कम-से-कम गुरुदेव के लिए तो होना ही चाहिए। जिसे करना है, उसे कर ही डालना चाहिए। आज का काम आज और अभी। यदि अभी नहीं तो फिर कभी नहीं। क्यों स्मरण है न ? प्रारम्भ में कितनी बार दुहराया था। आइए। चलें।"

"जो आज्ञा।"

सम्राट अशोक जैसे बैठे थे, वैसे उठकर चल दिये और अमात्य राधागुप्त ने सम्राट का अनुसरण किया।

❂❂❂

सम्राट अशोक ने विश्राम कक्ष में प्रवेश किया तो उन्हें मां के दर्शन हुए। उन्होंने विस्मय प्रकट किया, "मां ! आप और यहां ?"

"क्यों, क्या मेरा इस कक्ष में आना वर्जित है। देख न, ये दोनों कितनी सेवा कर रही हैं।" शीला और पद्मा शुभद्रांगी के पैर दबा रही थीं।

"सो तो ठीक है, मां, किन्तु कारण कुछ और है।"

"अच्छा तो क्या कारण हो सकता है। क्या मुझे अपने पुत्र पर दृष्टि नहीं रखनी चाहिए ? यह ठीक है कि तू अब अशोक नहीं रहा, सम्राट अशोक बन गया है। पर है तो तू अब भी शुभद्रांगी का पुत्र ही।"

"इसे कौन अस्वीकार कर सकता है, मां। जो सत्य है, वह सदा रहेगा। आज्ञा दो मां। कोई अपराध हो गया आपके पुत्र से ?"

"कदापि नहीं अपराध की छाया भी मेरे पुत्र को नहीं छू सकती, किन्तु तू खो गया है। और ऐसा खो गया है कि मां तक का स्मरण नहीं रहा।"

"यह क्या कह रही हैं मां। नित्यप्रति तो सेवा में प्रणाम निवेदन करता हूं। अवश्य कोई भूल हो गई है।"

"भूल चाहे जान में न भी हुई हो, किन्तु उसका निराकरण अवश्य हो गया है।"

"भूल और उसका निराकरण ! कुछ समझ में नहीं आया, मां।"

"तेरी समझ में आयेगा भी नहीं। अच्छा ! तू बता विदिशा कब जा रहा है ?"

"विदिशा ! विदिशा किसलिए मां ?"

"यह तू मुझसे पूछ रहा है। वहां किसी को कुछ वचन दिया है ?"

"तो इन दोनों ने आपको अवगत भी करा दिया !"

शीला क्षमायाचनापूर्ण स्वर में बोली, "अपराध क्षमा करें महाराज जी। राजमाता ने कुछ इस तरह बात प्रारम्भ की कि मुंह से अनायास ही निकल गया।"

पद्मा भी अपनी घबराहट न छुपा सकी, "जब शीला ने बता ही दिया तो फिर मैं कैसे झूठ बोल सकती थी। राजमाता के सामने झूठ ! न बाबा ! कभी नहीं। सच बोलने के लिये बाध्य थी, महाराज जी। अब तो सच निकल ही गया मुह से। सच बोलने का जो दण्ड चाहें महाराज जी दें।"

राजमाता बीच में हँसकर बोलीं, "इन बेचारियों का क्या दोष। इन्होंने तो अच्छा ही किया जो बता दिया, अन्यथा क्या तू बताता ? न जाने मैं किससे क्या-क्या कहती और किस-किस को न जाने कहाँ-कहाँ दौड़ाती। भला हो इन बेचारियों का जो व्यर्थ की दौड़-धूप से बचा लिया। हाँ, तो तू कब जा रहा है, विदिशा ?"

"मां ! अभी तो अवकाश निकाल पाना तनिक कठिन है। असंख्य समस्यायें हैं। उनका समाधान पहले आवश्यक है।"

"उन्हीं की तरह यह भी एक आवश्यकता है। इसकी जितनी उपेक्षा हो चुकी है, वही यथेष्ट है। अब और अधिक विलम्ब ठीक नहीं।"

"फिर मां ! एक प्रार्थना है।"

"क्या, बोल कहना क्या चाहता है ?"

"आप चली जाइए, विदिशा।"

"और महादेवी को ले आऊं। क्यों, यही न ?"

"हाँ मां। आपका आग्रह वह कभी न टालेंगी।"

"तू भ्रम में है। महादेवी सम्राट् अशोक की परिणीता है। मगध की महारानी है। उसे मानिनी अवश्य होना चाहिए। जब तक तू उसे लेने विदिशा न जायेगा, वह कदापि न आयेगी।"

"फिर तो मां प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।"

"तू सम्राट है, बेटा। सम्राट जब जो चाहे कर सकता है।"

"नहीं मां ! सम्राट के सिर पर राज्य की सम्पूर्ण प्रजा के पालन और उसकी सुरक्षा का भार होता है। वह भार, मा, ऐसा कठोर उत्तरदायित्व है जिसके निर्वाह के लिए सतत सतर्कता परमावश्यक है। नित्यप्रति सूचनाएँ मिल रही हैं कि पड़ोसी राज्य सैनिक दृष्टि से सक्रिय हो उठे हैं। इधर कई वर्षों से मगध की सैनिक गतिविधियाँ शान्त हैं। शान्ति का अर्थ अन्य शासकों ने दुर्बलता समझा है। इस भ्रम का अविलम्ब निवारण करना है, मां। विदिशा क्या, मा, इस समय कहीं भी जाना सम्भव नहीं है।"

"यह भी उत्तरदायित्व तेरा ही था, बेटा। अब तक कभी भी जा सकता था। प्रतिदिन प्रतीक्षा करती होगी, बेचारी। यहाँ से कुछ संदेश भेजा ?"

"नहीं मां। प्रशासकीय झंझटों में इतना उलझाव रहा कि ध्यान ही न गया इस ओर।"

"इसका अभिप्राय है कि महादेवी को इसकी भी सूचना न होगी कि तू मगध-सम्राट हो गया है।"

"असम्भव नहीं, मां।"

"बेटा तूने उसके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। बड़ा कष्ट दिया है उसे। जा, सब काम छोड़कर तत्काल जा और उसे साथ लेकर ही आ। वह किसी के भी समझाये न आयेगी।"

"फिर, मा, सोचना पड़ेगा। अवसर मिलते ही चला जाऊँगा।"

"अवसर मिलेगा नहीं, बेटा, निकालना पड़ेगा। तुझसे मेरी प्रार्थना है, बेटा, जितनी शीघ्र हो सके विदिशा जा और· · · ···।"

मां के जुड़े हाथों को अपने हाथों में ले सम्राट अशोक बोले "मा ! यह क्या कर रही हैं आप ? आप मात्र आदेश दीजिये।"

"मां की प्रार्थना में आदेश से अधिक शक्ति होती है। प्रार्थना दृढ़ता को पिघलाती है और आदेश इच्छा के विपरीत विवश बनाता है। फिर तू कब जा रहा है ?"

"जब भी आपका आदेश हो। कल अमात्य परिषद की सभा आहूत की गई है। कल के बाद जब भी आप कहेंगी, चला जाऊँगा।"

"फिर परसों ठीक रहेगा। तुम दोनों ध्यान रखना। यात्रा की तैयारी में कोई कमी न रहने पाये।" राजमाता उठ खड़ी हुयी।

शैला कुछ पग पीछे हटते हुए बोली, "जो आज्ञा।"

राजमाता ने बाहर की ओर पग बढ़ाते हुए सावधान किया, "पद्मा ! तैयारी की सूचना देना न भूलना।"

"जो आज्ञा।" पद्मा भी शैला के बगल में ही खड़ी थी।

राजमाता शुभद्रांगी के बाहर जाने के बाद सम्राट अशोक ने दोनों पर दृष्टि डाली। दोनों नतमस्तक आदेश की प्रतीक्षा कर रही थीं। अर्धशायित होते हुए वह बोले, "हाथ बांधे क्यों खड़ी हो ? अब किस आदेश की प्रतीक्षा है ?"

"ओह ! अभी लाई।" शैला तीव्रता से भागी एक ओर।

पद्मा भी खड़ी न रह सकीं। झुक गयी वह सम्राट के चरणों में और सेविका के कर्तव्य पालन में जुट गयी। ज्यों-ज्यों हल्के होते गये सम्राट अशोक त्यों-त्यों वह अपने शरीर को समानान्तर बनाते चले गये। दाहिनी करवट लेते हुए सम्राट अशोक बोले, "कम-से-कम एक माह तो लग ही जायेगा। सोचता हूं जब विदिशा तक जा ही रहा हूं तो उज्जैन भी हो लूं। उज्जैन प्रायः स्मृति में कौंध जाता है। कितने अच्छे हैं वहां के निवासी। कितना सुरम्य वातावरण है वहां का। कलात्मक अभिरुचि तो वहां की प्रकृति का अभिन्न अंग है। किन्तु समय अधिक लग जायेगा। परिस्थितियां विशेष अनुकूल प्रतीत नहीं हो रही हैं। न जाने कब किस ओर से मगध पर आक्रमण

हो जाय। ऐसी विषम परीस्थिति में माँ के आदेश का पालन होना है।"

"अपराध क्षमा हो महाराज जी। एक उपाय है।"

शीतल पेय को गले के नीचे उतारते हुए सम्राट अशोक ने जिज्ञासा व्यक्त की, "क्या ? क्या है उपाय ? बोलो।"

"पद्मा को भेज दीजिए विदिशा। पद्मा महादेवी की प्रकृति से पूर्णतया अवगत हैं। साथ भी यथेष्ट रहा है। परिस्थिति समझाने में पद्मा को सफलता अवश्य मिलेगी।"

"किन्तु महादेवी को ला यह भी नहीं पायेंगी। और माँ के आदेश का पालन महादेवी के आये बिना होगा नही।"

तपाक से पद्मा बीच में बोल उठी, "और महादेवी को यदि साथ ले आऊँ तो ?"

"जो भी पुरस्कार चाहोगी, मिलेगा।"

"किन्तु शैला को भी साथ जाने की अनुमति देने की कृपा करें।"

"फिर अभियान में सफलता मिलने पर आधे पुरस्कार की अधिकारिणी यह होंगी।"

"पूरा पुरस्कार इन्हें ही दे दीजिएगा। आधा तो यह वैसे भी बँटा लेंगी।"

"और इनसे तुम बँटा लोगी।"

"हम दोनों के बीच समझौता ही यही है।"

"तुम दोनों जब भी चाहो, जा सकती हो। मार्ग की सब व्यवस्था हो जायेगी। तुम लोग अपनी यात्रा की तैयारी कर लो।"

"हम दोनों सदा तैयार रहती हैं। आज्ञा हो तो कल प्रातः ही चल दें।"

"जैसी तुम लोगो की इच्छा।" सम्राट अशोक को झपकी सी लगने लगी थी। उंघासे स्वर में वह आगे बोले, "यवनियो को समझा देना। वे सब व्यवस्था कर देंगी।"

शैला और पद्मा ने एक दूसरे के मुंह की ओर देखा और मुस्करा दी। शैला फुसफुसाई, "अभियान मे सफलता मिलनी चाहिए। महादेवी की रुचि की जो भी वस्तुएँ हों, उन्हें लेना न भूलना।"

"मेरा आग्रह वह कभी नहीं टाल सकतीं। चलो, पहले यवनियो को तो सूचित करें चलकर।"

"चलो।" कथन के साथ ही शैला पद्मा का हाथ पकड़कर सम्राट के शयन कक्ष से बाहर हो गयीं।

रात्रिकालीन गतिविधियों की सूचना मिलने पर सम्राट अशोक ने अनुभव किया कि वह स्वयं ही विचारमग्न नहीं रहे हैं, वरन् सम्पूर्ण अमात्य वर्ग अशान्त रहा है। सम्पूर्ण रात्रि दौड़-धूप जारी रही है। जिन अमात्यों के निवास पर सर्वाधिक हलचल रही है, उनमें अमात्य खल्लाटक प्रमुख थे। अमात्य राधागुप्त तो सम्राट अशोक की सेवा के अतिरिक्त आचार्य चाणक्य की कुटी पर ही बने रहे। अमात्यों की दृष्टि में भी राधागुप्त की स्थिति कम स्पष्ट न थी। तटस्थ अमात्यों ने राधागुप्त से भी मिलने की चेष्टा की। अधिकांश ने आचार्य चाणक्य की विचारदृष्टि से अवगत होना चाहा। अमात्य राधागुप्त ने स्वागत तो सभी आगत अमात्यों का बड़ी ही आत्मीयतापूर्ण ढंग से किया, किन्तु किसी भी जिज्ञासा को वह शान्त न कर सके। वस्तुस्थिति वास्तव में थी भी कुछ ऐसी ही कि वह गुरुदेव के साथ एकांत में कुछ भी मन्त्रणा न कर सके थे। स्वयं आचार्य चाणक्य ही जब राधागुप्त को स्मरण करते तभी विचार-विनिमय में वह भाग ले पाते अन्यथा अपनी ओर से वह अधिकांशतः शान्त ही रहते। सम्राट अशोक को मगध की राजसत्ता सम्हाले हुए तीसरा वर्ष भी बीत चला था और राधागुप्त को उनका सर्वाधिक नैकट्य भी प्राप्त था, फिर भी राधागुप्त की स्थिति आचार्य चाणक्य की दृष्टि में एक शिष्य विशेष से अधिक न थी, ऐसा आभास राधागुप्त प्रतिक्षण किया करते थे। किन्तु शनैः शनैः राधागुप्त की स्थिति बड़ी द्विविधात्मक होती जा रही थी। एक ओर सम्राट अशोक के साथ अधिकाधिक रहना परिस्थितिवश आवश्यक होता जा रहा था और दूसरी ओर गुरुदेव का कायिक शैथिल्य उनकी अधिकाधिक सेवा के लिए विवश कर रहा था। कौन पक्ष अधिक था—निर्णय कर पाना कठिन था। अमात्य राधागुप्त की भरसक चेष्टा होती कि वह अधिकाधिक गुरुदेव की सेवा में रहें। गुरुदेव मगध-सम्राट निर्माता थे। और मगध सम्राट अशोक का जो नैकट्य और विश्वास वह अर्जित कर सके थे, उसका श्रेय गुरुदेव को ही था। ऐसी बात न थी कि आचार्य चाणक्य राधागुप्त की स्थिति से अवगत न थे। वह स्वयं अवसर समझकर राधागुप्त को अपनी सेवा से मुक्त कर देते थे। जब भी राधागुप्त सेवा से मुक्त होने में अन्यमनस्कता दिखाते तो सम्राट को आवश्यक संदेश देने के बहाने आचार्य चाणक्य उन्हें भेज देते थे।

प्रात.काल मे भी धूप चढ़ने तक राधागुप्त न आये तो सम्राट अशोक उठकर चलने के लिए विवश हो गये । उन्होने अश्व पर आरोहण किया ही था कि सामने से राधागुप्त आते हुए दिखाई दिये । सम्राट अशोक आगे बढ़ना चाहकर भी रुक गये । राधागुप्त के निकट आ अश्व से नीचे आये और आवश्यक शिष्टाचार का पालन किया । सम्राट अशोक ने जानना चाहा, "आने मे बड़ा विलम्ब किया ? गुरुदेव का स्वास्थ्य कैसा है ?"

"पूर्ववत है । कोई विशेष परिवर्तन इस आयु में सम्भव भी नही है । कदाचित आप को गुरुदेव की स्वास्थ्य-चिन्ता ने अश्वारोहण के लिए बाध्य किया है ।''

"आपका अनुमान ठीक है जब आप आते नही दिखाई दिये तो मैं चिंतित हो उठा । आज सभा का आयोजन दिवस है । गुरुदेव के दृष्टिकोण से तो आप अवगत हो ही चुके होंगे । आइए, बैठकर, विचार कर लें ।" सम्राट अशोक भी अश्व की पीठ से नीचे आ गये और मन्त्रणा कक्ष की ओर बढ़े । राधागुप्त ने उनका बैठने मे अनुसरण किया ।

सम्राट अशोक ने पूछा, "गुरुदेव की क्या धारणा है ?"

"किसके सम्बन्ध मे ?"

"आज होने वाली अमात्य परिषद की सभा विचार-विमर्श का विषय तो बनी ही होगी ?"

"नहीं, सभा का तो उन्होंने एक बार भी नाम तक नहीं लिया । हां, भगवन् ! आपके सम्बन्ध मे उन्होंने जानना अवश्य चाहा ।"

"क्या पूछा उन्होंने ?"

"बस, यही कि अमात्य परिषद का और कितना अवमूल्यन करने का विचार है ।"

"क्या ! गुरुदेव की मेरे सम्बन्ध में ऐसी धारणा है ?"

"उनका विश्वास है कि आपके शासन-काल मे अमात्य परिषद का महत्व घटा है । अमात्य परिषद में मगध साम्राज्य की सर्वोच्च सत्ता सन्निहित समझी जाती है । वह विधायिका शक्ति है । उसकी दृष्टि मे सम्राट तो उसके निर्णयों का कार्यान्वियनकर्ता मात्र है । इसी रूप में दोनो स्वर्गीय सम्राटों ने परिषद की सत्ता सदा स्वीकार की है और भगवन् ! आप हैं कि परिषद की सत्ता को भी लगभग छीन चुके हैं ।"

"क्या परिषद का कभी मेरे द्वारा अपमान हुआ है ?"

"कदापि नही, भगवन् । आपने तो सदा उसकी मर्यादा की रक्षा ही की है । किन्तु, एक अन्तर अवश्य उत्पन्न हो गया है ।"

"वह क्या ?"

"पहले परिस्थिति अथवा समस्या विशेष पर विचार-विमर्श द्वारा निर्णय परिषद् लेती थी । एक प्रकार से परिषद सम्राट को उसके कार्यान्वयन का आदेश देती थी । सम्राट बिना किसी भी प्रकार की आपत्ति उपस्थित किए हुए उसका परिपालन करते थे । भगवन् ! आप परिस्थिति विशेष को जिस रूप में भी देखते-समझते हैं, उसी के अनुरूप निर्णय कर लेते हैं और उस निर्णय से परिषद को अवगत कराने मात्र में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं । फिर परिषद के द्वारा किसी भी संशोधन तक की प्रतीक्षा नहीं करते । उस समय कुछ ऐसा अनुभव होता है अमात्यों को जैसे वे विवेक सम्पन्न सदस्य न होकर, सभा की मात्र कठपुतली हों । ऐसी कठपुतलियां जिन्हें सम्राट के संकेत पर नर्तन मात्र करना है । उनका अपना अस्तित्व जैसे समाप्त हो गया हो । गुरुदेव भी सम्भवत: इसीलिए आशंकित लगे । अमात्य परिषद के तो एक-एक सदस्य के स्वभावों, चिंतन शैलियों और उनके क्रिया-कलापों से भलीभांति अवगत हैं । उनकी उन्हें तनिक भी चिंता नहीं रहती । उनकी सामूहिक शक्ति से भी वह परिचित हैं । किसे किस तर्क द्वारा उखाड़ फेंका जा सकता है, इस कला में गुरुदेव पारंगत हैं, किन्तु, भगवन् हमारी सभा को अपनी किस दृष्टि से अवगत करायेंगे, इसे अनुमान के परे भी गुरुदेव समझते हैं । जब मैं भी अपनी असमर्थता व्यक्त कर देता हूं, तब वह सुदीर्घ सांस छोड़ते हुए कहते हैं—"यह सत्तात्मक परिवर्तन मगध साम्राज्य के लिए कहीं अनिष्टकारी न सिद्ध हो ।"

"सच अमात्यवर ! गुरुदेव मेरे विचार और व्यवहार से इस सीमा तक आशंकित हैं ? फिर अभी चलो गुरुदेव की सेवा में । वह जो आदेश देंगे, उसी की स्वाभाविक अभिव्यक्ति प्रस्तुत करना मेरा उत्तरदायित्व होगा ।"

"भगवन् ! आप कष्ट न करें । अभी तो सभा के प्रारम्भ होने में दिन-भर का समय है । मैं आपके मन्तव्य से उन्हें अवगत कराकर वह जो भी आदेश देंगे, उससे अविलम्ब अवगत करा दूंगा ।"

"कहीं कोई अन्तर पड़ गया तो गुरुदेव को कष्ट होगा । मेरे किसी भी विचार या आचरण से गुरुदेव को कष्ट हो, मेरे लिए असह्य होगा ।"

"इसकी आप तनिक भी चिंता न करें । गुरुदेव परिस्थिति को सम्हालने की कला में इतने सुदक्ष हैं कि ऐसी स्थिति उत्पन्न ही न होने पायेगी, और यदि किसी कारण उनकी इच्छा के विपरीत अप्रत्याशित रूप में कुछ हो भी गया तो वह अपना विरोध बाहर प्रकट भी न होने देंगे । विरोधी सदस्य को उत्प्रेरित कर देंगे, विषय-परिवर्तन कर देंगे, सभा समाप्ति की घोषणा कर

देंगे। स्वत्व अपहरण से अधिक उनकी आस्था त्याग में है। वह किसी क्षण कुछ भी छोड़ सकते हैं। अनेक बार वह अपनी इसी त्यागवृत्ति से सभा के विपक्षी और सत्ता लोलुप सदस्यों को चमत्कृत कर चुके हैं। ऐसा लगता है, जैसे यह त्यागवृत्ति ही उनकी शक्ति हो। इस शक्ति के समक्ष तत्कालीन सम्राट तक नतमस्तक हुए बिना नहीं रह सके हैं। गुरुदेव का कथन है कि सत्ता केवल उत्सर्ग के समक्ष झुकती है। सत्ता को सत्ता के द्वारा कुचला, या परास्त तो किया जा सकता है, किन्तु विजित नहीं किया जा सकता। महामात्य पद की महिमा का आधार ही यह उत्सर्ग रहा है। लगता है आज भगवन्, आपके निर्णयात्मक प्रस्ताव और गुरुदेव के त्याग की टक्कर देखने के योग्य होगी।'

"कदापि नहीं, अमात्यवर। आप देखेंगे कि गुरुदेव की स्थिति सर्वोपरि होगी।"

"और कदाचित गुरुदेव सम्राट-पद की गरिमा को सर्वोच्च बनाये रखने की चेष्टा करेंगे।"

"कहीं मेरे द्वारा स्वप्न में भी उनका अपमान न हो, मेरी चेष्टा यही रहेगी।"

और महामात्य गुरुदेव की भूतकालीन गतिविधियाँ इस सत्य का प्रमाण रही हैं कि सम्राट-पद की गरिमा कभी अपमानित नहीं होने पायी है। और सम्भवतः इसीलिए दोनों ही पद अपने-अपने स्थानों पर अक्षुण्ण बने रहे हैं। ताली दोनों हाथों से बजती है, भगवन्।"

"फिर आज की ताली का स्वर सबसे ऊँचा रहेगा।"

"और कोई आदेश, भगवन्?"

"अभी-अभी तो आये हैं। इतनी शीघ्र जाना चाहते हैं?"

"डर है अमात्य गुरुदेव की शान्ति में व्यवधान सिद्ध हो रहे होंगे।"

"रक्षा-व्यवस्था क्या यथेष्ट नहीं है?"

"गुरुदेव को रक्षा-व्यवस्था की कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ी।"

"ओह! फिर आप अविलम्ब जाइए। हाँ, लौटकर कब तक आ रहे हैं?"

"बस, सभा के प्रारम्भ होने के पूर्व ही भगवन् की सेवा में उपस्थित हो जाऊँगा।"

"प्रतीक्षा रहेगी। विस्मृत न कर बैठना।"

"कदापि नहीं। भगवन् हमारे सर्वस्व हैं।"

"नहीं सर्वस्व हैं गुरुदेव। उनकी सेवा में उपस्थिति पहले आवश्यक है।"

"भगवन् ! जाने भर की देर है। बस, लौटा समझिए।"

"समझिये नहीं, लौटने पर ही लौटा समझूंगा। जाइए, विलम्ब मत कीजिए।"

"प्रणाम भगवन्।" राधागुप्त शिष्टाचार के साथ वहाँ से प्रस्थान कर गये।



राजभवन में ही मन्त्रणागार था। मन्त्रणागार की साजसज्जा अत्यन्त मनमोहक थी। प्रकाश व्यवस्था अत्युत्तम थी। राजपरिवार के दिवंगत सम्राटों के विशाल तैलचित्र राजसिंहासन के दोनों ओर दीवालों की शोभा बढ़ा रहे थे। राजसिंहासन ऊँचा ही न था विशाल भी था। स्वर्ण विनिर्मित सिंहासन रत्नादि विजड़ित था। प्रकाश से जो उसमें झिलमिलाहट उत्पन्न होती थी, वह चित्त को प्रसन्न करने के लिए यथेष्ट थी। कुछ अन्तर पर ही महामात्य के बैठने की व्यवस्था थी। क्रमशः वरीयता की दृष्टि से अमात्यों के बैठने का भी प्रबन्ध था। अमात्यों की संख्या लगभग पाँच सौ रहती थी। अधिकांशतः सभी उपस्थित होते थे। कभी-कभी किसी विशेष कारणवश कुछ अनुपस्थित हो जाते थे। इस परिषद में सभी वर्गों के विशिष्ट व्यक्ति सम्मिलित थे। रक्षा से लेकर कला और व्यवसाय आदि क्षेत्रों के मूर्धन्य व्यक्तियों की यह सभा जब भी आहूत की जाती थी, पाटलिपुत्र के राजमार्गों पर उत्सव विशेष का दृश्य उपस्थित हो जाता था। सामान्यजन तक समुत्सुक हो उठता था यह जानने के लिये कि किस समस्या का क्या समाधान घोषित किया गया। दर्शक दीर्घाओं में भी स्थान कम न था, किन्तु दर्शकों की संख्या सदा इतनी अधिक हो जाती थी कि स्थान कम ही प्रतीत होता था। जबसे सम्राट अशोक का शासनकाल प्रारम्भ हुआ था, परिषद की सभायें विशेष चर्चित हो उठी थीं। अल्पावधि में ही सम्राट अशोक अपने विचारों, निर्णयों और कार्यों द्वारा लोकप्रिय ही न हुए थे, वरन् परिषद के सदस्यों पर भारी भी पड़ते जा रहे थे। महामात्य आचार्य चाणक्य का सम्राट अशोक की दृष्टि में विशेष सम्मान था। उनके जीवन-दर्शन, लगन, धैर्य, दूरदर्शिता और राज्यनिष्ठा से वह इतना अधिक प्रभावित थे कि आचार्य चाणक्य का

सम्राट को अपना विरोधी प्रतीत होता था। स्वयं सम्राट उसे आड़े हाथों लेते थे। उसके विचारों का इतनी तीव्रता से खण्डन करते थे कि वह मुंह की खाये बिना न रहता था। विरोधियों का रहस्यपूर्ण षड्यन्त्र क्षणमात्र में ध्वस्त हो जाता था।

राधागुप्त ने जब सूचित किया कि महामात्य पधार चुके हैं, तब सम्राट अशोक ने भी मन्त्रणागार के लिए प्रस्थान किया। सम्राट के पधारने की उद्घोषणा काफी आगे-आगे चल रही थी। सूचना ध्वनि के आधार पर सम्राट के प्रवेश के पूर्व ही मन्त्रणागार में उपस्थित जनसमूह अपने-अपने स्थानों पर उठ खड़ा हुआ। सभागार के बीचोबीच मार्ग था। उसी मार्ग द्वारा सम्राट सामान्य गति से सभागार में पधार रहे थे। जयजयकार की ध्वनि से सभागार ध्वनित-प्रध्वनित हो रहा था। राधागुप्त ठीक सम्राट अशोक के पीछे थे। अंगरक्षकों की संख्या शनैः शनैः कम होती जा रही थी। मात्र दो ही अंगरक्षक शेष रह गये थे जो सम्राट के पीछे-पीछे राजसिंहासन तक गये और अगल-बगल सतर्कतापूर्वक खड़े हो गये। अपने लिये नियत स्थान पर खड़े हो राधागुप्त ने सम्राट अशोक की सेवा में निवेदन किया, भारत भारतेश्वर—"चक्रवर्ती सम्राट मगध महाराज श्री के चरणों में निवेदन है कि वह राजसिंहासन पर विराजमान होने की कृपा करें।"

सम्राट अशोक ने सस्मितदृष्टि राधागुप्त पर डाली और राजसिंहासन पर विराजमान हो गये। उनके बैठते ही सब सभासद और दर्शकगण अपने-अपने स्थानों पर बैठ गये। केवल बैठे नहीं थे महामात्य चाणक्य। खड़े-ही-खड़े उन्होंने अमात्य परिषद को सम्बोधित किया, "राजराजेश्वर मगध सम्राट अशोक एवं सभा में उपस्थित अमात्यगण। आज बहुत दिनों के बाद इस सभा का आयोजन सम्भव हो सका है। आप सभी को ज्ञात है कि इस अमात्य-परिषद की सभा किसी विशेष अभिप्राय से ही आहूत होती है। आप अवश्य समुत्सुक होंगे वह अभिप्राय विशेष जानने हेतु और उस उद्देश्य विशेष से आप लोगों को अवगत करायेंगे महाराज जी, किन्तु इसके पूर्व कि महाराज जी आप लोगों को सम्बोधित करें, मैं एक निवेदन विशेष आप लोगों के सम्मुख रखना चाहता हूँ। और वह निवेदन यह है कि अब मेरी अवस्था अधिक हो रही है। शरीर साथ नहीं दे रहा है। महामात्य के उत्तरदायित्व के प्रति मैं न्याय नहीं कर पा रहा हूँ। मैं स्वेच्छा से इस कर्तव्य-भार से मुक्त होना चाहता हूँ। महाराज जी की सेवा में मेरी विनम्र प्रार्थना है कि मुझे मुक्तकर महामात्य के पद भार को किसी उपयुक्त अमात्य को सौंपने की कृपा करें।"

सहसा सम्राट अशोक के मुंह से आश्चर्य व्यक्त हुआ, "यह कैसे हो सकता है। आप जैसा इस पद के योग्य है ही कौन दूसरा जो इसके उत्तरदायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वाह कर सके।"

इसके साथ ही सभासदों की फुसफुसाहट ध्वनि रूप धारण कर उठी। दर्शक दीर्घायें तक ध्वनिमयी हो उठीं। विशेष प्रतीक्षा किये बिना ही महामात्य ने दोनों हाथ ऊपर की ओर उठा दिये। शनैः-शनैः ध्वनि तिरोहित होती चली गई। ध्वनिशून्य वातावरण उपस्थित होने पर महामात्य ने बोलना प्रारम्भ किया, "यह भारत भूमि मात्र वीरों की जन्मदात्री ही नहीं है, वरन् गुणवन्तों की भी जननी है। एक जाता है तो सौ जन्म लेते हैं। एक-से-एक प्रतिभासम्पन्न लोग यहाँ उपस्थित हैं। महाराज जी जिसे भी उपयुक्त समझें, यह पदभार सौंप दें। विश्वास रखें, महाराज जी जिसे भी इस पद के योग्य घोषित करेंगे, मेरा पूर्ण मार्ग-दर्शन उसे प्राप्त होगा। हाँ, अपनी अंतिम इच्छा व्यक्त करना भी मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ मेरी दृष्टि में महामात्य के इस पद के लिए सर्वाधिक उपयुक्त अमात्य हैं राधागुप्त। आगे जैसी महाराज जी और सभासदों की इच्छा हो।" महामात्य चाणक्य कथन की समाप्ति के साथ ही बैठ भी गये।

उनके बैठते ही सम्राट अशोक उठ खड़े हुए और बोले, "सम्मान्य महामात्य जी एवं उपस्थित सभासदों! महामात्य जी की सेवायें मगध साम्राज्य के प्रति अन्यतम हैं। कौन है ऐसा भारतवासी जो सेवा-महिमा से अवगत नहीं है। मेरी दृष्टि में तो महामात्य जी मगध साम्राज्य के मात्र सेवक ही नहीं हैं, वरन् मौर्य राजवंश के निर्माता भी हैं। नन्दवंश के विनाश और मौर्यवंश के विकास में आपका अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है। वस्तुतः आप मगध साम्राज्य की धुरी हैं। आपका अभाव अपूरणीय है। किन्तु मानव जीवन की भी एक सीमा होती है। एक निश्चित अवधि तक ही तो मानव शरीर से काम लिया जा सकता है। एक-न-एक दिन तो क्रियाशीलता को शारीरिक शिथिलता के सम्मुख पराजित होना ही पड़ता है। यह महामात्य की निष्ठा का प्रमाण है कि उन्होंने स्वयं असमर्थता व्यक्त कर दी। यद्यपि ऐसा लगता है, जैसे एक नवयुवक की-सी कार्य क्षमता अब भी महामात्य के शरीर में विद्यमान है, तथापि दृश्यमान सत्य की अपेक्षा अनुभूतिगत यथार्थ अधिक विश्वसनीय होता है। महामात्य की स्वानुभूति का हमें आदर करना चाहिए। हम आग्रह द्वारा महामात्य को इस वर्तमान पद पर बने रहने के लिए विवश भी करेंगे तो भी एक-न-एक दिन तो यह स्थिति आनी ही है। समय रहते चेत जाना बुद्धिमानी समझी जाती है। हम महामात्य की घोषणा का स्वागत

करते हैं और महामात्य द्वारा सुझाये गये अमात्य राधागुप्त मुझे महामात्य के पद के लिये सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होते हैं। आपलोगों की दृष्टि मे राधागुप्त से भी श्रेष्ठ यदि कोई अमात्य हो तो अवश्य सभा के समक्ष उसके नाम की घोषणा करें। विचार के लिये प्रत्येक सभासद स्वतन्त्र है।''

सम्राट अशोक के शान्त होते ही सभासदों में परस्पर दृष्टिविनिमय ही नहीं प्रारम्भ हो गया, वरन् फुसफुसाहट भी ध्वनिरूप धारण करने लगी। कुछ समय बीतने पर भी जब कोई नाम प्रस्तुत न हो सका तो महामात्य ने खड़े हो दोनों हाथ उठाये। तत्क्षण स्वर तिरोहित होता चला गया। महामात्य ने पूर्ण शान्ति की स्थापना के पश्चात कहा, "मैं अमात्यवर खल्लाटक से आग्रह करूँगा कि महामात्य पद के लिए प्रस्तावित नाम की उपयुक्तता पर प्रकाश डालें।"

अमात्य खल्लाटक खड़े होने के लिए विवश हो गये। उन्होंने अपना मत व्यक्त किया, "महामात्य चाणक्य की सेवाओं का मगध साम्राज्य इतना ऋणी है कि उनकी अंतिम इच्छा का विरोध सम्भव ही नहीं है। अमात्य राधागुप्त महामात्य पद के लिए अयोग्य नहीं हैं। वही सर्वाधिक योग्य हैं, यह समय बतायेगा। मगध साम्राज्य के महामात्य के पद पर नियुक्ति के लिए मैं महामात्य राधागुप्त को बधाई देता हूँ और आश्वासन देता हूँ कि उन्हें मेरा पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा।"

खल्लाटक के बैठने के उपरान्त सम्राट अशोक ने सभासदों पर दृष्टि डाल कर जानना चाहा, "और किसी को इस नवीन नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ कहना है?" कुछ पलों तक जब एक भी स्वर मुखरित न हुआ तो सम्राट अशोक ने अमात्य राधागुप्त को सम्बोधित किया, "सर्वप्रथम महामात्य राधागुप्त मेरी ओर से नयनियुक्ति के लिए बधाई स्वीकार करें।"

तपाक से राधागुप्त बीच मे खड़े हो बोल उठे, "अत्यन्त आभारी हूँ महाराज जी का। गुरुदेव के आशीर्वाद से जो गौरवपूर्ण पद मुझे आज प्राप्त हुआ है, उसके लिए महाराज जी, गुरुदेव और समस्त सभासदों के प्रति मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूँ और विश्वास दिलाना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ कि महामात्य का जो कर्तव्य-भार मुझे आप लोगों ने सौंपा है, उसके योग्य सिद्ध करने की भरसक चेष्टा करूँगा, बस, ईश्वर से प्रार्थना है कि वह मेरे मन-मस्तिष्क को सदा स्वच्छ और निष्पक्ष रखे। वास्तव में, महामात्य पद का कर्तव्य-भार मेरे लिए एक चुनौती है। इस चुनौती का सफलतापूर्वक निर्वाह, जैसा कि अमात्य खल्लाटक ने आश्वासन दिया है, आपलोगों के सहयोग और सद्भावना पर ही निर्भर करेगा। पुनः मैं आप

सभी महानुभावों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ।" कथन की समाप्ति पर महामात्य राधागुप्त अपने स्थान पर बैठने लगे।

बीच में ही आचार्य चाणक्य ने टोका, "वहाँ नहीं, महामात्य का स्थान यहाँ है। इसे आकर सुशोभित करो। सम्राट अशोक की ओर उन्मुख हो आचार्य चाणक्य ने हाथ जोड़कर निवेदन किया, "महाराज जी ! अब मुझे अनुमति देने की कृपा करें।" और आचार्य चाणक्य एक क्षण भी वहाँ न ठहरे। कथन के साथ ही वह वहाँ से चल दिये।

उनके सम्मान में सभी उखड़े हुए। आचार्य चाणक्य के सभागार से बाहर निकल जाने पर सम्राट अशोक ने खड़े-ही-खड़े उच्चस्वर में घोषणा की, "आपलोग बैठ जाइए। इस परिषद में महामात्य पद को लेकर जो भी परिवर्तन हुआ, वह आचार्य चाणक्य के मन-मस्तिष्क की अव्यक्त योजना थी। इस सम्बन्ध में उन्होंने चर्चा तक कदाचित किसी से भी न की थी। अब मैं आप लोगों का ध्यान एक नवीन अभियान की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ।" सभा में परम शान्ति व्याप्त थी। उसे भग किया सम्राट अशोक के गम्भीर स्वर ने, "कश्मीर से कन्याकुमारी और अटक से कटक तक फैले हुए इस मगध साम्राज्य के अन्तर्गत जो छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य हैं, वे अपने राज्यों की सीमा विस्तार के लिये प्रयत्नशील हो उठे हैं। उनकी महत्वाकांक्षी सैनिक गतिविधियां मगध साम्राज्य को भीतर-ही-भीतर घुन के रूप में खोखला बनाने पर कटिबद्ध हैं। धुर दक्षिण में चोल, पाड्य, ताम्रपर्णी तथा कलिंग आदि ऐसे अविजित राज्य हैं जो मगध सत्ता के लिए चुनौती बन चुके हैं। मध्य प्रदेश और उत्तराखण्ड में भी ऐसे ही अनेक राज्य अहितकर गतिविधियों में संलग्न हैं। हम जितने ही शान्त हैं, वे उतने ही उग्र बनते जा रहे हैं। समय रहते यदि हमने उचित कार्यवाई न की तो वह दिन दूर नहीं जब मगध साम्राज्य की स्वायत्तता संकटग्रस्त दिखाई देने लगेगी और यह दमन अभियान मैं प्रारम्भ करना चाहता हूँ कलिंग राज्य से। कदाचित आप लोग अवश्य अवगत होंगे कि स्वतन्त्र राज्यों में कलिंग सर्वाधिक शक्तिशाली है। यह महानदी से लेकर गोदावरी के मुहाने तक समुद्र के किनारे-किनारे फैला हुआ है। इसकी राजधानी तोषाली कई योजन के घेरे में फैली हुई है। सैनिक दृष्टि से यह राज्य अत्यन्त सुरक्षित है। बीच-बीच में सघन वन हैं। वनों में असंख्य हाथी हैं। उनमें से अधिकांश सामरिक दृष्टि से प्रशिक्षित हैं। गजसेना ही कलिंग राज्य की मुख्य शक्ति है, किन्तु कदाचित आपलोगों में से किन्हीं-किन्ही को ज्ञात होगा कि एक बार राजा नन्द ने कलिंग को पद-दलित किया था। उसने मगध सत्ता के समक्ष सिर झुकाया था। कई वर्षों

तक अधीन रहकर कर देता रहा। इधर मगध में सत्ता धननन्द के हाथ में आई। धननन्द विलासी और अकर्मण्य शासक था । उसका शासन शिथिल होता चला गया । अनुशासनहीनता बढ़ी । अराजकता और अत्याचार खुलकर ताण्डव नृत्य करने लगे । अपने महामात्य आचार्य चाणक्य ने नन्दवंश के उन्मूलन की प्रतिज्ञा की । उस प्रतिज्ञा को सफल बनाया स्वर्गीय पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य ने । मौर्यवंश की सत्ता स्थापित होने के पश्चात दोनों ही शासकों को इतना अवकाश ही नहीं मिला कि वे कलिंग की ओर दृष्टि उठा कर भी देखते। कलिंग ने मौर्य सम्राटों की अपने प्रति उदासीनता का लाभ उठाया और स्वतन्त्रता की घोषणा कर बैठा। मौर्य सम्राटों ने फिर भी उस ओर ध्यान न दिया । इस उपेक्षा को उसने मौर्य साम्राज्य की अशक्तता समझी। समय के साथ-साथ उसकी यह समझ बलवती होती चली गई। और अब स्थिति यहाँ तक आ पहुँची है कि उसने स्वतन्त्र राज्यों का एक संघ बनाया है और उसका नेतृत्व स्वयं अपने हाथों में रखा है। उसकी गर्वोक्तियों का विध्वंस परमावश्यक है। मैं परिषद में उपस्थित अमात्यों का अभिमत स्पष्ट रूप से जानना चाहता हूँ।"

राधागुप्त ने खड़े होकर कहा, "भगवन् यदि कलिंग पर आक्रमण करना उचित समझते हैं तो अवश्य होना चाहिए आक्रमण। अमात्य परिषद में इसमें क्या आपत्ति हो सकती है नन्दवंश के आधीन कलिंग रह ही चुका है और *अब नन्दवंश की नींव पर खड़ा है मौर्यवंश,* इस आधार पर कलिंग को मौर्य साम्राज्य का ही एक अंग होना चाहिए।"

अमात्य खल्लाटक शांत न रह सके, "महाराज जी की सेवा में निवेदन है कि कलिंग राज्य को विद्रोही घोषित करके उस पर आक्रमण करना अनुचित तो नहीं है, किन्तु आक्रमण का अर्थ होगा कलिंग राज्य की शक्ति को चुनौती देना। कलिंग की शक्ति अत्यन्त प्रबल है। सुनने में आया है कि कलिंग की सेना में सत्तर सहस्र पदाति, दस सहस्र अश्वारोही और बारह सौ गज सैनिक हैं। सैन्य दृष्टि से प्रत्येक कलिंगवासी इतना प्रशिक्षित है कि संकट की वेला में सैन्य वेशधारण कर लेता है।"

"अमात्य खल्लाटक ! आप तो कलिंग शक्ति का ऐसा सजीव चित्रण कर रहे हैं जैसे उनकी सैन्यशक्ति की बागडोर कभी आपके हाथों में रही है। धीर कभी प्रतिपक्षी की शक्ति को चिंता नहीं करता। मगध सेना के प्रबल भट्ट शौर्य और पराक्रम में किसी से भी कम नहीं हैं । संख्या की दृष्टि से भी हम पर्याप्त सशक्त हैं। और फिर माण्डलिक शासकों की सेनायें भी तो हमारे विजय अभियान के साथ होंगी। आप कुछ भी सोचें, मुझे तो यहाँ तक

विश्वास है कि मात्र अकारावन्ती की सैनिक शक्ति ही कलिंग को पराजित करने के लिए यथेष्ट है।"

"मेरे कथन का अभिप्राय मात्र सावधान करना है। दीर्घकाल युद्ध के चलने की सम्भावना है। यथेष्ट व्यवस्था करनी होगी।"

"वह उत्तरदायित्व मेरा। आप मात्र मेरी अनुपस्थिति में यहाँ की व्यवस्था सम्हाले रहें।"

"क्यों, क्या महामात्य राधागुप्त भी साथ जायेंगे?"

"अभी तक तो यह प्रत्येक अभियान में मेरे साथ रहे ही हैं। इस बार भी रहेंगे तो बल रहेगा।"

"जैसी आज्ञा। आपकी अनुपस्थिति में प्रशासन का भार परिषद के कंधों पर होगा। प्रत्येक अमात्य अपने-अपने उत्तरदायित्व का वहन अवश्य करेगा। किसी भी मूल्य पर अव्यवस्था न उत्पन्न होने पायेगी।"

"बस, इसी आश्वासन की अपेक्षा थी। महाबलाधिकृत सुयश जी! आप युद्ध की तैयारी की घोषणा आज ही करवा दीजिए। विजय अभियान की तैयारी में न कोई कमी रहने पाये और न समय ही नष्ट हो।"

"जो आज्ञा, महाराज जी।" महाबलाधिकृत हाथ जोड़कर नतमस्तक खड़े हो गये।

सम्राट अशोक ने खड़े हो सभा विसर्जन के उद्देश्य से कहा, "सहयोग और सहानुभूति के लिए आप सभी लोगों को बहुत-बहुत धन्यवाद। विश्वास है, भविष्य में भी ऐसा ही समर्थन सदा प्राप्त होता रहेगा। सभा विसर्जित की जाती है।"

सम्राट अशोक का सिंहासन से नीचे पैर रखना था कि जयजयकार की ध्वनि से सभागार गूंज उठा। ध्वनि की तरंगों पर आरूढ़ होकर सम्राट अशोक मन्त्रणागार से बाहर जा रहे थे या बाहर जाते हुए सम्राट अशोक का जयध्वनि अनुसरण कर रही थी, निर्णय कर पाना कठिन था।

सम्राट के द्वारा युद्ध-अभियान की घोषणा और अमात्य परिषद द्वारा उसके अनुमोदन का अभिप्राय था जन-जीवन का युद्धमय बन जाना। सोचना-विचारना, वाद-विवाद, आचार-व्यवहार, क्रिया-कलाप, आमोद-प्रमोद, पर्व-उत्सव आदि सभी मानवीय गतिविधियों का केन्द्र-बिन्दु युद्ध हो गया था। सोते-जागते, खाते-पीते एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए आते-जाते युद्ध ही सत्य रूप प्रतीत होने लगा था। सैनिक तो युद्ध के रंगीन स्वप्नों में खो से गये थे। न दिन देखते न रात, बस अस्त्र-शस्त्र-संचालन का अभ्यास-अभ्यास। राजमार्गों पर अश्वों की दौड़-धूप युद्ध की भावना को सजीव बना रही थी। सामान्य सैनिकों का अनुशासनात्मक विचरण भी वातावरण में युद्ध की गंध भर रहा था। सद्गृहस्थ तक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में जुट गये थे। वैयक्तिक क्रिया-व्यापार तक युद्ध के रंग-में-रंग गये थे। सम्पूर्ण मगध साम्राज्य युद्ध की विचारणा से ओतप्रोत हो उठा था। कहीं विगत युद्धों की चर्चा हो रही थी तो कहीं सम्भावित युद्ध के विषय में अनुमान व्यक्त किये जा रहे थे। सैन्याधिकारियों की आकुलता चरमसीमा पर थी। वे एक पल के लिए भी कहीं ठहर न पाते थे। गति की सत्यता सबके सिर पर चढ़कर बोल रही थी। सक्रियता और सतर्कता अपनी चरमसीमा पर थीं। सम्राट अशोक ने तो जैसे विश्राम से विराम ले लिया था। भूले-भटके राजप्रासाद में वह आ भी जाते तो अधिक देर न टिकते। राजमाता शुभद्रांगी कुछ कहना भी चाहती तो सम्राट के मुंह से यही सुनने को मिलता, "मां! इस समय कुछ भी कहने-सुनने की मनःस्थिति में नहीं हूं। किसी समय फिर आऊंगा, सारी बातें एक साथ सुन लूंगा।" राजमाता जब भी कुछ खिलाने का उपक्रम करतीं तो सम्राट अशोक प्रस्ताव को अस्वीकार कर एक ही बात दुहराते, "मां! भोजन से युद्ध अधिक महत्त्वपूर्ण है। जहां और जब भी आवश्यकता अनुभव होती है, उदर-पूर्ति कर लेता हूं। विशेष आग्रह मत करो, मां। भूखा रहकर भी कहीं कोई पल फिर सकता है। देखो, मेरी गति कितनी तीव्र है।" और सम्राट अशोक अप्रत्याशित तीव्रगति से वहां से अदृश्य हो जाते थे। सम्राट अशोक के सहसा प्रकट होने और अचानक अदृश्य होने की चर्चायें कहानियों का रूप धारण कर चुकी थीं। प्रत्येक सतर्क हो उठा था। अपने कर्तव्य का यथाशक्ति परिपालन कर रहा था। सम्राट की असाधारण सक्रियता सामान्य

जनों तक में प्राण फूंक रही थी। सैनिकों के मध्य तो वह इतने घुलमिल गये थे कि सम्राट प्रतीत ही न होते थे। जो भी जिस स्थिति में मिलता उससे उसी रूप में व्यवहार करते थे। सामान्य-से-सामान्य सैनिक के कंधे पर हाथ रखकर बात करना, शस्त्रनिर्माता द्वारा निर्मित शस्त्रों का उसी के समक्ष परीक्षण कर उसकी प्रशंसा करना, भोजन करते सैनिक की भोज्य सामग्री से कुछ उठाकर मुंह में रख लेना तथा रुग्ण सैनिक के सिर पर सांत्वनापूर्ण हाथ फेरकर अविलम्ब स्वस्थ होने की कामना प्रकट करना, मनोरंजन के क्षणों में ठहाका लगाना तथा गम्भीर विचार-विमर्श में लीन सैनिक अधिकारियों के बीच बैठकर उपयोगी सुझाव देना आदि कुछ ऐसे क्रियाकलाप थे जिन्होंने सम्राट अशोक की आत्मीयता का इतना विस्तार किया था कि प्रत्येक सैनिक के मन मस्तिष्क में श्रद्धा के साथ-साथ अपनत्व की भावना ने घर कर लिया था दिन-पर-दिन बीत रहे थे। दिन-रात का अन्तर मिट गया था। कब सूर्योदय होता है और कब रात्रिकालीन निस्तब्धता प्रगतिगत सक्रियता को चुनौती देने के लिए उपस्थित हो जाती है, विजय अभियान-कार्य में निमग्न शौर्य के वरदानों को ज्ञात भी न हो पाता था। कर्ता, क्रिया और कर्म का अद्भुत संगम उपस्थित हो गया था और उस संगम के स्रोत थे सम्राट अशोक। एक धारा विशेष की भांति वह जिधर बढ़ते, उसी ओर के दुकूल परितृप्त हो उठते। ज्यों-ज्यों समय बीत रहा था, त्यों-त्यों सम्राट की सतर्कता तीव्रतर होती जा रही थी। अधिकारीगण सम्राट की क्षिप्रता पर अवाक थे। महाबलाधिकृत मात्र वस्तुस्थिति से अवगत कराकर रह जाते। महामात्य राधागुप्त भरसक चेष्टा करने पर भी सम्राट की छाया तक को न छू पा रहे थे। अपनी असमर्थता पर एक ओर जहां वह आत्मग्लानि ग्रस्त हो रहे थे, वहीं दूसरी ओर वह सम्राट के स्वास्थ्य के प्रति चिंतित भी हो उठे थे। कई दिनों तक निरन्तर प्रयास करने के बाद वह सम्राट अशोक की गति पकड़ पाने में सफल हो सके। शिष्टाचार का पालन करते हुए महामात्य राधागुप्त ने निवेदन किया, "भगवन् ! अपराध क्षमा हो। श्रम की भी एक सीमा होती है। सीमाहीन श्रम अस्वास्थ्यकर स्थिति का जनक हो सकता है।"

"अमात्यवर ! यह मत भूलो कि सामान्य परिस्थितयों के लिए सीमा रेखाएं होती हैं। युद्ध असामान्य स्थिति का द्योतक होता है। असामान्य स्थिति में मानव को भी असामान्य ही होना चाहिए। सामान्य रूप में असामान्य स्थिति को नियन्त्रित कभी नहीं किया जा सकता और फिर समस्त सीमा रेखाओं का निर्माण तो मनुष्य ने ही किया है। जिसका वह निर्माण कर सकता है, उसे भंग भी कर सकता है। युद्ध मेरी दृष्टि के समक्ष है।

शनैः शनैः निकटतर आता जा रहा है। इसके पूर्व कि वह अपने स्पर्श से मुझे चौंका दे, हम क्यों न आगे बढ़कर उसे दबोच लें। धीरे-धीरे मेरा विश्वास दृढ़तर होता जा रहा है कि युद्ध अवश्य मेरे नियन्त्रण में होगा। हाँ, सामान्य प्रशासन का उत्तरदायित्व भलीभाँति वितरित कर दिया है?"

"हाँ, भगवन्! उस ओर से आप पूर्ण निश्चिन्त रहिए।"

"युद्ध भी समय लग सकता है।"

"व्यवस्था इतनी सुदृढ़ बना दी गई है कि कुछ भी अहितकर नहीं घटित हो सकता है।"

"अच्छा, आप तैयार रहिए। किसी भी दिन विजय अभियान के प्रस्थान की घोषणा हो सकती है।"

"जो आज्ञा, भगवन्।" महामात्य राधागुप्त नतमस्तक हो गये।

सम्राट अशोक एक पल भी वहाँ न रुके। वह नाक की सीध में आगे बढ़ते चले गये। काफी दूर चलने के बाद एक सुदीर्घ परकोटा दिखाई दिया।- निकट पहुँचने पर उन्हें स्मरण हो आया कि यह वही नारी प्रशिक्षण शिविर था जिसका उद्घाटन उन्हीं के हाथों बहुत दिन पूर्व हुआ था। द्वार पर उनका पहुँचना था कि द्वाररक्षिकाएँ नतमस्तक हो गईं। शस्त्र धरती की ओर झुक गये। दोनों ने एक साथ अस्पष्ट मुखध्वनि की। दो-चार पल भी न बीते होंगे कि अनेक सशस्त्र नारियाँ एक साथ पहुँचीं। सम्राट को समक्ष देखते ही सब एक साथ नतमस्तक हो गईं। उन सबों ने भी उसी से मिलती-जुलती मुखध्वनि की। ध्वनि सुनते ही उससे कई गुना शस्त्रधारिणी नारियाँ द्वार-पर आंधी से भी अधिक तीव्रगति से आ गईं। उनमें से मुख्यनारी ने नत-मस्तक हो अभिवादन किया, "स्वागत है महाराज जी। अहोभाग्य जो महा-राज जी पधारे। बहुत दिनों की साध आज पूरी हुई। अनायास महाराज जी के पधारने से हमें और अधिक प्रसन्नता हो रही है। पधारिये महाराज जी, पधारिए। अपनी चरणरज से इस नारी प्रशिक्षण केन्द्र को पवित्र बनाइए।"

सम्राट अशोक ने सहज भाव से आगे बढ़ते हुए पूछा, "प्रशिक्षण-कार्य कैसा चल रहा है? किसी प्रकार का कोई व्यवधान तो नहीं?"

"सब महाराज जी की कृपा है। किस व्यवधान में इतना साहस है जो उपस्थित हो सके। प्रशिक्षण-कार्य अभी महाराज जी के नेत्रों के समक्ष लाया जाता है।"

"इतना समय नहीं है······क्या नाम बताया था अपना?"

"वीरवती।"

"हाँ, स्मरण हो आया। वीरवती! तुम्हारा साहस और धैर्य सराहनीय है।"

"कदापि नहीं, महाराज जी। अभ्यास देखकर ही धारणा व्यक्त कीजिएगा।" कथन की समाप्ति पर वीरवती ने दो बार ताली बजाई।

ताली की ध्वनि के साथ दो तीर दो ओर से छूटे और दोनों की नोकों की टक्कर से चिनगारियां छूटीं। चिनगरियों को देखते ही दो नारियां असि-संचालन करती हुई प्रकट हुईं। दोनों का असि-संचालन-कौशल देखते ही सहसा सम्राट के मुंह से निकला, "असाधारण कौशल प्राप्त है। अद्‌भुत अभ्यास का परिणाम है यह कौशल। इनकी प्रशिक्षिका तुम्हीं हो न वीरवती?"

"अपराध क्षमा हो महाराज जी! इस अल्पावधि में जो अभ्यास सम्भव हो सका, वह सेवा में उपस्थित है। सामूहिक युद्ध दृश्य उपस्थित हो।"

देखते-देखते दो ओर से लगभग पचास-पचास वीर-वेशधारिणी सशस्त्र नारियां वायुवेग से एक दूसरे पर टूट पड़ीं। अंधाधुंध जो शस्त्र संचालन हुआ उसे देख सम्राट आश्चर्यचकित हुए बिना न रह सके, "वीरवती! तुम इस पुरस्कार की अधिकारिणी हो।" सम्राट अशोक ने गले से माला उतार कर वीरवती की ओर बढ़ा दी।

"अहोभाग्य, महाराज जी। तनिक कष्ट अवश्य होगा, एक दृष्टि शस्त्र-निर्माण-शाला में भी डालने की कृपा करें। इस ओर पधारिए महाराज जी।"

सम्राट अशोक अस्वीकार न कर सके, "चलो, किन्तु समय कम है।"

"बस, दो पल महाराज जी।"

वीरवती मार्ग-प्रदर्शन मात्र कर रही थी। बढ़ आगे-आगे सम्राट अशोक ही रहे थे। शस्त्र निर्माण-शाला में प्रवेश करते ही शस्त्रों का जो अम्बार उन्हें दिखाई दिया, वह उन्हें आश्चर्यचकित बनाने के लिए पर्याप्त था। उनके नेत्र खुले-के-खुले रह गये। उन्होंने अविश्वास प्रकट किया, "इन सभी अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण यहीं हुआ है? नारियों द्वारा ही इनकी सृष्टि हुई है? इनके आकार-प्रकार तो अद्‌भुत हैं। इतने भारी-भारी शस्त्रों का निर्माण-कार्य तो पुरुषों द्वारा ही सम्भव है।"

"जी, महाराज जी का अनुमान असत्य नहीं है। दाहिनी ओर उपस्थित नरों द्वारा ही इनका निर्माण हुआ है।"

"अगर मैं भूलता नहीं हूँ तो कदाचित तुमने उद्‌घाटन के अवसर पर कहा था कि इस केन्द्र में पुरुषों की छाया तक वर्जित रहेगी।"

"अपराध क्षमा करें, महाराज जी। पुरुष वेश में ये नारियां ही हैं। इन्हें पुरुषवेश में उपस्थित करने का उद्देश्य था वेश-परिवर्तन-कौशल से भी

महाराज जी को अवगत कराना।"

"फिर तो वास्तव में आश्चर्यजनक है यह कौशल भी। वीरवती! धन्य है यह भारत धरती जहाँ तुम जैसी नारियां जन्म लेती हैं। तुम्हारी साधना अतुलनीय है। आज मैं पूर्ण विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि भारत को कभी कोई शक्ति पराजित नहीं कर सकती।"

"अहोभाग्य। आज साधना सफल हुई। अब तो अनुमति है?"

"अनुमति! किस बात की अनुमति? क्या चाहती हो तुम, वीरवती?"

"अनुचरवाहिनी के रूप में विजय अभियान में सम्मिलित होना।"

"अवश्य वीरवती। तुम जैसी नारी की गति को कभी कोई नहीं रोक सकता। केवल ध्यान रखना। तुम्हारी यह सैन्य टुकड़ी अति सुरक्षित समझी जायेगी। विशेष अवसर पर ही इसके पराक्रम का प्रदर्शन होगा।"

"जो आज्ञा महाराज जी। आपकी अनुमति के बिना एक भी कदम आगे या पीछे न उठेगा। किन्तु हम हाथ-पर-हाथ धरे नहीं बैठना चाहती। महाराज जी, अनुमति दें तो आहत सैनिकों की सेवासुश्रूषा द्वारा समय का सदुपयोग करेंगी।"

"यह प्रशिक्षण भी प्राप्त किया गया है?"

"एक दृष्टि इस विभाग पर भी डालने की कृपा करें, महाराज जी।"

"पहले से तुम्हारी क्षमता ज्ञात होती, वीरवती तो महाबलाधिकृत से परिचय करा देता।"

"क्षमा करें, महाराज जी, वह नारियों को फूटी आँखों भी देखना पसन्द नहीं करते। उनसे दूर रहना ही हम पसन्द करेंगी।"

"फिर तुम्हारा यह नारी दल मेरी विशेष अंगरक्षक सैन्य टुकड़ी के रूप में कार्य करेगा। तुम्हें मात्र मेरे आदेश का पालन करना होगा, किन्तु मेरे आदेश के बिना तुम्हें हिलना-डुलना भी नहीं है।"

"आज्ञा शिरोधार्य है, महाराज जी। हम वचन देते हैं कि सिर धड़ से अलग करवा लेंगी, किन्तु अवज्ञा कभी प्रदर्शित न करेंगी।"

"आरोग्यशाला तो अत्युत्तम है। और पाकशाला नहीं दिखाओगी।"

"महाराज जी अस्वीकार कर देंगे।"

"कदापि नहीं। दिखाओ तो।"

"फिर इस ओर पधारिए।"

वीरवती सम्राट अशोक को पाकशाला की ओर ले गईं। निकट पहुँचते ही सम्राट ने प्रतिक्रिया व्यक्त की, "सुगन्ध तो लुभावनी आ रही है।"

"स्वाद और भी उत्तम होगा।"

"अस्वीकार करना अपमान होगा। वीरवती ! तुम अद्भुत नारी हो। इस पदार्थ का तो रंग भी नयनाभिराम है।"

"लीजिए, चखकर देखिए। कदाचित रुचिकर लगे।"

"लाओ, यह भी युद्धभूमि की प्रयोगशाला ही तो है। युद्धभूमि में अशोभन कुछ नहीं होता।" चखने के बाद सम्राट अशोक ने प्रशंसा की, "परम स्वादिष्ट है। क्या ऐसे स्वादिष्ट पदार्थ प्रतिदिन बनते हैं ?"

"महाराज जी को स्वादिष्ट कुछ विशेष लग ही रहा है वैसे है यह सामान्य पदार्थ। महाराज जी पधारने की कृपा करें, एक-से-एक स्वादिष्ट पदार्थ सेवा में प्रस्तुत होंगे।"

"विश्वास हो गया है, शेष पदार्थों का स्वाद रणांगण में लेंगे।"

"आज्ञा शिरोधार्य है, महाराज जी। और आज्ञा करें।

"बस, इतना ही बहुत है। तुम्हारी प्रशिक्षण-कला से मैं बहुत संतुष्ट हुआ। रणस्थल में तुम्हारे दल की उपादेयता विशेष होगी।"

"अब महाराज जी कहाँ और कैसे दर्शन होंगे ?"

"तुम जब भी चाहना, राजप्रासाद में चली आना। लो यह राजमुद्रिका रख लो। जहाँ भी कहीं व्यवधान प्रतीत हो दिखा देना। प्रवेश की समस्त बाधायें समाप्त हो जायेंगी।"

"अहोभाग्य।" वीरवती ने सिर झुकाया। फिर सीधा किया तो महाराज जी का अश्व तीर की भाँति दूर होता हुआ दिखाई दिया।



राजप्रासाद में प्रवेश करते ही राजमाता का सन्देश सम्राट अशोक को प्राप्त हुआ, "राजमाता ने महाराज जी को अविलम्ब स्मरण किया है।" सेविका शिष्टाचार की सजीव प्रतिमा बनी खड़ी थी।

'अपने कक्ष में होंगी'—यह सोचकर सम्राट अशोक उधर ही मुड़ गये।

राजमाता शुभद्रांगी किसी ग्रंथ का पारायण कर रही थीं। पगध्वनि से उनकी एकाग्रता भंग हुई। उन्होंने सिर उठाकर देखा तो सामने सम्राट अशोक दिखाई दिए। राजमाता तपाक से उठ खड़ी हुईं और मन की व्याकुलता व्यक्त की, "बेटा ! तुम तो अभी से कई-कई दिनों की प्रतीक्षा कराने लगे।

कहाँ रहे तीन दिनों से ? दिखाई नही दिए ?"

"मां ! विजय-अभियान की तैयारी लगभग पूर्ण हो चुकी है। कहीं-कहीं अन्तिम संशोधनात्मक आदेश देने आवश्यक हैं। अभूतपूर्व तैयारी है, मां ! भारत की कोई भी विरोधी शक्ति क्या संसार की कोई भी शक्ति मगध सैन्यशक्ति से टक्कर नही ले सकती है। और मां ! मगध की नारियों ने तो अद्भुत क्षमता का परिचय दिया है। क्या कौशल अर्जित किया है। उन्हें देखकर विश्वास ही नही होता कि वे वही नारियां हैं जो गृहस्थी के कार्यों को सम्पादित किया करती हैं। देखिएगा मां ! हमारी विजय के मूल में नारियां ही होंगी।"

"लगता है नारियों के मध्य विचरण करने का अवसर अधिक मिला है ?"

"हां, मां ! उनके कार्य, उनकी तैयारी और उनमे उत्साह ही कुछ ऐसा है कि देखने वाला मन्त्र-मुग्ध हुए बिना रह ही नही सकता।"

"किन्तु एक नारी ऐसी भी है, बेटा, जो तेरे दर्शन के लिए लालायित है"

"एक क्या मां, असख्य नारियां ऐसी होंगी।"

"असंख्य वैसी हो नहीं सकतीं। वह अकेली है।"

बीच में सम्राट अशोक बोल उठे, "मां ! बस, इस विजय अभियान से लौट आऊँ। आपको कभी दु:खी नही बनाऊँगा।"

"बेटा ! मैं अपनी बात नही कर रही हूँ।"

"फिर वह कौन है, मा ?"

"वह है, बेटा, विदिशा की महादेवी।"

"शीला और पद्मा लौट आयीं ?"

"हां, केवल शीला लौटी है। पद्मा वहीं रुक गई है। शीला ने आकर सूचना दी है कि महादेवी मगध के भावी शासक की मां बनने वाली है। पद्मा को उसने वहीं रोक लिया है।"

"क्या मां ! शीला कहाँ है मां ?"

"तुम्हारे ही विश्राम कक्ष में प्रतीक्षा कर रही होगी।"

सम्राट अशोक एक पल भी वहाँ न रुक सके। सीधे लपके वह अपने निवास की ओर। शीला नेत्र बन्द किए हुए शान्त बैठी थी। सम्राट अशोक ने घुसते ही पुकारा, "शीला ! तुम आ गईं ? कब आयीं ?"

"परसों ही लौट आई थी।" वह हड़बड़ा कर उठ खड़ी हुई।

"महादेवी को साथ नहीं लाई। और पद्मा को भी वहीं छोड़ आयीं ?"

"महाराज जी ! आपको यह सब कैसे ज्ञात हुआ ? मैंने तो अभी कुछ बताया नही ? राजमाता से तो भेंट नही हो गई ?"

"हाँ, उन्होंने ही तो बताया है कि तुम विदिशा से लौट आई हो।"

"फिर तो उन्होंने यह भी बता दिया होगा कि··· ····।"

"बोलो–बोलो। रुक क्यों गयीं शैला ? क्या कोई अशुभ समाचार है ?"

"नहीं, अशुभ नहीं, बड़ा ही शुभ समाचार है। महारानी महादेवी अब तक राजमाता बन भी चुकी होंगी।"

"सच शैला !" सम्राट अशोक ने हर्षातिरेक में शैला को अपने बाहुपाश में कस लिया और पुरस्कारस्वरूप शैला के कपोल पर अपने अधरों का स्पर्श प्रदान कर दिया।

सम्राट अशोक के अप्रत्याशित व्यवहार से शैला संकुचित हो बोलीं, "महाराज जी ! मैं शैला हूँ। आपकी सेविका शैला। किसी ने देख लिया तो यह दासी कहीं की न रहेगी।"

"घबड़ाओ मत शैला। जहाँ इस समय हो, वहीं रहोगी। किसी के भी देखने या सुनने की चिन्ता मत करो। इस समय तुम हो मगध सम्राट अशोक की बाहों में। इन सशक्त बाहों के घेरे में होकर भी भय। मन से भय निकाल डालो।"

"किन्तु महादेवी को जब यह ज्ञात होगा तो वह क्या सोचेंगी ?"

"तुम कुछ मत सोचो वह कुछ भी नहीं सोचेंगी। महादेवी और तुम एक हो। दोनों में कोई अन्तर नहीं। सब कुछ समान है। पहली बार वह भी ऐसी ही लगी थीं। इतनी ही मधुर, इतनी ही मनोहर उनकी भी देह-यष्टि ऐसी ही थी। मगर महादेवी का कटि प्रदेश इतना सुन्दर नहीं था। तुम नर्तकी जो हो। कटि संचालन में तुम्हारा जैसा कौशल उन्हें कहाँ प्राप्त था तुम्हारा यह वस्त्र-विन्यास भी अनुपम है। कलात्मक अभिरुचि के प्रमाण हैं तुम्हारे ये परिधान। इनमें आवेष्ठित तुम्हारे अंग-प्रत्यंग तो और भी मनोहारी हैं। दूर से इनके सौन्दर्य में जो आकर्षण होता है, उससे कहीं अधिक सुन्दर लग रहे हैं ये। वाह ! क्या लुभावनी मांसलता है। ओह ! स्पर्श में तो और भी मादकता है।"

"बस, महाराज जी, बस। और अधिक नहीं।"

"क्या कष्टप्रद लग रहा है ?"

"नहीं, सुख की चरम सीमा को स्पर्श कर उठा है। और अधिक असह-नीय होगा।"

"इस स्थिति में असहनीय ही सुखद लगता है।"

"महाराज जी ! आप इतने कठोर तो कभी नहीं लगे।"

"इस कठोरता की अनुभूति तुमने इसके पहले कभी की ही कहाँ। यह उत्तरोत्तर वृद्धि पाती कठोरता ही तो आनन्ददायक होती है।"

"वाह ! कठोरता और कोमलता का कैसा सुखद मिलन है ।"

"आपको भी सुखानुभूति हो रही है ?"

"क्यों नहीं, शीला । ये ही तो समान सुखानुभूतियाँ परमानन्द की प्रतीक होती हैं । इसका भरपूर आनन्द लो ।"

"बस, महाराज जी, बस ! बहुत हो चुका अब और नहीं । आप तो सारी सीमाएँ भंग किये डाल रहे हैं महाराज जी ! अब तो आनन्द भी असह्य हो उठा है ।"

"सच शीला ?"

"हाँ, महाराज जी । यह दासी भी कहीं आपसे झूठ बोल सकती है ।"

"अपने को दासी मत समझो अब शीला । इस समय तुम रानी हो, महारानी हो, सम्राट अशोक की सहविलासिनी प्रेयसी हो । प्रेयसी का महत्व रानी-महारानी से भी अधिक होता है । इस समय मुझे तुमसे वह आनन्द प्राप्त हो रहा है जो कोई नहीं दे सकता । किसी के वश की बात नहीं है सम्राट अशोक को इस परमानन्द में आकण्ठ निमग्न बनाना । पिता बनने के सुखद समाचार के क्षणों को तुमने अपने कायिक समर्पण द्वारा जो आनन्ददायक बनाया है वह पिता बनने से कम महत्वपूर्ण नहीं है । कहो कैसा रहा पुरस्कार ?"

"नितान्त अविस्मरणीय, महाराज जी ! जन्म-जन्मान्तर तक के लिए जीवन धन्य हो गया ।"

"इन्हीं वस्त्रों को क्यों धारण कर रही हो ?"

"फेंक दो इन्हें । हाथ भी न लगाना इन्हें ।" सम्राट अशोक ने ताली बजायी । एक साथ अनेक परिचारिकाओं को उपस्थित देख सम्राट अशोक ने शीला की ओर संकेत कर कहा, "शीला आज से महारानी हैं । महारानी के योग्य वस्त्र लाकर दो इन्हें । देखो न, कैसे इन सामान्य वस्त्रों से अपने को ढकने का प्रयास कर रही हैं । यहीं मेरे सामने महारानी की भाँति इनका शृंगार करो ।"

"जो आज्ञा ।" उपस्थित परिचारिकायें एक साथ उल्टे पैरों भागीं ।

"अब इतना क्यों लजा रही हो ? रानियों-महारानियों का शृंगार तो दासियाँ करती ही हैं । ये दासियाँ भी तो नारियाँ ही हैं । नारी को-नारी से क्या लज्जा । और फिर तुम तो अब महारानी हो । इनसे बहुत ऊपर । तुम्हारे सामने अब ये दृष्टि भी नहीं उठा सकेंगी ।"

"सत्य है, महाराज जी । आपने तो एक पल में दासी को महारानी का पद प्रदान कर दिया, किन्तु दासी की मन.स्थिति से मुझे उबरने में तो कुछ

समय लगेगा ही। सहसा महारानी की मनःस्थिति के अनुकूल अपने को कैसे ढाल पाऊँगी।"

"फिर बताऊँ कैसे ढलती है दासी महारानी की गरिमा मे?"

"नहीं-नहीं, महाराज जी। अवज्ञा क्षमा करें। एक-दो दिन में मनःस्थिति अवश्य परिवर्तित हो जाएगी।"

"नही हो पायेगी तो मैं तो हूँ। जितनी शीघ्र चाहोगी, परिवर्तित हो जाओगी।"

"महाराज जी की कृपा से परिवर्तित हो तो गई। अब शेष रहा ही क्या। दूसरों के लिए जो संकोच शेष है, वह भी दूर हुए बिना न रहेगा।"

"महारानी के समक्ष अन्य नारियां संकुचित होती हैं। तुम्हें तो अब प्रफुल्लित होना चाहिए।"

"सब महाराज जी की कृपा है। अत्यन्त प्रफुल्लित हूँ।"

"परन्तु, मैं कैसे जानूं?" सम्राट अशोक सीधे पैर फैलाकर लेट गये।

"फिर सुनिए।" शैला ने दीवाल के सहारे रखा तानपूरा उठाया और उँगलियों के स्पर्श से उसके तार झंकृत हो उठे। शैला के कण्ठ स्वर में तारों की झनझनाहट विलीन होने लगी। ज्यों-ज्यों आलाप सधता गया, त्यों-त्यों सम्राट का चित्त एकाग्र होता चला गया। एकाग्रता की मनःस्थिति में उनके नेत्र मुंदने लगे। शैला गा रही थीं। सम्राट अतीन्द्रिय जगत में विचरण करने लगे थे। शैला के स्वर की तन्मयता भी राग के साथ कम न थी। उसे चेत भी न था उन क्षणों में अपने अर्धनग्न शरीर का। शेष वस्त्र भी नीचे खिसक गया था। परिचारिकायें भी दूर खड़ी सम्राट की सत्ता, शैला के शारीरिक सौन्दर्य और संगीत की त्रिवेणी में अवगाहन कर उठी थीं।

रात्रिभर में ही शैला के दासी से महारानी बनने तक के सजीव वर्णन से सम्पूर्ण राजप्रासाद अवगत हो गया। राजमाता ने सुना तो उन्हें विश्वास ही न हुआ, *"किरन! तूने यह सब सुना है या देखा है?"*

"यह समाचार इतना विश्वसनीय है कि देखने से भी अधिक है।"

"ध्यान रख, यदि सूचना असत्य निकली तो जो दण्ड दूंगी, वह जीवन भर भूल न पायेगी।"

"सत्य होने पर पुरस्कार भी तो उतना ही अविस्मरणीय मिलेगा।"

"अभी पूछती हूं अशोक से।" राजमाता सीधे चल दीं सम्राट अशोक के विश्रामगृह की ओर।

असंख्य दासियाँ और परिचारिकायें भी राजमाता का दबे पैरों अनुकरण कर उठी थीं। कक्ष में प्रवेश करने पर राजमाता को सम्राट अशोक के स्थान पर शैला दिखाई दी। शैला उस समय घनघोर निद्रा में निमग्न थी। राजमाता के धैर्य का बाँध टूट गया, *"शैला!"*

"जी·········जी, राजमाता आप।" हड़बड़ाकर शैला उठ खड़ी हुई।

"हाँ, मैं! तुझमें इतना साहस कि तू सम्राट की शैय्या पर सो रही है?"

"जी·········जी! वह चले गये। उन्होंने मुझे जगाया नहीं। राजमाता! विश्वास कीजिए, महाराज जी ने ही मुझे इस शैय्या पर साथ सोने के लिए विवश किया था।"

"हूँ, तो सूचना असत्य नहीं है। अन्ततोगत्वा सम्राट की अकशायिनी बन ही गई। किन्तु ध्यान रहे, कि महारानी महादेवी ही हैं। अपनी पद-सीमा का उल्लंघन कभी मत करना। जितना हो गया, उतना ही आवश्यकता से अधिक है। और कान खोलकर सुन ले,—पद्मा तेरी सहेली है। वह किसी भी दिन आ सकती है। उससे अपने मार्ग का अनुसरण मत कराना। अभी तू राजपरिवार की प्रकृतियों, परम्पराओं और मान्यताओं से अवगत नहीं है। जैसे एक कोष्ठ में दो असि के लिए स्थान नहीं होता, वैसे ही एक से अधिक रानियों का होना भी कम कष्टकारक नहीं होता। कोई कितनी ही अंतरंग सहेली क्यों न हो, रानी पद प्राप्त होते ही अंतरगता ईर्ष्या-दाह में परिवर्तित हो जाती है। जीवन से शान्ति सदा के लिए विदा हो जाती है। अशान्त जीवन बड़ा ही कष्टकारक होता है। भय के वशीभूत हो उसी कष्ट

को मुस्कान में घोलना पड़ता है। विश्वास है, पद्मा तेरे समझाने से मान भी जायेगी।"

"जो आज्ञा, राजमाता जी।" शैला नतमस्तक खड़ी थी। वह अपराध-पूर्ण स्वर में बोली, "महाराज जी ने मुझे विवश बना दिया था। भरसक चेष्टा की मैंने किन्तु वह न माने। मेरा दासीत्व समाप्त कर दिया। महारानी मुझे महाराज जी ने ही बनाया है।"

"सावधान! महारानी नहीं, मात्र रानी। महारानी केवल महादेवी हैं। उनका स्थान सुरक्षित है। और वह रानी पद भी विवाह संस्कार के सम्पन्न होने के बाद ही मान्य होगा।"

"राजमाता जी! मुझे कुछ नहीं ज्ञात। उन्होंने ही मुझे विवश किया है।"

"अपनी विवशता पर विजय पाने की चेष्टा करो। महाराज जी को शीघ्र ही विजय-अभियान के लिए प्रस्थान करना है। युद्ध के अतिरिक्त इस समय कुछ भी कहना-सुनना उचित न होगा। जो भी होना होगा, युद्ध से लौटने के बाद ही देखा जायेगा। बस, तुम अपनी सीमा रेखा में बनी रहो। महाराज जी का मन किसी भी स्थिति में अवसाद-ग्रस्त न होने पाये। मात्र पद्मा को सचेष्ट करना तुम्हारा उत्तरदायित्व है।"

"जो आज्ञा।" शैला के कण्ठस्वर को राजमाता सुभद्रांगी ने वहाँ से चलते हुए सुना।



सम्राट अशोक दो-दिन दो रात फिर न लौट सके। शैला प्रतीक्षा करती रह गई। समय के साथ-साथ उनकी व्यग्रता बढ़ती जा रही थी। सम्राट द्वारा अपनी दासीत्व की समाप्ति और राजमाता की सावधानी के बीच वह डोलती रही। न जाने क्या-क्या और किस सीमा तक वह सोचती चली गई। कभी विगत स्मृतियों में खो जातीं तो कभी वर्तमान परिस्थितियों में लौट आतीं। कभी अपनेपन में डूब जातीं तो कभी अपनापन तक विस्मृत कर बैठतीं। उन्होंने न वस्त्र-परिवर्तित किये थे, न वाद्यन्त्रों को हाथ ही लगाया था। न कुछ खाया-पिया था, न कक्ष से बाहर पैर ही रखा था। जबसे उसके पद में परिवर्तन हुआ था, तब से अन्य दासियों के साथ घुसकर वार्तालाप भी

सहन कर सकी थीं । बस, गुमसुम बनी वह शैय्याधीन ही अधिक रही थीं । जब एक ही स्थिति असह्य हो उठती तो वह करवट ले लेतीं । उन्होंने द्वार की ओर पीठ की ही थी कि सम्राट के पधारने की सूचना मिली । वह तपाक से उठ खड़ी हुईं । अपने परिधान पर दृष्टि डाल उन्होंने हाथ फेरा ही था कि सम्राट ने वायु के झोंके की भांति कक्ष मे प्रवेश किया । शैला को अपने स्वागत में प्रस्तुत पा सम्राट अपने को न रोक सके और अपनी दोनों बाहों में शैला को कस लिया । शैला का नतमस्तक सम्राट के वक्ष पर आ टिका था । सम्राट ने झुकी दृष्टि से शैला को देखना चाहा, किन्तु शैला के नेत्र बन्द थे । श्वांस, प्रश्वांस की गति तीव्र हो गई थी । सम्राट ने शैला को छेड़ा, "शैला रानी ! क्या बात है ? कुछ दुखी लग रही हो ? मेरे आने से प्रसन्न नहीं हो ?"

शैला ने सम्राट के अधरों को अपने अधरों का स्पर्श प्रदान कर कहा, "महाराज जी ! अत्यधिक प्रसन्न हूं, किन्तु इतनी लम्बी प्रतीक्षा असह्य हो उठी थी ।"

"रानी ! मां और तुम्हें मात्र इस सूचना से अवगत कराने आया हूँ कि कल प्रातः विजय अभियान की प्रस्थान-वेला है । प्रस्थान से पूर्व तुमसे विदा लेना आवश्यक नहीं था ?"

"राजमाता से पहले मिल आइए ।"

"उन्हीं से आशीर्वाद लेकर ले तो आया हूँ तुम्हारे पास । मस्तक पर यह तिलक नहीं देख रही हो ?"

"राजमाता ने कुछ सावधान किया ?"

"मात्र विजय की शुभकामना व्यक्त की ।"

"कितनी महान हैं वह ।"

"मां किसकी हैं । सम्राट अशोक की मां महान तो होंगी ही ।"

"डर लग रहा है कि कहीं मेरे किसी आचरण द्वारा वह अपनी अवमानना न समझ बैठें ।"

"उनसे डरने की कोई आवश्यकता नहीं । वह परिणाम के मूल में निहित भाव को अविलम्ब समझ लेती हैं । मन में दुर्भाव नहीं होना चाहिए । और फिर शैलारानी, तुम तो सेवा और शिष्टाचार की प्रतिमूर्ति हो । मां तुम्हारी कितनी प्रशंसा करती हैं । मां क्या तुमसे कोई भी तो अप्रसन्न नहीं हो सकता । अब मुझे ही देखो, तुम्हें पाकर कितना प्रसन्न हूँ । सुख की खान जो हो । जितना डूबता हूँ उतना ही डूबने का और मन करता है । अच्छा रानी ! अधिक समय नहीं है मेरे पास । सम्पूर्ण विजयवाहिनी का एक बार पुनः

निरीक्षण करना है । राज्य के उच्चाधिकारियों के साथ कुछ विचार-विमर्श भी करना है । कुछ ही क्षण तुम्हारे लिये निकल पाये हैं । क्या ये क्षण यों ही बीत जायेंगे ?"

"आज्ञा करें, देव । दासी सेवा के लिए प्रस्तुत है ।"

"वह तो मैं जानता हूँ, किन्तु तुम्हारा निषेधात्मक प्रस्तुतीकरण ही तो आकर्षक होता है ।"

"जाइए, नहीं, बोलती ।"

"लो प्रारम्भ भी हो गया ।"

"क्या ! क्या प्रारम्भ हो गया ?"

"वही जिसका आकर्षण मुझे यहाँ तक खींच लाया है ।"

"महाराज जी ! वियोगवेला के पूर्व के कुछ ही क्षण तो मिले हैं । उन्हें भी क्यों व्यर्थ के अभिनय में खोया जाय ।" सम्राट का प्रिय पेय शैलारानी ने अधरों की ओर बढ़ा दिया ।

"रानी ! तुम्हारे अधरों का स्पर्श तो इसे मिला ही नहीं ।"

"आज पहले आप पान कीजिए ।"

"क्यों ? क्या दुःख है तुम्हें ? किसी ने कुछ कहा क्या ?"

"नहीं, किसी ने कुछ नहीं कहा, किन्तु जब दो दिन की प्रतीक्षा इतनी असह्य हो उठी है तब अनिश्चितकालीन प्रतीक्षा कितनी वेदनामयी होगी, इसकी कल्पना मात्र से मन सिहर उठा है ।"

"यदि वियोग इतना ही असह्य है तो साथ चलो ।"

"सच !" शैलारानी की प्रसन्नता की सीमा न रही । पात्र एक ओर रख कर वह अपनी दोनों सुकोमल बाहों के सहारे सम्राट के गले का हार बन गई । विह्वल स्वर में वह बोली, आज्ञा दें महाराज जी ! क्या-क्या तैयारी करनी है ?"

"अरे ! क्या तैयार नहीं हो ?"

"इतनी शीघ्र !" पेयपात्र उठा शैला ने सम्राट के अधरों से लगा दिया ।

पात्र रिक्त कर सम्राट बोले, "शैलारानी ! जब साथ चल ही रही हो तो वास्तव में अधीरता की क्या आवश्यकता । इससे भी अधिक आवश्यक कार्य शेष हैं । उन्हें सम्पन्न देखना है । अब मैं चलता हूँ । तुम तैयार रहना । प्रस्थान-ध्वनि सूर्योदय के साथ ही निनादित होगी । विलम्ब नहीं होना चाहिए । दो पहर रात रहे ही सन्देशवाहक सेना के उपस्थित हो जायेगा । उसी के साथ प्रस्थान-स्थल तक आ जाना ।"

"जो आज्ञा । अनुमति हो तो अर्ध पात्र भरूँ ? [illegible]

कि मैं सदा तैयार रहती हूँ ।"

"बड़ी नटखट हो ।" सम्राट ने उठते हुए शैला के कपोल का स्पर्श किया ।

"जो महाराज जी को प्रिय है वही तो हूँ ।"

"और जो हो, वही मुझे प्रिय है । अच्छा ध्यान रहे प्रतीक्षा न करनी पड़े ।" सम्राट शैला के अधरों से स्वीकृति का स्पर्श प्राप्त कर वहाँ से चले गये ।



रातभर सम्राट अशोक अत्यधिक व्यस्त रहे । निरीक्षण-कार्य विशेष था नहीं। सम्पूर्ण विजय-अभियान-व्यवस्था को अनेक बार देखा, समझा, और परखा जा चुका था विशेष ध्यान देने पर भी कोई कमी समझ में न आ पा रही थी । सम्राट अशोक की दृष्टि जो थोड़ी चिंता की बात थी, वह थी उनकी अनुपस्थिति में प्रशासन-व्यवस्था । एक-एक अमात्य से वह भेंट कर चुके थे। प्रश्नोत्तर के सहारे वह उनकी क्षमता से भी अवगत हो चुके थे, किन्तु अमात्य वल्लाटक के साथ अनेक बार वार्तालाप करने पर भी वह पूर्णतया संतुष्ट न हो पा रहे थे । अर्द्धरात्रि के समय ही उन्होंने अमात्य वल्लाटक को बुला भेजा । अमात्य वल्लाटक को अपनी सेवा में उपस्थित देख सम्राट ने प्रश्न किया, "न्याय-व्यवस्था-निरीक्षण का उत्तरदायित्व, यदि उचित समझें तो आप स्वयं ग्रहण कर लीजिए । अमात्य प्रशांत न्याय-व्यवस्था सम्हाल नहीं पायेंगे । न तो उनकी कर्तव्य-बुद्धि पर ही मुझे भरोसा है, न कार्यक्षमता पर। वह दीर्घसूत्री तो इतने हैं कि समय का उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व ही नहीं "

"जैसी महाराज जी की आज्ञा ।"

"फिर भी, अवसर की अनुकूलता पर दृष्टि सदा रहनी चाहिए ।"

"महाराज जी, विश्वास रखें, लौटने पर अन्यथा कुछ भी सुनने को न मिलेगा ।"

"यही विश्वास विजय-अभियान काल में संतोष के लिए यथेष्ट है । पूर्ण एकाग्रचित्तता के साथ युद्ध-संचालन कर सकूंगा ।"

"महाराज जी शासनव्यवस्था की ओर से पूर्ण निश्चिंत रहें । साम्राज्य

का एक भी नागरिक असुरक्षा की भावना से ग्रस्त न होने पायेगा।"

"विजय अभियान की तैयारी का निरीक्षण तो आपने भी किया है, उससे सम्बन्धित विचार-विमर्श से भी भाग लिया है, कोई कमी अनुभव हुई ?"

"कदापि नहीं, महाराज जी। विजय अभियान के लिए इतनी सजग और सशक्त तैयारी मैंने अपने जीवनकाल मे न सुनी न देखी। महाराज जी की विजय सुनिश्चित है।"

"सच अमात्यवर! आप मुंहदेखी तो नहीं कर रहे हैं ?"

"कदापि नही, महाराज जी। यथार्थ इससे भी अधिक प्रबल है।"

"और नारी शक्तिदल के विषय मे आपका क्या विचार है ?"

"इसके पूर्व तो नारी शक्तिरूप में कभी संगठित हुई नहीं। अनुभव के आधार पर कुछ भी कह पाना कठिन है। नारी के भार बनने की अशंका सदा बनी रहती है। इनकी सुरक्षा के लिए अतिरिक्त व्यवस्था की आवश्यकता पड़ सकती है।"

"अमात्यवर! आपने मगध विजयवाहिनी की नारी संगठन का कौशल-प्रदर्शन नही देखा है। एक-एक नारी शक्तिस्वरूप है। स्वयं रक्षा में तो सक्षम है ही, आहत सैनिकों की जो सेवाशुश्रूषा इनके द्वारा सम्भव है, वह किसी भी सेवा-प्रशिक्षण-प्राप्त पुरुष द्वारा किसी भी स्थिति मे सम्भव नहीं है। अस्त्र-शस्त्र-निर्माणकला में जो कौशल अर्जित किया है, वह तो प्रशंसनीय है ही, वेश-परिवर्तन द्वारा किसी को भी भ्रमित करने की दिशा मे अनुपम सिद्ध-हस्तता अर्जित की है। आवश्यकता समझियेगा तो नारी शक्ति संगठन से सम्पर्क स्थापित कर लीजिएगा। जो नारियां इस केन्द्र के संचालन हेतु यहीं रुक रही हैं, वे किसी भी कठिन-से-कठिन कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने में सक्षम हैं परीक्षण के रूप में ही किसी कार्य को सौंप कर देखिएगा।"

"जो आज्ञा, महाराज जी! अवसर के अनुकूल देख लूंगा।"

"बस, अविश्वास मत कीजिएगा। नारी विश्वास की प्रतिमूर्ति होती है। अविश्वास को वह तत्क्षण पहचान लेती है। फिर जो विश्वास-अविश्वास के मध्य टक्कर होती है, उसमें जीत सदा विश्वास की होती है। अविश्वास अनाधार होने के कारण सदा पराजित होता है।" एक ध्वनि विशेष के सुनते ही सम्राट अशोक के मुंह से निकला, "ओह! तो रात्रि भी व्यतीत हो गई। प्रस्थान का यह प्रथम संकेत है। अब आपलोगों के साथ लौटने के पूर्व की यह अंतिम भेंट है।" कथन की समाप्ति के साथ ही सम्राट अशोक उठ कर खड़े हो गये।

सभी उपस्थित सामन्तों और कार्याध्यक्षों ने प्रणाम की मुद्रा धारण कर

थी । एक साथ सबके कण्ठस्वर फूटे, "मगध राजाधिराज की जय ।"

बाहर निकलते ही राजशिविका पर सम्राट अशोक की दृष्टि पड़ी । वह बढ़े उसी ओर । राजमाता उसी के अन्दर से चारों ओर दृष्टि दौड़ा रही थीं सम्राट अशोक ने निकट जा चरण स्पर्श किये । राजमाता ने आशीर्वाद दिया, "परम यशस्वी बनो । अक्षय कीर्ति अर्जित करो । अबलाओं और अनाथों के रक्षक बनो । जा, बेटा, जा, और विजयी होकर शीघ्र लौट ।" राजमाता ने सम्राट अशोक के मस्तक पर वात्सल्य चिह्न अंकित कर दिया ।

सम्राट अशोक ने पूछा, "माँ ! आप अकेले ही आई हैं ?"

"हाँ, किन्तु शीला की शिविका भी उठने ही वाली थी ।"

"अच्छा माँ ।" सम्राट अशोक ने पुनः राजमाता के चरण स्पर्श किये ।

"युग-युग जियो बेटा ।" राजमाता का कण्ठस्वर विछोहजन्य वेदना से अवरुद्ध हो उठा था । दोनों हाथों से मुँह छुपा लिया इस भय से कि कहीं पुत्र नेत्रों में आंसू न देख ले ।

इसी बीच दूसरी बार वही ध्वनि विशेष हुई । उसे सुनते ही सम्राट अशोक वहाँ भी न ठहर सके और अपने गज की ओर बढ़े । उस गज के कुछ अन्तर पर पहले ही एक और राजशिविका दिखाई दी । क्षिप्रगति से सम्राट अशोक उसी ओर बढ़े । शिविका के अन्दर से झांकती शीला को देख सम्राट अशोक ने प्रश्न किया, "बड़ी देर कर दी ?"

"राजमाता के पूर्व मैं कैसे राजप्रासाद छोड़ सकती थी । क्या मेरे ही कारण प्रस्थान-कार्य सम्पन्न नहीं हो सका है ।"

"नहीं, प्रतीक्षा जो थी ।"

"कष्ट के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ ।"

"क्षमा प्रार्थना की कोई आवश्यकता नहीं । तुम ठीक समय पर आ पहुँची, इतना ही यथेष्ट है । ध्यान रहे यह शिविका मेरे गज के साथ ही रहेगी ।" शिविका संवाहकों के मुंह से एक साथ स्वीकृति व्यक्त हुई, "जो आज्ञा महाराज जी ।"

सम्राट अशोक बढ़े गज की ओर । गज की पीठ के सहारे एक सीढ़ी लगी हुई थी । उस पर सम्राट ने पैर रखा ही था कि तीसरी बार वही ध्वनि विशेष गूंज उठी । इसके पूर्व कि यह ध्वनि शून्य में तिरोहित हो, सम्राट अशोक ने हौदे में खड़े हो, असि को आकाशोन्मुख किया और प्रस्थान के आदेश की गर्जना की, "बढ़ो आगे ।"

रणवाद्य ध्वनित हो उठे । अश्वों की हिनहिनाहट व्यक्त हुई । गजों की चिग्घाड़ें वायुमण्डल को विदीर्ण करने लगीं । सैनिकों के कण्ठस्वरों की जय-ध्वनि से सम्पूर्ण वातावरण निनादित हो उठा । गति ध्वनिमयी हो गई ।

०००

कहा जाता है कि मनुष्य जन्मतः स्वतन्त्र होता है और संसार में आते ही वह असंख्य बन्धनों में बंध जाता है। बच्चे के जन्म के पूर्व प्रायः सुनने को मिलता है–'वह बच्चे की मां बनने वाली है, उसके पेट में बच्चा है, उसके पाँव भारी हैं, वह नारीत्व की चरम उपलब्धि मातृत्व को प्राप्त करने वाली है, वह पारिवारिक समृद्धि के मार्ग पर है अथवा वह गर्भवती है।' बच्चे के रूप में मनुष्य की चर्चा कभी नहीं होती है। किन्तु जैसे ही बच्चा स्त्री के उदर से बाहर आता है, वैसे ही वह किसी का पुत्र, तो किसी का भाई, किसी का नाती तो किसी का पोता, किसी का भांजा तो किसी का मामा, किसी का भतीजा तो किसी का चाचा, किसी जाति और धर्म से वह सम्बन्धित हो जाता है तो किसी समाज अथवा समुदाय का सदस्य या देश का नागरिक बन जाता है। सम्बन्धों के अनेक रूप होते हैं। हर सम्बन्ध किसी-न-किसी प्रकार के बन्धन का प्रतीक होता है। असंख्य बन्धनों में बंधा मनुष्य उन्मुक्ति की सांस लेना चाहता है। वह प्रतिपल छटपटाता रहता है बन्धन-मुक्त होने के लिये, किन्तु ये सभी बन्धन इतने पारम्परिक और स्वभावगत होते हैं कि मनुष्य इन्हें परवशता का पर्याय नहीं अनुभव कर पाता है। उसे पग-पग पर ऐसी अनुभूति होती है जैसे वह इन सम्बन्धों या बन्धनों को स्वीकार किये बिना आगे बढ़ ही नहीं सकता है। ये बन्धन ही उसकी नियति बन जाते हैं। इन बन्धनों की दृढता उसकी प्रगति का प्रतीक माना जाता है। इन्ही बन्धनों के आधार पर विकसित होता है मनुष्य के अपनत्व का क्षेत्र। यह क्षेत्र कभी संकुचित रूप में परिवार, वर्ग, धर्म, जाति या समाज विशेष तक ही सीमित होता है और कभी यह क्षेत्र राज्य, साम्राज्य अथवा भूखण्ड विशेष तक फैला हुआ माना जाता है। इसके अन्तर्गत विचरण करने, इसकी सुख-सम्पन्नता के लिए मानसिक चिन्तन और कायिक प्रयत्न करने में ही मनुष्य अधिकांशतः अपने जीवन की सार्थकता समझने लगता है। इसी क्षेत्र की सीमा रेखा का जब सम्बन्ध से परे कोई प्राणी अतिक्रमण करने की चेष्टा करता है तो उसके प्रतिरोध के लिए वह कटिबद्ध हो उठता है। जीवन-मूल्य पर भी अतिक्रमणकारी को वह भगाने की चेष्टा करता है। यह चेष्टा कभी साधारण होती है कभी असाधारण। यही असाधारण चेष्टा कहलाती है युद्ध। युद्ध जीवन का स्वाभाविक धर्म है। आजीवन हम यद्ध करते हैं। युद्ध हमें

प्रगति के लिए प्रेरित करता है। युद्ध का विस्तार जितना ही व्यापक और दीर्घकालिक होगा, हमारी आत्मा का उतना ही विस्तार होगा। बिना युद्ध का मनुष्य मात्र सांस लेता हुआ निष्क्रिय प्राणी होता है। कुछ लोगों की दृष्टि में युद्ध क्रूर, परिग्रही, बर्बर और हिंसक प्राणियों का धंधा है। वस्तुतः युद्ध मनुष्य जाति का आदिकालीन एक ऐसा व्यापार है जिसमें विजय के लिए छल-कपट को अनुचित नहीं माना जाता है। अपहरण, रक्तपात, लूटपाट और बर्बरता युद्ध के स्वाभाविक धर्म समझे जाते हैं। सामान्यतः जो अनैतिक और अधार्मिक माना जाता है वही युद्ध के समय में उचित और नीतिपरक मान लिया जाता है। बस, उचित और अनुचित की एक ही कसौटी होती है—विजय। जो विजयी है उसका हर आचरण न्यायोचित है और जो पराजित है, उसकी हर चेष्टा अनीतिकारी और धर्म विरुद्ध है। इसी कसौटी पर खरा उतरने के लिए हर योद्धा अपनी अन्तिम सांस तक लड़ता है। जीवन के अपरिहार्य और नैसर्गिक क्रिया-कलापों तक को उठाकर ताक में रख देता है। स्वाभाविक सम्बन्धों तक से मुंह मोड़ लेता है। बस, युद्ध बन जाती है हर क्रिया, युद्ध बन जाता है जीवन लक्ष्य और युद्धमय योद्धा हो जाता है मनुष्य। मनुष्यता युद्धकाल तक के लिए अस्तित्वविहीन बन जाती है। अस्तित्व में आ जाता है युद्ध। युद्ध का भीषण रूप साकार हो उठता है। प्रत्येक ध्वनि में युद्ध की गूंज समा जाती है। इस गूंज से दूर-दूर तक का वातावरण निनादित हो उठता है। जिस दिशा विशेष की ओर युद्ध बढ़ता है, उस दिशा में स्थित राजनैतिक संगठन सचेष्ट हो जाते हैं। युद्ध के स्वागत के लिये युद्ध की भावना से भर उठते हैं। विगत युद्धों की अनुभूतियाँ स्मृति पटल पर कौंधने लगती हैं। चर्चायें युद्धमय बन जाती हैं। गतिविधियाँ युद्ध प्रेरित रूप धारण कर लेती हैं। जीवन युद्धमय बन जाता है। पाटलिपुत्र से मगधवाहिनी ने प्रस्थान किया ही था कि कलिंगवासियों को आक्रमण की सूचना मिल गई। किस राज्य का कौन गुप्तचर रूप में किस राज्य में निवास कर रहा है, जानना उन दिनों भी कठिन था। पाटलिपुत्र में निवास करने वाले गुप्तचरों ने मगध विजयवाहिनी के प्रस्थान की सूचना यथाशक्ति तीव्रगामी साधनों से पहुँचा दी। कलिंगवासी सहसा सजग हो उठे। कलिंग राज्य महानदी और कृष्णा के मध्य स्थित तटवर्ती प्रदेश था। इस प्रदेश की परिधि दो सौ मील थी। इसकी राजधानी तोपाली की परिधि बीस मील थी। प्राकृतिक सुषमा से सम्पन्न यहाँ की भूमि अत्यन्त उपजाऊ थी। फल-फूलों से युक्त वृक्षों की भरमार थी। प्रकृति यहाँ की जितनी उदार और सघन थी, यहाँ के निवासी उतने ही परिश्रमी और विश्वसनीय थे। स्वतन्त्रता उन्हें

अत्यधिक प्रिय थी। जैसे ही उन्हें गतिमान मगधवाहिनी के उद्देश्य की विश्वसनीय सूचना मिली, एक घंटा विशेष घनघना उठा। यह घनघनाहट सूचना होती थी आपत्तिकाल की। इसे सुनते ही कलिंगवासी सब काम छोड़कर दौड़ पड़े थे राजप्रासाद की ओर कलिंगाधिपति राजप्रासाद के उच्चतम शिखर पर विराजमान थे। राजप्रासाद के समक्ष सुविशाल प्रांगण में अपार जनसमूह को एकत्र होने में क्या समय लगना था। देखते-ही-देखते जनसागर लहरा उठा। एक ध्वनि विशेष के साथ कलिंगाधिपति की भीषण गर्जना गूंजी, "कलिंगराज्य के प्रिय निवासियो! विश्वस्त सूत्रों से ज्ञात हुआ है कि मगध नरेश ने हमारी प्राणप्रिय स्वतन्त्रता को एक बार पुनः ललकारा है। सीमावर्ती सभी राज्य जानते हैं कि हम कलिंग राज्यवासी कितने शान्ति प्रिय हैं। जो भी हमारे पास है, हम उसी से संतुष्ट रहते हैं। कभी किसी का कुछ भी छीनना हम नहीं चाहते। अपने पौरुष पर हमें विश्वास है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हम स्वयं अपने संसाधनों से कर लेते हैं। किसी के आगे हमने कभी हाथ नहीं फैलाये। जो पराक्रम के बल पर उपार्जित कर सके, उसी में आवश्यकताओं को शान्ति कर लिया। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि हम अशक्त हैं, या हमें कोई भी बड़ी शक्ति अपनी शक्ति से डराये या धमकाये। कोई भी क्यों न हो, हम किसी की धमकी के सामने झुकने वाले नहीं। हम टूट जायेंगे मगर झुकेंगे नहीं। अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए एक बार फिर हम रक्त की नदी बहा देंगे। हम कभी नहीं भूले कि मगध शक्ति की दृष्टि में हम इसके पहले भी दो बार काँटे की भाँति खटक चुके हैं। उन्होंने दो बार कलिंग पर आक्रमण किया। हमने शक्तिभर उनका प्रतिरोध भी किया। यद्यपि कुछ दिनों के लिए हमें उनकी सत्ता स्वीकार भी करनी पड़ी तथापि उन्हें यह भी अनुभव करा दिया कि कलिंग अधिक समय तक परतन्त्र नहीं रह सकता। कलिंगवासी स्वतन्त्रता प्रेमी वीर हैं। कलिंग की वीरता को फिर चुनौती दी है मगध शक्ति ने। हमें इस चुनौती को स्वीकार कर ऐसा मुंहतोड़ उत्तर देना है कि भविष्य में फिर कभी हमारे प्रिय कलिंग की ओर अन्यथा भाव से देखने का भी दुस्साहस न कर सकें। विगत आक्रमणों में जो उन्हें विजय प्राप्त हुई उसी से प्रोत्साहित होकर पुनः दुस्साहस जुटाया है, किन्तु मैं आपलोगों की ओर से घोषणा करता हूँ कि आज का कलिंग विगत वर्षों का कलिंग नहीं है। आप लोगों ने अपने परिश्रम और लगन से कलिंग को इतना शक्तिशाली बना दिया है किसी भी आक्रमणकारी को मुंहतोड़ उत्तर देने में समर्थ है।" कलिंगाधिपति ने वायु में मुट्ठी बंधे हाथ को उठाकर संकल्प व्यक्त किया, "हम आक्रमणकारी शत्रु का

डटकर सामना करेंगे । प्रहार का उत्तर प्रहार से देंगे । शत्रु शक्ति का ऐसा मान-मर्दन करेंगे कि भागने के योग्य भी न रहेगा । नाक रगड़ने पर भी उसे क्षमादान न देंगे । शत्रु शक्ति का समूल उन्मूलन कर ही हम शान्त होंगे । बस, आज, इसी क्षण से हम सब प्रतिज्ञा करते हैं कि जीवन के सामान्य कार्य-कलाप तब तक के लिए बन्द जब तक शत्रु कलिंग की ओर मुंह किये है । युद्ध और युद्ध की तैयारी को ही हमें अब प्राथमिकता देनी है । हम लड़ेंगे और विजयी होंगे । जय कलिंग ।" कलिंगाधिपति के कण्ठस्वर के साथ असंख्य स्वर वायुमण्डल में गूंज उठे । सम्पूर्ण वातावरण निनादित हो उठा । जनदृष्टि से कलिंगराज के ओझल होते ही, जनसागर भी प्रवाहित हो उठा ।



मगधाधिपति सम्राट अशोक का गज प्रारम्भ में तो सबसे आगे था, किन्तु शनैः-शनैः वह अनुचरवाहिनी के मध्यभाग में आ गया था । विजय अभियान के संचालक दल के आदेशानुसार गति को एक उपयुक्त स्थान पर विराम दिया गया । निर्णय कर पाना बड़ा कठिन था कि पशु दल थका या गतिमान मानव वर्ग को विश्राम की अपेक्षा अनुभव होने लगी थी । रुकने पर सम्राट अशोक ने जानना चाहा, "क्यों ? क्या मार्ग में कोई बड़ी नदी आ गई ।"

"नदी है तो छोटी ही, किन्तु लगातार चला भी तो नहीं जा सकता है । बीच-बीच में विश्राम के लिए तो रुकना ही पड़ेगा । महाराज जी का आदेश हो तो न रुकें, आगे बढ़ें । अग्रगामी दल ने तो यही स्थान चुना है ।"

"ठीक है, यह पहला पड़ाव है । रुक जाते हैं, किन्तु अब गति को तभी विराम मिलेगा जब मैं आदेश दूंगा । घोषणा करवा दो जिन्हें अधिक विश्राम की आवश्यकता हो, वे लौट जायें । मेरी अनुचरवाहिनी मेरी गति का अनुसरण करेगी ।"

"जो आज्ञा, महाराज जी ।" संचालक दल के सभी सदस्य नतमस्तक वहाँ से उल्टे पैरों लौट पड़े ।

अमात्य प्रमुख राधागुप्त भी सम्राट की सेवा में आ उपस्थित हुए थे । उन्हें शिष्टाचार पालन करते हुए देखकर सम्राट अशोक ने पूछा, "इस प्रकार कलिंग तक पहुँचने में कितने दिन लगेंगे ?"

"दो माह लग सकते हैं तीन माह लग जायें तो आश्चर्य नहीं।"

"और एक माह में कैसे पहुँचा जा सकता है ?"

"महाराज जी अनुचरवाहिनी का संचालन यदि स्वयं करें तो इससे भी कम समय मे पहुँचा जा सकता है।"

"उसकी घोषणा तो मैंने कर भी दी है। यहाँ तो विश्राम के लिए शिविरों की व्यवस्था की गई होगी।"

"जी, महाराज जी। आपके लिए शिविर यहाँ से कुछ ही अन्तर पर है। वहीं से तो मैं आ रहा हूँ। महारानी जी वहाँ पहुँच भी गई हैं।"

"और नारी दल के लिए शिविरों की व्यवस्था कहाँ की गई है ?"

"ठीक, राजकीय शिविर के चारों ओर उनके शिविर लगे हैं।"

"और आपका शिविर कितने अन्तर पर है ?"

"कोई विशेष नहीं, निकट ही है। जब भी स्मरण करेंगे, पल भर में सेवा में उपस्थित हो जाऊँगा।"

"आइए, फिर चलें।" सम्राट अशोक पैदल ही चल दिये।

"शिविका तो सेवा में उपस्थित है।"

"कोई आवश्यकता नहीं। व्यवस्था का निरीक्षण भी हो जाएगा। आप संतुष्ट हैं ?"

"यह तो अनुचरवाहिनी नियन्त्रण मण्डल का उत्तरदायित्व है। व्यवस्था उचित ही होगी। अनुभवी लोग ही इसके सदस्य नियुक्त किये गये हैं।"

कुछ अन्तर पर सैनिक वेश में महिला को अनुसरण करते हुए लक्ष्य किया सम्राट अशोक ने, "कहिये वीरवती ! कोई कष्ट तो नहीं है ?"

"सब महाराज जी की कृपा है। सैनिक और कष्ट ! ये तो दोनों दो परस्पर विरोधी स्थितियाँ हैं। युद्धवीर सैनिक कष्ट का ही तो वरण करता है। महाराज जी ! कष्ट का तो नाम लेना भी अपराध है। विजय अभियान-यात्रा में आनन्द-ही-आनन्द है। महाराज जी को किसी सेवा की आवश्यकता हो तो आदेश देने की कृपा करें।"

"अमात्यवर ! सुन रहे हैं वीरवती का सैनिक जीवन-दर्शन ? इसी सत्यानुभूति की आवश्यकता है मगध वाहिनी के प्रत्येक सैनिक को।"

"अपराध के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ, महाराज जी। मगधवाहिनी का प्रत्येक वीर सैनिक इस सत्यानुभूति का अभ्यासी है।"

"फिर यह गति-विराम क्यों ?"

"अधिकारियों का यथार्थ से अनवगत होना है इसका कारण। निर्णय करते समय वे भूल जाते हैं कि विजयभाव से उल्लसित सैनिक विराम नहीं

गति चाहता है। गति भी सामान्य नहीं, तीव्र। मार्ग में जितने विराम होंगे, विजयोल्लास उतना ही कम होता चला जाएगा। महाराज जी क्या क्लांति अनुभव कर रहे हैं?"

"बिल्कुल नहीं। ऐसा लग रहा है जैसे–चलते ही रोक दिया गया है"

"बस, प्रत्येक सैनिक की भी यही अनुभूति है। अब तो विराम हो ही गया है। महाराज जी विश्राम अवश्य कर लें।"

"शिविर-व्यवस्था है ही विश्राम के लिये।"

"किन्तु महाराज जी विश्राम की अपेक्षा निरीक्षण करना अधिक पसन्द करेंगे।"

"तुम्हें कैसे मालूम?"

"सेवा धर्म का रहस्य ही यह है। जो सेवक स्वामी के अव्यक्त भाव को समझने में समर्थ नहीं होता, वह सेवा के योग्य हो ही नहीं सकता।"

"वीरवती मानव स्वभाव का इतना सूक्ष्म परिज्ञान तुम्हें कहाँ से मिला?"

"महाराज जी! मिलना कहाँ से क्या है। बस, स्वानुभूति को अभिव्यक्ति के धरातल पर उतारना पड़ता है। मानव स्वभाव तो एक है। वह परिस्थितिवश भिन्नता ग्रहण करता है। जब विजय अभियान की परिस्थिति एक है तो स्वभावों में भी भिन्नता कहाँ सम्भव है। भिन्नत्व के अभाव में समानानुभूति के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। लीजिए, यह सामने रहा शिविर। थोड़ी देर अवश्य विश्राम कर लें। महारानी जी प्रतीक्षा कर रही है।"

"वीरवती! तुम्हारे साथ ही निरीक्षण करूँगा। स्मरण रखना।"

"जो आज्ञा, महाराज जी। इसके ठीक पीछे शिविर में ही तो हूँ मैं। हल्की-सी ध्वनि भी उसमें सुनाई देती है। इस दासी को महाराज जी सदा सेवा में उपस्थित ही पायेंगे।"

महामात्य के शिविर से तो तुम परिचित होगी ही?"

"हल्के लाल रंग का शिविर ही तो आपका है।"

"हाँ, महाराज जी! वीरवती की सूचना सच है।"

शिविर को बाहर से देखते हुए सम्राट अशोक बोले, "इसका रंग गहरा लाल है।"

"रंग ही गहरा नहीं है। यह विशाल भी है। इस पर पताका भी तो फहरा रही है।"

"ओह! इधर तो मेरा ध्यान ही नहीं गया। बहुत दूर से यह दिखाई देती होगी?"

"सम्पूर्ण अनुचरवाहिनी एक साथ इसे देख सकती है।"

"मगध सम्राट के विश्राम शिविर का प्रतीक है यह।"

"जी महाराज जी।"

"फिर तो विश्राम आवश्यक हो गया।" सम्राट अशोक शिविर के अंदर प्रवेश कर गये।

न महामात्य राधागुप्त वहाँ रुके न चीरवती ही। दोनों दो दिशाओं की ओर मुड़कर चल दिए।

आक्रमण के आसन्न संकट की घोषणा के बाद कलिंग युद्ध के वातावरण से तप्त हो उठा। कलिंगवासियों की चाल बदल गई, विचार-भाव बदल गये। स्वाभाविक सम्बन्ध किनारे हो गए। कलिंगवासी होने का एकमात्र सम्बन्ध ही प्रमुख हो उठा। जो जहाँ भी जिससे मिलता, एक ही प्रश्न उभरता, "कहिए, तैयारी कैसी चल रही है?"

उत्तर भी प्रायः एक-सा ही होता, "भाई जुटा हूँ। कुछ उठा नहीं रखना है। तैयारी ऐसी रखनी है कि शत्रु को प्राणों के लाले पड़ जायें।"

कलिंग का हर घर अस्त्र-शस्त्रों की निर्माण-शाला बन गया था। परिवार ने परिषद का रूप धारण कर लिया था। विचार-विमर्श या वाद-विवाद का विषय युद्ध ही होता था।

कलिंगाधिपति ने राजप्रासाद का निवास त्याग दिया था। मार्गों पर प्रायः उनके दर्शन हो जाते थे। किसी दिशा विशेष की ओर अग्रसर होते-होते किसी ओर भी वह मुड़ जाते थे। कब किस घर में वह प्रवेश कर जायेंगे, अनुमान तक कर पाना कठिन हो रहा था। जिन्हें भी कलिंगराज का सान्निध्य प्राप्त हो जाता वे ही अपने जीवन को धन्य मान लेते थे। कर्मठता से वह बहुत प्रसन्न होते थे। निर्माण-कार्य में संलग्न नारियों की वह प्रायः प्रशंसा किया करते थे, "कलिंग राज्य की नारियां पुरुषों से किसी भी दृष्टि में कम नहीं हैं। नारियों की एकाग्रता और कर्मठता के समक्ष पौरुष नतमस्तक हो उठा है। विश्वास हो चला है कि इस बार कलिंग की नारियां काली, दुर्गा और चण्डी का रूप धारण कर शत्रु का विनाश करेंगी।" प्रायः कलिंगराज

पुरस्कार स्वरूप कुछ-न-कुछ देकर उत्साह बढ़ाकर आगे बढ़ जाते थे। विद्या-युद्ध-कला के प्रशिक्षण-केन्द्र बन गये थे। प्रत्येक विद्यार्थी अस्त्र-शस्त्र संचालन में कौशल अर्जित करने लगा था। प्रशिक्षण से जो समय बचता, उसे शस्त्र-निर्माण में व्यय किया जाता था। विश्राम को कहीं प्रश्रय नहीं था। काम-काम-काम। काम की धुन में सब पागल थे। पागलपन काम बन गया था। काम का भूत प्रत्येक कलिंगवासी के सिर पर ऐसा सवार था कि किसी दूसरी बात को पास फटकने ही न देता था। पूरे कलिंग राज्य के मन-मस्तिष्क और हृदय के संगम में क्रियाशीलता अवगाहन कर रही थी।

केवल कलिंगराज ही नहीं, परिवार का प्रत्येक सदस्य प्रजा के मध्य विचरण कर उठा था। राजकुमारी सुषमा तक घूम-घूम कर निर्माण-कार्य को प्रोत्साहित कर रही थीं। जब भी और जहाँ भी राजकुमारी और महाराज आमने-सामने पड़ जाते, परस्पर दो प्रश्न उछल पड़ते, "पिता जी ! आप यहाँ ? अभी से कुछ देर पहले तो सूचना मिली थी कि आप कावेरी के तट की ओर गए हैं ?"

और दूसरा प्रश्न होता था, "बेटी तुम इतनी शीघ्र इधर कैसे ? यहाँ से तो राजप्रासाद दूर पड़ेगा। महारानी मां चिंतित हो रही होंगी।"

"पिता जी ! कलिंग अपना है। जो अपना है उसमें दूरी कैसी। आज हर घर राजप्रासाद जैसा मुझे प्रतीत हो रहा है। बाहर होती हूँ तो राजप्रासाद की स्मृति नहीं सताती है, किन्तु जब राजप्रासाद में होती हूँ तब बाहर निकलने के लिये बेचैन अवश्य हो जाती हूँ।"

"सच है बेटी क्रियाशीलता में आकर्षण ही ऐसा होता है। अच्छा आओ चलें। संध्या हो चली है। प्रात:काल के निकले हैं।"

"किन्तु पिता जी ! रात्रि का भ्रमण और भी अधिक आनन्ददायक होता है। जन संकुलता का सामना नहीं करना पड़ता।"

"अब दर्शनों की लालसा कम हो चली है। विशेष रुकना नहीं पड़ता।"

"भइया युगांक से कहीं भेंट हुई ?"

"क्या उसने भी राजप्रासाद से बाहर निकलना प्रारम्भ कर दिया ? संगीत-साधना ने उसे मुक्त कर दिया ?"

"हाँ, भइया को समझाया तो मैंने कई बार, किन्तु संगीत साधना का सामयिक सन्दर्भ उनकी समझ में परसों ही आ पाया है। वह कदाचित जब से निकले हैं, लौटे ही नहीं हैं। मां उनके लिए विशेष चिंतित हो उठी हैं। मैं उन्हीं को खोज रही हूँ। आस-पास ही कहीं होना चाहिए, उन्हें। वह क्या आ रहे हैं सामने ?" सामने युगांक के दृष्टिगत होते ही सुषमा प्रसन्नता से उछल पड़ी।

कलिंगराज ने भी समर्थन किया, "हाँ, है तो युगांक ही । अश्व की गति सामान्य नहीं है। इस गति से अश्व दौड़ाने का अभ्यास इसने कब किया ?"

मेरे युगांक भइया जब भी जिस रूप की आवश्यकता होती है, सहज रूप में धारण कर लेते हैं। देखिएगा, भइया रणस्थल में भी किसी अनुभवी योद्धा से कम नहीं प्रतीत होंगे।"

युगांक ने निकट आ आश्चर्य प्रकट किया, "अरे ! आप दोनों यहीं मिल गये ?"

"क्यों, क्या कोई विशेष समाचार है ?"

"हाँ कावेरी पार करते हुए कुछ मगधवासी पकड़े गये हैं। उनके गुप्तचर होने की आशंका है। कुछ लोग राजप्रासाद तक आप दोनों ही की खोज में गये हैं।"

"फिर पिता जी ! क्या विचार है ? चलकर देखा जाय।"

"पहले अधिकारियों को खोजबीन कर लेने दो। आशंका ही तो है अभी। उनके गुप्तचर होने की प्रामाणिकता तक प्रतीक्षा करो।"

'फिर चलें, युगांक भइया भी आ गये हैं।"

युगांक ने प्रश्न किया, "कहाँ चलना है ?"

"राजप्रासाद। माँ बड़ी व्यग्रता से आपकी प्रतीक्षा कर रही हैं।"

"आप लोग चलिए। मैं आ जाऊँगा। दो-एक स्थानों को अविलम्ब देखना आवश्यक है।" कथन के साथ ही युगांक वहाँ से तीर की भाँति चल दिये।

दोनों ने एक दूसरे की दृष्टि में पढ़ा, "चलो, हम चलें। युगांक आते रहेंगे।" और दोनों के अश्व राजप्रासाद की ओर जाने वाले राजमार्ग पर दौड़ने लगे।

दिन-पर-दिन बीत रहे थे। मगध सेना तेजी से कलिंग की ओर बढ़ रही थी, फिर भी पड़ाव-पर-पड़ाव पड़ ही रहे थे। सैन्यगति को जब एक बार विराम मिलता तो पुनः अपेक्षित गति प्राप्त करने में काफी समय लग जाता था। इस तथ्य को ध्यान में रखकर सम्राट अशोक कम-से-कम विराम के पक्षधर थे। पड़ाव की अनुमति वह तभी देते थे, जब स्वयं अनुभव कर लेते थे कि पशुवर्ग तक की गति मन्द होने लगी है। किन्तु स्वयं पड़ाव पड़ने पर भी कभी शिविर में न टिकते थे। अनावश्यक वस्त्र उतार फेंक वह सैनिकों के मध्य विचरण करने लग जाते थे। किसी सैनिक को सहसा पीछे से चौंका देते, तो किसी के कंधे पर हाथ रख आत्मीयता अर्जित करते। किसी के अभाव से अवगत होते तो किसी की पीड़ाहरण का आश्वासन ही न देते, बल्कि अविलम्ब आदेश देकर उसका समाधान भी करवाते। मार्ग मे कोई सैन्याधिकारी मिल जाता तो उससे वह शिष्टाचार पूर्ण अभिवादन अवश्य स्वीकार कर लेते अन्यथा वह विशेष बात न करते। उनकी दृढ़ धारणा थी कि अधिकारी तो स्वयं सेवा का भूखा होता है, वह किसी की सेवा क्या करेगा। यदि वह विशेष कर्तव्यनिष्ठ है तो सेवा का माध्यम अवश्य बन जायेगा। बस, इतने योगदान में ही वह अपने कर्तव्य की इति समझ लेता है। फलतः अधिकारी अधिकांशतः उनकी उपेक्षा का पात्र अपने को अनुभव करते। उपेक्षा का कारण वह अपनी कोई-न-कोई कमी जानने की चेष्टा करते। यह चेष्टा मानसिक रूप से उन्हें भयाक्रान्त किये रहती। असावधानी और अकर्मण्यता पास फटकने न पाती। सैन्याधिकारियों की इस मनःस्थिति से सम्राट अशोक भलीभाँति अवगत थे। जब भी कभी अधिकारियों के मध्य घिर जाते तो सुनते अधिक बोलते कम। मात्र परामर्श व्यक्त कर आगे बढ़ जाते "यदि कर सको तो निर्धारित कर्तव्यपालन से कुछ अधिक करके दिखाओ। वही अतिरिक्त दूसरो की दृष्टि में सम्मान दिलायेगा।"

सम्राट कम आश्चर्यचकित न थे यह अनुभव कर कि वह कभी भी किसी दिशा की ओर बढ़ें, और बीच में कहीं से भी मुड़ जाँय, वीरवती अधिकांश स्थलों पर दिखाई दे जाती थीं दृष्टि उनकी सदा नत रहती, पर रहतीं वह सदा सजग थीं। कभी सम्राट उनकी बात सुन लेते और कभी अनदेखा-सा भाव प्रदर्शित कर आगे बढ़ जाते थे, किन्तु दो-तीन बार से अधिक

यह उपेक्षा न कर पाते थे और सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वीरवती अपनी ओर से कभी पहल न करती थी । सम्राट के द्वारा जिज्ञासा व्यक्त किये जाने पर ही उनका कण्ठस्वर फूटता था । वीरवती को सिर से पांव तक वीरवेश में देख सम्राट ने जिज्ञासा व्यक्त की, "वीरवती इस वेश को कभी परिवर्तित भी करती हो । मैंने तुम्हें कभी अन्यवेश में नहीं देखा ।"

"अपराध क्षमा हो देव । विजय अभियान में इसी वेश की अपेक्षा होती है । भगवन् भी तो एक ही वेश में सदा विचरण करते हैं । आदेश दें महाराज जी ।"

"तुम्हारी सतर्कता श्लाघनीय है । चेष्टा करके भी तुम्हें कभी असावधान नहीं पाया ।"

"अहोभाग्य ! अत्यधिक अनुगृहीत हूँ । सेवाधर्म की पहली शर्त है सतर्कता । कर्तव्यपालन मात्र के अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं कर पा रही हूँ ।"

"नहीं वीरवती ! कलिंग की जो सूचनायें तुमसे प्राप्त हो पा रही हैं, वे अतिरिक्त ही नहीं, सबसे मूल्यवान सेवायें हैं ।"

"अभी कुछ समय पहले ही सूचना मिली है कि हमारी कुछ गुप्तचर सेविकायें पकड़ गई हैं ।"

"फिर तो उनके प्राण संकट में होंगे ! उनकी प्राणरक्षा के लिए हमें शीघ्रातिशीघ्र पहुँचना चाहिए ।"

"हाँ, पहुँचना तो हमें शीघ्रातिशीघ्र ही चाहिए किन्तु उनके प्राणों की रक्षा के लिए नहीं । सेवा धर्म पर उत्सर्ग होने का एक तो स्वर्णिम अवसर उपलब्ध हुआ है उन्हें, उस सौभाग्य से उन्हें गौरवान्वित होने दीजिए, भगवन् ! नित्य सेविकाओं में होड़ रहती है कि कौन पहले जायेगा ।"

"यह जानते हुए भी कि पकड़ी गईं तो प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा ?"

"जी, महाराज जी ! प्राणों का मोह त्यागने की प्रतिज्ञा करने पर ही तो प्रशिक्षण के लिये प्रवेश की अनुमति मिली थी । जहाँ जितना बड़ा संकट होता है, वहाँ उतनी ही अधिक स्पर्धा होती है । हमारे प्रशिक्षण का लक्ष्य ही उत्सर्ग होता है ।"

"अच्छा वीरवती ! तुम अब दूर नहीं, निकट रहा करो । तुम्हारी रक्षा दृष्टि अनुपम है ।"

"आज्ञा शिरोधार्य है, भगवन् ! किन्तु मुझे इसी भाँति कर्तव्य पालन करने दीजिए । आप की छायारूप में अन्यथा सूचनाओं से अवगत न करा सकूँगी । आगे जैसा आदेश हो ।"

"ठीक है, अब मैं शिविर की ओर चलता हूँ । कोई भी विशेष सूचना

हो, सीधे शिविर में आ जाया करो। प्रतीक्षा की बिल्कुल आवश्यकता नहीं।"

"जो आज्ञा। भगवन् के विश्राम में व्यवधान पड़ेगा।"

"नहीं, मुझे प्रसन्नता ही होगी तुम्हें देखकर। तुम जैसी सतर्क और कर्तव्यनिष्ठ नारी की उपस्थिति प्रेरणा ही प्रतीत होगी।"

"अहोभाग्य, भगवन्। महारानी जी के दर्शन एक बार अवश्य करना चाहती हूँ।"

"फिर क्या है, चलो, आओ।" सम्राट अशोक ने अनुसरण भाव व्यक्त कर अश्व को शिविर की दिशा में मोड़ दिया।

राजकीय शिविर से कुछ ही अन्तर पर रक्षिका से एक नारी उलझ रही थी। सम्राट ने निकट जा जानना चाहा, "क्या है? कौन हो तुम? ओह पद्मा! तुम यहाँ कैसे? कब आईं? आओ, आओ, अन्दर आओ।" सम्राट शिविर की ओर बढ़े। पद्मा रक्षिका पर एक दृष्टि डालते हुए विजयभाव से सम्राट के पीछे-पीछे चल दीं।

शिविर के अन्दर प्रवेश करते ही सम्राट अशोक ने शैला से कहा, "देखो तो पीछे कौन है।"

पद्मा को देखते ही शैला प्रसन्नतासूचक आश्चर्य से उठ खड़ी हुईं और दोनों बाहें फैला स्वागत भाव व्यक्त किया, "हाय पद्मा! कैसी हो? इतने दिन कहाँ लगा दिये प्रतीक्षा करते-करते नेत्र पथरा गये।"

पद्मा ने शैला को नीचे से ऊपर तक साश्चर्य देख पूछा, "यह क्या महारानियों जैसा वेश बना रखा है?"

"तुम्हारे महाराज जी को यही वेश पसन्द है।"

"क्या! सच!! तो तुम अब शैला नहीं रहीं, महारानी बन गई हो?"

"हाँ, पद्मा! अब यह महारानी हैं, किन्तु तुम्हारे बिना अधूरी। तुम आ गई हो, अब यह पूर्ण महारानी बन सकेंगी।"

"अर्थात्! मैं कुछ समझी नहीं? महाराज जी तनिक स्पष्ट करने की कृपा करें।"

"इन्होने उसी शर्त पर महारानी बनना स्वीकार किया था कि तुम्हें भी मैं महारानी बनाऊँगा।"

"महाराज जी। यह मैं क्या सुन रही हूँ। और विदिशा की उन महादेवी जी का क्या होगा जो एक राजकुमार और एक राजकुमारी की माँ बनी महाराज जी की प्रतीक्षा कर रही हैं।"

"सच पद्मा! सच मे महादेवी राजकुमार और राजकुमारी की माँ बन चुकी हैं?"

"जी, महाराज जी ! असत्य और वह भी महाराज जी की उपस्थिति में ! असम्भव । साक्षात् मृत्यु से भी अधिक भयंकर और त्रासदायक । अक्षरसः महाराज जी विश्वास करें । एक राजकुमार और एक राजकुमारी के पिता बन चुके हैं, महाराज जी ।"

"पद्मा !" प्रसन्नतावेग में आकर सम्राट अशोक ने पद्मा को अपनी भुजाओं में कस लिया और आन्तरिक उल्लास को अविरल गति से प्रकट करने लगे । पद्मा इधर-उधर मुंह हटाने की निष्फल चेष्टा कर रही थीं, किन्तु मुखमण्डल था तो उनका सम्राट के अधरों की सीमा में ही ।

शैला खड़ी देख ही न रही थीं, पद्मा के स्थान पर अपने को अनुभव भी कर रही थीं ।

पद्मा बोले भी जा रही थीं, "बस महाराज जी, बस । छोड़िए । दासी को बन्धन मुक्त कीजिए । शैला सामने खड़ी देख रही हैं ।"

"तो क्या हुआ । देख रही हैं तो देखने दो । इनका अधूरापन ही तो दूर हो रहा है । इन्हीं की इच्छा की तो पूर्ति हो रही है । इन्हें अप्रिय होता तो स्वयं बोलेंगी । तुम इनकी चिंता क्यों कर रही हो ?" यह तो तुम्हारे वियोग में इतना अधिक व्याकुल रही हैं कि मेरी उपस्थिति तक की उपेक्षा कर गई हैं ।"

"सच शैला ! महाराज जी क्या कह रहे हैं ?"

"महाराज जी की कथनी और करनी में अन्तर तनिक भी नहीं होता है ।"

"तुम दोनों में भी तो कोई अन्तर नहीं अनुभव हो रहा है । हूबहू तुम हो शैला । जैसा तुम्हारा विश्वास था, पद्मा ठीक वैसी ही हैं । कितना अद्भुत साम्य है । कितनी एकरूपता है अंग-प्रत्यंग में थिरकन और सिहरन बिल्कुल वैसी ही है । गति भी वैसी ही होनी चाहिए । अरे वाह पद्मा ! तुम तो शैला से कुछ अधिक ही सुखद लग रही हो । जैसे नृत्यकला की यह भी एक भंगिमा हो । कितनी प्यारी है यह वक्रता । ये संधियां तो और भी अधिक सुखद हैं ।"

"अच्छा, महाराज जी, अब तो छोड़िए ।"

"इन पलों में तो शैला के आदेश का पालन होगा ।"

"अभी कदापि नहीं भगवन् । महारानी के पद पर प्रतिष्ठित होना क्या इतना सरल है ! गरिमा की पूर्ण अनुभूति तो होनी ही चाहिए ।"

"हो चुकी, बहुत हो चुकी गरिमा की अनुभूति, शैला ! अब तो सहनशीलता की सीमा भी भंग हो चली है । बचाओ, शैला, मुझे अपने महाराज जी से बचाओ । ऐसे तो यह कभी न लगे । शैला ! तुम्हारी ही बात स्वीकार

है। बस, इस संकट से उबार लो।"

"घबड़ा क्यों रही हो ? महाराज जी तुम्हें महारानी ही तो बना रहे हैं।"

"बन चुकी महारानी, शीला। और कितना सहना पड़ेगा महारानी बनने के लिए ? अब तनिक भी नहीं सहा जा रहा है। शीला ! आदेश दो न। लगता है महाराज जी तब तक न रुकेंगे जब तक तुम आदेश न दोगी।"

"सच ! मेरे ऊपर तुम्हें इतना विश्वास है ? क्या मैं महाराज जी को भी आदेश दे सकती हूँ ?"

"हाँ शीला, शीघ्र आदेश दो। नहीं तो मर जाऊँगी। ये भीषण आघात मुझे जीवित नहीं छोड़ेंगे।"

"पद्मा ! तुम्हारी सहनशक्ति ने तो सीमा कभी जानी नहीं। तुम तो सदा दम भरती रही हो कि विपरीत परिस्थिति का सामना जितनी बहादुरी से तुम कर सकती हो, उतनी सहिष्णुता मुझमें नहीं है, किन्तु कहना जितना सरल है, समना करना उतना ही कठिन होता है।" शीला ने दोनों के बीच हस्तक्षेप किया। पद्मा को सांस मिली। वह धीरे से सरकी। शीला उनका स्थान लेती चली गई। सम्राट अशोक तो अपने में न थे। शीला महाराज जी की प्रत्येक मनःस्थिति से अवगत थीं। वह सम्राट अशोक के साथ डोल उठी। पद्मा चाहकर भी उठ न सकी। बैठी-की-बैठी देखती रह गई। वस्त्रों तक को उठाकर पहनने की शक्ति हाथों में न रही थी। बस, घुटनों पर हाथ और हाथों पर सिर रखे वह अपलक देखे जा रही थीं वह दृश्य विशेष जिसकी कल्पना तक कभी उन्होंने न की थी। उसी अवस्था में शीला ने पद्मा को सावधान किया, "जाओ महाराज जी का प्रिय पेय शीघ्र लाओ।"

आदेश के प्रति सतर्क होते ही उन्होंने अपनी वर्तमान स्थिति पर दृष्टि डाली। जैसे-तैसे वस्त्र लपेटे और लपकी पेय की ओर। वह पेय से परिपूर्ण पात्र को हाथ में लेकर पलटी ही थी कि शीला तीव्र स्वर में बोलीं, "मरी तो नहीं जा रही हो। तेजी से पैर उठाओ। पात्र महाराज जी के अधरों से लगाओ। अब तुम महारानी हो। यह सेवा तो करनी ही पड़ेगी।"

"मुझे ज्ञात होता तो मैं विदिशा से आती ही नहीं।"

पात्र को रिक्तकर सम्राट अशोक ने पूछा, "तो महारानी बनना तुम्हें क्या रुचिकर नहीं लगा ?"

"महारानी बनना किसे रुचिकर नहीं होगा। किन्तु इतना सहना···।"

"धीरे-धीरे सब अभ्यास हो जायेगा। क्यों शीला ? तुम तो कहती थीं कि पद्मा तुमसे अधिक मनोरम कामिनी है, किन्तु कच्ची निकलीं। तुम्हारी परि-

पक्वता का इनमें अभाव है अभी ।"

"महाराज जी के असाधारण पौरुष के समक्ष किस नारी में क्षमता है जो टिक सके । इसीलिए तो अपने को आधी महारानी ही मैंने माना था । मेरे अधूरेपन को पद्मा ने आकर पूर्ण बनाया है ।"

"या पद्मा के अधूरेपन की पूर्ति तुमने की है ?"

"एक ही बात है, भगवन् ! हम दोनों दो थोड़ी ही हैं । दोनों मिलकर ही एक हुई हैं । इसी एक के द्वारा महाराज जी की सेवा सम्भव होगी ।"

"वास्तव में शैला, ऐसा निःछल समझौता दो नारियों के मध्य मिलना असम्भव है ।"

"दो महारानियों के मध्य, महाराज जी ।"

"हाँ, शैला ! तुम दो मिलकर ही एक महारानी सिद्ध हो सकी हो ।"

"और महाराज जी एक होकर भी सवा प्रमाणित हुए हैं ।"

"यह तो अनुभूति की बात है, शैला ।"

"सत्य सदा, महाराज जी अनुभूत्यात्मक ही होता है । सेवा से कुछ अधिक ही अनुभव हुए हैं, भगवन् ।"

"फिर पूर्णता के उपलक्ष्य में तुम भी एक पात्र पीकर देखो ।"

"क्षमा करें, महाराज जी । महाराज जी की कृपादृष्टि ही इतनी यथेष्ट है कि इसकी तनिक भी आवश्यकता नहीं ।"

"पद्मा ! क्या बात है ? इतनी दुखी क्यों हो ? महारानी बन गई हो । तुम्हें तो प्रसन्न होना चाहिए ।"

"प्रसन्न तो हूँ, महाराज जी । महारानी का पद पाकर कौन प्रसन्न नहीं होगा ।"

"फिर इतनी दूर क्यों हो ? निकट आओ । शैला की भाँति निकट आओ ।"

"अभी भय दूर नहीं हुआ । डर रही हूँ कि कहीं दुबारा ......।"

"नहीं शैला । इतनी शीघ्र नहीं । पद्मा व्यर्थ में डर रही है ।" आओ, निकट आओ, पद्मा ।"

"जाने दीजिए, महाराज जी, पद्मा को । एक-दो दिन में सामान्य हो जायेगी । यह पद्मा है । इन्हें पद्मा ही समझें महाराज जी, शैला नहीं । स्मरण है, इसी प्रकार मुझे भी आपने निकट बुलाया था और फिर कितनी कुशलता से दुहराया था, मुझे अभी तक भलीभाँति स्मरण है । पद्मा की स्थिति एक बार में ही दयनीय हो उठी है ।"

"ठीक है फिर । अपने अधूरेपन को सामान्य बनाओ ।" पैर फैलाकर

लेटते हुए सम्राट अशोक ने स्मरण दिलाया, "वीरवती नाम की महिला यदि मेरी सेवा में उपस्थित होना चाहे तो उन्हें रोकना नहीं, आने देना।"

"यह वीरवती कौन है ?"

"आशंका मत करो। धौला की अनुमति से ही पद्मा महारानी के अधूरे-पन की प्रत्याशी बनी हैं। किसी तीसरे की क्या आवश्यकता है ? वीरवती नारी शक्तिदल की मुख्य संचालिका हैं। उनका दल अत्यन्त सक्रिय और सतर्क है। यह शत्रुपक्ष की सूचनाएँ एकत्र कराने में भी प्रवीण हैं। उनके लिए सदा प्रवेश की अनुमति है।"

"जो आज्ञा। पद्मा ! आओ निकट आओ। इतनी दूर क्यों हो ? आओ एक पैर तुम भी दबाओ आकर। महाराज जी की सेवा करो। मत भूलो कि तुम अब महारानी हो। महाराज जी के सबसे निकट। दूर कब तक रह सकोगी ? आओ, दबाओ आकर यह दूसरा पैर।"

पद्मा ने महाराज जी का दूसरा पैर स्पर्श किया ही था कि महाराज जी ने टोका, "नहीं पद्मा ! तुम रहने दो। जाओ, तुम आराम करो जाकर। धौला को दो-चार दिन और अकेले ही महारानी पद के गर्व से गौरवान्वित होने दो।"

पद्मा ने आदेश समझकर पैर छोड़ दिया। धौला ने टोका मूर्ख हो क्या ? दबाओ पैर। महाराज जी की सेवा भी नहीं करोगी तो क्या महारानी बनी हो केवल देखने भर के लिये ?"

पद्मा सहमी-सी थीं। पुनः पैर पकड़ लिये। महाराज जी को आलस्य ने आ घेरा था। वह शान्त लेटे रहे। दोनों पैर दबाती रहीं और बीच-बीच में एक-दूसरे को देख-देख मुस्कराती भी रहीं।

जब से आचार्य चाणक्य ने महामात्य पद से त्यागपत्र दिया था, तब से उन्होंने दर्शनार्थियों को दर्शन देना, तथा साम्राज्य की स्थिति के विषय में विचार-विमर्श करना पूर्णतया बन्द कर दिया था। जहाँ वह अधिकांशतः गंगा के तट पर बनी अपनी कुटिया में ही रहते थे, वहाँ अब वह अधिकतर अज्ञात स्थानों में निवास करने लगे थे। कोई भी न जान पाता था कि वह किस समय कहाँ होंगे। उनके द्वारा किसी भी प्रकार का स्वार्थ साधन तो सम्भव था नहीं, फिर भी उनके प्रति अगाध श्रद्धा के कारण लोग आते ही रहते थे। अज्ञात होने के कारण उनका हर आचरण अलौकिकता की कोटि में परिगणित किया जाने लगा था। पहले जहाँ उनकी क्रियात्मकता की चर्चा ही अधिक होती थी, वहीं अब उनकी उपलब्धियों के वर्णनों में ही लोग रुचि प्रदर्शित करने लगे थे। जब निठल्ले लोग चर्चा करने बैठते हैं तब विगत, वर्तमान और आगत सभी चर्चा के विषय बन जाते हैं। फिर उन्हें चर्चा की धुन में ध्यान नहीं रहता कि किससे किस विषय की चर्चा की जाय। चर्चा के प्रवाह में कथ्य-अकथ्य सब मुंह से निकलता चला जाता है। और आचार्य चाणक्य अद्भुत प्राणी तो थे ही। एकांतवास उनकी प्रकृति का अभिन्न अंग तो प्रारम्भ से ही बना हुआ था, इधर अज्ञातवास भी उनकी प्रकृति में सम्मिलित हो गया था। कौन जानता था कि वह अपने क्रियात्मक जीवन की अनुभूतियों को शाब्दिक अभिव्यक्ति देने में ध्यानस्थ हैं। उन्होंने मानव जीवन के विविध रूप देखे थे। जितना खोया था, उससे अधिक पाकर भी उन्होंने कभी उसे साधन के रूप मे प्रयोग नहीं किया था, बल्कि सदा अपरिग्रह वृत्ति का ही परिचय दिया था। उनका सम्पूर्ण जीवन विविध ही नहीं परस्पर विरोधी क्रिया-कलापों की अनुपम अनुभूतियों का अद्भुत संग्रहालय था। एकांत के क्षणों में जब भी वह अपने जीवन को आदि से अंत तक देखते अथवा अंत से आदि तक की उपलब्धियों की मानसिक यात्रा करते, सबमें एक ही सत्य के दर्शन उन्हें होते और वह सत्य था अर्थ। अर्थ की कसौटी पर एक-एक क्रिया-कलाप का परीक्षण उन्होंने प्रारम्भ कर दिया। ज्यों-ज्यों वह परीक्षण करते गये मानसिक सत्य यथार्थ बनता चला गया। यथार्थ में भी अर्थ को मूलगंध अनुभव कर उन्होंने उसे ही अभिव्यक्ति का आधार बनाया। सत्याभिव्यक्ति जब सार्वकालिक, सार्वभौमिक और सार्वजनीन रूप धारण कर लेती है।

तब वह शास्त्र की कोटि में परिगणित की जाने लगती है। अभिव्यक्ति के मध्य उन्हें इसी कोटि के दर्शन हुए। शनैः शनैः अर्थाभिव्यक्ति, शास्त्र रूप धारण करती चली गयी। अनुभूति से अभिव्यक्ति की यात्रा में वह ऐसे खोये कि किसी का उन्हें ध्यान ही न रहा। उनकी कुटी द्वार पर किसी भी रक्षक के उपस्थित न होने पर भी कोई भी दर्शक प्रवेश का साहस न जुटा पाता था। यदा-कदा कुछ कण्ठध्वनियाँ ही उनके कर्णकुहरों में प्रवेश कर पाती थीं। वे भी उनकी एकाग्रता भंग न कर पाती थीं किन्तु न जाने क्यों एक औत्सुक्य-पूर्ण कण्ठध्वनि ने उनकी ध्यानस्थ स्थिति को भेद दिया। उनकी झुकी ग्रीवा तन गई। नेत्र विस्फारित हो उठे। सफेद भौंहें धनुषाकार हो गईं। गतिमान लेखनी सहसा रुक गई। कण्ठस्वर स्पष्ट रूप से सुनाई देने लगा, "यही है वह कुटी जिसमें आचार्य जी सदा रहे? यहीं से उन्होंने विशाल मौर्यसाम्राज्य का सफल संचालन किया? एक-से-एक बड़े राष्ट्राध्यक्ष उनसे मिलने यहीं आते रहे? राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र यही स्थान रहा? निर्माण और विनाश के आदेश यहीं से अभिव्यक्ति पाते रहे। परिवर्तन की धारा यहीं से गति प्राप्त करती रही? आश्चर्य है कि साम्राज्यों का नियामक, सम्राटों का विधाता, नीतिविशारदों का प्रशिक्षक तथा अन्याय और अत्याचारों का समूल उन्मूलक ऐसा साधारण जीवनयापन करता रहा और इसे भी त्यागकर न जाने कहाँ चला गया। ऐसे गौरवशाली व्यक्ति को कोटिशः प्रणाम।" यह स्वर राजमाता शुभद्रांगी का था। उनके हाथ ही न जुड़े थे, मस्तक भी झुका हुआ था। गरदन सीधी कर उन्होंने आँखें खोलीं। चारों ओर दृष्टि दौड़ाते हुए वह बोलीं, "कितना सुरम्य वातावरण है यहाँ का! कितनी शान्ति है यहाँ! आचार्य जी कब से नहीं दिखाई दिये? आते-जाते भी उन्हें किसी ने नहीं देखा? अंतिमबार तो वह कुटी से बाहर आये ही होंगे? यदि नहीं तो इतनी दीर्घ अवधि तक अन्दर कैसे रहे होंगे? कहीं काल······।" सहसा आशंका को पूर्ण अभिव्यक्ति न दे उन्होंने आगे जानना चाहा, "अन्दर जाकर देखा है?"

सब मौन थे। कोई कुछ न बोला। राजमाता ने आगे अपनी जिज्ञासा पर बल दिया, "अन्दर के विषय में किसी को कुछ ज्ञात हो नहीं?"

एक वरिष्ठ अधिकारी ने सभीत स्वर में असमर्थता पर प्रकाश डाला, "उनके समक्ष उपस्थित होने का किसी में साहस ही न हुआ।"

"अच्छा। तुम लोग ठहरो यहीं बाहर। मैं घुसती हूँ अन्दर। अभी देखती हूँ, क्या स्थिति है अन्दर की। आचार्य जी आखिरकार आचार्य जी ही तो हैं। कोई शेर-बाघ, भूत-प्रेत या साँप-बिच्छू तो हैं नहीं जिनसे भयभीत

हुआ जाय।" कथन के साथ ही राजमाता कुटी में प्रविष्ट हो गईं। घुसते ही उन्हें सुनाई दिया, "राजमाता को चाणक्य का प्रणाम स्वीकार हो।"

स्वर के उद्‌गम स्थान तक दृष्टि का विस्तार कर राजमाता ने देखा तो दीपक के सामान्य प्रकाश में आचार्य चाणक्य प्रणाम की मुद्रा धारण किये दिखाई दिये।

ओह! आप यहाँ उपस्थित हैं?"

"जी हाँ, पधारिये। कुटी में आपका स्वागत है। प्रथम बार आप पधारी हैं। आज्ञा कीजिए।"

"आप कब से इस कुटी से बाहर नहीं निकले हैं?"

"लगभग नित्य ही बाहर निकलता हूँ।"

"किन्तु बाहर निकलते हुए आपको देखा किसी ने नहीं है?"

"सम्भव भी नहीं है मुझे देख सकना।"

"क्यों क्या सूक्ष्म रूप धारण करने का मन्त्र प्रयोग करने लगे हैं?"

"नहीं इस कुटी के अन्दर ही एक ऐसा गुप्त मार्ग है जो उस सर्वोच्च पहाड़ी पर जाकर समाप्त होता है। बस, कुछ समय के लिए मैं वहाँ होता हूँ और शेष समय मेरा इसी कुटी में व्यतीत होता है।

"अनुपम हैं आप आचार्य जी! आपके सम्बन्ध में जनसाधारण सत्य के सर्वथा निकट है। आपकी हर गतिविधि रहस्यमय होती है।"

"नहीं जैसी आवश्यकता होती है, वैसी ही गतिविधि विशेष को देनी होती है। जिस द्वार से आपने प्रवेश किया है, वह जनसामान्य के लिए है। राधागुप्त के पश्चात आपही एक मात्र इस रहस्यमय मार्ग से अवगत होने वाली प्राणी हैं। हितकर होगा, किसी तीसरे को आप के द्वारा न ज्ञात हो।"

"आचार्य जी! आपसे एक प्रार्थना है।"

"आप राजमाता हैं, आदेश दें। यद्यपि राजकीय गतिविधियों से विराम प्राप्त कर चुका हूँ तथापि आपका यह प्रथम आग्रह होगा, देखूँगा, क्या सेवा कर सकता हूँ।"

"कोई आग्रह नहीं, कोई आदेश नहीं, मात्र एक प्रार्थना है।"

"प्रार्थना है तो सहर्ष प्रस्तुत हूँ। अभिलाषा को अभिव्यक्ति दीजिए।"

"किसी दिन राजप्रासाद में पधारकर भोजन ग्रहण कीजिए।"

"इसके मूल में अभिप्राय?"

"कुछ नहीं, मात्र इच्छा। न जाने कब से पूज्यपाद का नाम सुनती चली चली आ रही थी दर्शनों का सौभाग्य कभी प्राप्त नहीं कर सकी। कुछ क्षणों का आतिथ्य स्वीकार कर लेंगे तो जीवन सार्थक समझूंगी।"

कुछ क्षण मौन हो आचार्य ने स्वीकृति प्रदान की, "फिर कल सूर्यास्त के पश्चात समय निश्चित रहा, किन्तु कुछ भी ग्रहण के लिए आग्रह न कीजिएगा।"

राजमाता ने मन-ही-मन सोचा, "पहले पधारिये तो। फिर तो मेरा आग्रह है। आज तक तो कोई टाल नहीं सका है।"

आचार्य चाणक्य ने राजमाता को विचाराधीन देख टोका, "कदाचित किन्हीं विचारों में खो गई। कल संध्यावेला में आपको असुविधा होगी ?"

"कदापि नहीं, आचार्य जी के पधारने पर अपार प्रसन्नता ही होगी। यह तो मेरा अहोभाग्य होगा।" सुदीर्घकालीन विछोहजन्य वेदना से संतप्त राजप्रासाद को परम आनन्द ही मिलेगा।"

"इस जलपात्र के अतिरिक्त तो इस समय यहाँ कुछ है नहीं। राजमाता का स्वागत करने में असमर्थ हूँ।"

"कदापि नहीं। आचार्य और असमर्थ ! असम्भव। कुछ लिख रहे हैं क्या ?"

"हाँ, अवकाश के क्षणों का सदुपयोग कर रहा हूँ। अनुभूतियों को शब्दांकित करने की चेष्टा मात्र है यह प्रयास। कदाचित भावी पीढ़ी का मार्ग-दर्शन हो सके।"

"अवश्य। अच्छा, अब मुझे अनुमति दीजिए कल सायंकाल प्रतीक्षा करूँगी।"

"प्रतीक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। मैं समय से पहुँच जाऊँगा।" वृद्धावस्था भी मेरी इस स्वभाव में परिवर्तन नहीं ला सकी है। मेरी दृष्टि में समय परिपालन सुनिश्चित सफलता का प्रथम सोपान है।"

"फिर अनुमति दीजिए।"

"इस भेंट की चर्चा न हो तो हितकर रहेगा।"

"कदापि नहीं, आचार्य जी से भेंट हुई ही नहीं। और इसी प्रकार आचार्य जी राजप्रासाद में पधारेंगे भी नहीं।" राजमाता कथन के साथ ही हँसती हुई द्वारोन्मुख हो गतिमान हो गईं।

आचार्य चाणक्य को मुस्कराने तक का अभ्यास नहीं था। उनका मौन राजमाता को जाते हुए देखता रह गया।

समय के साथ कलिंग में सैन्य तैयारी तेज होती जा रही थी। काफी सैनिक तो सीमा पर भेजे भी जा चुके थे। विशेष रूप से उस दिशा विशेष की सीमा पर अधिक सैनिकों का जमाव था जिस ओर से मगध शक्ति के आक्रमण की सम्भावना थी। मगध के जो गुप्तचर पकड़ में आ रहे थे वे पुरुष वेश में मगध नारियाँ ही प्रमाणित हो रही थीं। जो भी पकड़ में आती, सबसे पहले कलिंग कुमारी सुषमा की सेवा में उपस्थित की जाती थी। गुप्तचर को आपाद मस्तक देखकर राजकुमारी सुषमा सहसा आदेश देती थीं, "इसे वास्तविक रूप में उपस्थित करो।"

"यही है इसका वास्तविक रूप। नारी नहीं यह नर है।"

"तुम्हें नारी वेष में होना चाहिए था। किस काम के लिए भेजे गये हो?" राजकुमारी को जब उत्तर न मिला तो उन्होंने क्रोधपूर्ण स्वर में आदेश दिया, इसकी जिह्वा मुंह के बाहर खींच लो।"

"क्षमा-क्षमा, राजकुमारी जी क्षमा।"

"अच्छा तो बोलना आता है। किस बात की क्षमा? क्या अपराध किया है तुमने?"

"मैं इत्र बेचता हूँ। मेरा सारा इत्र लूट लिया गया है।"

"कोई चित्र बनाता है, कोई वस्त्रों का व्यापार करता है, कोई रत्नादि का धंधा करता है और तुम इत्र बेचते हो। मगध के गुप्तचरों को क्या यही सब सिखाया गया है? मगध नारियाँ तो तत्काल स्वीकार कर लेती हैं कि वे गुप्तचर हैं और कलिंग की वास्तविकता से परिचित होने के लिए उन्होंने कलिंग की सीमा में प्रवेश किया है, किन्तु नर जितने भी पकड़े गये हैं सभी व्यापारी बनने का स्वांग भरते हैं। ले जाओ इसे भी काल कुएँ में डाल दो जाकर।" राजकुमारी निर्णयात्मक आदेश दे वहाँ से तत्काल चली जाती थीं।

कलिंग कुमार युगांक की सक्रियता चरम सीमा पर थी। उनकी गति इतनी तीव्र होती थी कि कभी यहाँ, कभी वहाँ और कभी यहाँ-वहाँ दोनों ही स्थानों पर उपस्थिति का आभास कराकर चमत्कार को स्पर्श कर उठते थे। अस्त्र-शस्त्र से लेकर खाद्यसामग्री तक की व्यवस्था का उत्तरदायित्व वह

स्वयं सम्हाले थे। एक-एक सैन्य सामग्री पर उनकी दृष्टि थी। सामग्री की मात्रा पर ही नहीं, उसकी गुणवत्ता पर भी बल दिया जा रहा था। सामग्री व्यवस्था अधिकारी से वह बार-बार एक ही प्रश्न पूछते थे, "निर्धारित मात्रा पूरी हुई ?"

"उससे अधिक मात्रा में ही प्रत्येक वस्तु एकत्र की जा चुकी है।"

"ध्यान रहे, प्रत्येक कलिंगवासी सैनिक है। कुछ भी कम नहीं पड़ना चाहिए।"

"आप निश्चित रहें, राजकुमार जी। भूखों मरने लगेंगे तो मगध सैनिकों को भी कुछ टुकड़े डाले जा सकेंगे।"

राजकुमार चलते-चलते प्रश्न करते थे, रुकते वह कहीं भी न थे, किन्तु जब राजकुमारी सुषमा से भेंट हो जाती तो वह आगे नहीं बढ़ पाते थे। राजकुमारी सुषमा उनका मार्ग रोकते हुए पूछती, "भइया ! तैयारी कैसी चल रही है?"

"तुम सुनाओ। कुछ और गुप्तचर पकड़ मे आए ?"

"गुप्तचर तो नित्य पकड़े जा रहे हैं। किन्तु इधर नारियों की अपेक्षा पुरुष गुप्तचर अधिक पकड़े जा रहे हैं।"

"बताया क्यों नहीं ? उन्हें मैं देख लेता।"

"उन्हें देखना क्या है। राजनैतिक अपराधी हैं। मृत्युदण्ड भोगना है"

"तुम्हारी नारी सेना तो बड़ी उतावली प्रतीत हो रही है युद्ध के लिये ?"

"बैठे-बैठे खाना वे अपराध समझती हैं। आपकी व्यवस्था की चारों ओर प्रशंसा हो रही है।"

"पिता जी की धारणा क्या है ?"

"उन्हीं के मुंह से तो आपकी प्रशंसा सुनकर आ रही हूं।"

"सच सुषमा ! कहां होंगे पिता जी इस समय ?"

"कहीं-न-कहीं सैन्य निरीक्षण मे व्यस्त होंगे या किन्हीं सैन्याधिकारियों के मध्य बैठे हुए विचार-विमर्श कर रहे होंगे।"

"अब हो गया विश्वास। पिता जी की धारणा मेरे प्रति परिवर्तित हो गई, यही मैं चाहता था।"

"कल पिता जी आपका नाम लेकर मां से कह रहे थे·········।" सुषमा आगे न बोलीं।

"क्या कह रहे थे मां से पिता जी ?"

"वही बताने के लिए तो मां आपका स्मरण कर रही हैं।"

"फिर अभी तक क्यों नहीं बताया ? अब तक मां के सामने होते।"

"फिर अब विलम्ब क्यों ? आइए चलें।"

"चलो सुषमा।" कहते हुए युगांक राजप्रासाद की ओर मुड़ जाते।

राजकुमार युगांक, कई-कई दिन हो जाते, राजप्रासाद की ओर मुंह ही न करते। सुषमा उन्हें किसी-न-किसी बहाने से पकड़ ले जाती थीं।

और कलिंगराज के तो नेत्रों से नींद ही उड़ गई थी। वह मगधशक्ति से परिचित थे। दो बार पराजय का मुंह भी देख चुके थे। यद्यपि इस बार कलिंग की सैन्य तैयारी आशा से कहीं अधिक थी, तथापि उनकी चिंता कम न हो पा रही थी। कभी अधिकारियों से बात करते तो कभी सैनिकों के मध्य उपस्थित हो उनका उत्साह बढ़ाते। तैयारी देख-देखकर तो वह कुछ आश्वस्त होते, किन्तु विश्वास अधिक देर न टिक पाता। आशंका प्रबल हो उठती, "कुल कितने सैनिक तैयार हो सके हैं ?"

सैन्याधिकारी विशेष से उत्तर प्राप्त होता, "पौने तीन लाख।"

"इनमें विगत युद्धों के अनुभवी सैनिक कितने हैं ?"

"डेढ़ लाख।"

"इनमें कुछ आहत सैनिक भी होंगे जो अब तक स्वास्थ्य लाभ कर चुके होंगे ?"

"जी, महाराज जी, पचास हजार सैनिक ऐसे हैं जो युद्ध करने के लिए कटिबद्ध हैं।"

"संकटकालीन टुकड़ी में कितने सैनिक प्रशिक्षित हो सके ?"

"साठ हजार सैनिक जो महाराज जी के अंगरक्षक के रूप में हैं, विशेष अवसर के लिए भी उन्हीं का प्रयोग होगा।"

"इनमें नारियों की संख्या कितनी है ?"

"साठ-सत्तर हजार के मध्य है, किन्तु समरांगण के लिए केवल बीस हजार ही हैं। शेष अन्यान्य आवश्यकताओं के लिए हैं। भोजन के साथ-साथ चिकित्सा व्यवस्था भी तो नारियों के अधिकार क्षेत्र में कर दी गई है।"

"हूं। अश्वारोहियों की क्या स्थिति है ?"

"अश्व सैनिक अब तक केवल पचपन हजार ही तैयार किए जा सके हैं। पड़ोसी राज्यों से अपेक्षित सहयोग नहीं मिल पा रहा है।"

"क्या-क्या उत्तर मिले हैं ?"

"किसी ने कोई भी उत्तर नहीं दिया है। सबने मौन साध लिया है। बस, प्रणाम निवेदन किए हैं।"

"चोल, पाण्ड्य, ताम्रपर्णी आदि में से एक ने भी सैनिक नहीं भेजे ?"

"किसी प्रकार का आश्वासन तक तो दिया नहीं है।"

"इसका अभिप्राय है कि मगधशक्ति से सब भयभीत हो उठे हैं। फिर तो अकेले ही सामना करना है।" कुछ सोचकर कलिंगाधिपति ने सावधान किया, "सघन वनों के लिए सैनिकों का चयन कार्य पूर्ण हो चुका होगा। पूर्वाभ्यास स्वयं देखा है ?"

"जी, दो-तीन बार देख चुका हूँ। पेड़-पौधों में ऐसे छुप जाते हैं कि ध्यान से देखने पर भी पहचान में नहीं आते।"

"मैं स्वयं देखना चाहूँगा।"

"जब भी आदेश हो।"

"आदेश की क्या आवश्यकता ? उन्हें वनों में ही रम जाने दो। सदा तैयार रहने का समय आ पहुँचा है। शत्रु बड़ी तीव्रता से आगे बढ़ रहा है। शत्रु और मृत्यु की गति समान होती है। कब सिर पर मँडराने लगेंगे, जाना नहीं जा सकता।"

"कदापि नहीं, महाराज जी। सीमाओं पर हमारे सैनिक इतने सतर्क हैं कि मगध का एक-एक गुप्तचर तक पकड़ लिया जाता है। जिधर से भी सीमा रेखा का उल्लंघन करेंगे, सूचना अवश्य मिल जायेगी।"

"फिर क्या होगा ?"

"युद्ध अवश्यम्भावी है, महाराज जी।"

"हूँ और विजय ?"

"वह तो हमारी होगी ही। मगध को भागना पड़ेगा। एक-एक सैनिक दौड़ा-दौड़ाकर मारा जाएगा। मृत्यु उन्हें खदेड़ रही है। कलिंगवासियों की क्रोधाग्नि में आहुति बनकर मगध सैनिक आ रहे हैं। बस, सीमा से टकराने भर दीजिए, महाराज जी। वायु में तिनके की भाँति उड़ते दिखाई देंगे।"

"देखने वालों की आँखों में चुभन नहीं पैदा कर सकते हैं।"

"मात्र कुछ समय के लिए। अन्तोगत्वा तो वे मसलकर फेंक ही दिये जायेंगे।"

हल्की-सी मुस्कान बिखेर कलिंगनरेश आगे बढ़ते हुए बोले, "चलो तनिक गजसेना का निरीक्षण कर लिया जाय।"

सैनिक अधिकारी कभी भी अकेला न होता था। उसके साथ के अन्य सहयोगी सैनिक भी उसका अनुसरण कर उठते थे।

यथाशक्ति गति तीव्र रखने पर भी कलिंग की सीमा को निकट न आते अनुभव कर सम्राट अशोक ने व्यग्रता व्यक्त की, "कितनी दूर अभी और है कलिंग ?"

"इसी गति से चलते रहे तो पन्द्रह दिन अभी और लगेंगे।"

"और यदि बिना रुके चलते रहे ?"

"तब भी आठ-दस दिन तो लग ही जायेंगे।"

"नहीं, मात्र चार दिनों में कलिंग की सीमा का स्पर्श करता हूँ लाओ मेरा अश्व।" सम्राट अशोक हाथी से नीचे उतरने के लिए व्यग्र हो उठे।

सम्राट का अश्व हाथी के ठीक पीछे साथ-साथ ही चल रहा था। बगल में अश्व के आते ही सम्राट हाथी के हौदे से सीधे कूदे और अश्व की पीठ पर आ बैठे। अपनी पीठ पर सम्राट को बैठे अनुभव कर अश्व ने सम्राट की प्रिय गति ग्रहण कर ली। सम्राट को उस गति से भी संतोष न हुआ। उन्होंने और अधिक तीव्रगति के लिए अश्व को उत्प्रेरित किया। अश्व के लिए तो संकेत मात्र यथेष्ट था। उसकी गति तीव्र से तीव्रतर होती चली गई। सम्राट का अंगरक्षक दल जो अनुसरण कर रहा था, पिछड़ने लगा। सम्राट के अश्व की असामान्य गति के कारण जो अन्तर बढ़ता जा रहा था, भरसक चेष्टा करने पर भी वह कम न हो पा रहा था। वीरवती ने दूर से ही परिस्थिति को भाँप लिया था। उन्होंने अपने अश्व को एड़ लगाई। वह हवा में बातें करने लगा। उनकी गति सम्राट के अंगरक्षकों को पछाड़ने लगी। वह देखते-देखते अंगरक्षकों के आगे निकल गईं। उस अन्तर को भी अपनी गति से वह समेटने का प्रयास करने लगी जो सम्राट की अप्रत्याशित गति ने उत्पन्न की थी। सम्राट की दृष्टि नाक की सीध में ऐसे थी जैसे कलिंग दिखाई दे रहा हो और मन कह रहा हो कि अभी पकड़ता हूँ। यथेष्ट निकट पहुँच वीरवती ने सम्राट को सावधान किया, "महाराज जी ! कलिंग विशेष दूर नहीं है। आप अकेले हो गये हैं। सैनिकों को भी साथ ले लीजिए।"

"कौन ? कौन हो तुम ?" गरदन तनिक-मोड़कर ध्वनि के उद्गम स्थान की ओर देखते हुए सम्राट ने जानना चाहा, "क्या नाम है तुम्हारा ?"

"वीरवती, महाराज जी। एक भी सैनिक महाराज जी की गति का साथ नहीं दे पा रहा है।"

"और तुम, वीरवती ?"

"सेविका तो मात्र कर्तव्य पालन कर रही है। जो गति महाराज जी ने धारण कर रखी है, वह इतनी असामान्य है कि कलिंग कांपे बिना न रहेगा, किन्तु महाराज जी कभी-कभी सामूहिक शक्ति की आवश्यकता होती है।" सम्राट अशोक के अश्व की गति पूर्ववत् थी। वीरवती ने तनिक और आगे निकल सावधान किया, "महाराज जी तनिक विचार कर देखें। इस प्रकार अकेले आगे बढ़ना हितकर नहीं है। गति को तनिक विराम दीजिए। कम-से-कम अंगरक्षकों को तो निकट आ ही जाने दीजिए।"

"वीरवती ! वीरता कभी किसी की प्रतीक्षा नहीं करती। वह अकेले अग्रसर होने में अधिक गौरवान्वित अनुभव करती है। हाँ, जिस सावधानी की अपेक्षा होती है, उसकी पूर्ति तुम कर रही हो, फिर आशंका किस बात की ?"

"यथार्थ है, महाराज जी। किन्तु आप तो अनुचरवाहिनी साथ लेकर विजय अभियान पर निकले हैं। उसे अनाथ क्यों बनाये दे रहे हैं ? साथ ले लीजिए न। घबड़ाहट से मरे जा रहे हैं। और आपकी गति महाराज जी, उत्तरोत्तर तीव्र होती जा रही है।"

"वीरवती ! तुम तो एक नारी हो। नारी होकर भी तुम मेरी गति को पकड़ सकती हो और वे पुरुष सैनिक होकर मेरी गति का अनुसरण नहीं कर पा रहे हैं ?"

"अपराध क्षमा हो, महाराज जी मेरा अश्व तो इससे भी तीव्र दौड़ सकता है। किसी भी अश्व को पछाड़ने की क्षमता है मेरे इस अश्व में। किन्तु, महाराज जी, आप हैं सम्पूर्ण मगधवाहिनी के स्वामी। स्वामी की कृपादृष्टि के अभाव में अनुचरों की जो स्थिति होगी उसकी कल्पना सहज ही, महाराज जी कर सकते हैं। और फिर कम-से-कम महारानी का ध्यान तो महाराज जी को रखना ही चाहिए।"

"ओह ! शीला और पद्मा दोनों ही पीछे छूट गईं।"

"वे घबड़ा रही होंगी। आपके दर्शनों के अभाव में निर्जीव हो रही होंगी। और फिर पूछने पर भी जब महाराज जी के विषय में कुछ भी न ज्ञात हो सकेगा तो न जाने क्या वे अनुभव करें। उन्हीं की भांति गतिशील मगध-वाहिनी का प्रत्येक सैनिक चिंतित हो उठा है। महाराज जी सोचें, तनिक गति को विराम दें और जैसे अभी तक नेतृत्व किया है, वैसे ही शेष दूरी भी पूरी करने की कृपा करें।" फिर भी जब सम्राट अशोक के अश्व की गति में कोई अन्तर न आया तब वीरवती अन्य उपाय सोचने पर बाध्य हो गईं।

उन्होंने अनुकूल दृष्टिकोण अपनाना अधिक श्रेयस्कर समझा। उनका भी अश्व लगभग समान गति से गतिमान था। गति पर तनिक और बल देते हुए वह बोलीं, "अब महाराज जी देखिए, यहाँ से तीन मार्ग तीन दिशाओं के लिए जाते हैं। इनमें से कौन मार्ग कलिंग के लिए जाता है, कदाचित महाराज जी नहीं जानते होंगे।"

"तुम्हें तो ज्ञात होगा?"

"मैं इधर कभी आई नहीं। अग्रगामी दल भी पीछे छूट गया है। यह सीधा मार्ग यदि कलिंग के लिए नहीं है तो भटकना पड़ सकता है और मार्ग भी इतना लम्बा हो जायेगा कि कदाचित ही कभी पहुँच सकें। क्यों न गति को तनिक विराम दे सोच-विचार लें?"

"वीरवती! यह सीधा मार्ग कलिंग को ही जाता है। मुझे पूर्ण जानकारी है। तुम्हारी बातों का अभिप्राय मैं समझ रहा हूँ।"

"महाराज जी अन्यथा अर्थ कदापि न लगायें। मेरी अंतिम प्रार्थना पर ध्यान देने की कृपा अवश्य करें।"

सम्राट ने वीरवती की ओर देखते हुए पूछा, "बोलो।"

"अपराध क्षमा हो, महाराज जी। यह दासी कलिंग कुमारी की बालसखी है।"

"क्या।" आश्चर्यपूर्ण कण्ठस्वर के साथ अश्व की गति को भी सहसा झटका लगा।

"जी महाराज जी। विश्वास करें और नतमस्तक दासी का सिर धड़ से पृथक कर ही आगे बढ़ें।" वीरवती ने सिर झुका दिया था।

"ऐसा कदापि नहीं हो सकता। तुम वीरवती कलिंगवासिनी कभी नहीं हो सकतीं। तुम मगधवासिनी वीर नारी हो। तुम्हारा एक-एक आचरण-मगध-राज्य-भक्ति का प्रमाण है।" सम्राट के अश्व की गति यथेष्ट मन्द हो चली थी।

अश्व गति को मन्दतर करती हुई वीरवती आगे बोलीं, "महाराज जी विश्वास रखें। इस दासी की स्वामिभक्ति में अन्तर कभी नहीं आने पायेगा। कलिंगवासिनी होते हुए भी मगध-राज्य-भक्ति मेरे प्राण हैं। कर्तव्यच्युत जीवन मेरे लिए मृत्यु से भी अधिक त्रासदायक लगता है। ऐसी स्थिति में मैं कैसे सहन करूँ कि महाराज जी को गति ठीक है। मुझे भलीभाँति ज्ञात है कि कलिंग की सीमा से पूर्व भी मार्ग में शत्रु के विनाश के लिए क्या-क्या उपाय किये गये हैं। दासी नहीं चाहती कि शक्ति के मद में महाराज जी विनाश की मांद में घुसते चले जायं।"

"फिर ?" सम्राट का अश्व गतिहीन हो चुका था।

वीरवती ने भी निकट ही अश्व रोक दिया था। दोनों के मध्य विशेष अन्तर न था, फिर भी अन्दर अन्तर उत्पन्न हो उठा था।

"महाराज जी के हाथों इस संसार से विदा होने में इस दासी को प्रसन्नता ही होगी। सत्याभिव्यक्ति के कारण मेरे आचरण का संदिग्ध होना स्वाभाविक है, फिर भी वीर धर्म के नाते यह दासी आसन्न संकट से अवगत कराना अपना दायित्व समझती है। यहाँ से ही एक-एक वृक्ष को अपना शत्रु समझें महाराज जी। प्रमाण के लिए यह देखिए।" वीरवती ने धनुष पर तीर चढाकर लक्ष्य भेद किया। तीर से आहत हो एक व्यक्ति नीचे आ गिरा। उसे दृष्टि का लक्ष्य बनाकर वीरवती बोलीं, "महाराज जी! यह है कलिंग का सैनिक। ऐसे ही न जाने किन वृक्षों पर कितने सैनिक शत्रु की घात लगाये बैठे हैं। कौन किस वृक्ष के सैनिक का लक्ष्य बन जायेगा, अनुमानित है।"

सम्राट अशोक अश्व से नीचे उतरकर उस आहत व्यक्ति के निकट गये और पूछा, "कौन है तू ?"

आहत व्यक्ति ने मुंदी आँखें खोलीं। आहत अंग से रक्त का प्रवाह जारी था। मुंह से केवल कराह निकली और उसकी आँखें पुनः मुंद गईं। सम्राट अशोक ने उसे ध्यान से देखा तो साँस भी रुक गई थी। उसे मृत समझ कर सम्राट ने नतमस्तक खड़ी वीरवती की ओर देखा, कुछ सोचा और फिर आगे हाथ बढाया, "वीरवती! तुम क्या हो और कौन हो, समझने में मैं असमर्थता अनुभव कर रहा हूँ, किन्तु तुम एक नारी हो, नारी—इस पर अविश्वास नहीं कर पा रहा हूँ। इसी विश्वास के आधार पर देखो यह मेरा फैला हाथ क्या माँग रहा है ?"

वीरवती ने तत्क्षण कोष्ठ से असि खींची और अपना सिर काटने के लिए जैसे ही उसे गरदन झुका ताना, सम्राट ने तीव्र स्वर में सावधान किया, "वीरवती! मैंने तुम्हारा हाथ मांगा है, सिर नहीं। असि को यथास्थान कोष्ठबद्ध करो।" वीरवती ने वैसा ही किया। हाथ खाली होने पर सम्राट ने पुनः प्रस्ताव दुहराया, "लो, रखो हाथ पर हाथ।"

वीरवती ने हाथ उठाया तो, किन्तु काँप कर वहीं-का-वहीं रुक गया। सम्राट के हाथ तक वह न पहुँच सका। नतमस्तक तो वह थी ही, उसका सारा शरीर सहसा काँप उठा। सम्राट ने आगे बढ़ वीरवती का हाथ थाम लिया और उत्सुकता व्यक्त की, "वीरवती! क्या बात है ? तुम्हारा शरीर काँप क्यों रहा है ?" इस पर भी जब वीरवती न हिलीं, न डुलीं, और न

कुछ बोलीं ही, तो सम्राट ने दूसरे हाथ से उनकी ठोढ़ी का सहारा दे ऊपर उठाया। अधखुली आँखों में झांककर सम्राट ने पुनः प्रश्न किया, "वीरवती! क्या कष्ट है तुम्हें? मेरी किस बात से तुम्हें आघात पहुँचा है? क्या मेरे द्वारा तुम्हारा अपमान हो गया?"

नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया वीरवती ने। साथ में कानों के बड़े-बड़े कुण्डल भी हिल उठे। कुण्डलों द्वारा कपोलों के स्पर्श ने सम्राट को अन्दर तक हिला दिया। न रोक सके सम्राट अपने को। वीरवती के दोनों कपोलों को अपने दोनों हाथों का स्पर्श प्रदान कर सम्राट ने और निकट हो पूछा, "वीरवती! नेत्र खोलो। मेरी ओर देखो। मैं हूँ अशोक। मेरी अभिलाषा है कि तुम मेरी..........।"

"महाराज जी!" सस्वर वीरवती सम्राट अशोक के चरणों में गिर पड़ीं और चरणों को पकड़कर बोलीं, "महाराज जी! क्षमा कर दीजिए। यह दासी महाराज जी के योग्य नहीं।"

झुककर सम्राट ने वीरवती को पकड़ उठाया और भुजाओं में कसते हुए कहा, "वीरवती! तुम किस योग्य हो, मुझसे छुपा नहीं है। तुम एक वीर रमणी हो। वीर रमणी ही शासक को प्रिय होती है। तुम मुझे प्रिय लग रही हो।" सम्राट ने अपने तप्त अधर वीरवती के कपोल पर रख दिये। वीरवती चौंक पड़ीं। उसे एक ध्वनि विशेष दिखाई दी। उन्होंने मुक्त होने का सस्वर प्रयास किया, "तनिक दृष्टि महाराज जी। शत्रु आस-पास ही कहीं छुपे हैं।"

आगे एक पुरुष स्वर स्पष्ट सुनाई दिया, "धन्य हो वीरवती, तुम्हारा जीवन धन्य है। तुमने अपनी प्रतिज्ञा निभाई। सम्राट को अकेले यहाँ तक खींच लायीं। तुम बीच से हटो। हमें सम्राट को यमलोक पहुँचाने दो।"

"सावधान! सामने आओ। छुपकर प्रहार करना कायरता है। वीर हो तो सामने आओ। पहले मेरे प्रहार सहो, फिर महाराज जी के विषय में सोचना।"

"हट जा बीच से।" एक साथ तीन सशस्त्र पुरुष सैनिक एक विशाल वट वृक्ष की ओट से सामने प्रकट हो गये।

वीरवती को आगे बढ़ने से सम्राट ने रोका, "रुको। मैं अभी तीनों को यमलोक पहुँचाये देता हूँ।" सम्राट के हाथ में असि चमचमा उठी थी।

तेजी से बीच में आ वीरवती बोली, "नहीं, कदापि नहीं महाराज जी। इन्हें आपके नहीं, मेरे हाथों से मरना है।" 'जय' ध्वनि के साथ वीरवती टूट पड़ीं एक साथ तीनों पर। वीरवती तो अस्त्र-शस्त्र संचालन-निर्देशिका थी हीं। जितना वह प्रहार करने में प्रवीण थीं उतनी प्रहारों से रक्षा करने में

भी कुशल थी । देखते-देखते जो सबसे आगे था, वह धराशायी हुआ । दूसरा एक भी प्रहार न झेल पाया और सदा के लिए दो टुकड़े हो, धरती पर लोट गया । तीनों ने जो भी प्रहार किये, सब व्यर्थ गये । तीसरे को भी धराशायी होते देर न लगी । वीरवती रक्तरंजित असि को लक्ष्य कर बोलीं, "महाराज जी । अवज्ञा के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ । विश्वास अर्जित करने के लिए कलिंग-वासियों के रक्त से इस कलंक को धोना आवश्यक था कि मैं मगधाधिपति की सहचरी नहीं प्रमाणित होऊँगी ।"

"धन्य हो वीरवती । तुम्हारी निष्ठा पूर्ण विश्वसनीय है । मुझे तुम पर गर्व है । कलिंग पर मगध का विजय केतु फहराने में तुम अवश्य मेरा साथ दोगी ।"

"इस रक्तरंजित असि को अधरों से स्पर्श कर प्रतिज्ञा करती हूँ कि जब तक इस शरीर में रक्त की एक बूंद भी शेष रहेगी, महाराज जी के इस विश्वास को कभी खण्डित न होने दूंगी ।"

"बस, वीरवती, बस । न किसी प्रतिज्ञा की आवश्यकता है, न किसी परीक्षा की । तुम आस्था और विश्वास की देवी भारतीय नारी हो । भारतीय नारी के तुम्हारे रूप में दर्शन कर वीरता धन्य हो गई । आओ, थामो मेरा यह हाथ और इसकी शक्ति बनकर सदा साथ रहो ।"

"महाराज जी ! मेरे आराध्य !! मेरे भगवन् !!!" सस्वर वीरवती सम्राट के वक्षस्थल के सहारे आ टिकी ।

सम्राट अशोक ने भी वीरवती को अपनी दोनों भुजाओं का पूर्ण आश्रय प्रदान कर दिया । लता रूप में वीरवती झूल गई सम्राट रूपी वटवृक्ष के तने से ।

राजमाता शुभद्रांगी को दासी ने सूचित किया, "कोई ज्योतिषी जी पधारे हैं। उनका कहना है कि आपके साथ भेंट का समय पहले ही निश्चित हो चुका है।"

यद्यपि राजमाता को भलीभाँति स्मरण था और वह प्रतीक्षा भी कर रही थीं, तथापि किसी ज्योतिषी के आगमन का समाचार पा वह पहले तो सोचने लगीं किन्तु भेंट का समय निर्धारित होने की बात सुनते ही उनके मुंह पर हंसी दौड़ आई और स्वागतार्थ सहर्ष उठ खड़ी हुईं। और बोली, "ससम्मान उन्हें ले आओ।"

ज्योतिषी के रूप में आचार्य चाणक्य को पहचान राजमाता स्वागत-भाव भरे स्वर में बोलीं, "पधारिए आचार्य जी। बस, प्रतीक्षा कर ही रही थी।"

"राजमाता की सेवा में प्रणाम स्वीकार हो।"

"बैठिए।" समुचित आसन की ओर संकेत कर राजमाता स्वयं भी बैठ गईं।"

"कहिए क्या आज्ञा है?"

"आचार्य जी! आज्ञा कैसी? आपतो सर्वज्ञ हैं। आप से छुपा ही क्या है? अशोक को पाटलिपुत्र छोड़े हुए काफी दिन हो गये हैं। कोई समाचार भी नहीं मिल पा रहा है। न जाने कहाँ हो और किस स्थिति में हो। सुनने में आया है कि कलिंग में नारीशक्ति की प्रधानता है। डर लगा रहता है कि अशोक कहीं किसी नारी की किसी चाल में न फँस जाय।"

"आपने ठीक ही सुना है। नारी स्वातन्त्र्य का प्राधान्य है वहाँ। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नारी सक्रिय हैं। नारी जागरण का प्रत्यक्ष प्रमाण है कलिंग वास्तविकता तो यह है कि नारी जागरण के कारण ही कलिंग स्वतन्त्र है। किन्तु किसी भी प्रकार की चिंता आपको नहीं करनी चाहिए। मगध सेना में भी नारी शक्ति कम नहीं है। और मुझे तो ज्ञात हुआ है कि कोई नारी महारानी के रूप में महाराज जी के साथ गई भी है। नारी के मोहजाल से महाराज जी मुक्त रहेंगे। और फिर कदाचित आप तक सूचना न पहुँची हो, वीरवती नाम की एक नारी भी पुरुष वेश में महाराज जी के साथ है। वह निश्चित ही नारी के मोहपाश से महाराज जी की रक्षा करने में सक्षम होगी। और फिर कुछ कलिंगवासिनें मगध के राजप्रासाद में प्रवेश पा ही जायेंगी

तो कौन अनर्थ हो जायेगा । आप सब सम्हाल लेंगी । सब प्रकार से आप सक्षम हैं ।"

"नहीं आचार्य जी जब तक महाराज जी जीवित थे, जो मैं चाहती या कहती थी, वही होता था । उनके स्वर्ग सिधारते ही जैसे मैं निर्जीव हो गई हूँ । न किसी सत्ता का आभास होता है, न कोई अभिलाषा ही कभी जीवंत होती है । बस, शेष जीवन ढोना भर है ।"

"ऐसा इसलिए है, क्योंकि आप ऐसा सोचने लगी हैं । मनुष्य के जैसे विचार होते हैं आभास भी मनुष्य को वैसा ही होने लगता है । आपकी यह उदासीनता राजसत्ता की दृष्टि से अहितकर है । आप राजमाता हैं । राजमाता का पद महाराज के पद से भी बड़ा होता है । इस पद के अनुकूल आपको सतर्क और सचेष्ट रहना चाहिए ।"

"क्या लाभ ऐसे सतर्क होने से जब न अशोक की ही कोई सूचना मिल रही है और न आन्तरिक शासन की वर्तमान स्थिति से अवगत हो पा रही हूँ । ऐसा अनुभव होता है जैसे काटकर एक कोने में फेंक दी गई हूँ । कई बार अमात्य पल्लाटक तक सूचना भेज चुकी हूँ, अनेक आश्वासनों के बाद भी पधारे वह एक बार भी नहीं हैं ।"

"किसी कार्य-विशेष में व्यस्त होंगे । अवकाश मिलते ही आ जायेंगे । सम्पूर्ण साम्राज्य के प्रशासन का उत्तरदायित्व उन पर है । जब भी आपकी सेवा में उपस्थित होने की बात सोचते होंगे, कोई-न-कोई समस्या समक्ष उपस्थित हो जाती होगी । इन दिनों अपरिसीम व्यस्तता है उनकी ।"

"फिर भी मेरे द्वारा स्मरण किये जाने का कोई महत्व नहीं है ?"

"है क्यों नहीं । आप स्मरण न करें तो भी उन्हें यदा-कदा आ ही जाना चाहिए । यद्यपि प्रशासन-व्यवस्था ठीक ही है, तथापि आपको उन्हें अवगत तो कराना ही चाहिए ।"

"प्रशासन-व्यवस्था ठीक है—आप को कैसे ज्ञात ? आप न तो कुटी से बाहर निकलते हैं और न किसी से मिलते-जुलते ही हैं । आपको कैसे ज्ञात होता रहता है ?"

"कुटी के बाहर तब निकलता हूँ जब मैं आवश्यकता समझता हूँ । जब से महाराज जी अनुचरवाहिनी के साथ पाटलिपुत्र से बाहर गये हैं तब से न जाने किन-किन भेषों में मैं प्रशासन व्यवस्था का निरीक्षण कर चुका हूँ ।"

"बस आचार्य जी यही चिंता मुझे खाये जा रही थी । आज मैं निश्चिंत हो गई यह सुनकर कि आचार्य जी की रुचि अब भी प्रशासनिक कार्यों में शेष है ।"

"रुचि नहीं कर्तव्यबोध कहिए इसे । महाराज जी यदि राजधानी में उपस्थित होते तो मैं कदापि जनता के मध्य न विचरण करता । अब आप देखिए, आपने स्मरण किया, उपस्थित हुआ या नहीं ।"

"आपसे भेंट होने की आशा ही न थी । जैसा सुन रखा था कि जब से आपने महामात्य का पद त्यागा है, तब से आपने कुटी का निवास भी त्याग दिया है, किन्तु वैसा पाया नहीं । आपके वहाँ भी दर्शन हुए और यहाँ भी आप पधारे । अशोक की अनुपस्थिति में एक आप ही साम्राज्य के शुभचिंतक हैं जिनपर मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपके रहते कुछ भी अनिष्ट नहीं हो सकता । मेरी सारी चिंता दूर हो गई । बस, आप से एक अनुरोध और है ।"

"आज्ञा दीजिए । राजमाता का आदेश शिरोधार्य है ।"

"आदेश नहीं, बस एक याचना ही समझिए इसे कि जब तक अशोक राजधानी लौट न आयें, यदा-कदा दर्शन देते रहें ।"

"आवश्यकता समझूंगा तो अवश्य आजाऊँगा । आपकी सेवा में एक अनुरोध मेरा भी है कि आप कुटी में कभी न पधारें । विगत दो तीन वर्षों से एक भी प्राणी ने प्रवेश नहीं किया है । आपको आते-जाते लोग देखेंगे तो फिर आवागमन प्रारम्भ हो जायेगा । मेरे लेखन कार्य के लिए जिस एकांत की अपेक्षा है, वह दुर्लभ हो जायेगा और मेरी साधना अधूरी रह जायेगी । मात्र अनुरोध है सेवा में । प्रशासन-व्यवस्था की ओर से आप पूर्ण निश्चित रहें । मेरी दृष्टि है उस पर । अव्यवस्था उत्पन्न ही न होने पायेगी । हमारी प्रशासन-व्यवस्था उत्तरदायित्वपूर्ण है । अधिकारपूर्ण व्यवस्था होने पर अव्यवस्था की आशंका रहती है । उत्तरदायित्व का प्रश्न जहाँ उपस्थित रहता है, वहाँ न प्रमाद फटकने पाता है, न अधिकारों के दुरुपयोग का ही अवसर मिल पाता है । आपको विश्वास नहीं होगा, किन्तु प्रशासन-व्यवस्था पहले से अच्छी है । प्रत्येक राजकीय कर्मचारी उत्तरदायित्व के अंकुश से सजग है जिसे जो कार्य सौंपा गया है, उसे कर दिखाने का उत्तरदायित्व उसका है । कार्य कैसे सम्पन्न होगा—यह सोचना या देखना उसका काम है । कार्य की सम्पन्नता पर उसे कर्तव्यनिष्ठ मान लिया जाता है और काम न होने पर उसे कर्तव्य के प्रति उपेक्षा भाव रखने का दोषी ठहराया जाता है । और इधर मैं भी अनुभव कर रहा हूँ कि एक भी दोषी कर्मचारी दण्ड से बचने नहीं पा रहा है ।"

आचार्य जी ! आप न बताते तो इतना सब मैं कैसे जान पाती । परम संतोष प्राप्त हुआ आपके दर्शनों से । आपके पधारने के लिए मैं आपकी आभारी हूँ । मेरे पिता जी आपके सहपाठी रहे हैं । मेरे लिए आप पिता की

ही कोटि में आते हैं। संतान की सुख-सुविधा पर दृष्टि रखने के जिस उत्तर-दायित्व का निर्वाह आप कर रहे हैं, वह श्लाघनीय है। दर्शनों से चिंता का सारा बोझ सिर से हट गया। किसी प्रकार की आवश्यकता हो तो संकोच न कीजिएगा।"

"लोग अपनी आवश्यकताओं के लिए साधन के अभावों का रोना रोते हैं और मैं आवश्यकताओं के अभावों की अनुभूति से सदा संतुष्ट रहा हूँ। न कोई चाह, न कोई चिंता। मन सदा निश्चिंत रहता है। कदाचित इसी निश्चिंतता के कारण प्रजा ने कभी भी सम्राट से कम आदर नहीं दिया है। राजाओं का भी राजा की अनुभूति में मुझे सदा उस आनन्द के दर्शन हुए हैं जिसे पाने के लिये साधनसम्पन्न प्राणी तक तरसते हैं। अच्छा, अब अनुमति दीजिए।" आचार्य चाणक्य सहसा उठ खड़े हुए।

राजमाता भी बैठी न रह सकीं। आचार्य के जुड़े हाथों के उत्तर में उनके भी हाथ जुड़ गये थे। तनिक सिर झुकाकर आचार्य जी वहाँ से चल दिये। राजमाता राजाओं के भी राजा की महिमा से मण्डित व्यक्तित्व को अपलक देखती रह गई।



ज्यों-ज्यों मगध विजयवाहिनी कलिंग की सीमा के निकट पहुँचती जा रही थी, त्यों-त्यों कलिंग में सजगता बढ़ती जा रही थी। राजपरिवार और सैन्या-धिकारी तो अपने क्रिया-कलापों में इतने व्यस्त थे कि उनके पास विविध चर्चाओं के लिए समय ही न था, किन्तु जनसामान्य यद्यपि युद्ध की तैयारी का एक भाग बन चुका था, तथापि नित नवीन चर्चाओं में रस लेने से न चूकता था। जहाँ भी दो परिचित मिल जाते, परस्पर अभिवादन करते हुए जिज्ञासा व्यक्त कर बैठते, "कहिए, कुछ सुना? बस, शत्रु को मारा ही समझिए।"

"सीमा में प्रवेश करने में ही दाँतों पसीना आ जाएगा। आगे बढ़ने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।"

"ऐसे ही सोचते रहो। इसी विश्वास के सहारे हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहो। वे तेजी से बढ़ रहे हैं। उन्हें रोकना लोहे के चने चबाना है।"

"तुम जैसे हताश नागरिक दो-चार और हो जायें तो दुश्मन न भी आगे बढ़ रहा हो तो भी बढ़ता ही दिखाई देगा। व्यर्थ की बातों में मायापन्ची मत करो। जाओ अपना काम देखो। कलिंग की पराजय के सपने आसानी से पूरे नहीं होंगे। एक-एक कलिंगवासी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए प्राणाहुति दे देगा, किन्तु परतन्त्र होकर जीना पसंद न करेगा।"

"पसन्द-नापसन्द का प्रश्न तब उत्पन्न होगा जब मनुष्य जीवित बचेगा। युद्ध में कौन मृत्यु के मुंह में समा जाएगा और कौन विजय की दुन्दुभी बजाएगा, कहना कठिन है। अच्छा भाई, चलता हूँ। अब तो समय के हाथों ही स्थिति स्पष्ट होनी है।"

कोई किसी कार्यवश जब किसी से मिलने आता तो अवश्य जानना चाहता, "कब तक युद्ध के शुरू होने की सम्भावना है? तैयारी तो अभूतपूर्व है।"

"अभूतपूर्व तो हो सकती है तैयारी युद्ध की, किन्तु पूर्ण कभी नहीं। युद्ध-कुण्ड में कब क्या स्वाहा हो जाएगा कुछ नहीं कहा जा सकता। कहिए क्यों चले यह युद्ध। असम्भव नहीं कि आपस में समझौता हो जाय, युद्ध की स्थिति ही न आने पाये। और आक्रमण इतना भयंकर भी हो सकता है कि दो-चार दिनों में ही जय-पराजय का निर्णय हो जाय। अब तो ईश्वर ही रक्षा कर सकता है।"

"क्यों दोनों पक्षों के राजा न चाहें तो भी युद्ध होगा?"

"उन्हें तो जो चाहना था, वे चाह चुके। युद्ध चाहा, युद्ध की तैयारी हुई और युद्ध किसी भी समय प्रारम्भ हो सकता है। न जाने कब तक सद्बुद्धि आएगी इन शासनाध्यक्षों में। अपनी आन-बान-शान के लिए स्वयं तो संघर्ष-रत होते ही हैं, निरीह प्रजा को भी युद्धाग्नि की ज्वाला की भेंट चढ़ा देते हैं। उनकी सनक के लिए प्रजा को कितना बड़ा बलिदान करना पड़ता है, यदि इसका उन्हें अनुमान भी हो सके तो कदाचित युद्ध कभी न हों। किन्तु, वाह रे मानव! नवीनता के लालच में कितने विनाश के नग्ननर्तन किया करता है।"

"भइया! तुम्हारी ये बातें हमारी समझ से परे हैं। अभी एक बहुत आवश्यक कार्य सम्पन्न करना है। अवकाश मिला तो सुनूंगा आकर आपकी बातें।" यह वहाँ से शिष्टाचार का पालन करता हुआ चला गया।

दिनभर घनघोर श्रम करने पर रात्रि के समय जब भी फुरसत मिलती घरों के अन्दर लेटे हुए बातें करने से बाज न आते, "अरी सो गई क्या?"

"अभी तो लेटी हूँ। इतनी जल्दी नींद कहाँ आती है। आँख लगती है तो थोड़ी देर के लिए। भगवान! न जाने क्या होगा।"

"चलो हटो, मूर्ख बनाने से अभी भी बाज नहीं आते हो।"

"इतनी दूरी तो है हम दोनों के बीच। और कितनी दूर हटूँ। मैं तुम्हारे नकारात्मक ढंग को खूब समझता हूँ। बहुत दिनों तक धोखे में रहा।"

"मनमानी करने के लिए इस धोखे के बहाने का लाभ बहुत उठा चुके।"

"शुरू मे थोड़ी देर ही तो विरोध प्रदर्शित करती हो, बाद में तो ऐसा·········।"

"ये! दुधाड़ी तक साप मत रेंगाओ। आज किसी भी मूल्य पर तुम्हारी दाल नहीं गलने की। व्यर्थ में निराश होकर तनफना उठोगे और आधी रात में ही बिस्तर उठाकर बाहर भाग खड़े होगे।"

"भागें मेरे शत्रु। मैं आज भागने वाला नहीं।"

"मुन्नी! क्या कर रही हो? तनिक यहाँ तो आना।"

"तुम भी बड़ी वैसी हो। मुन्नी को बुलाने की क्या आवश्यकता थी।"

"तुम्हें दूर करने का कोई अन्य उपाय भी तो न था। तुम मानते थोड़े ही।"

"देखो मुन्नी की मां। अगर इतना पानी पर धरोगी तो समझ लेना कि मुन्नी हो या मुन्ना। मैं किसी की परवाह न करूंगा।"

"फिर धमकी क्यों दे रहे हो। साहस हो तो आओ न। मुन्नी आई जाती है, मुन्ने को भी जगाये देती हूँ।"

"मत जगाओ मुन्ने को, सोने दो। जग गया तो फिर काफी देर तक न सोयेगा न सोने ही देगा। जाओ सो जाओ।"

"नींद आ जाएगी?"

"तुमसे मतलब? आनी होगी नींद तो आएगी। न जाने ऐसी कितनी रातें कटी हैं। एक रात और सही।"

"आप में तो बच्चों जैसा उतावलापन है। कभी भी ध्यान नहीं रखते कि कौन जाग रहा है मुन्नी अभी सोई नहीं है। तनिक भी आहट मिल गई तो समझो कि उस पर प्रभाव अच्छा नहीं पड़ेगा।"

"दीपक गुल हो चुका है अंधेरे में नहीं जाग रही होगी।"

"आप तो बस, अपनी ही ठाने चले जाते हैं। अन्यथा कुछ सोचने-समझने की मन:स्थिति मे तो रहते नहीं। मैं ठहरी मां। मा को सब आगा-पीछा सोचना पड़ता है।"

"फिर सोचती रहो आगा-पीछा। मुझे नींद लग रही है।"

"ये! करवट बदलने से नींद नहीं आएगी।"

"आ जाएगी।"

"फिर सो जाओ। मुझे भी नींद आ रही है।"

"फिर सोओ न। इतनी देर से क्यों बक-बक लगा रखी है।"

"लो, हो गए न गुस्सा। मन की न हो तो गुस्सा होते देर नहीं लगती।"

"तुम्हें गुस्सा होना आता है तो मुझे मनाना भी आता है।"

"यह तो मुझे मालूम ही था कि गुस्सा होने का अभिनय किए बिना तुम मानने वाली नहीं।"

"यही तो एक अवसर होता है जब कुछ सुन लेते हो, अन्यथा अपनी धुन में दिन रात इतने डूबे रहते हो कि एक दृष्टि देखने भर का अवकाश आपके पास नहीं रहता।"

"क्या करूँ, काम का इतना भारी बोझ सिर पर सदा लदा रहता है कि दम मारने की भी फुरसत नहीं मिलती।"

"लेकिन इस काम के लिए फुरसत निकाल ही लेते हो।"

"भुन्नी की माँ। हम गरीबों के पास इसके अतिरिक्त और साधन ही क्या है मनोरंजन का। सुबह आँख खुले तो काम, दिन तो काम के लिए होता ही है और रात में भी कभी-कभी इतना काम............।"

"जितना इस समय है। क्यों, यही काम न ?"

"तुम्हारी इसी समझदारी पर ही तो सर्वस्व न्योछावर है।"

"गुस्से का अभिनय भी न ?"

"गुस्सा उस सर्वस्व से परे थोड़े ही होता है।"

"इन क्षणों की यह धारणा सदा कैसे बन सकती है ?"

"बड़ा सरल उपाय है। तुम सदा ऐसी ही बनी रहो।"

"जीवन में और भी काम तो हैं। केवल यही एक काम तो है नहीं ?"

"बिल्कुल ठीक। यह काम सदा रहता भी नहीं है। लो, समाप्त हो गया। बस, जब जैसी आवश्यकता हो, ढलती चली जाओ, सब कुछ परिवर्तित दृष्टिगत होने लगेगा।"

"नहीं, कदापि नहीं, नहीं चाहिए मुझे कोई परिवर्तन। तुम जैसे हो वैसे ही मुझे इतने अच्छे लगते हो कि जीवन की एक भी साध शेष नहीं है। तुम जैसे हो, वैसे ही आर्ज बन बने रहो, और कुछ नहीं चाहिए मुझे।"

"और तुम जब से मेरी जीवनसंगिनी बनी हो, तब से एक भी आकांक्षा शेष नहीं रहने पायी है। तुम मेरे लिए संसार की बड़ी-से-बड़ी धरोहर से भी मूल्यवान हो।"

"किन्तु अपने प्राणाधार से अधिक मूल्यवान नहीं।"

"प्राणों का आधार तो शरीर ही होता है। मैं यदि शरीर हूँ तो तुम हुई प्राण। प्राण के अभाव में शरीर का क्या महत्व।"

"आपके सामने तो बोलना कठिन है। चित्त भी मेरी और पट्ट भी मेरी। जब जैसा चाहते हैं, बात को घुमा-फिरा कर अपने अनुकूल बना लेते हैं। बाबा! तुम जीते और मैं हारी।"

"नहीं, तुम जीतीं, मैं हारा।"

"नहीं, मैं हारी, तुम जीते।"

"इससे अच्छा तो यह समझ लो कि न कोई हारा, न जीता। दोनों समान हैं। इसी समानता की अनवरत अनुभूति में जीवन की सार्थकता है।"

"अब नींद आ रही है।"

"नींद तो मुझे भी आ रही है।"

"फिर सो जाइए न। न जाने क्या बोले चले जा रहे हैं। नींद के मारे कुछ समझ में नहीं आ रहा है।"

कुछ ही पलों में खर्राटे प्रगाढ़ निद्रा का संकेत दे उठे।



और छात्र समुदाय में उत्साह और उमंग की कोई सीमा न थी। विद्यालय महाविद्यालय बन्द किये जा चुके थे। अध्ययन-अध्यापन-कार्य युद्ध की समाप्ति तक के लिए स्थगित था। शिक्षालय भवन शस्त्र-निर्माण के केन्द्र बन गए थे। इनका संचालनकार्य भी शिक्षकों और छात्रों के हाथों में था। अधिकांश छात्रों ने जीवन में प्रथम बार युद्ध का नाम सुना था, देखने का भी सौभाग्य मिलेगा—इसके प्रति आशंकित थे। उन्हें बताया गया था कि युद्धस्थल में प्रशिक्षित सैनिक ही जा पाते हैं। प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए छात्रों में होड़ लगी थी। अपनी वय अधिक बताने पर भी छात्रों की सैनिक रूप में भर्ती प्रतिबन्धित थी। सैनिक प्रशिक्षण के लिए जिनका चयन कर लिया गया था, उनके सौभाग्य से शेष छात्रों को ईर्ष्या हो उठी थी, किन्तु जब भी उनसे भेंट हो जाती, औत्सुक्य प्रकट हुए बिना न रहता, "कब तक युद्ध के प्रारम्भ होने की सम्भावना है?"

"कुछ नहीं कहा जा सकता है। कल भी युद्ध प्रारम्भ हो सकता है और दो-चार महीने भी लग सकते हैं।"

"कहाँ तक शत्रु आ पहुँचा है? बहुत दूर है क्या अभी? अब तक तो

सीमा तक आ पहुँचना चाहिए था। क्या बहुत धीमी गति है शत्रु सेना की ?"

"गति धीमी तो नहीं है, किन्तु निर्बाध गति से अग्रसर भी तो नहीं हो पा रहे हैं। मार्ग में टक्कर लेते हुए बढ़ना पड़ रहा है।"

"टक्कर किससे ? हमारे सैनिक क्या उस मार्ग तक में जा पहुँचे हैं जिससे शत्रु को गुजरना है ?"

"हाँ, मार्ग में कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ से शत्रु पर आक्रमण करके अधिकाधिक हानि पहुँचाई जा सकती है।"

"ऐसे सैनिकों को क्या विशेष रूप से प्रशिक्षित किया गया है ?"

"कदाचित विशेष अनुभवी सैनिकों का ही चयन इसके लिए किया जाता है।"

"शत्रु के कितने सैनिक अब तक मारे जा चुके हैं ?"

"इसकी सूचना हम लोगों तक नहीं पहुँच पाती है।"

"अस्त्र-शस्त्रों के संचालन में तो अब तक खूब पारंगत हो गए होंगे ? भोजन तो जो चाहते होगे, वही मिलता होगा ?"

"नहीं, निर्धारित भोजन ही प्राप्त होता है। लेकिन होता है वह उत्तम कोटि का।"

"सौभाग्यशाली हो, भाई। मातृभूमि की रक्षा के लिए चुन लिए गए हो। युद्ध में काम आ गए तो शहीद कहलाओगे और जीवित बच गए तो जगह-जगह पर अभिनन्दन होगा। हाथी-घोड़ों पर सवार होकर राजमार्गों पर शान से निकला करोगे।"

"पढ़ाई से तो मुक्ति मिली।"

"अरे नहीं भाई। यह आपातकालीन भर्ती है। युद्ध के समाप्त होने पर जो जहाँ था, वहीं पहुँच जाएगा।"

"अगर किसी ने विशेष शौर्य का परिचय दिया तो सैनिक रूप में भी तो जीवन-यापन कर सकता है।"

"यह तो भाई अवसर की बात है।"

"किसी शक्तिशाली शत्रु सैनिक से टकराने पर जीवन से हाथ भी तो धोना पड़ सकता है।"

"स्वदेश की वेदी पर बलिदान होने पर स्वर्ग तो मिलेगा। भइया जीना-मरना तो हर एक के साथ लगा है। कोई कम जीकर शीघ्र मरेगा तो कोई अधिक जीकर देर से मरेगा। मरना एक-न-एक दिन सभी को है। चारपाई पर रोगग्रस्त होकर मरे तो क्या मरे। मरना तो उसी का गौरवपूर्ण माना जायेगा जो युद्ध करता हुआ मरेगा।"

"भइया ! तुम तो बन गए सैनिक । बाजी मार ले गये, लेकिन देखना हम भी कम शत्रु को नाकों चने नहीं चबवायेंगे । पीने के पानी के अभाव में प्यासों न मार डाला तो मेरा नाम नहीं ।"

"नदी पार कर लें तो मैं समझूं । एक भी नाव नही मिलने पायेगी । तैर कर पार करने की कोशिश की तो निश्चित ही डूब कर मरना होगा । हमारा भी एक संगठन है । शत्रु सैनिकों को डुबो-डुबो कर मारेंगे ।"

"पशुओं को खाने के लिये वृक्षों पर पत्तियां तक न मिलेंगी । सब जलाकर राख कर दी जायेंगी । गजों के लिए भोजन बांधकर थोड़े ही लाये होंगे । देखना उनके पशु भूखे होने पर उन्हें ही न खायें तो कहना । पूरी तैयारी है ।"

"घरों के खाने-पीने के बरतन तक अस्त्र-शस्त्रों के आकार प्रकार में परिवर्तित किये जा चुके हैं । एक-से-एक नुकीले अस्त्र तैयार हुए हैं । उनकी नोकें विषबुझी हैं । जिसके भी शरीर से छू भर गई तो सीधे नर्क जाये बिना रहेगा नहीं ।"

"सुना है कि शत्रुदल मे नारियों की संख्या भी काफी है ।"

"होगी काफी तो बनी रहे । हमारे यहां ही कौन ऐसी नारी है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सैनिक वेश धारण नहीं किये है । कलिंगवासिनी प्रत्येक नारी ताक लगाये बैठी है कि शत्रु दिखाई भर दे जाय, जीवित लौटकर नहीं जाने पायेगा । कलिंग राज्य में जितने नागरिक हैं, उतने ही सैनिक समझो ।"

उससे भी अधिक । छोटे-छोटे बच्चे तक धनुष-बाण बांधे घूम रहे हैं । इतना अभ्यास कर रखा है कि हर बाण लक्ष्य तक पहुंचे बिना नही रहता ।"

"उन्हें समझा जो दिया गया है कि लक्ष्य भेद यदि अचूक होने लगा तो आगे चलकर सेना में भरती कर लिए जाओगे । पढ़ो या न पढ़ो, कोई अंतर नही पड़ने का । पढ़ाई का विकल्प मिल गया है । वे अतिशय उत्साह से लक्ष्यभेद का अभ्यास कर रहे हैं । अब आप ही सोचिये कि जिस राज्य के शिक्षार्थी तक स्वदेश की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए कटिबद्ध हों, उसे कोई कैसे परतन्त्र बना सकता है । मेरे वीर भाई ! तुम शत्रु से टक्कर लो रणस्थल में और हम सब मिलकर नगर के अन्दर का मोर्चा सम्हालते हैं ।"

"अच्छा, भाइयों ! आप सबको मेरा प्रणाम ।"

सम आयु के सभी कलिंगवासी उस वीर सैनिक के प्रति-सम्मान भावपूर्ण मुद्रा धारण कर देखते रह गये ।

वीरवती का जादू सम्राट के सिर पर चढ़कर बोलने लगा था। जहाँ वीरवती ने रोक दिया, सम्राट वहाँ से आगे न बढ़ सके। पड़ाव वहीं पड़ गया। जब तक अनुचरवाहिनी निकट आ नहीं गई और राजकीय शिविर तैयार नहीं हो गया तब तक सम्राट वीरवती के साथ घूम-घूम कर उस भूभाग विशेष का निरीक्षण करते रहे। वीरवती वहाँ की एक-एक विशेषता को विस्तार से समझाती रहीं। उनके वर्णन का ढंग इतना रोचक होता था कि सम्राट खोये रहे थे। स्वयं वीरवती ने ही टोका, "चलिए, महाराज जी, विश्राम कीजिए चलकर। शिविर तैयार हो गया है।" अपने निष्कपट व्यवहार और निश्छल सतर्कता से वीरवती सम्राट के निकटतर होती जा रही थी—इसे सम्राट के एक-एक अंगरक्षक ने भलीभाँति समझ लिया था। परिणामतः जब वीरवती सम्राट के निकट होती थी तो कोई भी दूसरा अंगरक्षक पास न फटकता था।

सम्राट का अश्व तेजी से शिविर-द्वार पर आ रुका। सम्राट के कूदते ही वीरवती भी अश्व की पीठ से नीचे कूद पड़ीं। सम्राट ने शिविर-द्वार की ओर बढ़ते हुए वीरवती के संकोच को दूर करने की चेष्टा की, "आओ वीरवती! *झिझको मत! मेरे साथ अन्दर चलो।" वीरवती निःशब्द शिविर के अन्दर* प्रवेश कर गईं। सम्राट ने उपयुक्त स्थान ग्रहण करते हुए परिचय कराया, "शैला! यह हैं वीरवती।"

"भलीभाँति परिचित हैं हम दोनों। मार्ग में कई बार नाम भी सुनने को मिला है। अनेक बार मिलने के लिए खोज करवाई, किन्तु भेंट तो यहाँ होनी थी।"

"तो तुम दोनों पूर्व परिचिता हो?"

"दोनों ही नहीं, बल्कि तीनों। मैं वीरवती और पद्मा एक ही गुरु की प्रिय शिष्यायें हैं।"

"फिर तो यह विचित्र संयोग है। वहाँ एक गुरु की तीनों शिष्यायें थीं और यहाँ एक सम्राट की तीनों रानियां।"

शैला और पद्मा ने एक साथ आश्चर्य प्रकट किया, "सच वीरा! महाराज जी ने तुम्हें भी रानी के रूप में स्वीकार कर लिया?"

"सब महाराज जी की कृपा है।" वीरवती की दृष्टि नत थी।

"तुमने महाराज जी को अपने वास्तविक रूप से परिचित करा दिया है?"

"वीरवती अत्यन्त वीर रमणी हैं। शस्त्र-संचालन में इन्हें अनुपम कौशल प्राप्त है । एक-से-एक पुरुष वीर योद्धा भी इनके सामने न टिक पायेंगे ।"

"वास्तव में, हम दोनों तो नृत्य और गायन में अप्रतिम थीं, किन्तु वीरा कलाबाजी में इतनी प्रवीण थीं कि दस-दस लोग एक साथ उन्हें पकड़ने की चेष्टा करते थे और यह इतनी क्षिप्रता से सबके बीच से बाहर हो जाती थीं कि सब भौचक्के से देखते रह जाते थे । वीरा ! तुम बहुत अच्छी मिलीं और ऐसी मिलीं कि बिछुड़ने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता । अच्छा पहले इन वस्त्रों को तो परिवर्तित कर डालो ।

महाराज जी ने टोका, "शैला ! वीरवती भी रानी की ही कोटि में हैं।"

"ओह ! क्षमा करें महाराज जी । रानी वीरवती जी; वस्त्र परिवर्तित कर लीजिए ।"

"कोई आवश्यकता नहीं, मैं इन्हीं वस्त्रों में ठीक हूँ ।"

"अब आप वीरवती नहीं, रानी वीरवती हैं । अब आपको वे ही वस्त्र धारण करने हैं जो महाराज जी को पसन्द है ।"

"हाँ-हाँ, वेश परिवर्तित कर डालो । यह राजकीय शिविर है ।"

"किन्तु, मुझे तो बाहर जाना है ।"

"जब बाहर निकलना हो, तब फिर वेश परिवर्तित कर लेना ।"

"महारानी वीरवती जी । महाराज जी के आदेश की अवहेलना अपराध माना जाता है । लीजिए वस्त्र आ भी गये । अविलम्ब परिवर्तित कर डालिए अनुमति हो तो हम लोग सहायता करें ?"

"नहीं, यहीं पार्श्व में बदले लेती हूँ ।"

शिविर के पार्श्व भाग में अनेक परिचारिकायें थीं जिन्होंने वेश-परिवर्तन में वीरवती की भरपूर सहायता की । परिवर्तित वेश में जब वीरवती सम्राट अशोक के समक्ष उपस्थित हुईं तो सम्राट आश्चर्यमयी दृष्टि से अपलक निहारते ही रह गये । जैसे उन्हें विश्वास ही न हो पा रहा था कि वीरवती इतनी भी सुन्दर हो सकती थीं । वीरवती को पुरुषवेश में देखने की अभ्यस्त दृष्टि का भ्रम जब दूर हुआ तब सम्राट ने अपना हाथ आगे बढ़ा आत्मीयता प्रदर्शित की, "आओ वीरवती, मेरे निकट आओ ।" वीरवती दो-चार पग आगे बढ़कर रुक गईं । सम्राट ने और अधिक उत्प्रेरित किया, "मेरा हाथ पकड़ कर मुझे उठाओ ।"

वीरवती ने लपक कर सम्राट का हाथ पकड़ लिया । सम्राट ने स्पर्श प्राप्त करते ही वीरवती को अपनी ओर खींच लिया । वीरवती विरोध न कर सकीं । यहाँ तक खिचती चली गईं कि सम्राट के अंक में सिमटने के लिए बाध्य हो

गईं । सम्राट ने वीरवती को अपनी भुजाओं में कस लिया । वीरवती शैला और पद्मा को देखकर लज्जा से गड़ी जा रही थीं ।

शैला ने वीरवती की मन.स्थिति का अनुमान लगा लिया । पद्मा से वह बोली, आओ पद्मा चलें यहाँ से । हमारे सामने वीरवती महाराज जी को स्वीकार नहीं कर पा रही हैं ।

उठती हुई शैला को दूसरे हाथ से पकड़ रोकते हुए वीरवती बोलीं, "क्यों जा रही हो । यहीं बैठो । तुम दोनों से जब तब कुछ न छुपा था तो अब छुपाने का कोई अर्थ ही नहीं है । मुझे तो मात्र तुम दोनों का अनुसरण ही करना है ।"

"फिर विलम्ब किसलिए ? जी भरकर महाराज जी की अभिलाषा की पूर्ति करो ।" सम्राट के अभ्यस्त हाथ वीरवती के शारीरिक सौन्दर्य के निरीक्षण-परीक्षण में व्यस्त हो उठे थे । शैला और पद्मा कनखियों से कभी सम्राट और वीरवती की ओर देखती थी तो कभी दोनों परस्पर दृष्टि-विनिमय के द्वारा अपने मन की बात प्रकट कर लेती थी लगभग दोनों को आश्चर्य इस बात पर विशेष हो रहा था कि विद्युत की चपलता को भी पराजित करने वाली वीरवती कितनी शान्त और निश्चेष्ट थी और सम्राट थे कि आक्रमण-पर आक्रमण किये जा रहे थे । मन-ही-मन अपनी-अपनी स्थितियों की कल्पना कर रही थीं और सोच रही थीं कि काश ! वीरवती के स्थान पर मैं होती तो अमुक अंग द्वारा यह प्रतिक्रिया व्यक्त करती । कौन सी क्रिया और उसकी प्रतिक्रिया सम्राट को कितनी पसंद है–इसका भरपूर अनुभव दोनों को हो चुका था । अविरल तीव्रतर होती गति को लक्ष्य कर-कर वे भी अन्दर से सक्रिय हो उठी थीं, किन्तु सम्राट के समक्ष प्रतिक्रिया को अभिव्यक्ति देने का साहस न जुटा पा रही थीं । सामयिक अभिव्यक्ति की असमर्थता उन्हें और अधिक व्याकुल बनाये थी । व्याकुलता जब चरमसीमा का स्पर्श कर उठी तो उन दोनों से शान्त न रहा गया । वे हिल उठीं और संघर्षरत वीरवती और सम्राट के निकट जा बोलीं, "बस महाराज जी, बस । वीरवती की और दुर्गति न बनाइए । नई हैं बेचारी । धीरे-धीरे अभ्यास हो जाएगा ।"

सम्राट तो अपनी धुन में मस्त थे । उन्होंने सुना या नहीं–किसी भी प्रतिक्रिया से व्यक्त न हो सका, किन्तु वीरवती की आंखें अवश्य खुल गई थीं । सहिष्णुता की असीम शक्ति का परिचय दिया उन्होंने, "तुम दोनों व्यर्थ में व्याकुल मत बनो । महाराज जी को मनमानी कर लेने दो । यह अभ्यास तो तुम्हीं दोनों का बढ़ाया हुआ है ।

दोनों आगे बढ़कर भी ठिठक गईं । और जब देखा भी न गया तो दोनों

आत्म विस्मृत-सी हो उठीं। उन्हें अभ्यस्त स्थिति में आने में देर न लगी। सम्राट तो एकाग्रचित्त थे, किन्तु वीरवती ने दोनों को असामान्य क्रिया में रत देखा तो मुस्कराये बिना न रह सकीं। सम्राट ने वीरवती के चेहरे पर मुस्कान देख पूछा, "बड़ी देर के बाद यह मुस्कान देखने को मिली है।"

दोनों की ओर संकेत कर वीरवती बोलीं, "उधर भी तनिक देख लीजिए।"

दोनों को देखते ही सम्राट बोल उठे, "तनिक ठहरना।"

"नहीं।" वीरवती ने हंसते हुए सम्राट को टोका, "इन्हें मत छेड़िए। कोई भी व्यवधान इस समय इन्हें स्वीकार न होगा।"

"बस, दो क्षण की बात है। इन्हें इस समय क्या स्वीकार होगा, मैं भली-भांति जानता हूं।"

"और इन्हीं दो क्षणों की तो मुझे भी आवश्यकता है।"

"ओह! फिर तो।" सम्राट के प्रहार कहीं थे और दृष्टि किन्हीं पर थी।

वीरवती ने पुनः टोका, "महाराज जी! दृष्टि भी इधर ही डालिये।"

वीरवती की दृष्टि में दृष्टि डालते हुए सम्राट बोले, "अब तक दोनों निबट चुकी होतीं। तुम वीरवती, वास्तव में रमण में भी वीर हो।"

महाराज जी की इच्छा हो तो दुर्बलवती सिद्ध कर दूं।"

"कोई आवश्यकता नहीं वह तो सिद्ध होने ही वाली हो।"

"बस-बस-बस, महाराज जी, बस करिए। दुर्बलता तरलता में परिणत हो चली है। अब बस भी कीजिए, महाराज जी। इन बेचारियों की दशा अत्यन्त दयनीय हो उठी है। इनके पागलपन की भी तो चिकित्सा करनी है आपको। किन्तु, नहीं विश्राम कीजिए आप भी। इन दोनों को इतना दुर्बल नहीं होना चाहिए। दर्शनमात्र से इस सीमा तक विघल उठना उचित नहीं। देखना है अंत तक ये दोनों किस स्थिति को प्राप्त होती हैं।"

"पहली बार ही मैं भी इन्हें इस अवस्था मे देख रहा हूं।"

"देख रहे हैं तो फिर देख ही लीजिए। अभी कुछ ही पलों मे शान्त हुई जाती हैं।"

"वास्तव में, यह स्थिति तो बड़ी ही असह्य है। इसकी स्थिति की तो कल्पना तक मेरे लिए असम्भव थी।"

"महाराज जी! अपने नारी निकेतन में ऐसे दृश्य तो मैं असंख्य बार देख चुकी हूं। यह स्थिति मानसिक दुर्बलता का प्रतीक है।

"अभावग्रस्तता का प्रतीक नहीं?"

"सम्भव है, किन्तु आत्मसंयम भी तो एक शक्ति का ही प्रतीक विशेष

माना जाता है। किसी भी स्थिति में आत्मसंयम नहीं खोना चाहिए।"

"अरे रे रे। ये दोनों ही श्लथ हो चली हैं। सक्रियता विलीन होती जा रही है।"

"जी हाँ अभी ये शान्त हुई जाती हैं। किन्तु यह शान्ति इनके लिए दुर्बलतावर्धक होगी। इससे शारीरिक क्षरण अधिक होता है और मानसिक संतोष मिलता नहीं है। अब काफी देर तक दोनों इसी प्रकार निश्चेष्ट और निढाल पड़ी रहेंगी। महाराज जी विश्राम करें। कुछ भी अन्यथा विचार न करें। लाइए, चरण सेवा करूँ।"

"नहीं तुम भी विश्राम कर लो। कुछ देर के बाद बाहर निकलना है।"

"साथ में मुझे भी ?"

"वीरवती का साथ ईर्ष्याधीन स्थिति मात्र के लिए थोड़े ही किया है। बाहर ही नहीं सर्वत्र साथ रहोगी। रणस्थल तक में तुम्हारा साहचर्य चाहूँगा।"

"परम सौभाग्य होगा यह मेरा यदि महाराज जी की आकांक्षा के अनुकूल मैं अपने को सिद्ध कर सकी। महाराज जी की कृपा से इस दासी का यह जीवन धन्य हो जाएगा।"

"वीरवती ! तुम अब भी अपने को दासी ही समझती हो "

"जीवन का सत्य, महाराज जी, सेवा है। सेवाभावना से सम्प्रेरित नारी दासी ही तो होगी।"

"हाँ, इसी सेवा भावना के बल पर दासी रानी के पद पर भी तो प्रतिष्ठित हो सकती है। तुम रानी हो, वीरवती, मगध सम्राट की रानी, दासी नहीं। तुम मेरी दृष्टि में सबसे पृथक हो, सबसे ऊपर हो, यहाँ तक कि शीला और पद्मा से भी अधिक तुम मेरे निकट हो। मेरी हृदयेश्वरी हो वीरवती।"

"नाथ।" वीरवती भावान्दोलित हो सम्राट के वक्षस्थल से सस्वर आ लगीं, "प्राणाधार ! ! मेरे सर्वस्व ! ! !"

"बस वीरवती ! तुम्हारे मुंह से ये ही सम्बोधन मुझे प्रिय लगते हैं। 'महाराज जी' तो असंख्य स्वरों में सुनने को मिलता है।"

"किन्तु, सम्बोधन ऐसे ही आत्मीय क्षणों में शोभा देते हैं। सार्वजनिक जीवन में ये हास्यास्पद प्रतीत होंगे।"

"मेरे मुंह से 'हृदयेश्वरी' भी ऐसे ही क्षणों में सुनने को मिलेगा।"

"क्या मिलेगा सुनने को ?"

"हृदयेश्वरी।"

"कितना मधुर है यह सम्बोधन ! कितनी आत्मीयता से परिपूर्ण है हृदय

का हृदय से आह्वान । मन करता है, आपके श्रीमुख से यह सम्बोधन निरन्तर सुनती ही रहूँ ।"

"क्या सुनती रहो ?"

"अपने हृदयेश्वर के मुखारविन्दु से 'हृदयेश्वरी' सम्बोधन ।"

"फिर स्मरण रखो, 'हृदयेश्वरी' सम्बोधन सुनने के लिए इसी प्रकार हृदयेश्वरी की स्थिति भी धारण करनी पड़ेगी ।"

"सब स्वीकार है, मेरे सर्वस्व । हृदय की हर धड़कन से हृदयेश्वरी की ही ध्वनि सुनाई दे रही है ।"

"फिर तो धड़कन में भी 'हृदयेश्वरी' की ध्वनि सुनने के लिए यह विशेष श्रवण शक्ति मुझे भी अर्जित करनी होगी ।"

"नहीं, हृदय और कानों के मध्य अन्तर को समाप्त करना होगा ।"

"किस तरह ? तनिक प्रयोग तो करूँ ।"

"आइए, स्वागत है ।" कारुवकी की विस्तीर्ण चौड़ी छाती पर सम्राट ने अपने कान सटा दिये और आश्चर्य व्यक्त किया, "अरे ! यहाँ तो और भी बहुत कुछ सुनाई दे रहा है ।"

"क्या-क्या सुनाई दे रहा है, भगवन ?"

"बस, वही सब जो मैं सुनना चाहता हूँ ।"

"इसका अभिप्राय है कि मेरा मुंह बन्द । मेरे प्राणनाथ जब भी जो सुनना चाहेंगे, हृदय से कान लगाकर सुन लेंगे ।"

"अपने इस अधिकार सुख का लाभ दूसरे को भी तो उठाने दो ।"

"आप महाराज हैं । महाराज को कौन किस अधिकार-सुख से वंचित कर सकता है । आप सर्वशक्तिमान हैं । साक्षात परमेश्वर हैं । हर अधिकार पर आपका अधिकार है ।"

"इन पर भी न ?"

"केवल इन्हीं पर नहीं उन पर भी जो महाराज जी को आकर्षित करने में सक्षम हों ।"

"किन्तु इनसे अधिक दूसरे ऐसे आकर्षण की क्षमता से सम्पन्न नहीं हो सकते ।"

"भगवान न करे, यह विश्वास कभी खण्डित हो । देखिए, दोनों सचेत हो रही हैं । इस समय इन्हें मेरी सेवा की अपेक्षा है ।"

"और मेरी सेवा की नहीं ?"

"सेवा नहीं आपकी कृपा की अपेक्षा है इन्हें । उन्हें सामान्य होने में समय लगेगा ।"

"फिर मैं विश्राम करता हूँ। तुम सामान्य बनने में इसकी सहायता करो।"

"जो आज्ञा।"

"जो आज्ञा नहीं, जो अनुमति, कहो वीरवती। आज्ञा दासियों के लिये और अनुमति रानियों के लिए होती है। तुम, दासी नहीं, रानी हो। जाओ, करो सामयिक कर्तव्य पालन।" महाराज करवट लेकर विश्रामाधीन हो गये।

वीरवती ने अपनी दोनों सहेलियों को दृष्टि का लक्ष्य बनाया।



मगधसैन्यवाहिनी के कलिंग की सीमा से टकराने की खबर राज्य भर में आग की भाँति फैल गई थी। प्रत्येक कलिंगवासी चौकन्ना हो उठा था। गति-विधियाँ सहसा तेज हो गई थीं। हथियारों पर हाथ जा पहुँचे थे। दृष्टि में सतर्कता उभर आई थी। जो अभी तक युद्ध की बातें ही करते थे, वे समरांगण में प्रस्थान के लिए तैयार दिखाई देने लगे। तत्परता जिह्वा से प्रकट होने लगी, "कब चलना है? क्या समय निश्चित हुआ है?"

"महाराज जी प्रस्थान की घोषणा करने ही वाले हैं।"

"उन्हें प्रतीक्षा किस बात की है? अभी शत्रु सैन्यदल चलकर आया है, थका होगा, जमकर लड़ न सकेगा। हमें आक्रमण कर देना चाहिए। देखना, भागता न दिखाई दे तो कहना।"

"अरे भाई। शत्रु को मुंह की तो खानी ही है, किन्तु महाराज जी की अनुमति के बिना तो हम नहीं भिड़ सकते।"

"महाराज जी न जाने किनकी मन्त्रणा पर रुके हुए हैं। जब शत्रु सेना सीमा से टकरा रही है तो हमें अविलम्ब प्रत्याक्रमण कर देना चाहिए।"

"हमारी-तुम्हारी समझ से तो कुछ होना है नहीं। महाराज जी ने इस युद्ध विशेष के संचालन के लिए जिस परिषद की नवनियुक्ति की है, उसी के निर्देशानुसार ही तो युद्ध का संचालन होगा।"

"तबतक के लिए हम हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहें? सारा उत्साह भंग हुए बिना न रहेगा। इस समय जो गर्मी है, वह यदि एक बार ठंडी हुई तो उसे

पुनः पैदा करने में वह बात न आयेगी। शत्रु दिखाई भर दे जाय। कच्चा चबाकर न रखदूं तो मेरा नाम नहीं। एक-एक को गिन-गिन कर मारूँगा। जीवित एक को भी न लौटने दूंगा। आक्रमण करने का दुस्साहस किया है तो परिणाम भी भोगें। कलिंगवासियों को अशक्त समझा होगा। मगध की तुलना में छोटा राज्य है न। बड़प्पन दिखाने के लिए कलिंग ही मिला था? आक्रमण का लक्ष्य बनाते किसी समकक्ष राज्य को। ललकारते किसी विदेशी शक्ति को। कलिंगवासियों से सहयोग मांगते, हम कंधा से कंधा भिड़ाकर लड़ते। जहाँ उनके पसीने की बूंद गिरती, वहाँ हम अपने रक्त की धार बहा देते। विजयश्री प्राप्त होती। मगध शक्ति की जय-जयकार सुनकर हमारा हृदय भी उमंगित होता। परन्तु हाय रे दुर्भाग्य! सद्भाव तो एक किनारे रहा, एक अवसर तो दिया होता वैचारिक स्पष्टता के लिए। संसार में दुर्बल को सभी सताते हैं, शक्तिहीन के अस्तित्व को मिटाने में अपनी शान समझते हैं, छोटे को मारने में वीरता की अनुभूति करते हैं। किन्तु यह नहीं सोचते कि एक चींटी भी हाथी जैसे विशाल पशु को यमलोक पहुँचाने की क्षमता रखती है। सांप भी जब पैर के नीचे आ जाता है तो डसे बिना नहीं मानता। मरता क्या न करता। जीने की आस जब छूट जाती है तब मारकर मरने के संतोष से क्यों वंचित रहें? मरेंगे तो मारकर ही। एक-एक कलिंगवासी दस-दस को मारकर ही मरेगा। न जीवित लौटेंगे तो जीवित लौटने भी न देंगे। आक्रमण का मजा उन्हें चखना अवश्य पड़ेगा।"

"मेरे भाई! बातों में क्या रखा है। जब तक आमने-सामने दो-दो हाथ न हों, तब तक क्या समझ में आये कि शत्रु कैसा है, कितना शक्तिशाली है, कितनी तैयारी करके आया है और कितने दिनों तक लड़ने की उसमें क्षमता है।"

"कलिंगवासियों ने इस बार जो तैयारी की है, उसके सामने शत्रु की क्षमता एक ओर रखी रह जायेगी। वर्षों भी लड़ेंगे तो हम पीछे न हटेंगे। अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए रक्त पानी की भाँति बहा देंगे। एक-एक आबाल वृद्ध युद्ध के लिए तैयार है। जहाँ की स्त्रियों तक ने अपने चूल्हों को भट्ठी, और बरतनों तक को अस्त्र-शस्त्रों में परिवर्तित कर डाला है, उस मातृभूमि की स्वतन्त्रता को कौन छीन सकता है।"

"सच है, मगध शक्तिशाली राज्य है तो कलिंग भी किसी से शक्तिहीन नहीं है। मगध को अपनी विशालता पर गर्व है तो कलिंग अपनी लघुता में ही संतुष्ट है। मगध को विस्तारवादी नीति में विश्वास है तो कलिंग स्वयं स्वतन्त्र रहने और दूसरों के स्वतन्त्र बने रहने में आस्था रखता है। मगध

अपहरण के बल पर फूल रहा है तो कलिंग अध्यवसाय और अपरिग्रह को अपने विकास का मूलाधार मानता है। कलिंग सत्य पथ पर आरूढ़ है। सत्य की ही विजय सदा होती है। लुटेरे, ढोंगी और अत्याचारी सदा विनाश के मुख का कौर बनते हैं। शृगाल की मृत्यु आती है तो गाँव की ओर भागता है। मगध शक्ति के विनाश के दिन आ गये हैं, वे कलिंग की सीमा से टकरा रहे हैं।"

"भइया! चट्टान से कोई सिर टकराना ही चाहता है तो कोई क्या कर सकता है। हम चट्टान की भाँति सुदृढ़ और अडिग हैं। मगध सैनिकों का मद अवश्य दूर होगा।"

"चलो, राजप्रासाद की ओर चलें। कदाचित कोई नया समाचार ही सुनने को मिले।"

"चलो, अवश्य चलो। व्यर्थ में इतनी देर से यहाँ खड़े मन बहला रहे हैं।"

"मैं तो सीधे वहीं जा रहा था। तुम दिखाई दे गये थे तो रुक गया।"

"बड़ी कृपा की। सज्जनों के दर्शन बड़ी कठिनाई से होते हैं।"

"मगर, हमारे महाराज जी के दर्शन इन दिनों इतने सुलभ हो गये हैं कि जहाँ उनके विषय में सोचो, वहीं वह दिखाई दे जाते हैं।"

"यही तो मे विशेषता है हमारे महाराज जी की। वह सदा अपनेको हम लोगों में से एक मानते हैं। कलिंग की प्रथम प्रजा होने की तो वह न जाने कितनी बार घोषणा कर चुके हैं।"

"आज भी कुछ-न-कुछ घोषणा वह करेंगे अवश्य। कदाचित यह हमी लोगों के लिए हो तो?"

"चलो तेजी से पग बढ़ाओ। कहीं विलम्ब न हो जाय।" कथन के साथ दोनों कलिंगवासी तेजी से राजप्रासाद की ओर बढ़ चले। वहाँ पहुँचे तो विशाल जनसमुदाय दिखाई दिया। राजप्रासाद के मुख्य द्वार के ऊपर बने एक गवाक्ष विशेष से रह-रहकर उद्घोषणायें जारी की जा रही थीं, "समय सदा समान नहीं रहता। परिवर्तन इसकी प्रकृति है और आगे बढ़ना इसकी नियति है। जो कल था, वह आज नहीं है और जो आज है, वह कल नहीं रहेगा। कलिंग राज्य पर आज जो युद्ध के बादल मंडरा रहे हैं, वे शीघ्र ही छँट जायेंगे। समय की आंधी उन्हें छिन्न-भिन्न अवश्य कर डालेगी। कलिंग राज्य के लिए यह संकटकालीन समय है। आपातकाल में सब कुछ उलट-पुलट जाता है। स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। सब क्रिया-कलाप अस्वाभाविक और असाधारण हो उठते हैं। इस अस्वाभाविक को भी स्वाभाविक रूप में

की मधुरता में मेरी थकावट विलीन हो जाती है और मैं उसके आंचल में मुंह छुपाकर सुबक उठता हूँ। वह मुझे पुचकारती है। मेरे आंसू पोंछती है। मेरा मुंह धुलाती है। जब हाथ मुंह धोकर मैं तरोताजा हो जाता हूँ तब वह मुझे कुछ ऐसी नजरों से देखती है कि फिर मैं अपने को रोक नहीं पाता हूँ।"

"अच्छा-अच्छा। बहुत हो चुका तुम्हारा भाषण। सीधे घर जाओ और तैयार होकर यहीं आ जाना।"

"जब यहीं आना है तो यहां से जाना बेकार है। अपने को और अधिक थकान से क्या लाभ?"

"अपनी प्रियतमा पत्नी की प्यारी-प्यारी सूरत नहीं देखोगे? अपनी साज-सज्जा नहीं कराओगे? आरती-तिलक नहीं करवाओगे? बिदा के क्षणों में मनमोहक मुस्कान का रसपान नहीं करोगे?"

"और उसे कुछ समझाना भी तो है? काफी काम है। समय कम है। जल्दी से चलूं नहीं तो दो-चार काम अधूरे रह जायेंगे।" कथन के साथ-साथ वह तेजी से एक दिशा की ओर चल दिया। उसका साथी उसे देखते हुए सोचने लगा, "वाह रे कलिंग के वीर। आक्रमणकारियों को मार भगाने के लिए इतना बड़ा त्याग। रणांगण में कौन बैठी होगी अपने आंचल से आंसू पोंछने वाली। होगी क्यों नहीं, हमारी सबकी मां मातृभूमि वहां होगी। वही हमारे रणकौशल पर मुस्करायेगी। आहत अंगों से प्रवाहित रक्त को अपने स्नेहांचल से पोंछेगी, उत्सर्ग भावना से हमें प्रेरित करेगी। हम उसकी स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर मरमिटने के लिए कटिबद्ध हो उठेंगे। होंगे नहीं, हैं।" और वह भी असाधारण गति से दूसरी दिशा की ओर उन्मुख हो गतिमान हो गया।

सम्राट अशोक शीला, पद्मा और वीरवती की त्रिवेणी में ऐसे खो जाते थे कि यह शिविर है, राजप्रासाद का विश्रामकक्ष नहीं, यह भी भूल जाते थे और जब शिविर के बाहर सेना के मध्य विचरण कर रहे होते तो शिविर में किसी की भी उपस्थिति का ध्यान ही न रहता। वीरवती ही जब टोकतीं, "महाराज जी ! विश्राम का समय हो चला है। आपने भोजन भी अभी तक नहीं किया। स्मरण कीजिए, किन्हीं को कुछ आश्वासन देकर शिविर के बाहर निकले थे। कब तक प्रतीक्षा कराइएगा।"

"प्रतीक्षा ! किसकी किसे ?"

"महाराज जी तो जिस काम को हाथ में लेते हैं, उसमें इतना तन्मय हो जाते हैं कि सुध-बुध तक खो बैठते हैं। कुछ स्मरण ही नहीं रहता कि दृष्टि के समक्ष उपस्थित कार्य के अतिरिक्त भी संसार में कोई है जिसे महाराज जी की अपेक्षा है।"

"ओह ! तो तुम शीला और पद्मा के विषय में चिंतित हो रही हो। वीरवती ! तुम नारी के साथ-साथ एक वीरांगना भी हो। वीरांगना के नाते तुम्हीं बताओ कि मेरी उपस्थिति सैनिकों के मध्य आवश्यक है या शिविर में ?"

"महाराज जी ! कम या अधिक का अन्तर तो हो सकता है किन्तु आवश्यक दोनों ही हैं। शिविर में उपस्थिति का अभिप्राय मात्र विलास ही तो नहीं है। भोजन है, विश्राम है, शयन है—ये भी जीवन रक्षा की दृष्टि से अपना अपना महत्त्व रखते हैं। उनकी उपेक्षा कुछ समय के लिए तो की जा सकती है, किन्तु जो कार्यरूप महाराज जी ने अपना रखा है, उससे तो उनकी पूर्णतया उपेक्षा हो जायेगी। यह एक दिन का कार्य तो है नहीं। आज ही समाप्त हो जाएगा, इसकी भी सम्भावना नहीं है। चलिए, कुछ समय विश्राम के पश्चात पुनः आ जायेंगे इनके मध्य। सजगता पर्याप्त है। सैनिकों में सन्नद्धता की कमी नहीं है। कलिंगवासी कितने ही चतुर और चालाक क्यों न हों, विजय हमारी ही होगी।"

"वीरवती ! अपनी बात मनवाने की शैली तुम्हारी अनूठी है। जब तक अपनी बात मनवा नहीं लेती हो, तब तक ऐसे तर्क-पर-तर्क उपस्थित करती चली जाती हो कि बात मानने के लिये बाध्य होना ही पड़ता है।"

"व्यवधान के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ। कर्तव्य बोध के समक्ष समय बोध की

उपेक्षा होना अस्वाभाविक नहीं है। यदि तनिक-सी सावधानी से स्वभाविकता की रक्षा हो जाय तो क्या हानि है। यह महाराज जी की बहुत बड़ी कृपा है जो दासी की बात ध्यान से सुन लेते हैं।"

"और मानते नहीं, ध्यान से सुन भर लेते हैं ?"

"ऐसे असत्य भाषण का दुस्साहस यह दासी कैसे कर सकती है। मानते हैं, किन्तु विवेक की कसौटी पर खरी उतरने के बाद।"

"फिर वीरवती ! यह भी समझ लो कि मेरे विवेक की कसौटी हो तुम। बोलो, इस समय तुम्हारी कसौटी क्या कह रही है ?"

"शिविर में चलने की कृपा करें।"

"चलो। शिविर से भी बाहर इसी प्रकार ले आना।"

"जो आज्ञा, महाराज जी।" वीरवती सम्राट अशोक का अनुसरण कर उठीं।

मार्ग में दूर से ही देख महामात्य राधागुप्त तेजी से लपके सम्राट अशोक की ओर। सम्राट की दृष्टि के समक्ष शिविर था और विचारों में था शिविर का वर्तमान जीवन। वह राधागुप्त को न देख सके। गति इतनी तीव्र थी कि अनुकरण करना भी कठिन था। हां, वीरवती ने अवश्य महामात्य की आतुरता को लक्ष्य कर लिया था, किन्तु उसने भी न महाराज जी को सचेत किया और न महामात्य की ओर ध्यान देने का संकेत ही दिया। वह शिविर तक सम्राट अशोक का अनुसरण करती रहीं। शिविर में विश्रामरूप में उपस्थित होने पर वीरवती ने सम्राट की सेवा में निवेदन किया, "महामात्य जी को किसी सूचना विशेष ने व्याकुल बना रखा है।"

"तुम्हें कैसे ज्ञात हुआ ?"

"मार्ग में दिखाई पड़े थे। तत्क्षण सेवा में निवेदन भी करना चाहते थे। किन्तु गति को पाने में असमर्थ रहे। आश्चर्य नहीं कि वे इधर ही आ भी रहे हों।"

"तो तुम सुन लेना। समुचित व्यवस्था के लिए निर्देश भी दे देना। मुझसे भेंट कराने की कोई आवश्यकता नहीं।" महाराज जी के प्रिय पेय का तीसरा पात्र भी खाली हो चुका था।

"जो आज्ञा महाराज जी।"

"फिर वही दासीजन्य शिष्टाचार। तुम्हारे मुंह से यह तनिक भी नहीं भाता। वीरवती ! तुम मेरी रानी हो, महारानी हो, महारानी की भी महारानी हो। आदेश देना सीखो। दो आदेश मुझे भी आदेश दो।"

"महाराज जी ! क्षमा करें...............।" वीरवती अप्रत्याशित परि-

स्थिति से भयाक्रान्त हो उठी थीं।

"यह क्या महाराज जी, महाराज जी लगा रखी है। यह क्षमा-क्षमा क्या होती है। जब सुनो तब क्षमा। क्षमा के अतिरिक्त भी कुछ बोलना आता है तुम्हें। बोलो, महारानी के रूप में बोलो।"

"महाराज जी ! वस्त्रादि · ·······।"

"ओफ् वीरवती ! फिर वही महाराज जी। मैं कहता हूँ कि आदेश दो, आदेश। नहीं दे सकती हो आदेश तो सीखो मुझसे। देखो कैसे दिया जाता है आदेश, 'वीरवती ! उतारो सब वस्त्र। शैला ! उतारो आभूषण। पद्मा ! नवीन वस्त्रों की व्यवस्था करो।"

"जी, महाराज जी।" वीरवती ने सम्राट के वस्त्रों की ओर हाथ बढ़ाये।

"अरी महाराज जी की बच्ची, वीरवती ! यह आदेश नहीं, आदेश देने का प्रशिक्षण है। तुम आदेश दो। देखो, कि कैसे पालन होता है आदेश का।"

"जी, जी, महा · ····।" वीरवती बीच मे ही रुक गईं। साहस बटोर-कर वह आगे बोलीं, "शैला ! महाराज जी के स्नानादि की व्यवस्था सब ठीक है ?"

"जी, जी, सब ठीक है।"

"और पद्मा ! देखो, तुम्हारा उत्तरदायित्व है महाराज जी को भोजन कराने का।"

"जी, जी, जो आज्ञा।"

"यह सब क्या है वीरवती ? तुम्हारी तो ये दोनों सहेलियां हैं। इनके और तुम्हारे बीच यह जी-जी का शिष्टाचार कैसा ?"

"जहाँ आदेश होगा वहाँ शिष्टाचार होगा ही। आदेश देने के आदेश का पालन न करूँ तो महाराज जी आप रुष्ट होते हैं।"

"तो क्या तुम समझती हो, कि इस अभिनय से मैं प्रसन्न होऊँगा ? कदापि नहीं। कृत्रिमता मुझे तनिक भी रुचिकर नहीं। रानी हो, रानी के पद की गरिमा की अनुभूति करो और तदनुकूल ही आचरण भी करो।"

"किन्तु महाराज जी की उपस्थिति में नहीं।"

"मेरी अनुपस्थिति में तो आदेशात्मक स्वर में बोल भी न सकोगी।"

"महाराज जी ! पानी पर मत रखिए। कोई भी चुनौती स्वीकार करना मेरे बायें हाथ का खेल है।"

"असम्भव ! कहना सरल है, करना उतना ही कठिन होता है।"

"नहीं, मेरी कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं होता है। देखिए-'चलो, उतारो वस्त्र।"

"अभी उतारे देता हूँ।" सम्राट सीधे ही बढ़े वीरवती की ओर और वस्त्रों को उतारने का उपक्रम करने लगे।

"मेरे नहीं, आपके। इन दोनों को आदेश दिया था आपको भला कैसे आदेश दे सकती हूँ।"

"इस समय तो आदेश दे ही डाला है। भविष्य में नहीं दे सकोगी आदेश, यह समय बताएगा।"

"महाराज जी रहने दें, कष्ट न करें। मैं स्वयं ही उतार लेती हूँ।"

"महारानी जी का आदेश है। पालन तो होगा ही।"

"बस, महाराज जी, इतना ही यथेष्ट है। अधिक कष्ट न करें।"

"काम के अधूरेपन में मुझे विश्वास नहीं है।"

शैला और पद्मा मुँह में वस्त्र लगा-लगा हँसे जा रही थीं।

"तुम दोनों हंस क्यों रही हो ? क्या वस्त्र उतारे बिना भी बदले जा सकते हैं ? यदि सम्भव हो तो करके दिखाओ।"

"कदापि नहीं। वस्त्र परिवर्तन के लिए शरीर से वस्त्रों का पृथक होना अत्यन्त आवश्यक है।"

"फिर इस हँसी का कारण ?"

"इस अनहोनी पर हँसी किसे न आयेगी। कहीं महाराज जी भी किसी के वस्त्र उतारने का कष्ट उठाते हैं ? सौभाग्यशाली हैं वीरवती जिन्हें महाराज जी की कृपा सेवा प्राप्त हो रही है।"

"अच्छा-अच्छा। तुम दोनों आकर मेरे वस्त्र उतारो। आज हम और वीरवती एक साथ स्नान करेंगे, एक साथ भोजन करेंगे।"

"किन्तु शयन करायेंगी ये दोनों।"

"क्यों, तुम क्यों नहीं कराओगी शयन ?"

"महामात्य जी आने ही वाले होंगे। उनसे वार्तालाप जो करनी है।"

"कहला देना कि मैं विश्राम कर रहा हूँ।"

"जो आज्ञा।"

"आओ स्नान करें चलकर।" सम्राट भी निर्वस्त्र हो चुके थे।

शिविर के ही एक भाग में स्नान की समुचित व्यवस्था थी। सम्राट अशोक नहा कम नहला अधिक रहे थे। वीरवती भी सम्राट की इच्छानुकूल ही आचरण कर रही थीं। सम्राट सामान्य व्यक्ति नहीं होते। उनकी सतर्कें भी असामान्य होती हैं। वे कब क्या सोचते और करते हैं, वे ही जान और समझ सकते हैं। उनके किसी भी विचार का समर्थन न करना या आचरण का विरोध करना किसी के भी बस की बात न थी। वीरवती जैसी वीरांगना

नारी भी सम्राट की इच्छा के प्रतिकूल न कुछ बोल सकीं न आचरण ही प्रदर्शित कर सकीं। सम्राट की प्रसन्नता की वेदी पर इच्छा के प्रतिकूल आचरण भी बलिदान होता चला गया।

वीरवती का अनुमान सही निकला। वीरवती के साथ सम्राट भोजन कर शयन की तैयारी में थे कि महामात्य राधागुप्त आ उपस्थित हुए। प्रतिहारी के द्वारा सूचना अन्दर पहुँची। बाहर सूचना उन्हें मिली, "महाराज जी शयन कर रहे हैं।"

"अति आवश्यक सूचना सेवा में निवेदन करनी है।"

"किसमें साहस है जो शयन में व्यवधान उपस्थित करे।"

"वीरवती कहाँ हैं?"

"वे भी उन्हीं के साथ हैं?"

"शैला और पद्मा—रानियां कहाँ हैं?"

"उन तक सूचना पहुँच सकती है।"

"पर, कोई लाभ न निकलेगा।"

"किसी प्रकार वीरवती से ही भेंट सम्भव बन जाय तो काम बन सकता है।"

"कदाचित अन्य रानियां कोई रास्ता निकाल लें।"

"चलो, उन्ही से भेंट करा दो।"

शैला और पद्मा की सेवा में महामात्य ने निवेदन किया, "गुप्तचरों के द्वारा जो सूचनाएँ मुझे प्राप्त हुई हैं, उनसे महाराज जी का अविलम्ब अवगत होना परमावश्यक है।"

"ठहरिए, महामात्यवर! मैं आ रहा हूँ सुनने।" सम्राट का कण्ठस्वर बाहर आता हुआ प्रतीत हुआ।

तीनों एक साथ उठ खड़े हुए। सम्राट ने प्रवेश करते हुए पूछा, "क्या सूचना है?"

"कलिंग सैन्यवाहिनी ने व्यूहरचना लगभग समाप्त कर ली है।"

"मुझे ज्ञात है।"

"कलिंगवासियों के भी प्रस्थान की घोषणा की जा चुकी है।"

"इससे भी अवगत हूँ।"

"हमारी सौ गुप्तचर स्त्रियां एक साथ उन्होंने पकड़ ली हैं।"

"सौ कम हैं अभी और अधिक पकड़ी जायेंगी। इतनी ही गुप्तचर नारियों के प्रतिदिन पकड़वाये जाने की योजना है।"

"और अभ्यास के रूप में नदी में छोड़ी गई हमारी दसों नावों को शत्रुओं

ने अधिकृत कर लिया है।"

"अब तक नावों की संख्या कदाचित पचास-साठ हो गई होगी। "और कुछ ?"

"जी, महाराज जी, बस यही निवेदन करना था।"

"वीरवती की सेवा में भी कुछ निवेदन करना हो तो बुलाऊँ ?"

"जी नहीं, महाराज जी।"

"मैं आ रही हूँ। महामात्य जी को जाने की अनुमति मत दीजिएगा।"

"तुम्हारे लिये उनके पास कोई सूचना नहीं है।"

"किन्तु उनके लिए मेरे पास है सूचनाएँ। बस, एक पल में आ रही हूँ।"

सम्राट ने गावतकिये का सहारा ले लिया। महामात्य अत्यन्त शान्त बैठे थे। वीरवती ने प्रवेश कर प्रश्न किया, "आपने मार्ग में सूचनाएँ क्यों नहीं निवेदित की ?"

"चेष्टा तो की किन्तु सम्भव नहीं हो सका।"

"कारण ?"

"गति में अन्तर अधिक था।"

"और यहाँ तक पहुँचने में इतना समय लग गया ?"

"मार्ग में महाबलाधिकृत जी से भेंट हो गई। उनसे सूचनाएँ एकत्र करने में समय लग गया।"

'ये सूचनाएँ कुछ समय के बाद भी प्रेषित की जा सकती थी। आपके लिए महाराज जी का एक आदेश है।"

"आज्ञा करें, महाराज जी।" महामात्य के दोनों हाथ जुड़ गये थे।

"आप पाटलिपुत्र लौट जायें। वहाँ से अव्यवस्थाओं की सूचनाएँ आये दिन प्राप्त हो रही हैं। अमात्य खल्लाटक के नियन्त्रण के बाहर हो रही है वहाँ की स्थिति। नागरिक अशांति की आशंका वहाँ उत्पन्न हो गई है। आप ही सम्हाल सकते हैं। और किसी के वश की बात है भी नहीं। और फिर जैसा महाराज जी आदेश दें।"

सम्राट अशोक को विवश हो वीरवती के प्रस्ताव का समर्थन करना पड़ा, "वास्तव में, न मालूम यह युद्ध कितने समय तक चले। माह लग सकते हैं। वर्ष बीत सकते हैं निर्णय होने में। कलिंग को विजित करने का अभिप्राय है आस-पास के सभी राज्याध्यक्षों का आत्मसमर्पण। इधर हम नवीन उपलब्धि में व्यस्त रहें और उधर मगध अशक्त होता चला जाये, ठीक नहीं। आप पाटलिपुत्र के लिए अविलम्ब प्रस्थान कीजिए। आपकी उपस्थिति से माँ को धैर्य बँधेगा, गुरुदेव जहाँ भी होंगे, निश्चिन्त होंगे और अमात्य खल्ला-

टक को बल मिलेगा। अव्यवस्था और अधिक नहीं फैलने पायेगी। आप सक्षम हैं। प्रजा पर आपका प्रभाव है। राजकीय कर्मचारी आपके नाम से कांपते हैं।" आपके पहुंचते ही सब स्वतः ही व्यवस्थित हो जायेगा।"

"जो आज्ञा। राजमाता के लिए कोई संदेश ?"

"प्रस्थान करते समय मिल लीजिएगा आकर।"

"क्या आवश्यकता है। भेंट न हो सकी तो अनावश्यक विलम्ब होगा। बस, जो आप देख रहे हैं, सब माता जी को बता दीजिएगा। जहाँ तक हो सके, उनका ध्यान रखिएगा। सम्भव हो तो दिन में एक बार उनसे अवश्य भेंट कर लिया कीजिएगा।"

"जो आज्ञा।" शिष्टाचार पालन करते हुए महामात्य शिविर से बाहर हो गये।

वीरवती ने टिप्पणी की, "चौबे जी आये थे छब्बे बनने, दुब्बे बनकर लौट गये।"

"किन्तु, वीरवती ! महामात्य को वापस भेजने की योजना सहसा तुम्हारे मस्तिष्क में कैसे आ गई ?"

"चलिए, विश्राम कीजिए, चलकर। सब बता दूंगी।"

"अवधान का दण्ड तो नहीं है यह ?"

"अनावश्यक चिंतित न हों। जो होना चाहिए था, वही हुआ है। उठिए, विश्राम कीजिए चलकर। थोड़ी ही देर में बाहर फिर निकलना है।"

वीरवती के साथ सम्राट अशोक शिविर के पार्श्व भाग में चले गये।

शीला और पद्मा खड़ी देखती रह गईं।

मगध और कलिंग के सैनिक आश्चर्यचकित थे कि किसी भी ओर से आक्रमण प्रारम्भ नहीं हो रहा है। तैयारियों में कमी नहीं आने पा रही थी। सैन्याधिकारियों का निरीक्षणकार्य पूर्व की अपेक्षा अधिक सघन हो गया था। बीच-बीच में कभी-कभी आदेश आ जाते थे। कुछ सैनिक इधर-से-उधर कर दिये जाते थे। कौन कहाँ और क्यों भेजा जा रहा है, उसे स्वयं भी न ज्ञात हो पाता था। अन्य साथी सैनिकों को तो कुछ भी जान पाने का प्रश्न ही नहीं था।

एक दिन दोपहर को सहसा सम्राट अशोक ने सैन्याधिकारियों को अपने शिविर में एकत्र होने का आदेश प्रसारित करवा दिया। वीरवती ने अवसर से लाभ उठाना चाहा, "भगवन् ! अब तो आप कहीं भी जाने से रहे। सैन्याधिकारियों के आने तक यहीं विश्राम कीजिए। अनुमति हो तो अपने नारी-संगठन के बीच कुछ समय के लिए हो आऊँ ?"

किन्तु सैन्याधिकारियों की बैठक में तुम्हारी उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक है। शंकाओं का समाधान कौन प्रस्तुत करेगा ?"

"भगवन् का आदेश सभी सैन्याधिकारियों तक पहुँचेगा, वे तैयारी करेंगे। परस्पर विचारविनिमय भी करेंगे। एक दूसरे का साथ पकड़ेंगे। कुछ आशंकित होंगे तो कुछ उमंगित होंगे। कुछ प्रमादी संकट समझेंगे तो कुछ अपना सौभाग्य सराहेंगे। सम्भवतः संध्या तक ही एकत्र हो सकेंगे। सूर्यास्त के पूर्व ही मैं लौट आऊँगी।"

"जाना ही चाहती हो तो अवश्य जाओ, किन्तु लौट समय से आना। प्रतीक्षा न करनी पड़े।"

"कदापि नहीं, भगवन् को प्रतीक्षा करनी पड़ेगी और वह भी मेरी ? उल्टी गंगा भी कभी बहती है।"

"समय-समय की बात होती है। जिसका दृष्टिकोण जितना ही उत्तरदायित्वपूर्ण होता है, वह उतना ही दूसरों की दृष्टि में महत्वपूर्ण बन जाता है। वीरवती ! तुम्हारी उपस्थिति में मुझे जितनी निश्चिन्तता की अनुभूति होती है, उतनी ही दुश्चिन्ता अनुपस्थिति में मानस को मथ डालती है। एक भी सैन्याधिकारी तो तुम्हारा जैसा सतर्क और सूझ-बूझ का धनी अभी तक नहीं मिला।"

"अवसर की बात है। एक-से-एक उपयोगी सैन्याधिकारी होंगे। भगवन् की कृपादृष्टि वे प्राप्त नहीं कर सके। आज कुछ सैन्याधिकारियों का चयन भी हो सकेगा।"

"फिर विलम्ब न करो। जाओ और शीघ्र लौटो।"

"बस, गई और आई। एक नींद लीजिए। नेत्र खोलेंगे तो सेवा में उपस्थित मिलूंगी। फिर अनुमति है?"

"हां, है अनुमति। जाओ।"

वीरवती शिविर के बाहर निकल गई।

सम्राट ने पैर फैला दिये। शीला और पद्मा और निकट आ गई। दोनों ने एक-एक पैर थाम लिया और श्रमहरण-सेवा करने लगीं। सम्राट ने मौन भंग किया, "क्या बात है? आजकल तुम दोनों कुछ विशेष शान्त रहने लगी हो। न गाती हो न नाचती हो। कुछ विशेष बोलती भी नहीं हो? मन नहीं लग रहा होगा। यह युद्धशिविर है। राजप्रासाद की वे सुविधायें यहां कहां हैं। अभावजन्य कष्ट तो अवश्य ही अनुभव होते होंगे। किन्तु ये कष्ट थोड़े ही समय के लिए हैं। असह्य प्रतीत हो रहे हों तो पाटलिपुत्र भेजवा दूं? महामात्य तो जा ही रहे हैं। जैसी तुम लोगों की इच्छा हो बोलो।"

"प्रभु! आप अन्यथा कुछ भी न सोचें। हम दोनों यहां परमसुखी और संतुष्ट हैं। जहां आप हैं, वहीं तो स्वर्ग है हमलोगों का।"

"फिर इन मुखारविन्दों पर उदासी क्यों छायी रहती है?"

"उदासी नहीं, भगवन्, आश्चर्यचकित हम अवश्य हैं।"

"किस बात से आश्चर्यचकित हो?"

"वीरा के व्यवहार से। वीरा हमारी अत्यन्त प्रिय सहेली है। जब इनकी वर्तमान रूप देखती हैं तो सोचने के लिए बाध्य हो उठती हैं कि यह क्या थी और क्या हो गई हैं। इनका साहस देखकर तो और भी आश्चर्य होता है। आपकी उपस्थिति में यह ऐसे बोलती हैं जैसे कोई सलाहकार संरक्षिका हो आपकी भगवन्।"

"वीरवती हैं तो अद्भुत नारी। नर के कान काटने वाली पहली नारी देखने में आई हैं। सेनाध्यक्षों तक के मुंह बन्द हो जाते हैं। गुप्तचरों के सम्पूर्ण संगठन का संचालन वीरवती बड़ी कुशलतापूर्वक कर रही हैं। इनकी तत्परता और क्षिप्रता तो आश्चर्यजनक है। तार्किक शक्ति इतनी प्रबल है कि अनुकूल निर्णय करवाने में देर नहीं लगती। हां, एक बात अनुचित अवश्य है इनमें।"

"वह क्या, भगवन्?" दोनों एक साथ समुत्सुक हो उठीं।

"जब से वीरवती सान्निध्य में आई हैं तुम दोनों सेवा-सुख से वंचित हो गई हो।"

"नहीं, भगवन् ! आपकी कृपादृष्टि क्या किसी भी सेवा-सुख से कम है ?"

"कम या अधिक की बात मैं नहीं जानता, किन्तु तुम दोनों ही प्रणय-वंचिता बन कर रह गई हो। चिंता न करो। आज रात तुम दोनों का नृत्य और गान होगा।"

"भगवन् ! हमारा अभिप्राय यही नहीं था। वीरा सुनेंगी तो क्या सोचेंगी।"

"ठीक वही जो तुम दोनों उन्हें देख-देख अनुभव करती हो।"

"सम्भव है, भगवन् की धारणा सच हो, किन्तु हम दोनों कुछ भी अन्यथा अनुभव नहीं करती हैं।"

"असम्भव ! अपने स्थान पर किसी दूसरी को देखकर कुछ भी अनुभव न करती हो, यह हो नहीं सकता।"

"भगवन् ! वीरा हमारी परम प्रिय सहेली हैं। उन्हें खुश देखकर हमें खुशी होती है। विश्वास करें, भगवन् हम तीनों एक हैं। हमारे मध्य कभी भी ईर्ष्या भाव पनपने पायेगा ही नहीं।"

"अच्छा तो फिर तुमलोग कुछ बताना मत। आज हो जाय तुम्हारे इस विश्वास की परीक्षा। वीरवती से प्रश्न करूंगा कि वह कैसा अनुभव करती हैं। अपने स्थान पर तुम्हें देखकर देखना है उनके मन पर क्या प्रतिक्रिया होती है।"

"भगवन् ! वीरा मस्तिष्क प्रधान नारी हैं। मन को तो उन्होंने ऐसा अपने वश में कर रखा है जैसे वह मनविहीन हों। बस, यही तो अन्तर उनमें और हम दोनों में है। मन ही हम दोनों के लिए सब कुछ है जबकि मस्तिष्क उनकी दृष्टि में मानव शरीर की सर्वोच्च शक्ति है। एक दृष्टि से सत्यता उन्हीं के चिन्तन में अधिक है, किन्तु मन-विहीन मानव भी कोई मानव है। मानव मन का राजा कहा जाता है। स्वयं भगवन् ही निर्णय करें कि मन के बिना भी जीने का कुछ अर्थ है ?"

"आज रात मे सब निर्णय हो जायेगा। तुम लोगों की प्रतिक्रिया से तो अवगत हो ही चुका हूं। उनकी प्रतिक्रिया और देखनी है। वैसे वीरवती हारने वाली नारी हैं नहीं। देखना, जीतेंगी वही।"

"भगवन् जिसे जितायेंगे, वही तो जीतेगा। और हम लोग चाहती भी हैं कि वीरवती ही जीतें।"

"किन्तु किसी की कृपाकांक्षी बनना उन्हें स्वीकार नहीं है। स्वाभिमान

तो उनमें कूट-कूट कर भरा है।"

"समर्थ नारी में स्वाभिमान तो होना ही चाहिए। उनके स्वाभिमान पर हम दोनों को गर्व है" एक ने दूसरे को दृष्टि संकेत किया। दोनों ने एक साथ सम्राट के मुखमण्डल की ओर देखा। उनके नेत्र आलस्य से भारी हो उठे थे। धीरे-धीरे मुंदते जा रहे थे। हाथों का दबाव शनैः शनैः हल्का हो चला था। उठी नहीं, बैठी वहीं रहीं, किन्तु हाथों की क्रिया को विराम प्राप्त हो गया।

OOO

महानदी और कृष्णा के मध्यस्थ तटवर्ती प्रदेश का कलिंग राज्य। दोनों नदियों के पार भी कलिंग सैनिक नियुक्त कर दिये गये थे। दूर-दूर तक नदी पार करने के जो भी साधन थे, वे प्रतिबन्धित कर दिये गये थे। नदी को पार कर ही कलिंग प्रदेश में प्रवेश पाया जा सकता था। दोनों ही ओर से कलिंग राज्य की रक्षा होनी थी। रणस्थल से कुछ दूर पहले ही कलिंगाधिपति के लिए विशाल शिविर तैयार हो गया था। उसमें प्रवेश करते ही उन्होंने उसकी साजसज्जा का अवलोकन किया और प्रशंसा की, "बहुत सुन्दर। प्रत्येक अनिवार्य आवश्यकता का ध्यान रखा गया है।" मन्त्रणा कक्ष की विशालता को लक्ष्य कर वह बोले, "मन्त्रणा के लिए स्थान यथेष्ट है।" अपने लिए नियत स्थान पर बैठने का लोभ वह संवरण न कर सके और बोले, "भेजो एक-एक को।" कह कर वह कक्ष की भव्यता निहारने लगे। एक सैन्याधिकारी के प्रवेश पर उन्होंने प्रश्न किया, "महासेनापति कहाँ हैं? क्या उन्हें सूचित नहीं किया जा सका है?"

"महाराज जी, उन्होंने ही सेवक को आपकी सेवा में अपने स्थान पर भेजा है।"

"क्यों? मैंने उन्हें स्मरण किया है, क्या उन्हें यहाँ उपस्थित होने के लिये इतना यथेष्ट नहीं था? जाओ, अविलम्ब उन्हें भेजो जाकर।"

"जो आज्ञा, महाराज जी।" वह सैन्याधिकारी शिष्टाचार का पालन करता हुआ शिविर के बाहर हो गया।

सुषमा ने शिविर में प्रवेश करते ही आश्चर्य व्यक्त किया, "पिता जी! आप यहाँ बैठे हैं और मैं न जाने कहाँ-कहाँ खोज आई। कुछ सुना आपने?"

आज प्रातःकाल जो दस गुप्तचर पकड़े गये हैं उनसे सूचना मिली है कि शत्रुओं का सम्पूर्ण गुप्तचर दल हमारे अधिकार में आ चुका है। हर प्रकार की यातना देने पर भी एक ही स्वर सुनने को मिला, "एक भी गुप्तचर अब मगध सेना में शेष नहीं है। और पिता जी हमारे गुप्तचर बराबर संदेश-पर-संदेश भेज रहे हैं। मगध सेना शिथिल होती जा रही है उत्तम भोजन की अव्यवस्था है। युद्ध प्रारम्भ होना अनिश्चित है। विश्राम कर रहे हैं सब सैनिक न अस्त्र-शस्त्र का अभ्यास ही चल पा रहा है न शरीर को चुस्त रखने वाले व्यायामों का अभ्यास ही हो रहा है। सर्वत्र आलस्य और प्रमाद का साम्राज्य व्याप्त है मगध सैनिकों पर। वृक्षों से जो तीर बरसते हैं, उनसे मगध सैनिकों की संख्या दिन-पर-दिन कम होती जा रही है, इसकी सूचना भी मिलती रहती है। पिता जी चिंता की कोई बात नहीं है। देखिएगा, एक दिन मगध-सेना भागती दिखाई देगी।"

ठीक इसी समय पुनीक ने आंधी के समान प्रवेश किया और हांफते हुए कहा, "अरे सुषमा! तुम भी यहीं हो? न जाने कितनी देर से खोज रहा हूं। खैर, हां, पिता जी, बताइए फिर क्या होगा?"

"किसका क्या होगा?"

"हां, अस्त्र-शस्त्रों के विषय में जानना चाहता हूं।"

"क्या जानना चाहते हो?"

"यही कि उनका क्या होगा। युद्ध तो अब होगा नहीं।"

"क्यों, क्यों नहीं होगा युद्ध?"

"मगध सैन्यदल के प्रत्येक सैनिक की जिह्वा पर एक ही विषय की चर्चा है युद्ध क्यों नहीं होगा। इसके लिए भिन्न-भिन्न तर्क प्रस्तुत किये जा रहे हैं।"

"इसे शत्रु की एक चाल मान लिया जाय तो?"

"क्या!" दोनों के मुंह से एक साथ आश्चर्य व्यक्त हुआ, "ऐसी भी चाल क्या सम्भव है?"

"युद्ध में सम्भव क्या नहीं होता। अभी तुम दोनों बच्चे हो। शत्रु की रीति-नीति को समझने की क्षमता अभी तुम्हारे अन्दर विकसित नहीं हुई है। शत्रु कब किस करवट उठ-बैठ रहा है, जान पाना बहुत कठिन होता है।"

फिर तो पिताजी सभी सूचनाएं असत्य हो सकती हैं?"

"बेटी! सत्य-असत्य का निर्णय करना भी बहुत कठिन काम है। हां एक बात का ध्यान सदा रखो—कभी भी अपने निर्णय को आसानी से व्यक्त मत करना।"

"पिता जी! फिर मैं प्रचारित कराये देता हूं कि युद्ध होगा और अवश्य

होगा । एक-एक अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता पड़ेगी ।"

"इस घोषणा की आवश्यकता ही क्यों अनुभव हो रही है ? युद्ध के निमित्त ही तो सब तैयारी की गई है । तब तक युद्ध होना सुनिश्चित समझो जब तक मगध सेना वापस पाटलिपुत्र न पहुँच जाय । सेनाध्यक्ष अभी तक नहीं आए ? तनिक पता तो लगवाओ । वह हैं कहाँ ? उन तक मेरी सूचना पहुँची भी है या नहीं ?"

"जो आज्ञा पिता जी ।" राजकुमारी और राजकुमार एक साथ तेजी से शिविर के बाहर हो गये ।

कलिंगाधिपति शिविर के मन्त्रणाकक्ष में अकेले रह गये थे । सुरक्षा कर्मचारी शिविर के चारों ओर फैले हुए थे । परिचारिकाएँ आदेश पालन के लिए सन्नद्ध खड़ी थीं ।

ज्यों-ज्यों एकांत मे समय बीत रहा था त्यों-त्यों कलिंगराज की झुंझलाहट बढ़ती जा रही थी । जब उनसे न रहा गया तो वह उठकर खड़े हो गए । वहीं टहलने लगे । बीच-बीच मे द्वार पर पड़े हिलते परदे पर दृष्टि जा पड़ती थी । परदे के बाहर किसी के आगमन का आभास पा उन्होंने जिज्ञासा प्रकट की, "कौन ?"

"महासेनापति जी दर्शनार्थ उपस्थित हैं। प्रवेश की अनुमति के आकांक्षी हैं।"

कलिंगराज ने द्वार पर दृष्टि गड़ा अनुमति दे दी, "आने दो ।"

महासेनापति के प्रवेश करते ही कलिंगराज ने प्रश्न किया, "क्यों ? क्या सूचना नहीं मिली थी ?"

"महाराज जी ! अपराध क्षमा हो । जैसे ही मैं आपकी सेवा मे उपस्थित होने के लिए बढ़ा, वैसे ही दो सैनिकों ने एक दूसरे पर सशस्त्र प्रहार कर दिया । आहत होने पर भी दोनों का क्रोध शान्त नहीं हो रहा था । दोनों ही एक दूसरे को मार डालने पर उतारू थे ।"

"फिर शान्त कैसे हुए ?"

"शान्त तो अब भी नहीं हो सके हैं । दोनों को अलग-अलग शिविरों में बन्द कर दिया गया है । रक्षकों के नियन्त्रण में उन्हें छोड़ आया हूँ ।"

"झगड़े का कारण क्या था ?"

"मात्र एक स्त्री । एक ही स्त्री पर दोनों अपना अधिकार प्रदर्शित कर रहे थे । स्त्री भी कम चतुर न थी । उसने शर्त रखी कि जो जीतेगा, वही उसका स्वामी होगा । बस, फिर क्या था । भिड़ गए आपस में । कुछ देर तो दोनों निहत्थे लड़ते रहे । एक दूसरे को उठा-उठाकर पटकते रहे ।"

वह स्त्री ताली बजा-बजाकर उन्हें प्रोत्साहित कर रही थी । दोनों का

क्रोध चरम सीमा पर था। अवसर मिलते ही दोनों ने हाथों में असि ले लीं। बस, फिर क्या था प्रारम्भ हो गये असि प्रहार। मैं उधर से ही निकल रहा था। संघर्षरत सैनिकों पर दृष्टि पड़ते ही मैंने टोका, "सावधान! यह क्या लड़कपन है? आपस में क्यों लड़ रहे हो? कारण क्या है?" दोनों के हाथ थम गये। दृष्टि नत करके खड़े हो गये। निकट जा मैंने डाँटा, "आपस में भी कहीं इस तरह लड़ा जाता है। किसने पहल की?" वह स्त्री आगे बढ़ आई और बोली, "मैं बताती हूँ पूरा किस्सा।" उसकी पूरी बात सुनने के बाद मैंने उससे पूछा, "तू मगध की नारी गुप्तचर प्रतीत होती है?"

"जी, मैंने दोनों को बहुत समझाया, मगर ये माने ही नहीं। अपने को मेरा स्वामी होने का दावा करने लगे। मैं बीच में फँसी थी। स्वामी तो एक ही बन सकता था। मुझे यही रास्ता समझ में आया। मैंने घोषणा कर दी कि 'जो जीते वही मेरा स्वामी है।' महाराज जी! मैं उसे भी बन्द करवा आया हूँ।"

"मगध के सभी गुप्तचर तो एक ही स्थान में बन्द हैं। यह स्त्री बाहर कैसे निकल आई?"

"यह सब तो लौटकर जानूंगा। विलम्ब के डर से सीधा भागा चला आया। आज्ञा करें महाराज जी।"

"देखिए, राजकुमारी सुषमा और राजकुमार युगांक से अभी-अभी ज्ञात हुआ है कि शत्रु असत्य खबरें फैलाकर दिग्भ्रमित करने की चेष्टा कर रहा है। उसकी चेष्टाओं को विफल बनाना है। किसी भी कारणवश हो, हमारे सैनिकों में जो अनुशासनहीनता फैल रही है, वह चिन्त्य है। देखो, किसी को भी ज्ञात न होने पाये, हमारी तैयारी ऐसी होनी चाहिए कि किसी भी समय हम आक्रमण करने की स्थिति में हों।"

"जो आज्ञा। युद्ध की घोषणा जाकर करवाये दे रहा हूँ। मात्र प्रस्थान की प्रतीक्षा करें।"

"हाँ, किन्तु मेरी अनुमति के बिना किसी भी मूल्य पर प्रस्थान का आदेश न प्रसारित किया जाय।"

"जो आज्ञा। आदेश का अक्षरशः पालन किया जाएगा। अनुमति है या और कोई आदेश?"

"सभी सैन्याधिकारियों को कल प्रातः सूर्योदय के समय इसी शिविर में एकत्र होने की सूचना प्रसारित करवा दीजिए। मैं उन्हें सम्बोधित करूंगा। आपकी उपस्थिति अनिवार्य है।"

"जो आज्ञा।"

"हाँ, अब आप जा सकते हैं। वह कार्य विशेष तो विश्वसनीय ढंग से चल रहा है न।"

"जी, महाराज जी! अनुकूल परिणाम की सफलता की घोषणा स्वत: करने लगे हैं।"

"ठीक है। अब आप जा सकते हैं।"

"प्रणाम, महाराज जी।" शिष्टाचार का पालन करते हुए महासेनाध्यक्ष शिविर के बाहर हो गये।

कलिंगराज पुन: अकेले हो गए। जब उनका मन वहाँ न रम सका तो वह भी बाहर निकल आए और अश्व पर सवार हो सामने की दिशा में सामान्य गति से चल दिये।



नियत समय पर सैन्याधिकारियों के एकत्र होने पर सम्राट अशोक ने उन्हें सम्बोधित किया, "प्रिय मगधवीरों!"

पाटलिपुत्र छोड़े हुए लगभग छै माह समाप्त होने आ रहे हैं। अब तक युद्ध प्रारम्भ होकर समाप्त भी हो जाना चाहिए था, किन्तु कलिंगराज ने जो व्यूह-रचना कर रखी है, वह बड़ी ही विचित्र है। किस वृक्ष और कन्दरा से अथवा पहाड़ों की ओर से कलिंग सैनिक सहसा प्रकट हो उठेंगे, अभी तक जाना नहीं जा सका है। जो भू-भाग ऊपर से समतल प्रतीत होता है वह अन्दर से कितना खोखला है, इसका पता तभी चलता है जब पाँव पड़ते ही गज पूरा का पूरा समा जाता है। जिन पोखरों और सरोवरों का जल सायंकाल तृषा बुझाने में सक्षम प्रतीत होता है, वही प्रात:काल प्राणघातक रूप में परिवर्तित हो जाता है। सहसा वह जल कैसे विषाक्त हो उठता है, समझ में नहीं आ रहा है। कलिंग के आसपास का वातावरण तक संदिग्ध है। बड़े-बड़े मगध वीर सहम उठते हैं। जिन नावों को बड़े-बड़े प्रलोभनों द्वारा अधिकृत किया गया है, उन्हीं नावों में इतने छिद्र एकाएक मिले कि नावें निरर्थक प्रतीत होने लगीं। यह सुनिश्चित है कि करते यह कलिंगवासी ही हैं, किन्तु कब करते हैं, किस वेश में करते हैं, और कैसे करते हैं, सतर्क दृष्टि रखने पर भी रहस्योद्घाटन नहीं हो पाता है।

"व्यवधान के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ।" बीच में वीरवती ने हस्तक्षेप किया, "मैं कर सकती हूँ रहस्योद्घाटन। मुझे सब ज्ञात है कि कौन करता है ये कार्य और किसके संकेत पर ये रहस्यपूर्ण कार्य किये जाते हैं। अभी तक सुन-सुनकर मैं भी आश्चर्यचकित हो उठती थी और भरसक प्रयास करने पर भी अवगत न हो पाती थी, किन्तु आज अभी-अभी ज्ञात हो सका है कि कौन लोग हैं इन कार्यों के मूल में। विश्वास कीजिए, हमारे सहयोगी सैनिकों का ही हाथ रहता है इन कार्यों के पीछे।"

"यह क्या कह रही हो वीरवती?" सम्राट अविश्वासपूर्ण स्वर प्रकट किये बिना न रह सके।

"सत्य सदा कड़ुआ होता है। कितनी सुदृढ़ लंका क्यों न हो, जब घर में भेदी पैदा हो जाते हैं तब उसका ढहना सुनिश्चित है। जो भी इन कार्यों के प्रति उत्तरदायी हों, वे घबड़ाएँ नहीं। मैं उनका नाम कदापि न लूंगी।"

"नहीं, वीरवती! तुम्हें ऐसे राजद्रोहियों के नाम बताने होंगे।"

"अपराध क्षमा करें, महाराज जी। जिह्वा खिंचवा लूंगी, सिर धड़ से पृथक कराना पसंद करूंगी, किन्तु सार्वजनिक रूप में नामों का उद्घाटन कदापि न करूंगी।"

"फिर तो सत्यता संदिग्ध प्रतीत होगी।"

"उसकी भी चिंता नहीं कृतघ्न वे स्वयं अपराधी के रूप में महाराज जी की सेवा में उपस्थित हो जायेंगे। बस, महाराज जी की सेवा में एक प्रार्थना है।"

"बोलो-बोलो। तुम्हारी हर बात पर ध्यान दिया जाएगा।"

"कल रात तक जो भी अपराधी आत्मसमर्पण कर दें, उन्हें क्षमा कर दिया जाय।"

"राज्यद्रोही और क्षमा! यह कैसे सम्भव है?"

"महाराज जी स्वयं अनेक बार दुहरा चुके है कि युद्धकाल में सब कुछ सम्भव होता है। यदि कोई अपराधी आत्मसमर्पण द्वारा प्रायश्चित करना चाहता है तो उसे क्यों न अवसर दिया जाय?"

"इस रहस्योद्घाटन के पुरस्कार स्वरूप तुम्हारी यह प्रार्थना भी स्वीकार की जाती है।"

"फिर वीर भाइयों! खड़े होकर कर दो आत्मसमर्पण। महाराज जी क्षमा का वचन दे चुके है। विश्वास कीजिए, सार्वजनिक रूप में आत्मसमर्पण करने से आत्मा अधिक शुद्ध होती है।"

कुछ सैन्याधिकारियों की गरदनें झुक गईं और कुछ की गरदनें इधर-

उधर धीरे-धीरे घूमने लगीं ।

वीरवती ने आगे प्रोत्साहित किया, "बन्धुओं ! आगा-पीछा मत सोचिये। इसकी प्रतीक्षा भी मत कीजिए कि पहले दूसरे करें आत्मसमर्पण । आप क्यों नहीं सर्वप्रथम आत्मसमर्पणकारी होने का सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं ? उठिए, उठिए, मन को निर्बल मत होने दीजिए । साहस का परिचय दीजिए । देखिए-देखिए वे उचक रहे हैं । हाँ-हाँ, तनिक भी डरिए मत । संकोच को एक झिटकी दीजिए और सीधे खड़े हो जाइए ।"

वीरवती के उत्प्रेरक आह्वान पर अनेक सैन्याधिकारी एक साथ उठ खड़े हुए किन्तु मस्तक उनके नत थे । हाथ आगे की ओर एक दूसरे को पकड़े थे।

वीरवती विगलित स्वर में आगे बोलीं, "भाइयों । बहुत-बहुत आभारी हूँ आप सब लोगों की । आप लोगों ने खड़े होकर एक नारी की लाज रख ली । मेरा कार्य समाप्त हो गया । अब महाराज जी अपनी व्यवस्था देंगे ।"

सम्राट अशोक बड़ी विचित्र मनःस्थिति में थे । एक ओर रहस्योद्घाटन से जहाँ वह प्रसन्न थे, वहीं खड़े सैन्याधिकारियों की मुद्राओं को देख-देखकर क्रोधित भी हो रहे थे ।

वीरवती मौन बैठी मुद्राओं का अध्ययन कर रही थीं । उन्होंने महाराज जी को उकसाया, "क्षमादान दीजिए, महाराज जी । आत्मसमर्पणकारी सैनिक बन्धुओं पर दया कीजिए । संकट से उबारिए इन्हें महाराज जी ।"

सम्राट ने दीर्घ सांस लेते हुए कहा, "क्षमा तो करना ही पड़ेगा । तुम्हें पुरस्कृत करने का वचन जो दे चुका हूँ ।"

"फिर क्षमादान के अधिकारी ये बन्धु समझे जांय ?" वीरवती ने स्पष्टीकरण चाहा ।

"हाँ, और भी जो ऐसे कार्यों में लिप्त हों, उन्हें विरत करना भी इन्हीं का दायित्व है ।"

"इसका उत्तरदायित्व मैं वहन करती हूँ । महाराज जी की सेवा में मेरी ओर से पूरा आश्वासन निवेदित है कि भविष्य में अब विश्वासघात पूर्ण कार्य एक भी न होने पायेगा ।"

"वीरवती की सूझ-बूझ से आप लोगों के प्राणों की रक्षा हो गई है । इन प्राणों का मूल्य समझकर युद्ध में अपने कर्तव्य का पालन कीजिए । जब तक जीवन है तब तक जीना है । जीना है तो यशस्वी बन कर जियो । अपयश के भागी बन कर जीने से क्या लाभ । जाइए, आप लोग. और कर्तव्य-पालन पर ध्यान केन्द्रित कीजिए । यह भी कभी मत भूलिए कि जो कुछ आप करते हैं उसे देखने वाली आँखें भी होती हैं । आप कुछ ऐसा भी जीवन

में कर सकते हैं, जिसे अन्य नहीं जान सकेंगे—मात्र भ्रम है। आप सभी मगध सैन्याधिकारी हैं। एक सामान्य सैनिक की अपेक्षा आप पर उत्तरदायित्व अधिक है। उस उत्तरदायित्व के प्रति निष्ठा में ही आपके जीवन की सार्थकता है। विश्वास है, भविष्य में ऐसी असावधानियों को प्रश्रय नहीं देंगे। जाइए। अपने कर्तव्य बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित कीजिए जाकर किसी क्षण भी युद्ध प्रारम्भ हो सकता है।" आदेशात्मक स्वर व्यक्त कर सम्राट अशोक शान्त हो गये।

सभी सैन्याधिकारी एक-एक करके शिविर से बाहर हो गये। वीरवती ने आगे प्रस्ताव रखा, "भगवन्! किस सेवा की अपेक्षा है?"

"वीरवती! इस समय मेरी मनःस्थिति सामान्य नहीं है। एक-एक कर्तव्यभ्रष्ट सैन्याधिकारी का सिर धड़ से पृथक् हो जाना चाहिए था। अपराधमार्जन का उपाय दण्ड है, क्षमा नहीं। अपराधी वृत्ति का व्यक्ति बार-बार अपराध करता है। वह अवसर से चूकता नहीं है।"

"भगवन्! तनिक धैर्य से काम लें। जो श्रीमन् सोच रहे हैं, वही उचित है। कर्तव्यच्युत व्यक्ति दण्ड का ही अधिकारी होता है, किन्तु स्थान और अवसर पर भी दृष्टि रखनी चाहिए। अनुमति हो तो उठने की कृपा कीजिए। चलिए, इससे भी अधिक चिन्त्य स्थिति दिखा लाऊँ।"

"चलो। इस मनःस्थिति में यहाँ बैठना उचित भी नहीं है।"

'पधारिये।" वीरवती ने सम्राट से शिविर के बाहर निकलने का आग्रह किया। दोनों अश्वों पर सवार होकर चल दिये।

कलिंगाधिपति के समक्ष सैन्याधिकारी पर्याप्त संख्या में उपस्थित थे। कुछ क्षणों तक उन्हें देखने के उपरान्त वह बोले, "कलिंग की शक्ति के प्रतीकों !

कलिंग एक स्वतन्त्र राज्य है। कलिंगवासी स्वतन्त्रता प्रिय नागरिक हैं। जो कलिंगवासियों को प्रिय है, उसी का अपहरण करने के लिए शत्रु सीमा पर उपस्थित है। उसकी उपस्थिति ने हमें ललकारा है। कलिंग की शक्ति को चुनौती दी है। कदाचित उसे नहीं ज्ञात कि कलिंग एक अपराजेय शक्ति है। विगत वर्षों में कलिंग पर अनेक आक्रमण हुए। सभी का कलिंग ने डटकर सामना किया। शत्रु हर प्रयास कर हारे, किन्तु कलिंग को परतन्त्र नहीं बना सके। कलिंग आज भी वही है, बल्कि उससे भी अधिक शक्तिशाली है। आप सभी को अवगत कराना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ कि शत्रु समझौते के अनेक प्रस्ताव रख चुका है, किन्तु स्वतन्त्रता के मूल्य पर मैंने सभी प्रस्ताव ठुकरा दिए हैं। जानते हैं आप लोग कि किसके बल पर शत्रु के प्रस्तावों को ठुकराने का मैंने साहस दिखाया है ? मात्र आप लोगों के बल पर। आपकी निष्ठा, आपके शौर्य और पराक्रम के बल पर मैंने शत्रु की शर्तों को अस्वीकार किया है। अस्वीकृति जितनी सरल है, परिणाम उसका उतना ही कठिन है। और आप सभी जानते हैं कि परिणाम है युद्ध। युद्ध का अभिप्राय है दो शक्तियों का टकराव। टकराव सदा विनाशकारी होता है दोनों पक्षों के लिए, फिर भी एक पक्ष की जीत होती है और दूसरे की हार। हारा हुआ पक्ष आत्मसमर्पण कर देता है और विजयी पक्ष विनाश के मुख पर बैठकर भी फूला नहीं समाता है। हार-जीत किसकी होगी, इसका निर्णय तो काल करेगा, किन्तु विगत युद्धों के आधार पर मैं विश्वास के साथ इस सत्य की घोषणा अवश्य कर सकता हूँ कि विजय कलिंग को ही वरण करेगी। कलिंग सदा जीता है और सदा जीतेगा। न कभी किसी से यह हारा है और न हारेगा ही। किन्तु कलिंग की शक्ति हैं आप और आप लोग शक्तिरूप तभी तक हैं जब तक एक हैं। एक का अभिप्राय है आपके बीच किसी ऐसी बात का न होना जो तेरे-मेरे की भावना को जन्म दे। कदाचित आप लोगों को ज्ञात नहीं होगा कि शत्रु सेना में एक नारी दल है। उसका काम ही है कलिंग सैनिकों के बीच मतभेद के बीज बोना। वे हर प्रकार की बातें करती हैं। विभिन्न मोहक भाव भंगिमाओं द्वारा कलिंगवासियों के हृदयों पर अधिकार

जमाने की चेष्टा करती हैं। विविध वेशभूषाएँ उनकी इतनी आकर्षक होती हैं कि मन बरबस उनकी ओर खिंचे बिना नहीं रहता और सुनने में आया है कि नृत्य और गान में वे इतनी प्रवीण होती हैं कि बड़ों-बड़ों के मन को डुलाने में सफल हो जाती हैं। इन रूपसियों का एक पक्ष और भी है। इन्हें जब सफलता नहीं मिलती है तो ये मरने-मारने पर भी उतारू हो जाती हैं। अस्त्र-शस्त्र संचालन में भी ये पारंगत होती हैं। बस, आप सभी को ध्यान इतना रखना है कि कहीं ये भूल से भी आपकी दुर्बलता न बन जायें। ये ही हमारी पराजय का कारण सिद्ध हो सकती हैं।

"जैसा कि आप लोगों ने भी सुन रखा होगा कि मगध सैन्यशक्ति हमारी तुलना में बहुत विशाल है। पाँच लाख तो केवल पदातिक सैनिक ही हैं। आठ हजार गज सेना है। अश्व सेना भी अस्सी हजार से कम नहीं है। इतनी विशाल मगधवाहिनी से टक्कर लेना आसान बात नहीं है किन्तु मेरे वीरों ! युद्ध संख्या से नहीं आत्मबल द्वारा जीता जाता है। हमारे अन्दर असीम आत्मबल है। यही बल हमारी स्वतन्त्रता की रक्षा करेगा। और भी नवीनतम सूचना से आप लोगों को अवगत करा दूं। आज रात ही सूचना मिली है कि चालुक्य और गौड़ देश से शस्त्रों का भण्डार चल चुका है। कुछ ही दिनों में वह आ भी पहुँचेगा। चालुक्य दक्षिण पथ से एक हजार शकट का सार्थ लेकर स्वयं भी प्रस्थान कर चुका है। गौड़ देश से समुद्र मार्ग के द्वारा भी नाविक सार्थ शस्त्र ला रहा है। इसके अलावा और राज्यों को भी दूत गये हैं। उनसे भी हमें कुछ-न-कुछ सहयोग अवश्य प्राप्त होगा। आप लोग विश्वास रखें कि पड़ोसी राज्यों से सहयोग मांगा गया है, सहायता नहीं। हम पूर्व की अपेक्षा यथेष्ट शक्तिशाली हैं। शत्रु को भी हमारे शक्तिशाली होने में विश्वास है। क्योंकि वह इतने दिनों से सीमा पर पड़ा है और साहस नहीं जुटा पा रहा है आक्रमण करने का। कलिंग की सीमा कोई विश्राम स्थल तो है नहीं। मनोरंजन स्थल भी उसे नहीं कहा जा सकता है फिर किस बात की प्रतीक्षा है उसे ? क्या हमारे द्वारा वह आक्रमण किये जाने की प्रतीक्षा में है ? कदापि नहीं। वह भयभीत है। आमने-सामने लड़ने में वह अपने को असमर्थ पा रहा है। वह खोज रहा है हमारी दुर्बलता के छिद्र और उन छिद्रों से अवगत कराने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं जिनसे हमारी दुर्बलताएँ झाँकती हैं। आप सब लोग शक्ति की पुंज हो नहीं बुद्धिमान और विवेकसम्पन्न भी हैं। मुझे आपके विवेकपूर्ण शौर्य पर विश्वास है। इस युद्ध में जीत हमारी होगी। विजयी कलिंग होगा। मेरे साथ आप लोग भी तीन बार बोलिए—'जय कलिंग, जय कलिंग, जय कलिंग'।"

सम्पूर्ण वन प्रान्त जय कलिंग की गगनभेदी ध्वनि से निनादित हो उठा।

OOO

सम्राट अशोक वीरवती के साथ शिविर के बाहर निकले तो रात्रि बीत गई, लेकिन लौटे नहीं। बहुत देर तों उनके लौटने की प्रतीक्षा की गई। जब रात्रि आधी से भी अधिक व्यतीत हो गई तो चैला और पद्मा परस्पर चिंतित हो उठीं।

चैला बोलीं, "महाराज जी, इतनी रात गये तक कभी बाहर नहीं रहे।"

पद्मा ने समर्थन ही किया, "जब कभी ऐसे गये भी तो बता अवश्य गये।"

"बताकर जाते कैसे। स्वयं भी तो उन्हें नहीं ज्ञात था। ले तो वीरा गई हैं।"

"और वीरा की माया बड़ी विचित्र है। वह कब क्या करती हैं और कहाँ जाती हैं, स्वयं ही जानती हैं। और महाराज जी भी वीरा से प्रभावित इतने है कि अधिक खोजबीन ही नहीं करते। जैसे ही वह आग्रह करतीं हैं, महाराज जी उठकर चल देते हैं।"

"और वीरा के कारण अंगरक्षक महाराज जी के निकट फटकने नहीं पाते। किसी मे साहस भी नही है जो महाराज जी से कुछ पूछ तक सके।"

"फिर भी खोज तो होनी ही चाहिए। हम समझती हैं कि महाराज जी बाहर हैं और बाहर के लोग समझते होगे कि महाराज जी शिविर में विश्राम कर रहे हैं। जब कि महाराज जो गये हैं वीरा के साथ। सम्भव है स्वयं महाराज जी भी न जानते हों कि वह हैं कहाँ। कलिंग के भूगोल का महाराज जी को क्या ज्ञान। किस दिशा में क्या है? कौन नदी किस ओर बहती है? दोनों के मध्य क्या अन्तर है। कलिंग की सैनिक व्यूह-रचना कैसी है? कहीं महाराज जो विश्वास मे आकर किसी चक्कर मे न फँस जायें?"

"जब तक वीरा हैं साथ में, महाराज जी सुरक्षित हैं। उनका बाल भी बांका नही हो सकता। वह स्वयं भी इतने समर्थ हैं कि कलिंग की पूरी सेना एक ओर हो और महाराज जी अकेले हों तो भी कलिंग की सेना ही पराजित होगी।"

"फिर भी यह शत्रु-प्रदेश है। शत्रु अपने प्रदेश के चप्पे-चप्पे से परिचित

होता है। न जाने वह कब, कहाँ और किस रूप में प्रकट होकर आक्रमण कर बैठे।"

"आक्रमण की दुश्चेष्टा करेगा तो मृत्यु का ग्रास भी बनेगा। हाँ, सेवक-रूप में छल की सम्भावना की जा सकती है। किन्तु, उसके लिए वीरा पर्याप्त हैं। वह छलछद्म को भलीभाँति समझती हैं।"

"और अगर वीरा ही कहीं·········।"

"सावधान! ऐसा विचार भी मन में मत लाओ। वीरा को हम बचपन से पहचानते हैं। स्वप्न में भी धोखा उनके द्वारा सम्भव नहीं है। वचनों के निर्वाह के लिए वह अपने प्राण तक दे देंगी। हमारी-तुम्हारी भाँति ही अब वह महाराज जी की प्रिय रानी हैं।"

"हम लोगों से भी अधिक विश्वासपात्र और प्रिय समझो उन्हें। महाराज जी जितनी उनकी बात मानते हैं और जितना उनका ध्यान रखते हैं, उसकी तुलना में हम कहीं नहीं ठहरते।"

"वह भी तो उनके लिए उतनी ही उपयोगी सिद्ध हो रही है। देखती नहीं रहती हो कि किस प्रकार वह रहस्यों का उद्घाटन करती है और कैसे वह अपराधियों का पता लगाती है। उसे यहाँ की हर स्थिति का परिज्ञान है।"

"कलिंग कुमारी जो ठहरीं। उनका बचपन तो इसी भूमि पर बीता है।"

"मगर उन्होंने शिक्षा-दीक्षा तो कलिंग के बाहर हम लोगों के साथ पाई है।"

"तो क्या हुआ। पारिवारिक संस्कार भी कभी मिटते हैं।"

"मगर चर्चा होने पर कलिंग के प्रति मोह वीरा ने कभी प्रकट नहीं किया।"

"अपने इसी चातुर्य का आखेट तो वह हर एक को बना लेती हैं। सभा चातुर्य में तो वह इतनी पारंगत हैं कि बड़े-बड़े सभाचतुर भी उसके सामने पानी भरने लग जाते हैं। अब तो मुझे डर भी लगने लगा है कि कहीं कुछ अशुभ सुनने को न मिले।"

"अच्छा तो तुम यहीं बैठो। बाहर मैं अभी महाराज जी की अनुपस्थित की सूचना प्रसारित करवाती हूँ।"

"मेरा तो हृदय धक्-धक् करने लगा है। अकेले में तो और भी घबड़ाहट होगी।"

"पर मैं जा कहाँ रही हूँ। शिविर द्वार तक होकर अभी आती हूँ।"

"अकेले मैं ही यहाँ क्या करूँगी। चलो, मैं भी साथ चलती हूँ।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा। मगर ध्यान रखना। किसी के सामने कोई भी आशंका प्रकट मत कर बैठना। यहाँ बात का बतंगड़ बनते देर नहीं लगेगी। वन में आग फैलने में समय लगता है। तुम्हारी कोई भी बात महाराज जी तक पहुँचने में तनिक भी देर नहीं लगेगी।"

"इतनी बुद्धू थोड़े ही हूँ कि जो तुमसे कह लेती हूँ वह सबके सामने कह दूंगी।"

"क्या भरोसा। घबड़ाहट तो घबड़ाहट है। न जाने कब रोकने पर भी न रुके। प्रकट हो ही जाय।"

"अच्छा बाबा! वचन ले लो। एक भी शब्द नहीं बोलूंगी। गूंगी बन जाऊँगी।"

"अरे वाह! अभिनय ही करना है तो वीरा से सीख तो लो।"

"वीरा से जो सीखना है, सीखो तुम। मेरी दृष्टि में तो वीरा अब भी वही लड़की है जो कुलाचे भरा करती थी।"

"और महाराज जी की दृष्टि में प्रिय रानी बन गई है सो?"

"वह महाराज जी जानें। मुझे वीरा फूटी आँखों भी नहीं सुहाती।"

"पद्मा सावधान! फिर भी यह बात मुँह से भूलकर भी न निकले। वीरा के लिए महाराज जी कुछ भी कर सकते हैं। उनका जादू उनके सिर पर चढ़कर बोल रहा है। उन्हीं की आँखों से वह देख रहे हैं और उन्हीं के मस्तिष्क से यह सोच भी रहे हैं। अपनी इस वर्तमान मन:स्थिति में वह वीरा के विरुद्ध कुछ भी सुनना पसंद न करेंगे। न जाने वीरा से तुम क्यों इतनी रुष्ट हो? वीरा द्वारा महाराज जी के आज रात के आश्वासन के भंग होने की प्रतिक्रिया तो नहीं है यह? उसकी चिंता करे वीरा ही। वही दिन-रात महाराज जी से चपकी रहती हैं। दोपहर में थोड़ी देर के लिए उन्हें छोड़ा क्या रात्रि भर के लिए ले गई। दीदा! तुम चाहे कुछ भी न सोचो, मगर मुझे वीरा के रंगढंग अच्छे नहीं लगते। है दाल में काला अवश्य।"

"अच्छा-अच्छा! आगे न अधिक सोचो न बोलो ही। महाराज जी स्वयं समझदार हैं। वास्तविकता से परिचित होने में उन्हें देर नहीं लगती। वीरा के विषय में जो भ्रम तुमने पाल रखा है, उसे मन से निकाल दो। मन को शान्ति मिलेगी।"

"दीदा, जब तक महाराज जी को वीरा के चंगुल में देखती रहूँगी मन शान्त नहीं होने का।"

"आ जाने दो महाराज जी को। तेरी अशान्ति दूर करने की प्रार्थना करूंगी।"

"सुन चुके तुम्हारी प्रार्थना महाराज जी । वीरा के अतिरिक्त किसी की वह सुनेंगे भी ।"

"तुम्हारी अवश्य सुनेंगे । प्रार्थना मेरी जो होगी ।" दौला के पीछे-पीछे पद्मा भी शिविर द्वार पर आ खड़ी हुई थीं । उन्हें देखते ही एक साथ असंख्य द्वार रक्षक सतर्क होते चले गये । उनमें से एक अधिकारी को दौला ने संकेत से निकट बुलाया और पूछा, "महाराज जी कब तक लौट रहे हैं ?"

"आपको भी नहीं ज्ञात ?"

"मुझे ज्ञात होता तो आपसे पूछती ही क्यों ?"

"फिर इस सेवक को कैसे ज्ञात हो सकता है ।"

"जाओ और अविलम्ब ज्ञात कर सूचित करो आकर ।"

"जो आज्ञा ।" कथन के साथ वह अधिकारी मुड़ा ही था कि सामने से दो अश्वारोही तेजी से निकट आते उसे दिखाई दिये । वह उछल पड़ी और उमंग भरे स्वर में बोली, "महाराज जी । वह आ रहे हैं ।"

दौला ने भी दूर से ही पहचान पद्मा को सावधान किया, "चलो अन्दर । द्वार पर देख लिया तो प्राण संकट में पड़ जायेंगे ।" दोनों लपकीं भीतर की ओर । इसके पूर्व कि वे दोनों ठहर कर सांस सामान्य गति से लेने पावें, शिविर द्वार पर महाराज जी के साथ वीरवती भी अश्वों से उतर पड़ीं और उसी तेजी से शिविर के अन्दर प्रवेश भी किया ।

दोनों को स्वागत-भाव भरी मुद्रा में देख वीरवती ने आवश्यकता प्रकट की, "पद्मा बहिन । महाराज जी को अविलम्ब अपने हाथों से पेय पिलाओ और अपनी मनमोहक नृत्य भंगिमाओं से महाराज जी की क्लांति का हरण करो ।" आगे दौला को लक्ष्यकर वीरा बोलीं, दौला बहिन ! एक-पल के लिये भी महाराज जी विश्राम नहीं कर सके हैं । कोई ऐसा गीत सुनाओ जो महाराज जी को सर्वाधिक प्रिय हो ।" महाराज जी की ओर उन्मुख हो उन्होंने शेष कर्तव्य का पालन किया, "महाराज जी ! अब चाहें तो मौनव्रत भंग करने की कृपा करें ।"

"ओह ! न बोल पाना भी कितना बड़ा दण्ड है । किन्तु अद्‌भुत दृश्य-दर्शन के कारण दण्ड कष्टकारक प्रतीत होने नहीं पाया ।"

"नियन्त्रणजन्य अपराध के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ । परिस्थितिवश ही महाराज जी को मौन साधना पड़ा ।" लगातार दो पेय-पात्र रिक्त करने पर वीरवती ने निश्चिंतता की सांस ली, "अब महाराज जी प्रतिक्रिया व्यक्त करने की कृपा करें । नहीं, पहले कुछ समय विश्राम कर लें । हाँ, तुम दोनों भगवन् की क्लांति-हरण में सहायक बनो । मैं अभी सेवा में उपस्थित हुई ।" वीरवती वहाँ से उठीं और शिविर के पार्श्ववर्ती भाग की ओर चल दीं ।

दोपहर तक भी जब सम्राट अशोक ने आँखें न खोलीं तब वीरवती ने सेवा में उपस्थित रानियों–शैला और पद्मा से पूछा, "क्या महाराज जी देर से सोये थे ?"

"हाँ, नृत्य और गान का रसास्वादन करते रहे।"

"फिर क्या होगा ? महाराज जी उठेंगे नहीं तो काम कैसे चलेगा। अब और विलम्ब घातक होगा।"

"कदापि नहीं, विलम्ब होगा क्यों ?" सहसा महाराज जी की आँखें खुल गईं और वह उठ बैठे। वीरवती को देख उन्होंने पूछा, "रहीं कहाँ तुम ? देर तक तो मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करता रहा।"

"जानबूझ कर चली गई थी। जानती थी कि रुकूँगी तो महाराज जी विश्राम नहीं कर सकेंगे और फिर हमारी दोनों ये बहनें सेवा के लिए भी तो प्रस्तुत थीं।"

"किन्तु वीरवती ! जो दृश्य देखने के लिए मिले हैं उन्हें देखकर क्या कोई हाथ-पर-हाथ धर कर बैठ सकता है। विश्राम का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। अब तो कुछ कर दिखाने का समय आ गया है।"

"महाराज जी चाहें तो पहले निवृत्त हो लें।"

"कोई आवश्यकता नहीं, मैं निवृत्त होकर ही लेटा था। हाँ तो यह बताओ कि अब होना क्या चाहिए ?"

"जो महाराज जी उचित समझें, आज्ञा दें।"

"व्यूह रचना जो देखने को मिली है, उसके अनुसार तो तीन ओर से आक्रमण किया जाना चाहिए। एक दुर्ग की दिशा ही शेष बचती है उधर से आक्रमण की सम्भावना है नहीं। व्यूह-रचना भी उत्तम कोटि की है।"

"और राजशिविर की-रक्षा-व्यवस्था कैसी लगी ?"

"अत्युत्तम। किसी भी विरोधी का कलिंगराज तक पहुँचना सम्भव नहीं।"

"किन्तु महाराज जी तो लगभग पहुँच ही गये थे। उस लम्बी अंग-रक्षिका ने न टोका होता तो महाराज जी कलिंगराज के समक्ष होते।"

"फिर तो युद्ध का निर्णय भी हो जाता।"

"निःशस्त्र युद्ध ?"

"हाँ, जब मैं पहचान लिया जाता तब वह बैठे थोड़े ही रहते। मेरा स्वागत करते या मुझ पर प्रहार करते।"

"शस्त्ररहित शत्रु पर वह आक्रमण कभी नहीं कर सकते थे।"

"मुझे शस्त्र तो दे सकते थे?"

"वह क्या करते, यह तो तब ज्ञात होता जब वह परिस्थिति आती। न साक्षात्कार हो सका न वह परिस्थिति ही उत्पन्न हुई। क्या हो सकता था, इस पर विवाद से क्या लाभ? महाराज जी को शत्रु की व्यूह रचना से अवगत कराने का मात्र मेरा उद्देश्य था कि अब अधिक प्रतीक्षा करने का समय नहीं है। अविलम्ब आक्रमण कर देना चाहिए।"

"यही मेरा भी विचार है। कल प्रातःकाल तक आक्रमण अवश्य हो जाना चाहिए। किन्तु कलिंगराज की ओर से रात्रि में ही आक्रमण हो गया तो?"

"तैयारी तो पूरी है। किसी क्षण भी उनका आक्रमण सम्भव है। किन्तु वह आक्रमण करेंगे नहीं, उन्हें आक्रमण करना होता तो इतने दिनों तक वे प्रतीक्षा न करते। आक्रमणकारी के आक्रमण की प्रतीक्षा करना उनके लिए स्वाभाविक है।"

"फिर महासेनापति को सूचित किया जाय।"

"सूचित तो मैं कर आई थी। अब तक उन्हें आ भी जाना चाहिए था। देखना तनिक शिविर के बाहर वह प्रतीक्षा तो नहीं कर रहे हैं।"

सूचना बाहर पहुँचनी थी कि सेनापति अन्दर आ गये। और शिष्टाचार की मुद्रा धारण कर वह बोले, "महाराज जी की सेवा में प्रणाम निवेदित है।"

"देखिए, कल प्रात.काल युद्धवाद्यों की भीषण ध्वनि में पक्षियों का कलरव सुनाई नहीं देना चाहिए।"

"जो आज्ञा। रात्रिभर में तैयारी का अंतिम निरीक्षण किये लेता हूँ।"

"ध्यान रहे तीनों ओर से आक्रमण होना चाहिए एक साथ। तनिक भी आगे-पीछे नहीं।"

"जो आज्ञा। अभी तीनों सेनाधिपतियों को सावधान किये देता हूँ।"

"और भलीभाँति समझा दीजिएगा कि तबतक युद्ध बन्द न होगा, जब तक शत्रु पराजय स्वीकार नहीं कर लेता।"

"जो आज्ञा, महाराज जी।"

"दायें-बायें जो वन प्रदेश है, उसके मध्य से होकर सैनिकों को आगे बढ़ना है। वृक्षों से विशेष सतर्क रहना है। उनपर कलिंग सैनिक अवश्य बैठे होंगे।"

"उन्हें मार गिराने का प्रशिक्षण अपने सैनिकों को दिया जा चुका है। वृक्षों पर बैठा एक भी शत्रुसैनिक जीवित नहीं बचने पायेगा।"

ठीक है, फिर अर्धरात्रि तक स्थिति से अवगत कराने आ रहे हैं न ?"

"महासेनापति जी को व्यवस्था सम्हालने दीजिए। स्थिति से अवगत कराने का उत्तरदायित्व मेरा है। महाराज जी तनिक भी चिंता न करें। पल-पल की सूचना से अवगत रहेंगे, महाराज जी। महासेनापति जी को अब जाने दीजिए। बहुत कुछ अभी देखना है इन्हें।"

"हाँ, आप जाइए। अत्यधिक सतर्कता की आवश्यकता है। एक पल भी नष्ट नहीं होना चाहिए।"

"जो आज्ञा।" महासेनापति ने शिष्टाचार की मुद्रा धारण की और उल्टे पैरों शिविर के बाहर हो गये।

"महासेनापति जी कुछ ढीले हैं। व्यवस्था भगवन् को स्वयं देखनी पड़ेगी। वैसे, अच्छा हो यदि भगवन् प्रस्थान के क्षणों वहाँ उपस्थित हों।"

"वहाँ तो मेरी उपस्थिति अपरिहार्य है ही। सोच रहा हूँ कि नेतृत्व क्यों न करूँ ?"

"यह प्रथम आक्रमण होगा। तनिक परिणाम की प्रतीक्षा कर लीजिए। कलिंगराज के बढ़ने की यदि सूचना मिले तो भगवन् अवश्य प्रस्थान करें। अभी तो सैन्याधिकारियों को अपना-अपना रणकौशल दिखाने दीजिए। न जाने अभी ऐसे आक्रमण कितने करने पड़ेंगे। सैनिकों को अनुभव का अवसर प्रदान कीजिए।"

"आशंका है कि कहीं ·····।"

बीच में ही वीरवती बोल उठी, "तनिक भी आशंका न करें, भगवन्। मगध सैन्यशक्ति के समक्ष कलिंगशक्ति बिल्कुल न ठहर सकेगी। देखिएगा, पहला ही आक्रमण अपना रंग दिखाएगा। हमारे सैनिकों में उत्साह है। आक्रमणकारी सैनिक होने के नाते अपने को श्रेष्ठ वैसे भी माने हुए हैं। बस, वही श्रेष्ठता प्रमाणित करनी है। भगवन्, रंच मात्र आशंका मन में न लायें। मगधशक्ति को पराजित करने वाली अपराजेय शक्ति इस धरती पर अभी जन्मी ही नहीं है। आप थोड़े समय और विश्राम कर लें। मैं एक चक्कर लगाकर अभी आती हूँ।"

"आराम की आवश्यकता नहीं है, वीरवती। चलो, तुम्हारे साथ मैं भी चलता हूँ।" दोनों शिविर से बाहर निकले, अश्वों पर सवार हुए और तीव्र गति से चल दिए।

मगध महासेनापति जब भी सम्राट अशोक के आमन्त्रण पर राजकीय शिविर में प्रवेश करते, उनके सहयोगी सैन्याधिकारी शिविर के आसपास एकत्र हो जाते थे। और जैसे ही वह शिविर से बाहर आते थे, सब उनको घेरने की चेष्टा करने लगते थे। जैसी सूचना होती वैसी महासेनापति की गति होती थी। महासेनापति ने शिविर से बाहर आते ही सैन्याधिकारियों को देखा और सूचना व्यक्त कर दी, "कल प्रातःकाल आक्रमण के लिए प्रस्थान करना है।" और उनके अश्व ने इतनी तीव्र गति पकड़ ली कि सहयोगी सैन्याधिकारी अनुसरण के लिए बाध्य हो उठे। सूचना को भी महासेनापति के मुंह से निकलना था कि वह मुंह-से-मुंह फैलती चली गई। मगध का प्रत्येक सैनिक समुत्सुक हो उठा था। सबके कान खड़े हो गए थे। हर सैनिक जानना चाहता और जब जान जाता तो स्वयं सन्नद्ध हो जाता। किसी का हाथ असि पर जाता तो कोई मूंछों को ऐंठने लग जाता। किसी का दीर्घकालीन प्रमाद सहसा विलुप्त हो जाता तो कोई अंगड़ाइयां लेने लगता। कोई-कोई सैनिक विनोद प्रिय भी होता था। जब कि वह किसी को अकड़ता देखता तो टोक देता, "सुन-सुनकर अकड़ रहे हो। सामने देखोगे तो सारी अकड़ एक पल में ढीली पड़ जाएगी।"

सुनने वाला इस वाक् प्रहार को बड़ी गम्भीरता से लेता, "परीक्षण कर स्वयं देख लो। अकड़ ढीली पड़ती है या और अधिक सशक्त होती है। अपना जैसा समझ रखा है ?"

"अरे भाई, हंसी कर रहा था। तुम तो हर बात को गम्भीरता से ले लेते हो।"

"यह भी कोई हंसी का समय है। रणस्थल है यह। आक्रमण की सूचना प्रसारित हो रही है। प्रस्थान की वेला निकट है। तैयारी के लिए थोड़ा समय शेष है और तुम्हें हंसी सूझ रही है ?"

"हंसी सूझ नहीं रही है। सैनिक जीवन का सत्य ही यही है। जो संकट-कालीन परिस्थिति में भी हंस सकता है, वही वास्तव में वीर है। वीरता का तमगा अकेले तुम्हीं ने थोड़े ही बांध रखा है। जो भी मगध से यहां तक आया है, वही शूरवीर है। शौर्य उसकी आत्मा है और वीरता उसका आभूषण। हर सैनिक की आत्मा आभूषणयुक्त है। करो तैयारी। थोड़ा समय है। देखता

हूँ, कौन पहले तैयार होता है।"

"कौन लगे तुम्हारे मुह। हर बात को वाद-विवाद का विषय बना लेते हो और फिर निकालने लग जाते हो बाल की खाल। अपना काम देखो।"

"ऐसे आदेश दे रहे हो जैसे कुछ देखने लायक तुम्हारे पास है ही।"

"कुछ हो या न हो, किन्तु तुम्हारी तरह दूसरे के काम मे अड़गा तो मैं नहीं लगाता।"

"कुछ सूझ बूझ हो, कुछ शक्ति हो, तब तो लगाओ अड़ंगा। अड़ंगा लगाना क्या हँसी खेल है ?"

"अच्छा भाई। तुम जीते, मैं हारा। अब तो शान्त होओगे ?"

"शान्त हों तुम्हारे शत्रु। मैं क्या तुम्हारा शत्रु हूँ जो शान्त होऊँ ? वैसे शान्त तो एक-न-एक दिन सबको होना ही है। कौन कब शान्त होगा कोई नहीं जानता। जिसे कोई नहीं जानता, उसे शान्त होकर अभी से क्यों जनाऊँ ?"

"अरे भाई ! सांस लेने दोगे या बोले ही चले जाओगे ?"

"अभी मेरा बोलना अप्रिय लग रहा है। जब मेरा बोलना बन्द हो जायेगा तब रो-रोकर कहोगे–'बोल मेरे प्यारे भाई। एक बार तो बोल दे।' किन्तु, याद रखना, मैं बोलूंगा नहीं।"

"ऐसे शुभ अवसर पर ऐसी अशुभ बातें मुंह से नहीं निकालते।"

"सोचता हूँ कि अशुभ निकल ही जाय तो अच्छा है। हृदय में मैल तो नही रहेगा। मन-मस्तिष्क स्वच्छ तो रहेगा। इससे शत्रु-मित्र को समझने में सहायता मिलेगी। अब एक तुम्ही हो। चुप रहते हो। मन की मन में रखे रहते हो। कभी भी मन का गुबार साफ नहीं करते। मस्तिष्क की सफाई के अभाव में विचारों का तमाम कूड़ा-कचरा भरा रहता है। मस्तिष्क की पूरी शक्ति उसी को सुलझाने में कम हो जाती है। परिणाम सामने है। मस्तिष्क में कुछ समाता ही नहीं। समाए कहाँ से। स्थान भी तो हो समाने के लिए। जब प्राणघाती शत्रुओं को मन-मस्तिष्क मे बसा रखा है तो मुझ जैसे शुभ-चिंतक के लिए स्थान कहाँ।"

"मेरे शुभचिंतक भाई। थोड़ी देर तो शान्त रहो। मस्तिष्क को काम करने दो। तुम्हारी बक-बक के सामने जो भी सोचता हूँ, भूल जाता हूँ। ईश्वर के लिये बोलना बन्द करो।"

"आवश्यकता तुम्हें है तो सीधे बोलो। ईश्वर बेचारे को क्यों बीच में घसीटते हो ? वह तो न किसी के लेने में न देने में। वह तो मात्र मूकदर्शक है। वह तो यही देखकर शान्त बना रहता है कि जो जैसा करता है वैसा हो

भुगतता भी है । उस मौनव्रती का नाम लेकर क्यों धमका रहे हो ?"

"अच्छा बाबा ! लो जा रहा हूँ । इतनी देर से नाक में दम किए हो । बको जितना जी चाहे बको । खुद ही बको और खुद ही सुनो । नमस्कार !"

"रुष्ट हो कर जा रहे हो बन्धु ? जाओ, किन्तु कभी-न-कभी स्मरण तो करोगे ही कि कोई था एक पागल प्राण खाने वाला । हुँह ! कैसे-कैसे सिर-फिरे लोग होते हैं । समझते हैं कि वह नहीं होंगे तो बोलने वाले नहीं होंगे । अरे भाई ! बोलने वाले बोलेंगे, सुनने वाले सुनें या नहीं । बलात् कोई किसी को थोड़े ही सुना सकता है । सुनने वाले सुनते हैं, इसलिए बोलने वाले बोलते हैं । मगर अब सब व्यर्थ है । जब सुनने वाला ही नहीं है तो बोलने में आनन्द क्या । सुनने वाला गया बोलने का आनन्द गया । खैर, कभी-न-कभी कोई-न कोई तो मिलेगा ही सुनने वाला । जब मिलेगा तब बोलूंगा ।"

और जब अस्त्र-शस्त्र धारण करते हुए सैनिक एक दूसरे को देखते तो बोले बिना न रहते, "आज तो बन्धु जँच रहे हो । यह वेशभूषा तुमपर खिलती भी खूब है । शरीर भी तो हृष्ट-पुष्ट है । क्या बांकी चितवन है । क्या पौरुष की प्रतीक मूछें हैं । लम्बाई-चौड़ाई की समानता करने वाला तो कोई है ही नहीं ।"

"किन्तु अस्त्रों-शस्त्रों को धारण करने का जो निराला ढंग तुम्हारा है, वह अनुपम है । सैकड़ों वीर सिपाहियों को देख चुका हूं, किन्तु यह साज-सज्जा कहीं देखने में नहीं आई ।"

"क्यों व्यर्थ मे प्रशंसा करके मस्तिष्क विकृत किए दे रहे हो ? सामान्य सैनिक बने रहने में ही भलाई है ।"

"जो हैं, वह तो हैं ही । उसे कौन घटा या बढ़ा सकता है, किन्तु जो प्रशंसनीय है, उसकी प्रशंसा क्यों न की जाय ?"

"फिर प्रशंसा करना रणांगण में । जब एक-एक प्रहार मे दस-दस शत्रु धराशायी हों तब होगा प्रशंसा का काम ।"

"कुल कितने शत्रुओं का सफाया करने का संकल्प किया है ?"

"कम से कम एक सौ एक को तो मृत्यु के घाट उतारना ही है ।"

"बस ! केवल एक सौ एक ? एक हजार एक सौ ग्यारह शत्रुओं को धराशायी न बनाया तो व्यर्थ है यह सैनिक वेश धारण करना ।"

"और वास्तव में यदि यह वेश व्यर्थ प्रतीत हुआ तो क्या करोगे ?"

"हिमालय की कन्दरा में बैठकर भजन पाठ करूँगा । समझ लूंगा कि संसार के लिए निरर्थक हूँ ।"

"कदापि नही । यह संख्या तो साधारण है । थोड़ी देर के लिए मान लो

एक ही शत्रु काम आ सका। वह शत्रु कोई सामान्य शत्रु तो होगा नहीं। होगा कोई ऐसा ही जिसके द्वारा हजारों वीरों को प्राण हानि होनी होगी। जब वह तुम्हारे हाथों सदा के लिए सो जाएगा तो समझना अनुचित नहीं होगा कि तुम्हारे द्वारा एक हजार एक सौ ग्यारह शत्रु सैनिक यमलोक पहुँचा दिये गये।"

"नहीं भाई। गिन-गिनकर एक हजार एक सौ ग्यारह ही मारूँगा। एक भी कम नहीं मरेगा।"

"फिर भी, यदि संख्या पूरी होने में तनिक भी आशंका हो तो शत्रु सेनापति को यमलोक पहुँचा देना। उसके अधीनस्थ सैनिक स्वतः धराशायी हो जायेंगे।"

"लगता है तुम्हें मेरी वीरता पर भरोसा नहीं।"

"इसी भरोसे के कारण तो साथ पकड़ रखा है। पिछले युद्ध की तुम्हारी वीरता भी कहीं भुलाई जा सकती है? वाह! क्या बढ़-चढ़कर मारा था। एक को तुम मार रहे थे, दूसरा साथ में मर जाता था और तीसरा भयभीत सांस लेना बन्द कर देता था।"

"इस बार उससे भी भयंकर मार करूँगा। पूरे शत्रु दल में खलभली न पैदा कर दूं तो मेरा नाम नहीं।"

"बेचारे अकाल काल कवलित होंगे। वर्षों का पुराना अस्त्र-शस्त्र सचालन का अभ्यास व्यर्थ जायेगा। विजयाभिलाषा धूलधूसरित हो जायेगी। क्या भाग्य होता है सैनिक का भी। वर्षों शक्ति सग्रह में लगा रहता है और युद्ध में पहुँचते ही एक ही क्षण में समाप्त हो जाता है। इतना क्षणभंगुर जीवन किसका होता होगा! वाह रे भाग्यविधाता! सैनिक का जीवन सुदीर्घ क्यों नहीं बनाता? किस अपराध का दण्ड मिलता है सैनिक को? स्वधर्म का पालन ही तो वह करता है। स्वधर्म की रक्षा यदि अपराध है तो वह अवश्य ऐसे क्षणभंगुर जीवन का अधिकारी है अन्यथा जितना संघर्षपूर्ण जीवन एक सैनिक का होता है, उसके अनुसार तो उसका जीवन अत्यन्त सुदीर्घ होना चाहिए।"

"जीवन अल्प हो या सुदीर्घ, एक सैनिक इसकी चिंता कभी नहीं करता है। वह तो, बस विजयी बनकर जीना चाहता है, अवधि कितनी ही अल्प क्यों न हो। बस, इतनी ही इच्छा है कि एक हजार एक सौ ग्यारह शत्रुओं को मारने से पहले न मरूँ।"

"स्वधर्म पालकों की इच्छायें ईश्वर सदा पूरी करता है। तुम्हारी अभिलाषा अवश्य पूर्ण होगी।"

"समय से बड़ा कौन साक्षी है। काल के गर्भ की बात पर विवाद करने से क्या लाभ। बस, शत्रुओं का सफाया करना है। एक-एक शत्रु को बीन-बीन कर मारना है। तुम तो देखोगे ही एक-एक शत्रु को चुन-चुनकर मारूँगा। ऐसी मार मारूँगा कि देखने वाला यदि जीवित रहा तो भूल न सकेगा और चर्चा करने तक में भय अनुभव करेगा।"

"अच्छा मेरे वीर भाई। आओ चलें। तनिक घूम-फिर कर देखें कैसी तैयारी लोग कर रहे हैं।"

"चलो।" दोनों साथ-साथ चल दिये।



महाराज अशोक के अश्व की गति असाधारण तीव्र थी। वीरवती ने सामयिक आवश्यकता को अनुभव कर सम्राट की सेवा मे निवेदन किया, "इस गति से आगे बढ़ने से कुछ लाभ नहीं। महाराज जी अश्व छोड़ दें और गज पर आरूढ़ हो लें। दूर तक सैनिक गतिविधि को देखा जा सकेगा।"

"और तुम?"

"गज के साथ ही अश्व रहेगा।"

"किन्तु विचार-विमर्ष तो न हो सकेगा। दृश्यगत सैनिक गतिविधियों पर विचार-विनिमय परमावश्यक है।"

"जैसी महाराज जी की आज्ञा हो।"

"सैनिकवेश धारण किये ही हो। साथ बैठने में संकोच किस बात का? सम्भव है अब तक अधिकांश सैनिक हमारे सम्बन्धो से परिचित भी हो चुके होंगे।"

"उस सब की मुझे चिंता भी नहीं है किन्तु संकोच तो इस बात का है कि महाराज जी के बराबर मैं बैठूंगी कैसे?"

"क्यों? रानी नहीं हो? रानियां तो सम्राट के बराबर बैठती ही हैं।"

"कभी बैठो होती तो संकोच न लगता। प्रथम बार बैठने में झिझक लगती है।"

"कभी-न-कभी बैठना है ही, फिर आज ही और अभी सही। मत करो किसी प्रकार का संकोच। आओ मेरे साथ?" लौट पड़े सम्राट अशोक।

शिविर के बाहर ही गज था । महाराज जी को देखते ही गजचालक सतर्क हो उठा । महाराज ने उसे आदेश दिया, "गज अविलम्ब तैयार हो ।" महाराज जी सीधे शिविर के अन्दर चले गये ।

शैला और पद्मा शिविर मे लेटे हुए विश्राम कर रही थीं । महाराज जी के इतनी शीघ्र लौटने की उन्हें आशा न थी । हड़बड़ा कर वे उठ बैठीं । महाराज जी ने उन्हे आश्वस्त किया, "क्या बातें हो रही थीं ? तनिक पेय तो लाओ ।"

पद्मा दौड़ीं पेय के लिए । शैला भी बैठी न रह सकीं । निकट ही रखे पेय की ओर उन्होने हाथ बढ़ाया । महाराज जी ने आवश्यकता भी व्यक्त की, "हाँ, पूरा पेय पात्र ही उठा लाओ । दो पात्र एक साथ भरो । आज एक अवसर विशेष है । रानी चीरवती भी पेय लेंगी ।"

"नहीं, नही, महाराज जी नहीं मुझे क्षमा करें । मैंने इसे कभी नहीं लिया । चेतना गवां बैठी तो सब किया धरा नष्ट हो जाएगा ।"

"इतनी कम मात्रा मे कुछ नहीं होगा । पीकर तो देखो । शरीर में स्फूर्ति अनुभव होगी ।"

"अवज्ञा अक्षम्य अपराध अवश्य है, किन्तु महाराज जी विवश न करें तो आजन्म आभारी रहूंगी ।"

"फिर रहने दो । शैला ! तुम्हें तो अस्वीकार नहीं है ? एक-दो-बार कदाचित ले भी चुकी हो ?"

"मैंने नहीं पद्मा ने महाराज जी का आग्रह स्वीकार किया है ।"

"फिर पद्मा ! तुम्हीं लो खाली करो दो-चार पात्र ।"

"जो आज्ञा ।" पद्मा ने भरा पात्र महाराज जी की ओर बढ़ाया और आग्रह किया, "भगवन् ! आप तो लें । विलम्ब होगा ।"

"हाँ, किन्तु तुम भी लो । इन दोनों को फिर किसी समय पिलाऊँगा ।" लगातार चार-छैं भरे पात्र खाली करने के बाद महाराज उठ खड़े हुए और द्वारोन्मुख हो गतिमान हो गये । अनुमान भी व्यक्त किया उन्होने, "गज तैयार हो गया होगा ।"

उन्होने बाहर आकर देखा तो गज बैठाया जा चुका था । गज की पीठ पर हौदा कसा था हौदे पर बैठने के लिए सिंहासन उपस्थित था । चढ़ने के लिए छोटी-सी सीढ़ी लगी थी । सम्राट ने उस पर पैर रखते हुए चीरवती को आमन्त्रित किया, "आओ ।"

जब महाराज जी सिंहासन पर बैठ गये तब चीरवती ने सीढ़ी पर ससंकोच पैर रखा । सम्राट ने चीरवती को ही अपलक निहारते हुए प्रोत्साहित किया,

"हाँ-हाँ, चढ़ो-चढ़ो । घबड़ाओ मत । गिरोगी नहीं । लो थामो मेरा हाथ ।" सम्राट अशोक ने दोनों हाथ आगे बढ़ाये ।

एक सीढ़ी का चढ़ना था कि वीरवती तेजी से चढ़ती चली गई । सिंहासन पर महाराज जी के सामने बैठने पर फिर संकोच ने उन्हें दबोच लिया ।

शिविर द्वार से चैला और पद्मा का समवेत स्वर एक साथ फूटा, "मगध महाराज जी की जय हो । रानी वीरवती की जय हो ।" आसपास जो सैनिकादि उपस्थित थे उनके भी कण्ठस्वर जयजयकार में सम्मिलित हो गये । जय-जयकार ध्वनि के मध्य महाराज अशोक ने वीरवती का हाथ पकड़ा और खींचकर सामने बैठा लिया । वीरवती के बैठते ही जयजयकार की ध्वनि और अधिक तीव्र हो उठी । ज्यों-ज्यों गज उठता गया त्यों-त्यों तीव्रतर कण्ठध्वनि ध्वनित-प्रध्वनित होती चली गई । छोटा पहाड़-सा गज था । ज्योंही गज ने पैर बढ़ाये, वैसे ही सम्राट की दृष्टि ने प्रसार पाया । जय-जयकार की ध्वनि विराम न ले पा रही थी । गज सीध मे बढ़ रहा था । सम्राट आगे देख रहे थे जबकि वीरवती पीछे देख रही थी । कुल मिलाकर दोनों एक साथ सैनिक स्थिति का पूर्ण दृष्टि दर्शन कर रहे थे । कुछ ही पलों मे वीरवती ने गज को दाहिनी दिशा मे मोड़ने का आदेश दिया, "सीधे नहीं दाहिनी ओर चलो ।"

गजपालक ने वैसा ही किया । सम्राट ने आगे आदेश दिया, "गति तीव्र करो ।"

गज लम्बे-लम्बे डग भरने लगा । सम्राट को उस गति से संतोष नहीं हुआ तो उन्होंने आगे आदेश दिया, "और तीव्र । सामने एकत्र भीड़ तक अविलम्ब पहुँचो ।"

भीड़ के निकट पहुँचने पर जनकोलाहल सहसा शान्त हो गया । सम्राट ने जिज्ञासा व्यक्त की, "क्या हो रहा है ? कौन है यह ? क्यों बांध रखा है इसे ?"

"प्रणाम महाराज जी ! यह शत्रु गुप्तचर है ।"

"नहीं, छोड़ दो इसे ।" वीरवती ने उसे आदेश दिया, "तुम शाही शिविर के बाहर मेरी प्रतीक्षा करो ।"

"यह भाग गया तो ?"

"नहीं भागेगा मेरा परिचित है यह । बढ़ो आगे ।"

गज वहाँ से भी चल पड़ा । वीरवती ने रणांगण की स्थिति से महाराज जी को अवगत कराया, "सीधे चलेंगे तो महानदी का तट मिलेगा । नदी के पार शत्रु सेना ने व्यूह रचना कर रखी है । आगे चलना व्यर्थ है । चलिए दूसरी दिशा में चलें । वापस चलो । गज के मुड़ने पर वीरवती ने संतोष व्यक्त

किया, "भगवन् की कृपा से यहाँ तक तो सब ठीक है। सैनिक तैयारियों में व्यस्त हैं। अव्यवस्था इस ओर कहीं नहीं दिखाई दी।" कुछ दूर चलने पर आदेश व्यक्त हुआ, "दाहिनी ओर मुड़ो।"

गज उसी दिशा में मुड़ गया। सम्राट ने सैन्यव्यवस्था देख अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की, "सभी सैनिक अनुशासित हैं। सब किसी-न-किसी तैयारी में व्यस्त हैं। अरे! यहाँ तो अभ्यास भी चल रहा है। कैसी क्षिप्रता है। शस्त्रसंचालन दर्शनीय है। और उस महिला मण्डल को तो देखो, वीरवती। क्या विलक्षण शस्त्राभ्यास है। एक-एक नारी रणचण्डी प्रतीत हो रही है। काले और खुले केश कितने भयावह लग रहे हैं। यथार्थ में तो नहीं लड़ रही हैं?"

"यह दृश्य मैं असख्य बार देख चुकी हूँ। वर्षों के अभ्यास का यह परिणाम है। बस, गज को रोको। यहीं से देखिए। निकट पहुँचने पर कदाचित मुझे नीचे भी उतरना पड़ेगा। अभ्यास को भी विराम लग जायेगा।"

"किन्तु निकट से देखने पर दृश्य और सुन्दर प्रतीत होगा।"

"यह भी देखने को न मिलेगा। आदेश देने पर भी प्रदर्शन में स्वाभाविकता न रहेगी। अच्छा होगा, हम लोग यहीं से बाईं दिशा को मुड़ चलें।"

"चलो, बाईं ओर आगे बढ़ो।"

गज निर्देशित दिशा में गतिमान हो गया। वीरवती ने समझाया, "यह मार्ग सीधा कृष्णानदी को जाता है।"

"बड़ा सुरम्य वातावरण है यहाँ का। प्रकृति कितनी मनोमुग्धकारी है। हरीतिमा अनुपम है। वनस्पति वैविध्य का अद्भुत संगम देखने को मिल रहा है। काश! शान्तिमय वातावरण में यहाँ कभी आया होता।"

"कलिंग को भगवन् अब अपना ही समझें। जब तक इच्छा हो, निवास कीजिए। वास्तव में, कलिंगराज्य में इससे सुन्दर सुषमा के दर्शन अन्यत्र सम्भव नहीं हैं। अपने सैनिकों को भी तो देखिए। कैसे छुपाये हैं अपने को प्रकृति में।"

"कहाँ?" ध्यान से देख सम्राट बोले "दो-चार ही तो दिखाई दे रहे हैं।" आगे उन्होंने आशंका प्रकट की, "कहीं ये कलिंग सैनिक न हों।"

"कदापि नहीं, भगवन्। ये मगध सैनिक ही हैं। कलिंग सैनिक नदी के इस तट पर कदापि नहीं हो सकते। भगवन् तनिक भी आशंका न करें।"

"बड़ा कठिन हो रहा है पहचान पाना। हरीतिमा आवेष्ठित सैनिक तो बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे। छुपने पर ये दिखाई ही नहीं देंगे।"

"इसीलिये तो इन्हें इस प्रकार का प्रशिक्षण दिया गया है। और महाराज जी को और भी सुनकर आश्चर्य होगा कि ये सैनिक मगध की

नारियाँ हैं।"

"सच वीरवती ?"

"हाँ, स्वामी ! इन्हें यहाँ के वातावरण मे ढलने में कुछ समय अवश्य लग गया, किन्तु विश्वास कीजिए, कलिंग सैनिक भी धोखा पाये बिना न रहेंगे।"

"वास्तव मे, एक तो इन्हें देखना ही कठिन है और ऊपर से पहचान पाना तो और भी असम्भव है। वीरवती ! अब हो गया विश्वास कि मगध की विजय सुनिश्चित है।"

"बस, श्रम सफल हो गया। भगवन् की प्रसन्नता ही सर्वोपरि है। इतना प्रसन्न स्वामी आपको बहुत दिनों के बाद देखा है।"

"विश्वास करो, वीरवती ! अद्भुत दृश्य है यह। नीचे उतरोगी या आगे बढ़ोगी ?"

"उतरने में विलम्ब की सम्भावना है। अभी सैन्याधिकारियों के मध्य तो भगवन् पहुँचे ही नहीं।"

"फिर चलो, विस्तार से अवकाश के क्षणों में सुनूँगा इनके प्रशिक्षण की कहानी।"

"कहानी तो, भगवन् की सेवा में इस समय भी उपस्थित है। साक्षात देख लीजिए, सुनने की क्या आवश्यकता।"

"सच है, रानी ! न जाने क्यों मैं भूल जाता हूँ कि नारियों का सम्पूर्ण प्रशिक्षण तुम्हारे ही परिश्रम का परिणाम है।"

"भगवन् ! भुला पाना बड़ा कठिन होता है। भूलता मनुष्य तभी है, जब वर्तमान में खो जाता है।"

"और इस समय मेरा वर्तमान हो तुम। मन करता है कि ऐसे ही खोया रहूँ।"

"कदापि नहीं भगवन्। हमारी दो बहनें और हैं।"

"कौन कहाँ है--इसे स्मरण मत दिलाओ। जो सामने है, वह सर्वोत्तम है।"

"अहोभाग्य भगवन्। सम्पूर्ण प्रयास सफलीभूत हो गये। मुझे ज्ञात न था कि पूर्व जन्म के सारे पुण्य एक साथ उदय हो उठेंगे।"

"तुम वास्तव मे भाग्यशाली हो। तुमसे अधिक स्वदेश के प्रति स्वधर्म का पालन कौन कर सकता है ?"

"नहीं, भगवन्। साक्षात् स्वधर्मपालन के अवतार है। आप के समक्ष कौन ठहर सकता है ?"

"तुम, वीरवती ! तुम ठहर सकती हो।"

"तो क्या स्वामी वीरा को अपने से पृथक समझते हैं। भगवन् हम सभी तो आपके अंग हैं। आपके भाग्य से ही भाग्यवान हैं।"

"कदाचित सैन्याधिकारियों का क्षेत्र निकट आता जा रहा था। महासेनापति का शिविर सबसे ऊँचा था। उसे ही लक्ष्य कर महाराज अशोक बोले, "उस उच्चतम शिविर तक चलो।"

उस शिविर विशेष के निकट गज पहुँचा ही था कि महासेनापति ने नीचे से ही शिष्टाचार का पालन कर स्वागत भाव की मुद्रा धारण कर ली। महाराज जी ने उन्हें लक्ष्य कर पूछा, "क्या स्थिति है ?"

"सर्वोत्तम महाराज जी। प्रत्येक मगध सैनिक युद्ध के लिए सन्नद्ध है। प्रस्थान का आदेश तो महाराज जी की वाणी में ही अभिव्यक्त होगा ?"

"हाँ, ध्यान रहे, विलम्ब न हो। ठीक सूर्य की पहली किरण के साथ प्रस्थान होगा।"

"महाराज जी को सब कुछ व्यवस्थित और अनुशासित मिलेगा।"

"ठीक है। और कोई विशेष बात ?"

"सब कृपा है, महाराज जी। अपना प्रत्येक सैनिक उत्साह और उमंग से भरा हुआ है। युद्ध के लिए उतावला हो रहा है। विजय हमारी सुनिश्चित है।"

"ठीक है। समय का ध्यान रखना। चलो।"

"जो आज्ञा।"

महाराज जी का गज आगे बढ़ गया। वीरवती ने ध्यान आकृष्ट किया, "भगवन्! यह सैन्याधिकारियों का क्षेत्र है। देख रहे हैं कितनी शांति है यहाँ। जैसे आक्रमण के लिए सब प्रस्थान कर चुके हों।"

"व्यंग्य की भाषा मैं समझता हूँ। कल के बाद इन्हें भी देखूँगा।"

"थोड़ी सजगता की कमी है। सक्रियता के दर्शन होने चाहिए।"

"होंगे। कल के बाद अवश्य होंगे अपेक्षित सक्रियता के दर्शन। अब किधर चलना है ?"

"लगभग मुख्य-मुख्य सैनिक क्षेत्रों का निरीक्षण तो सम्पन्न हो गया। भगवन् की अनुमति हो तो शिविर लौट चला जाय ?"

"हाँ, चलो सीधे शिविर।"

गज ने शिविर को अपनी गति का लक्ष्य बनाया।

❂❂❂

दूसरे दिन दोपहर के समय सम्राट अशोक को विचाराधीन देख वीरवती ने टोका, "भगवन् ! किस सोच में डूबे हैं ?"

"आर्ये !" सम्राट जैसे सोते से चौंक उठे हों, "कुछ कहा तुमने ?"

"हाँ, स्वामी ! देख रही हूँ कि जब से आप युद्ध के लिए सेना के प्रस्थान का आदेश व्यक्त कर लौटे हैं तब से आप सहज नहीं हैं। न जाने किन विचारों ने भगवन् को उलझन में डाल रखा है। तनिक मुझे भी तो बताइए। सम्भव है, भगवन् की चिंता दूर करने में सहायक बन सकूं।"

"कोई विशेष बात नहीं है। बस, एक ही बात रह-रहकर मस्तिष्क से टकरा रही है कि मुझे स्वयं आक्रमण का नेतृत्व करना चाहिए था।"

"सोचना अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु क्या महासेनाध्यक्ष जी के शौर्य-पूर्ण नेतृत्व की परीक्षा नहीं लेनी चाहिए ? परीक्षा का इससे भी उत्तम कोई अन्य अवसर हो सकता था ?"

"न जाने क्या स्थिति हो युद्ध की ? युद्ध भी न जाने किस प्रकार का हो रहा हो। कुछ भी तो नहीं ज्ञात हो पा रहा है।"

"भगवन् कुछ ही पल और प्रतीक्षा करने की कृपा करें। अभी अवगत हुए जाते हैं युद्ध की यथार्थ स्थिति से।" वीरवती ने सविनय निवेदन किया, "पद्मा बहिन ! भगवन् की कुछ सेवा करो।"

"भगवन् आज्ञा दें।"

"पेय तो सेवा में पहले प्रस्तुत करो। मन-मस्तिष्क को कुछ शीतलता प्राप्त हो तब दें आदेश। और आदेश की आवश्यकता भी क्या है। भगवन् को किस मन:स्थिति में किस सेवा की आवश्यकता है, क्या हम लोग अब इस तथ्य से अवगत नहीं हो चुकी हैं ?"

पद्मा के हाथों से सम्राट ने पेय लेना प्रारम्भ कर दिया था। दो-तीन पेयपात्र रिक्त करने पर वीरवती उठती हुई बोलीं, "युद्ध की वर्तमान स्थिति से अवगत होकर अभी भगवन् की सेवा में लौटती हूँ।" सम्राट की किसी प्रतिक्रिया के बिना ही वीरवती शिविर के बाहर निकल गईं।

पद्मा पिला रही थी और महाराज जी पी रहे थे। न पद्मा हाथ रोक रही थीं, न महाराज जी ही अस्वीकार कर रहे थे। चैला ने तान पूरा उठा लिया था। महाराज जी के प्रिय राग को अपने कण्ठस्वर में उतार लिया

था। पेय की उत्तरोत्तर वृद्धि पाती मादकता और संगीत की मधुरता ने वातावरण को पूर्णतया रसमय बना दिया था। उसी रसमयता में सम्राट मानसिक रूप से निमग्न होते चले गये। सोच-विचार से मुक्त सम्राट पद्मा के निकटतर होने की चेष्टा कर ही रहे थे कि वीरवती ने सामान्य गति से शिविर में प्रवेश किया। सम्राट की दृष्टि उठ गई। उन्होंने आश्चर्य व्यक्त किया, "तुम बाहर थी ? कहाँ से आ रही हो ? किसी ने बुलाया था क्या ?"

"जी-जी, जी भगवन् ! शिविर-द्वार तक गई थी। युद्ध की स्थिति से अवगत जो होना था।"

"ओह ! हाँ, क्या हुआ युद्ध का ?"

"भगवन् ! युद्ध चल रहा है। दोनों पक्ष आमने-सामने डटे हैं। छुट-पुट प्रहार भी हो रहे हैं। दोनों ओर कुछ सैनिक मृत्यु का ग्रास भी बन चुके हैं। जय की भावना से युद्ध अभी नहीं प्रारम्भ हुआ है।"

"जैसा चल रहा है, चलने दो, चिन्ता करने से क्या होगा ? शाम तक स्थिति स्वतः स्पष्ट हो जायगी। अब हम विश्राम करेंगे।" पद्मा तो थीं ही महाराज जी के निकट, शैला भी तान पूरा छोड़कर लपकी महाराज जी की ओर।

शैला ने महाराज जी के शरीर को सहारा देते हुए वीरवती का आवाहन किया, "तुम भी हाथ लगाओ आकर।"

"तुम दोनों ही यथेष्ट हो। मैं भी थोड़ी देर में आती हूँ।" वीरवती ने शिविर में और अधिक रुकना व्यर्थ समझा। वह उठीं और शिविर के बाहर निकल गईं।

शिविर द्वार पर वीरवती काफी देर तक खड़ी रहीं। रह-रहकर उन्हें आश्चर्य हो रहा था अपनी व्यवस्था पर। नारी गुप्तचर दल में जो सबसे तेज और चतुर नारियाँ थीं उन्हें युद्ध से अविरल सम्पर्क बनाये रखने के लिए नियुक्त किया गया था। उनमें से एक भी अभी तक न लौटी थी। अपलक दृष्टि से यदि वह सामने दूर तक निहार रही थीं तो निरन्तर मस्तिष्क भी क्रियाशील था। रह-रहकर स्वयं युद्धस्थल तक जाने का विचार बल पकड़ रहा था। एक-दो बार कुछ ही अन्तर पर बँधे अश्व पर दृष्टि भी गई, फिर यह सोचकर कि अवश्य कोई ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई होगी जिसके कारण वे यहाँ तक न आ पा रही होंगी। इसी बीच दो-तीन यवनियाँ सेवा में उपस्थित हुईं, और शिष्टाचार पालन करते-हुए निवेदन किया, "महारानी जी आज्ञा दें।"

"कुछ नहीं। ध्यान रखना कुछ सैनिक नारियाँ आयेंगी, उन्हें अन्दर

आने देना।"

"दो-तीन तो आ भी चुकी हैं। हमने उन्हें लौटा दिया। अन्दर जाने ही नहीं दिया गया। अन्दर महाराज जो विश्राम जो कर रहे हैं।"

"तो क्या हुआ। अब मत रोकना किसी को। कम-से-कम सूचना तो दे सकती थीं। तुम लोगों को नियुक्ति यहाँ इसलिए है कि किसी को भीतर मत घुसने दो, इसका अर्थ यह तो नहीं कि जो भी आवे, उसे लौटा दो। क्या मालूम कि कौन कितने आवश्यक कार्य से आता है। सावधान! अगर किसी को भी बिना सूचना के वापस किया।" सहसा वीरवती उछल पड़ी, "लो, आ भी आ रही हैं।"

उन्हें निकट आते देर न लगी। अश्वों से नीचे आते ही उन्होंने शिष्टाचार का पालन कर निवेदन किया, "दो बार हम वापस जा चुकी हैं। आपको सूचित करना भी अस्वीकार कर दिया गया।"

"क्या स्थिति है युद्ध की?"

"चल रहा है। समान टक्कर है। शत्रु कुछ बीस ही पड़ रहा है। हमारे सैनिक संख्या में अधिक आहत हो रहे हैं। कलिंग सैनिक न जाने किस वेश में और कहाँ से सहसा प्रकट हो जाते हैं।"

"हमारे सेनापति जी सब देख रहे हैं?"

"थोड़ी दूर पर हैं। सूचना उन्हें सब दी जा रही है। बड़े धैर्यवान हैं। मुद्रा विशेष प्रभावित प्रतीत नहीं होती।"

"अब तक हमारे कितने सैनिक मारे जा चुके होंगे?"

"ठीक संख्या तो रात्रि तक ही ज्ञात हो सकेगी। अनुमानतः तीन-चार सौ सैनिक अवश्य मृत्यु का ग्रास बन चुके हैं।"

"इतनी ही संख्या लगभग मरने वाले शत्रु सैनिकों की भी होगी?"

"कदाचित आधी भी नहीं। सहसा बीच में प्रकट होकर पीछे से प्रहार कर बैठते हैं। जब तक वस्तुस्थिति समझ में आये तब तक हमारे काफी सैनिक धराशायी हो जाते हैं।"

"अच्छा, जाओ और अविलम्ब नवीनतम स्थिति से अवगत कराओ आकर।"

"जो आज्ञा।"

"सीधे अन्दर तक चली आना। सूचना प्रेषित किये बिना लौटना मत। किसी के रोके भी मत रुकना।"

"जो आज्ञा।"

वीरवती खड़ी देखती रह गई। वे संदेशवाहक नारियाँ अश्वों पर सवार होकर दृष्टि से दूरतर होती चली गई थीं।

बहुत समझाने पर भी जब सम्राट अशोक न माने, तब वीरवती को विवश होकर स्वीकार करना पड़ा, "भगवन् ! चलें फिर।"

"मेरे प्रिय सैनिक दिन भर स्वदेश-स्वधर्म पर बलिदान होते रहें और मैं उन्हें अपनी आँखों से देखूं तक नहीं ? सेनापति को आने में विलम्ब हो सकता है। विलम्ब मुझे बिल्कुल सह्य नहीं हो रहा है। मैं अपने प्रिय सैनिकों को हर स्थिति मे देखूंगा। मुझे अपने बीच में पाकर उन्हें शान्ति मिलेगी, उनका उत्साहवर्धन होगा, कल के लिए अन्दर साहस अनुभव करेंगे। अभी तुम यह सब नहीं समझ सकोगी।"

"भगवन् समझायेंगे तो अवश्य समझ लूंगी।"

"तुम चाहो तो न चलो।"

"ठीक है, मगध की नारी सैनिकों के शरीर में तो प्राण होते नहीं। रक्त के स्थान पर पानी होता है। कष्ट वे अनुभव करती नहीं। जैसी आज्ञा भगवन् की।"

"अब सोचो कि जो बेचैनी नारी सैनिकों के लिए तुम अनुभव कर रही हो, वही व्याकुलता मेरे हृदय को मथे डाल रही है।"

"अवश्य-जायें, भगवन्।"

"अकेले ? तुम नहीं चलोगी साथ में ?"

"जैसी आज्ञा भगवन् की।"

"चलो, महासेनापति के साथ परामर्श भी तो होना है।"

"फिर तो अधिक अच्छा होगा कि महाराज जी मुझे साथ न ले जायें।"

"नहीं, तुम अवश्य चलोगी साथ। दिन भर के युद्ध की विभिन्न स्थितियों का विश्लेषण करना होगा, भावी रणनीति निर्धारित करनी होगी और आवश्यकता अनुभव की जायेगी तो कल युद्ध का संचालन मैं स्वयं करूंगा।"

"फिर भगवन् ! यह निर्णय तो अभी कर लीजिए कि कल के युद्ध का संचालन भगवन् स्वयं करेंगे।"

"क्यों ? फिर आज क्यों रोक दिया था ?"

"महासेनापति जी के संचालन-कौशल की परीक्षा लेनी थी।"

"क्या धारणा बनी ?"

"परिणाम स्वयं साक्षी है। युद्ध का संचालन पीछे से नहीं आगे से होता

है। सेनापति जी सामान्य सैनिकों को आगे बढ़ाते रहे और स्वयं पीछे सुरक्षित स्थान में विश्राम करते रहे।"

"यह क्या कह रही हो तुम ?"

"कथन पर न आश्चर्य करें, न अविश्वास। यथार्थ ही भगवन् के समक्ष प्रस्तुत कर रही हूं।"

"यदि यही यथार्थ है आज के युद्ध का फिर तो कल मुझे अवश्य ही युद्ध संचालन करना पड़ेगा।"

"इतनी सैनिक् शक्ति की क्षति न उठानी पड़ती, यदि.........।"

"आगे कुछ मत कहो, वीरवती ! रणस्थल से जीवित लौटे हुए रणबांकुरों के मध्य ही सब स्पष्ट होगा। मेरी अदूरदर्शिता का ही कुफल है यह सैनिक संहार। कल इसका प्रतिशोध अवश्य लूंगा। जय मगध।" भीषण गर्जना के साथ सम्राट अशोक ने तेजी से शिविर छोड़ा और अश्व पर सवार हो सीधे बढ़ चले। मुड़कर एक बार भी पीछे न देखा।



प्रातःकाल रणभेरी बजी तो सभी मगध सैनिकों ने देखा कि पताका सम्राट अशोक के हाथ में फहरा रही थी। वह सबसे आगे भी थे। सहसा सैनिकों में उत्साह की एक नई लहर दौड़ गई। नवीन जीवन स्पन्दित हो उठा। जय-जयकार की ध्वनि के साथ सैनिक आगे बढ़े। जितना बढ़ते गये उतनी ही गति भी तीव्र होती गई। गति-स्पर्धा-भाव में संतुलन न रह पाने के कारण आगे वाले सैनिक बीच में आ गये। बीच वाले आगे निकल गये या पीछे पहुंच गये। कुछ फिर भी आगे ही थे। सम्राट का अश्व निरन्तर आगे ही था। कुछ गतिमान सैनिक ऐसे भी थे जिन्होंने किनारे पकड़ लिए थे। सैनिकों के मध्य से आगे बढ़ना कुछ गतिरोधक-सा प्रतीत हो रहा था। वे किनारे-किनारे उछलते फांदते-लांघते आगे-से-आगे निकलने की चेष्टा में रत दिखाई दे रहे थे। यह जानते हुए भी कि शत्रु से टकराना है। भीषण संघर्ष का सामना करना है। संघर्ष में जय या पराजय भी सुनिश्चित है। विजयी होने पर भी कौन उसे देखने के लिए जीवित बचा रह सकेगा, कोई दावा नहीं कर सकता था। ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे जय-पराजय की भावना से ऊपर

उठ चुके हों, संघर्ष मात्र को अपना कर्तव्य समझते हों, स्वधर्म पालन ही जिनके जीवन का अन्तिम लक्ष्य हो, और उसी लक्ष्य को दृष्टि पथ में निहार कर अग्रसर हो रहे हों। सम्राट भी शरीर पर कवच धारण किये हुए थे। अस्त्र-शस्त्र सुसज्जित उनका वेश विश्वविजेता की कल्पना को साकार कर रहा था।

वीरवती पुरुष वेश में ठीक महाराज जी के पीछे थी। न दोनों के बीच विशेष अन्तर ही उत्पन्न होने पा रहा था और न कोई अन्य सैनिक ही मध्य में आने की चेष्टा कर रहा था। जिस अन्तर विशेष के साथ प्रस्थान किया था, वह उतनी दूरी तय करने के बाद भी पूर्ववत् थी। इसके लिए वीरवती विशेष रूप से सचेष्ट थीं। अपने विशेष आदेश द्वारा नारी सैनिकों की जो रक्षा पंक्ति बना रखी थी, वह भी न भंग होने पा रही थी। महाराज जी तो नाक की सीध में देखे जा रहे थे, किन्तु वीरवती रह-रहकर कभी दाहिनी ओर और कभी बाईं ओर गरदन घुमाकर सैन्य गति का निरीक्षण कर लेती थीं। पीछे भी मुड़कर देखना न भूलती थीं। जिस मार्ग पर मगध सेना अग्रसर हो रही थी, आगे वह दो पहाड़ियों के बीच से होकर जाता था। वीरवती ने तनिक आगे बढ़कर महाराज जी को सावधान किया, "आगे मार्ग असुरक्षित है। इन दोनों पहाड़ियों में शत्रु सैनिक छुपे हो सकते हैं।"

"तो क्या हुआ ? अधिक-से-अधिक आक्रमण ही तो करेंगे। हम निकले ही हैं आक्रमण करने और झेलने के लिए।"

"महाराज जी ! गति को पहले विराम तो दीजिए। यह क्यों भूल जाते हैं कि आक्रमणकारी जब दृष्टिगत ही नहीं होंगे तो आप प्रत्याक्रमण किस पर करेंगे। प्रत्याक्रमण के लिए कम-से-कम शत्रु का सामने होना तो आवश्यक है। न मालूम उन पहाड़ियों की किन चट्टानों के पीछे छुपे हैं शत्रु सैनिक। दोनों ओर से आक्रमण हो गया तो भाग भी न पायेंगे। मृत्यु मुख ही एकमात्र प्रवेश द्वार दिखाई देगा।"

"फिर किस मार्ग से आगे बढ़ना है ?" गति को पूर्ण विराम देकर सम्राट ने पूछा, "और कोई मार्ग भी तो नहीं दिखाई दे रहा है ?"

"भगवन् ! आप यहीं कुछ देर प्रतीक्षा कीजिए। अभी मार्ग खोजकर सेवा में उपस्थित होती हूँ। आओ।" वीरवती के हाथ की असि की चमक लहरा उठी। एक साथ अनेक नारी सैनिक अनुसरण कर उठीं वीरवती का। देखते-देखते सब दृष्टि से ओझल हो गईं। काफी देर तक प्रतीक्षा करने पर दोनों पहाड़ियों की चोटियों पर मगध केतु लहराते हुये दिखाई दिये। सम्राट की दृष्टि वायु में लहराते हुए केतुओं पर केन्द्रित थी। निकट से नारी कण्ठ-

स्वर उन्हें सुनाई दिया, "महाराज जी ! अब आगे बढ़ने की कृपा करें।"

सम्राट ने गरदन मोड़कर ध्वनि के उद्गम स्थान की ओर देखा। नारी सैनिक को दृष्टिगत करते ही सम्राट ने जिज्ञासा व्यक्त की, "तुम्हें क्या रानी वीरवती ने भेजा है ?"

"जी, महाराज जी ! पहाड़ियों की कन्दराओं में छुपे शत्रु सैनिकों का सफाया किया जा चुका है। महाराज जी निर्विघ्न आगे बढ़ सकते हैं।"

"और रानी वीरवती स्वयं क्यों नहीं आईं ?"

"वह पहाड़ियों के उस छोर पर आपकी प्रतीक्षा करती मिलेंगी। आप आगे बढ़ने की कृपा करें।"

सम्राट ने पताका पुनः ऊँची कर दी। सब सैनिक सम्राट की गति का अनुसरण कर उठे। पहाड़ियों के मध्य का मार्ग विशेष लम्बा तो न था, किन्तु सकरा अवश्य था। दोनों ओर ऐसी अंधेरी गुफाओं की संख्या भी कम न थी जिनमें छुपकर शत्रु सैनिक सहसा मर्मान्तक प्रहार कर सकते थे। तनिक सी असावधानी असंख्य सैनिकों को मृत्यु के मुंह में झोंकने के लिए यथेष्ट थी। मार्ग पार करते ही सम्राट को वीरवती हाथ में मगध-ध्वज लिये हुए दिखाई दीं। मुस्कान का अभिवादन मुस्कान ने किया। सम्राट के स्वागत में वीरवती ने तनिक गरदन झुका दी और साथ हो लीं। समगति ग्रहण करते हुए वह बोली, "भगवन् ! विलम्ब के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ, किन्तु सावधानी से काम न लिया होता तो शत्रु को विजय पताका फहराते देर न लगती। एक-एक बीन-बीनकर मारा गया। जो कन्दराओं से बाहर निकले ही नहीं, उन्हें खोजने की चेष्टा भी नहीं की गई। यह सोचकर कि मृत्यु-भय से छुपने वाला वीरपुरुष हम नारियों से भी गया बीता होता है। ऐसा कापुरुष मारने से पहले ही मर जाता है। उन्हें मरा हुआ समझकर छोड़ दिया गया है। खोजने में तो समय लगता ही, सभी को खोज निकालना आसान काम भी न था। न जाने कौन किस वेश में कहां छुपा बैठा हो।"

"यह तो बहुत अच्छा किया जो खोजबीन में समय नहीं [illegible] करतीं तो हमें भी बाध्य होकर पहाड़ियों में भटकना पड़ता। फिर न [illegible] कितना समय नष्ट होता और न जाने किस [illegible] करना पड़ता। कदाचित रणस्थल तक पहुँच ही न [illegible] रह जाते।"

"भगवन् ने बड़ी कृपा की जो [illegible]"

"और तुम्हारी सतर्कता [illegible] रहे हैं कि विजय का सम्पूर्ण श्रेय [illegible]"

"यह सब भगवन् की कृपादृष्टि है। सतर्कता तो एक कर्तव्यनिष्ठ सैनिक का प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण लक्षण है। इसके अभाव में विजय सदा दूरतर ही दिखाई देगी।"

"जैसी इस समय दिखाई दे रही है। रणस्थल अभी और कितनी दूर है ? लक्षण तक दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं ?"

"विजय-लाभ जितना कठिन है उससे अधिक कठिन है शत्रु की गति-विधि को समझना। कल के युद्ध का विश्लेषण किया होगा। अपनी विजय सुनिश्चित बनाने के लिए सम्भव है कोई नई रणनीति अपनाई हो।"

"यह रणनीति क्या होती है। मारना और मरना—एक ही तो रणनीति होती है।"

"प्रतिकूल विचाराभिव्यक्ति के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ, भगवन्। मारना और मरना ही तो रणनीति नहीं होती है। रणनीति का स्पष्ट अभिप्राय होता है अपनी कम-से-कम हानि उठाकर शत्रु को अधिक-से-अधिक क्षति पहुँचाना। कौन और कितना शक्तिशाली किसी विधि द्वारा अधिकाधिक क्षति को प्राप्त हो सकता है—इसका निर्धारण ही रणनीति होती है। सम्भव है कल की रण-नीति को वे आज न अपनाएँ। हमारा सामना करने का कोई और ढंग सोच रखा हो। और यह निश्चित है कि जो वे सोचेंगे, तदनुसार आचरण भी वे अवश्य करेंगे। लगता है निश्चित ही किसी नई रणनीति को अपनाया है।"

"किन्तु यह ज्ञात कैसे हो सकता है कि उन्होंने क्या नीति अपनाई है ?"

"दो पहाड़ियों के बीच के मार्ग में फाँसकर प्रहारों द्वारा पराजित करने का एक प्रयास तो उनका विफल बना दिया गया है। सम्भव है, इसे वे अपना अचूक प्रहार माने बैठे हों। उन्हें पूर्ण विश्वास होगा कि हम वहाँ से आगे बढ़ ही न सकेंगे। यदि ऐसी बात है तो यह उनकी बहुत बड़ी चूक सिद्ध होगी और चूक का उन्हें बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ेगा।"

"फिर तो निश्चित ही वे असावधान होंगे। क्यों न हम तेजी से आगे बढ़कर उन पर आक्रमण कर दें ?"

"नहीं, हमें धोखा भी हो सकता है। हम तेजी से बढ़ते चले गये और उन्होंने पीछे से भी हमें घेर लिया तो चारों ओर से प्रहार प्रारम्भ हो जायेंगे। मृत्यु के मुंह में जाने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प तो रहेगा नहीं। भागने के सब मार्ग तो शत्रुओं ने बन्द कर रखे होंगे।"

"वीर भागने के लिए आक्रमणकारी का वेश धारण नहीं करता है। मृत्यु के भय से, मैं क्या, मेरा एक भी सैनिक, भागने की बात सोचेगा तक नहीं।"

"भगवन् ! शत्रु की चालाकी के जाल में फँसकर अपने प्राण गवाँना कोई वीरता तो है नहीं। वीरता तो मात्र शत्रु को पराजित करने में है। अवसर के अनुकूल वेश धारण करना आवश्यक होता है। तनिक गति को पुनः विराम दीजिए।"

"क्यों ? क्या शत्रु दिखाई दे गया ?"

"दिखाई तो नहीं दे गया है, किन्तु आशंका बलवती हो उठी है। भगवन् स्वयं भी देख रहे हैं कि आगे यह मार्ग एक सघन वन के मध्य से गुजरता है। यह वन मार्ग हमारे लिए निरापद नहीं हो सकता।"

"फिर करना क्या है ? होना क्या चाहिए ?"

"तनिक धैर्य पूर्वक प्रतीक्षा कीजिए। अभी वास्तविकता सामने आई जाती है।" वीरवती पीछे मुड़ी और बोलीं, "आओ, मेरे पीछे।" बड़ी संख्या में सैनिक नारियां वीरवती का अनुसरण कर उठीं।

कुछ ही देर में वन का प्रशांत वातावरण चीख-पुकार से गूंज उठा। अस्त्र-शस्त्रों की टकराहटें और झनझनाहटें सुनाई देने लगी। सम्राट ने सोचा 'उसी मार्ग का अनुसरण वह भी करें। सम्भव है, शत्रु सैनिकों की संख्या अधिक हो और ये नारियाँ उनका सामना न कर सकें। प्राण संकट मे हों। यहाँ तक वस्तुस्थिति से अवगत कराने के लिए कोई जीवित बचे ही नहीं।' "युद्ध प्रारम्भ हो चुका है, इसका स्पष्ट आभास हमे मिल रहा है। और हम खड़े यहाँ प्रतीक्षा कर रहे हैं ! किसकी ? युद्ध के परिणाम की ? नहीं, मात्र सूचना की। यदि सूचना देने की स्थिति में वे न हुई ? शत्रु ने उन्हें सूचित करने का अवसर ही न दिया तो ? हमें एक क्षण भी प्रतीक्षा में नष्ट किये बिना जिधर से संघर्ष की ध्वनि आ रही है, उधर ही बढ़ना चाहिए। आओ।" सम्राट ने मन में जो निर्णय किया उसी के अनुसार उन्होने अपनी गति के अनुसरण का आवाहन भी किया।

सम्पूर्ण सैन्य दल सम्राट के पीछे-पीछे चल पड़ा। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ रहे थे त्यों-त्यों मारकाट की विभिन्न विविध अप्रिय ध्वनियां स्पष्ट रूप में सुनाई देने लगी थीं। उन्हीं ध्वनियों को लक्ष्य बनाकर सम्राट तेजी से आगे बढ़ रहे थे। वन के सघन मार्ग मे प्रवेश किया ही था कि आँखों के सामने एक विशाल वृक्ष धराशायी होता हुआ दिखाई दिया। बहुत बड़ा मार्ग अवरोधक प्रमाणित हुआ वह। न अश्व पर सवार होकर आगे बढ़ना सम्भव था न वृक्ष के उस पार कुछ दिखाई ही दे रहा था। मात्र संघर्ष की ध्वनियां ही सुनाई दे रही थी। सम्राट ने अश्व वहीं छोड़ दिया। असि हाथ में थाम उन्होंने वृक्ष पार करने का उपाय देखना चाहा। एक असि प्रहार से एक डाल को काट

डाला उन्होंने । आगे बढ़ने का संकरा मार्ग बन गया । किन्तु वृक्ष की शाखायें प्रशाखायें इतनी अधिक थी कि उन्हें काटने में अधिक समय लगने की सम्भावना थी । आगे-बढ़ने का और कोई उपाय भी न था । उन्होंने शाखाओं को अंधाधुंध काटना प्रारम्भ कर दिया । हाथ जितने अधिक चल रहे थे, पैर उतने अधिक आगे न बढ़ पा रहे थे । व्यग्रता चरम सीमा पर थी । पीछे से एक कण्ठस्वर सुनाई दिया, "महाराज जी दाहिनी दिशा से घूमकर आगे बढ़ें ।"

सम्राट के प्रहार थम गये थे । दाहिनी ओर ही वह बढ़ने के लिए विवश हो गये । किन्तु ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ रहे थे त्यों-त्यों संघर्ष की ध्वनियां क्षीणतर होती जा रही थीं । उनका मन आशंकित हो उठा कि कहीं वह विपरीत दिशा की ओर तो नहीं बढ़ रहे थे । पैदल ही थे वह । लम्बे-लम्बे डग तो वह रख रहे थे, किन्तु पेड़-पौधों का घनत्व इतना अधिक था कि तीव्रगति सम्भव नही हो पा रही थी । धीरे-धीरे संघर्ष की क्षीण ध्वनियां भी सुनाई देनी बन्द हो गई थीं । अनर्थ की आशंका से वह और अधिक व्याकुल हो उठे । जो सैनिक सम्राट का अनुसरण कर रहे थे, वे भी पीछे रह गये थे । सम्राट की मन स्थिति विचित्र हो उठी थी । वे न आगे बढ़ पा रहे थे न पीछे ही हटना चाहते थे । लगभग गति में स्थिरता आ गई थी । वह तीव्र दृष्टि से चारों ओर देख रहे थे । असमर्थता की अनुभूति उन्हें विशेष व्याकुल बना रही थी । इसी समय वन के प्रशान्त वातावरण को भंग करती हुई सुपरिचित नारी कण्ठध्वनि सुनाई दी, "महाराज जी ! कहाँ हैं ? जहाँ भी हैं, वहीं रुक जाइए ।" गतिहीन तो लगभग सम्राट हो ही चुके थे । ध्वनि की दिशा जानने की चेष्टा वह करने लगे । उन्हें पुनः आगे सुनाई दिया, "भगवन् ! तनिक भी चिन्ता न करें । सैनिक भाग खड़े हुए हैं । शत्रु का प्रयास विफल बना दिया गया है ।" वह ध्वनि उन्हें कुछ निकटतर प्रतीत हुई । सम्राट ने यथाशक्ति तीव्र कण्ठस्वर में उत्तर दिया, "मैं यहाँ खड़ा हूँ । किसी भी ओर नहीं बढ़ रहा हूँ । तुम कहाँ हो ?"

"भगवन् की दासी यह रही ।" अधिक निकट से सुपरिचित कण्ठध्वनि सुन वह चौंक पड़े । पीछे मुड़कर देखा तो सामने से वीरवती आती दिखाई दीं । तीर की भाँति निकट आ वीरवती ने वेदना व्यक्त की, "भगवन् ने क्यों इतना कष्ट उठाया । थोड़े समय वहीं और प्रतीक्षा कर लेते । यह वन प्रदेश निरापद नहीं है । प्रत्येक पौधे तक को शत्रु समझें, भगवन् ।"

"ओह रानी !" वीरवती को सम्राट अपनी बाहों में भ[illegible]

"वास्तव में तुम अनुपमा हो । शत्[illegible] कितनी चि[illegible]

लेती हो और उसे विफल किये [illegible] नहीं लेती हैं[illegible]

पुरस्कार !" सम्राट ने अपने गले से बहुमूल्य माला उतार कर वीरवती के गले में डाल दी। वीरवती का मस्तक नत हो गया। नत मस्तक पर अपने अधरों के द्वारा स्नेह-चिह्न अंकित करते हुए सम्राट ने प्रशंसा की, "कलिंग युद्ध में विजय का श्रेय तुम्हें ही मिलेगा वीरवती।"

"अहो भाग्य। सेवा इतनी शीघ्र पुरस्कृत हो सकती है, विश्वसनीय नहीं लगता।"

"वीरवती ! सेवा की सर्वोत्तम कोटि होती है उपकार। यही उपकार तुम कर रही हो मगध सेना पर। सेवा और कर्तव्य-परायणता पुरस्कृत हो हो सकती है, किन्तु उपकार नहीं। तुम उपकार की साक्षात देवी हो, वीरवती। मगध का एक-एक सैनिक आभारी है तुम्हारा। और मैं तो......।"

"भगवन् ! मेरे आराध्य हैं। सेवा में प्रार्थना है कि सेविका का मस्तिष्क विकृत न करें। जहाँ हूँ वहीं बनी रहने दें।"

"इन बाहों में तो तुम्हारा स्थान है ही, आज के युद्ध अभियान के अवरोधकों को हटाने की सफलता ने तुम्हारा स्थान मेरे मन-मस्तिष्क में भी बना लिया है।"

"बस, महाराज जी, बस ! परमानन्दानुभूति भी अब असह्य हो उठी है। विक्षिप्तता की सीमा का स्पर्श हो रहा है। मात्र इस चरण सेविका पर कृपा-दृष्टि बनाये रखें। इससे अधिक कुछ न चाहिए। स्थान तो बनते-बिगड़ते रहते हैं।"

दृष्टि में दृष्टि डाल वीरवती के दोनों कंधों पर हाथ रखते हुए सम्राट ने आभार व्यक्त किया, "वीरवती ! वास्तव में तुम जीवन सहचरी हो, मेरे हृदय की धड़कन हो, मेरे मस्तिष्क की विचारशक्ति हो, मेरे संकल्प की क्रिया हो, मेरी महत्वाकांक्षाओं की सफल सोपान हो तुम वीरा।"

"धन्यभाग भगवन् ! मेरा नारीत्व सफल हो गया अब चलिए, लौट चलें। सैनिक चारों ओर एकत्र हो चुके हैं। आदेश की प्रतीक्षा कर रहे हैं। दिनांत निकट है। और आगे बढ़ने से अब कोई लाभ नहीं। शत्रु की रण-नीति के अनुकूल ही हमें भी रणनीति निर्धारित करनी होगी। अब विचार-पूर्वक ही विजय-अभियान के लिए प्रस्थान करेंगे।"

"चलो, जैसी तुम्हारी इच्छा। किन्तु जब भी प्रस्थान करेंगे यह मार्ग तो तय करना ही होगा ?"

"जी, किन्तु सम्भावित संकट-स्थलविन्दुओं से चूंकि हम परिचित हो चुके हैं, इसलिए इन्हें तो भगवन् निरापद ही समझें। भगवन् तनिक भी

चिंता न करें। सब ज्ञात करके ही अब प्रस्थान करेंगे।"

"फिर चलो। चलना तो है ही।" जो रणनीति निर्धारित करोगी, उसी का परिपालन होगा।"

सम्राट पैदल तो थे ही। लम्बे-लम्बे डग वह भरने लगे। वीरवती सम्राट का अनुसरण करने का भरसक प्रयास कर रही थीं।



धरती पर दिनभर की गतिविधियों की चर्चा सैनिकों के मध्य थी तो आकाश में लौटते विहगवृन्दों का शोर था और उससे भी अधिक शोर कर रहे थे वे पक्षीगण जो वृक्षों पर बसेरा ले चुके थे, किन्तु रात्रिकालीन कालिमा के प्रसार के साथ-साथ पक्षियों का कलरव भी तिरोहित होता चला जा रहा था जब कि सैनिकों के मध्य शोर बढ़ता जा रहा था। सर्वाधिक शोर वहाँ हो रहा था जहाँ से सम्राट अशोक गुजर रहे थे। वीरवती ही नहीं, अन्य सैनिक नारियाँ भी साथ थीं। जो भी विशिष्ट सैन्याधिकारी शिष्टाचार का पालन करता दिखाई दिया उसी से सम्राट ने पूछा, "कहिए, आज का युद्ध कैसा रहा? क्या धारणा है आपकी आज के संघर्ष के विषय में? आज की विजय का श्रेय किसे जाता है? किसकी सतर्कता और रणनीति से हमें सफलता मिली? क्या दोनों ही स्थानों पर हमारी पराजय सम्भावित नहीं थी? नारी सैनिकों की सतर्कता देखी? अनुभव हुआ कि मगध की नारियाँ भी किसी से कम नहीं हैं? देखा, शत्रु की गतिविधि का सत्यानुमान कैसे लगा लिया? बिना किसी भी प्रकार की अपनी सैन्यक्षति के शत्रुओं के मनोबल को कैसे तोड़कर रख दिये। जो शत्रु सैनिक बन्दी रूप में लाये गये, वे नारी शक्ति के समक्ष पड़ते ही कैसे कांपने लगे?"

सम्राट के द्वारा प्रश्न किये जाने की शैली से ही हर अधिकारी समझ लेता था कि वह नारी सैनिकों की ओर विशेष रूप से रानी वीरवती की प्रशंसा सुनना चाहते थे। सैन्याधिकारी भी भला क्यों चूकते नारी सैनिकों के कार्यों की प्रशंसा करने से। प्रत्येक सैन्याधिकारी ने दुर्गा, काली और शक्ति के रूप में वीरवती की प्रशंसा की। एक ने तो यहाँ तक कह दिया, "काश! वीरवती जी महासैन्याधिकारी होतीं। पुरुष सैनिकों को अस्त्र-शस्त्र उठाने ही

न पड़ते । शत्रु नारी महाशक्ति के समक्ष स्वतः समर्पण कर देता ।"

उपचार व्यवस्था का उत्तरदायित्व नारियों ने ही सम्हाल रखा था। उस सम्भाग की ओर भी सम्राट गये। आहत सैनिकों से मिले । उपचार सम्बन्धी जानकारी प्राप्त की । रणस्थल में आहत सैनिकों को तत्काल चिकित्सासेवा उपलब्ध हो जाती है—यह सुन-सुन कर सम्राट का मन फूला न समाया। आहतों में कुछ नारी सैनिक भी थीं। उनके निकट जा सम्राट ने प्रशंसा की, "तुम्हारे ही भरोसे आज की विजय प्राप्त हुई। तुम न होतीं तो न शत्रु सैनिक बन्दी बनाये जाते और न मृत्यु का ग्रास ही बनते । क्या एक-एक को बीन-बीन कर मारा है। बड़ी छुपने की चेष्टा की, किन्तु नारी दृष्टि से छुपकर जाते कहाँ ! एक-एक शत्रु को पहचान-पहचान कर मारा। उनकी एक भी चाल तुम लोगों ने चलने न दी। कितने सामान्य संघर्ष में ही अपने को विजयी पक्ष मनवा लिया। वाह ! क्या चमत्कार है तुम लोगों के शस्त्र सचालन में। और सूझबूझ तो अनुपम है ही ! किसी प्रकार का कोई कष्ट या अभाव ?"

सम्राट को देखने को नारी मुस्कान मिलती और सुनने को मिलता, "सब कृपा है, महाराज जी की। मगध सम्राट की जय हो ।" जयजयकार सुनते हुए सम्राट आगे बढ़ जाते थे।

वीरवती ने आगे बढ़ते हुए सम्राट को टोका, "यह निकट ही है नारी शिविर मण्डल। दो पल इन्हें भी दर्शन प्राप्त हो जायेंगे तो अपूर्व उत्साह से भर उठेंगी।"

"चलो। वहाँ तो अवश्य चलो।" सम्राट ने संकेतित दिशा की ओर मुड़ते हुए रुचि विशेष का परिचय दिया, "तुम्हारे प्रशिक्षण का ही तो यह सब चमत्कार है। चमत्कार को नमस्कार तो होना ही चाहिए।"

"महाराज जी की तो मात्र कृपादृष्टि चाहिए। दर्शन पाते ही सब धन्य हो उठेंगी। भगवन् के मुखारबिन्द से प्रशंसा के दो बोल सुन लेंगी तो सर्वस्व बलिदान की भावना से आन्दोलित हो उठेंगी।"

अश्व सामान्य गति से ही अग्रसर हो रहे थे। नारी शिविरों के प्रारम्भ होते ही सम्राट ने अश्व छोड़ दिया और पैदल ही आगे बढ़े। सम्राट की जय-जयकार ध्वनि सुनते ही सब नारी सैनिक शिविर द्वारों पर आ खड़ी हुईं। जो भी सामने दिखाई दीं, उन्हीं की सम्राट ने प्रशंसा की, तुम बहुत वीर रमणी हो। तुम्हारा शौर्य अनुपम है। अस्त्र-शस्त्र-सचालन में तुम्हें अच्छी दक्षता प्राप्त है। तुम सूझ-बूझ की भी धनी हो। शौर्य और सौन्दर्य का अद्भुत संयोग है तुममें। नारीवेश में शौर्यभाव की प्रतिष्ठा असामान्यशक्ति का

प्रतीक है । तुम्हें देखकर विश्वास नहीं होता कि तुम शत्रु के दांत खट्टे भी कर सकती हो । तुम्हारा प्रत्येक प्रहार शत्रु के लिए भारी पड़ता है । तुम्हें तो देखते ही शत्रु धराशायी हो जाता होगा । किसमें साहस है जो तुम्हारे सामने एक पल भी टिक सके । वाह ! क्या वीरवेश है तुम्हारा । साक्षात दुर्गा प्रतीत होती हो वाह ! शक्ति पुञ्ज हो । शत्रु की शक्ति-अपहरण की विलक्षण क्षमता है तुममें । वाह ! तुम जैसी महाशक्ति के समक्ष शत्रु को तो घुटने टेकने हैं ही । इस समय नारी सुलभ वेश में तुम जितनी मोहक लग रही हो, रणस्थल में, सैनिकवेश में तुम उतनी ही प्रचण्ड रणचण्डी लगती होगी । सच है, देखकर भी विश्वास नहीं होता कि इतने सुकोमल हाथों में इतनी भारी असि कैसे पकड़े हो । तुम्हें धनुषबाण धारण किये हुए वेश में देखकर तो भय भी आतंकित हो उठता होगा । वाह ! तुम्हारे इस नारी शरीर पर ये शिरस्त्राण और कवच कितने शोभायमान हो रहे हैं । शत्रु का भारी-से-भारी प्रहार भी विफल हो जाता होगा । ओह ! तुम्हारी यह क्षीण-कटि इस असिभार को कैसे सह रही होगी । किन्तु सह तो रही ही है । अवश्य ही शत्रु को उठाकर फेंकने तक में यह लोच नहीं खाती होगी । शक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण हो तुम । अरे रानी वीरवती ! कहाँ हो तुम ? इधर निकट आओ । देख रही हो इन्हें । मुखमुद्रा कितनी मिलती-जुलती है । वेशभूषा में भी कोई अन्तर नहीं है । कोई भी धोखा खा सकता है । अरे ! इनमें भी तो समरूपता है । क्या बात है ? जो भी दृष्टिगत हो रही है सब-की-सब तुम्हारी ही वेशभूषा धारण किये हैं । रानियों की इतनी बड़ी सेना ।"

"भगवन् ! आश्चर्यचकित न हों । यह रानियों की सेना नहीं है, बल्कि यह है एक सैन्य टुकड़ी विशेष । शत्रु को भ्रम में डालने के लिए सेना का यह अंग आवश्यक होता है ।"

"वास्तव में, इस अंग की तो मुझे कल्पना भी नहीं थी । और कितनी देर यहाँ रुकना है ?"

"जब भगवन् की इच्छा हो, चल दें ।"

"इनके बीच से जाने का तो मन नहीं हो रहा है । ऐसे सौन्दर्योद्यान से कौन भला जाना चाहेगा, किन्तु अभी भावी रणनीति पर भी तो विचार-विमर्श करना है । फिर आयेंगे । इनके बीच रहकर समय कितना बीत गया, ज्ञात ही नहीं हो पाया । देखो न, कितना अंधेरा हो गया है । आकाश कैसा तारों से भर गया है । चन्द्रमा कैसा गगन मण्डल में चमक उठा है ।"

"फिर पधारिए । विलम्ब होगा ।"

वीरवती के संकेत पर सम्राट मुड़ चले । अश्व अपने स्थानों पर पूर्ववत् खड़े थे । उन पर सवार हो दोनों राजकीय शिविर की ओर गतिमान हो गये ।

उस रात वीरवती ही सम्राट अशोक की दृष्टि में सब कुछ थीं। सम्राट ने उन्हें बलात् अपने पार्श्व में स्थान दिया था। शैला और पद्मा दोनों ही सामने उपस्थित थीं। अन्यान्य परिचारिकाएँ भी सेवा में यथास्थान नतमस्तक खड़ी थीं। सम्राट की मुखमुद्रा पर प्रसन्नता झलक रही थी। आनन्दातिरेक से उनका मनमयूर नर्तन कर रहा था। उन्हें प्रतीक्षा असह्य प्रतीत हो रही थी। वह बोले, "अब विलम्ब क्यों ?"

"आज्ञा करें देव।" शैला सेवाभाव से समुत्सुक हो उठी थीं।

"प्रसन्नता के अवसर पर क्या होता है ?"

शैला ने पद्मा को संकेत द्वारा सावधान किया। पद्मा उठीं और पेय व्यवस्था में संलग्न हो गईं। शैला ने ताली बजाकर वाद्ययन्त्रों को तैयार होने का आदेश दिया। बज उठे अनेक वाद्य यन्त्र एक साथ। शैला ने तान पूरा थामकर कण्ठस्वर लहरी छेड़ दी। पीते-पीते सम्राट ने पद्मा को आदेश दिया, "यह पेय पात्र वीरवती को सौंप दो। तुम अपना नृत्य प्रारम्भ करो।"

पद्मा ने बिना कुछ बोले मादक पेय से भरा स्वर्णिम पात्र वीरवती को सौंप दिया। वीरवती सहज होने की चेष्टा कर रही थीं। पद्मा ने नृत्य प्रारम्भ कर दिया। उनका साथ दिया अन्य नर्तकियों ने। सम्राट पी रहे थे। वीरवती पात्र भर-भरकर पिला रही थी। बीच-बीच में सम्राट पात्र अपने हाथों से वीरवती के अधरों से भी लगा देते थे। वह पात्र रिक्त करने के लिए विवश हो जाती थीं। पीने का तनिक भी अभ्यास न होने के कारण उनके लिए तीन पात्र-पेय ही यथेष्ट था। मादकता से मस्तिष्क प्रभावित हो उठा था। जब चौथा पात्र सम्राट ने उनके अधरों की ओर बढ़ाया तो उन्होंने मुँह हटा लिया और सविनय निवेदन किया, "बस, भगवन् और नहीं। चेतना प्रभावित हो उठी है। यह भी सेवा न कर सकूँगी भगवन्।"

पात्र सम्राट ने थाम न लिया होता तो वहीं लुढ़क जाता। शनैः शनैः वीरवती भी अपना शारीरिक नियन्त्रण खोती जा रही थी। उनके हिलने के ढंग से सम्राट ने समझ लिया था। उन्होंने उन्हें भी सहारा दिया। वह सम्राट की गोद में लुढ़क गईं। सीधे पात्र को मुंह से लगा लिया सम्राट ने। रिक्त पात्र को एक ओर फेंक सम्राट ने वीरवती को सम्हाला। नृत्य-गान अपनी तीव्रता पर था। मोहक-मुद्राओं द्वारा भावप्रकाशन हो रहा था।

रागयुक्त स्वर लहरी वातावरण को और अधिक मादक बना रही थी। सम्राट पर भी पेय का प्रभाव परिलक्षित होने लगा था। उनकी आंगिक चेष्टाएँ अपनी स्वाभाविकता खो चुकी थीं। सम्भवतः वह यह भी विस्मरण करते जा रहे थे कि वह क्या हैं और उनकी मर्यादा क्या है। शालीनता की सीमाएँ भंग हो उठी थीं। सम्राट थे, वीरवती थीं और दोनों के मध्य थी ऐसी मादकता जो दोनों को एक करने के लिये व्याकुल थी।

तब तक नृत्य-गान चलता रहा जब तक सम्राट निद्रा में लीन नहीं हो गये।



कई योजन के घेरे में फैली मगध सेना के मध्य वीरवती के शौर्य और पराक्रम की चर्चा जोरों से होने लगी थी। प्रत्येक सैनिक अपने-अपने दृष्टिकोण से व्याख्या कर रहा था। सैन्याधिकारीगण विशेष रूप से उसे वाद-विवाद का विषय बनाए हुए थे। सैन्याधिकारियों में अधिकांश लोग प्रौढ़ावस्था से अधिक आयु के ही थे। उनमें एक भी अधिकारी ऐसा न था जिसे किसी-न-किसी युद्ध का अनुभव न हो और जिसने किसी-न-किसी परिस्थिति में विशेष शौर्यपूर्ण प्रतिभा का परिचय न दिया हो। उनमें कुछ ऐसे भी थे जिन्हें अनेक बार युद्धों में शौर्य-प्रदर्शन का सुअवसर प्राप्त हो चुका था। वे विशेष रूप से चर्चा को गम्भीरता पूर्वक नहीं ले रहे थे। उनकी धारणा थी, "रानी वीरवती मूलतः कलिंगवासिनी हैं। कलिंग में बचपन बीता है। इसी भूमि पर खेली-खाई हैं। यहाँ के चप्पे-चप्पे से परिचित हैं। पहाड़ियों की एक-एक गुफा में झाँकती फिरी हैं। वन के छोटे-बड़े सभी पेड़-पौदों पर उसकी उंगलियों की छाप अंकित है। सारी कलाबाजी इसी वन प्रदेश की ही तो देन है। अगर पूर्व परिचय के आधार पर किसी संकट को पहले ही समाप्त कर लिया तो कौन-सा तीर मार लिया। और फिर इन्हीं बातों के बलबूते पर यदि महाराज जी की हृदय सम्राज्ञी बनने का सौभाग्य प्राप्त कर रही हैं तो किसी भी संकट का आवाहन किया जा सकता है। संकट न होने पर भी कृत्रिम संकट उत्पन्न भी किया जा सकता है। नहीं तो क्या कारण है कि किसी भी पुरुष सैनिक को एक भी संकट के दर्शन तक न हुए। स्वयं महाराज जी तक प्रत्यक्ष-

दर्शी न बन सके। हर बार नारी सैनिकों ने ही उसे समाप्त भी कर लिया। बन्धु! यह सब रहस्य है। मेरी समझ में नहीं आता। महाराज जी उनसे इतना अधिक प्रभावित हो चुके हैं कि उन्हीं की आँखों से देखने और कानों से सुनने लगे हैं। अन्यथा न कुछ वह देख-सुन पा रहे हैं न समझ ही पा रहे हैं। दिन-पर-दिन बीतते चले जा रहे हैं। युद्ध प्रारम्भ नहीं हो सका है। सीधे आते ही आक्रमण कर देना चाहिये था। मगध शक्ति का सामना करने की सामर्थ्य कलिंग मे है नहीं। अगर सामना करता तो कितने दिन टिकता। अब तक न जाने कब कलिंग मगध कीतिपताका के नीचे सांस ले रहा होता। वापस पाटलिपुत्र भी पहुँच चुके होते। न मालूम क्या स्थिति हो पाटलिपुत्र की। बहुत दिन हो गये हैं बाहर निकले हुए। लोलुप दृष्टि से पड़ोसी राज्य वैसे ही मगध साम्राज्य को देखा करते थे, अब तक न जाने किस गिद्धदृष्टि का आखेट बन चुका हो या बनने वाला हो। मुझे तो बन्धु प्रतिपल वहाँ की चिंता लगी रहती है। इधर कलिंग पर विजय हमें प्राप्त हो नहीं रही है और उधर मगध का कोई भी भाग हमारे अधिकार से बाहर हो जाय, यह असम्भव नहीं है। मेरा मन तो बन्धु अब यहाँ तनिक भी नही लग रहा है। दिन में कई बार सोचता हूँ कि महाराज जी की सेवा में उपस्थित होकर क्षमा मांग लूं और पाटलिपुत्र लौट जाऊं। किसलिये पड़े हैं हम यहाँ? क्या कर रहे हैं हम यहाँ पड़े-पड़े? किन स्वप्नों को सजाने-संवारने के लिए दिन-पर-दिन गवाँ रहे हैं? जीवन के लिए कौन दिन महत्त्वपूर्ण नहीं होता? जितने दिन प्रमाद में बीत गये, वे हो क्या किसी विचारशील व्यक्ति के पश्चात के लिए यथेष्ट नही है? बन्धु! अब तो समय का अपव्यय सहा नहीं जाता। हम यहाँ रागरंग के लिये नही आये हैं। आक्रमणकारी के रूप में यहाँ तक आये हैं। आक्रमण करना हमारा लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति क्या इसी प्रकार हाथ-पर-हाथ रखे बैठे रहने से हो जायेगा? बन्धु! मेरे वश का तो अब कुछ रहा नहीं। तुम लोग जानो तुम्हारा काम जाने। जो समझ में आये सो करो। महाराज जी की सेवा में उपस्थित होने की शक्ति हो तो यह परीक्षण भी कर देखो, किन्तु होना वही है जो रानी योरवती चाहेंगी।"

उधर ऐसा नहीं था कि योरवती को सैन्याधिकारियों की इन प्रतिक्रियाओं की सूचना न मिलती हो। वह प्रत्येक वर्ग की हर गतिविधि से अवगत रहती थीं। यथाशक्ति वह सम्राट को भी अवगत कराती रहती थीं। प्रातःकालीन हो या सांध्यकालीन सन्धिकाल महाराज जी के लिये विश्राम का समय होता था। वह पूर्णतया चिंतामुक्त हो विश्रामसुख में डूब जाते थे। न कुछ खाते-पीते थे, न किसी से कुछ बोलते ही थे। पूर्ण शान्ति की अनुभूति में महाराज

जो काफी देर तक तिरोहित रहते थे । नेत्र खोलने की प्रतीक्षा से ऊबकर वीरवती ने मौन भंग किया, "भगवन् ! नेत्रोन्मीलन कीजिये । कुछ पान कीजिए । बाहर निकलना है । कतिपय दृश्यों का प्रत्यक्ष दर्शन परमावश्यक है।"

"स्वयं चली जाओ । इस समय मैं विदिशा में हूं । महादेवी मेरे सामने उपस्थित हैं । वह कुछ आग्रह बार-बार दुहरा रही हैं और मैं भरसक चेष्टा करने पर भी न समझ पा रहा हूं न सुन ही पा रहा हूं । महादेवी को अभी तुम नहीं जानती हो । वह जितनी सुकोमल हैं, उतनी ही सशक्त भी है, उनमें भावों का जहां प्राधान्य है, वहीं विचारों की दृढ़ता भी उनमें कम नहीं है, विगत के प्रति उनके मन में जितनी आस्था है, वर्तमान के प्रति विश्वास भी उससे कम नहीं है, और भविष्य को तो वह आशा का मूल मानती ही हैं । अनुपम नारी हैं वह । नृत्य संगीत का पूर्ण परिज्ञान है उन्हें । अन्यान्य कलाओं का भी उन्हें यथेष्ट ज्ञान है । कला और सौन्दर्य का ऐसा अनुपम सगम अन्यत्र दुर्लभ है । जाओ, वीरवती तुम चली जाओ । मुझे उसी दुर्लभता का आनन्द अनुभव करने दो ।"

"जो आदेश भगवन् का । किन्तु यह रणस्थल है । यह न पाटलिपुत्र है, न विदिशा । दिवास्वप्न से मुक्त होइए, भगवन् ! यथार्थ जगत में आइए । विषमताओं का विश्लेषण कीजिए प्रतिकूल परिस्थितियों पर दृष्टिपात कीजिए । जो समस्यायें उपस्थित हैं, उनका समाधान खोजने के लिए भगवन् नेत्र तो खोलने ही पड़ेंगे ।"

महाराज जी ने नेत्र ही न खोले, उठकर वह बैठ भी गये । बोले, "हां, बोलो । हमारी महारानी वीरवती का क्या आदेश है ?"

"आदेश-वादेश नहीं भगवन्, मात्र सेवा में एक प्रार्थना है ।"

"तुम्हारी प्रार्थना भी आदेश से अधिक सशक्त होती है । बोलो, क्या चाहती हो ?"

"वही जो भगवन् चाहते हैं ।"

"फिर दिखाऊं कि मैं क्या चाहता हूं ?"

"वह चाह इतनी आसानी से प्रदर्शित नहीं की जा सकती । उस चाह के लिए शिविर के बाहर पैर रखना पड़ेगा । अश्व की पीठ पर बैठना होगा और स्थान और समय का ध्यान रखते हुए दौड़ना भी पड़ेगा उस इच्छा को पूर्ति के लिए ।"

"और इतना ही नहीं, मृत्यु का नग्न नृत्य भी देखना होगा ।"

"हां, भगवन् ! विनाश का ताण्डव नृत्य तो देखना ही पड़ेगा ।"

"किन्तु, रानी ! यह असमय राग कैसे छिड़ गया ? क्या आज कुछ नया सुनने या देखने को मिला ?"

"मिला तो वही जो रोज मिलता है। उसे मैं स्वाभाविक मानती हूँ। जो स्वाभाविक है, उसे मैं अन्यथा दृष्टि से नहीं देखती । किन्तु अन्यथा दृष्टि से न देखने का अभिप्राय यथार्थ की उपेक्षा करना तो नहीं होता, संकट से पलायन करना तो नहीं होता, उद्देश्य को विस्मृत करना तो नहीं होता और वैयक्तिक सुख-सुविधा में डूब कर कर्तव्य-भाव की अवहेलना तो नहीं होता। भगवन् तनिक उठने की कृपा करें। ये दिन जो मैंने निष्क्रिय रूप में बिताये हैं, उन्हीं दिनों की खोजों से भगवन् का साक्षात्कार मैं कराना चाहती हूँ। अनुमति हो तो तैयारी करूं ?"

"फिर तो कदाचित् मुझे भी तैयार होना पड़ेगा।"

"हाँ, किन्तु विशेष नहीं। और वह भी तो इस सेविका का ही उत्तरदायित्व है।" वीरवती ने स्वयं कम और महाराज जी को ही अधिक तैयार किया, किन्तु समय का ध्यान रखा। अधिक समय नष्ट नहीं होने दिया। दोनों तैयार होकर बाहर निकले तो रात्रिकालीन कालिमा अपने पूर्ण यौवन पर प्रतीत हुई। अश्व तैयार थे ही। दोनों अश्वों पर सवार हुए और तीव्रगति से चल दिये नाक की सीध में।



सम्राट अशोक वीरवती के साथ शिविर में लौटे तो आधी से अधिक रात्रि बीत चुकी थी। वस्त्र-परिवर्तन में सहायता करते हुए वीरवती ने जिज्ञासा व्यक्त की, "किस निष्कर्ष पर भगवन् पहुँचे ?"

"निष्कर्ष ही नहीं निर्णय भी कर लिया है।"

"क्या कर लिया है निर्णय, भगवन् ने ?"

"आक्रमण होगा। और शीघ्रातिशीघ्र आक्रमण होगा।"

"यह तो होगा ही, किन्तु सैन्याधिकारियों की कथनी और करनी में जो अन्तर है; उससे उन्हें अवगत तो होना ही चाहिए।"

"ऐसे अवसर पर अनायास मेरी उपस्थिति ही यथेष्ट है। अधिक कुछ कहने-सुनने का अवसर नहीं है। अब सोचना केवल यह है कि क्या इसे अंतिम

समझकर आक्रमण किया जाय ?"

"शत्रु ने रणनीति के जो विविध रूप निर्धारित कर रखे हैं, उससे तो ऐसा नहीं प्रतीत होता कि युद्ध शीघ्र ही समाप्त हो जायेगा। मुझे कुछ ऐसा लगता है कि युद्ध लम्बा खिंचेगा।"

"यदि हम बिना रुके निरन्तर आगे बढ़ने की नीति अपना लें तब तो शत्रु संघर्ष के लिए बाध्य होगा। संघर्ष होगा तो विनाश होगा और विनाश होने पर जय-पराजय का निर्णय होना स्वाभाविक है।"

"किन्तु निर्णय अपने पक्ष में ही हो, यह भी तो सुनिश्चित होना चाहिए।"

"विजय की आशंका है तुम्हें ?"

"कदापि नहीं, किन्तु जो रणनीति भगवन् ने निर्धारित की है, उससे अनुकूल निर्णय संदेहास्पद हो सकता है। केवल सैनिक संख्या या साधनों की प्रचुर मात्रा ही इस युद्ध के निर्णायक तत्व नहीं प्रमाणित होंगे, बल्कि जो बौद्धिक स्तर पर युद्ध निरन्तर लड़ा जा रहा है उसकी अधिक महत् भूमिका होगी। भगवन् मनुष्य और पशु में यही अन्तर सबसे प्रमुख होता है। मानव शारीरिक शक्ति की अपेक्षा बौद्धिक शक्ति का प्रयोग संघर्ष के क्षणों में अधिक करता है जबकि पशु मात्र शारीरिक क्षमता द्वारा ही विपरीत परिस्थिति पर विजय पाने की चेष्टा करता है। कलिंगवासी यह भलीभाँति समझते हैं कि द्वन्द्वयुद्ध में उनकी पराजय सुनिश्चित है। वे सामने-सामने के युद्ध की उपेक्षा कर रहे हैं। जो रणनीति उन्होंने निर्धारित कर रखी है, उसके अनुसार वे अदृश्य अधिक रहेंगे। हम विजयोल्लास में आगे बढ़ते चले जायेंगे। वे अकस्मात किसी भी क्षण और कहीं भी प्रकट होकर आक्रमण कर बैठेंगे।"

"तो क्या हुआ ? करने दो अचानक आक्रमण। आक्रमण के लिए तो हम प्रतिपल प्रस्तुत रहेंगे। आक्रमण होगा तो हम प्रत्याक्रमण करेंगे।"

"भगवन् का तर्क बड़ा सहज है। सामान्यतः समझने में समुचित भी प्रतीत होता है, किन्तु एक स्थान विशेष पर डटकर लड़ने और भागते हुए लड़ने में क्या कोई अन्तर नहीं होता ? क्या गतिमान स्थिति में पैंतरा बदलना कठिन नहीं होगा ? किसने किस दिशा से कैसा आक्रमण किया है, क्या गतिशील सैनिक को समझने में समय नहीं लगेगा ? और उस समय का लाभ क्या शत्रु सैनिक नहीं उठायेगा ? यदि क्षतिविशेष के मूल्य पर ही विजय लाभ करना है तो भगवन् मुझे कुछ नहीं कहना है। सैन्याधिकारी जैसा परामर्श दें वैसा भगवन् आदेश दें।"

"वीरव्रती ! तुम्हारा चिंतन निरर्थक नहीं है। किन्तु शत्रु की रणनीति

को समझना कैसे सम्भव है ? सैन्याधिकारी एक समस्या के प्रति और सहमत थे कि शनैः शनैः खाद्य सामग्री में कमी आती जा रही है। यदि इसी भांति कुछ दिन और काटने पड़े तो सम्भव है कि खाद्य सामग्री के अभाव में विजय समाधान अभियान ही निरस्त करना पड़े।"

"कदापि नहीं, भगवन् ! किसी भी समस्या को भयावह रूप में प्रस्तुत करना बड़ा सरल होता। समस्या होती है तो उसका समाधान भी होता है। समस्या की भयावह स्थिति से भयभीत होने की अपेक्षा क्या उसके सम्भव समाधान का उपाय नहीं करना चाहिए ?"

"इस निर्जन प्रदेश में इस खाद्य समस्या का क्या निदान सम्भव हो सकता है ?"

"भगवन् ! समस्या का समाधान किया भी जा चुका है। मुझे तो आश्चर्य इस बात पर अधिक हो रहा है कि इतनी छोटी-छोटी बातें भगवन् के समक्ष रखी ही क्यों जाती हैं ?"

"तनिक मैं भी तो सुनूं कि क्या समाधान निकाला गया है। खाद्य समस्या छोटी बात नहीं है।"

"भगवन् ! समस्या न छोटी होती है न बड़ी। छोटे या बड़े होने का निर्णय समाधान की उपलब्धता कराती है। देखने में कोई समस्या कितनी ही बड़ी क्यों न हो, उसका समाधान जितना सुगम होगा, वह समस्या उतनी ही छोटी होगी। खाद्य पदार्थ जैसी समस्याओं को मैं समस्या नहीं मानती।"

"किन्तु इसके लिए किया क्या है तुमने ?"

"वही जो करना चाहिए। भगवन् ! खाद्य की सार्थकता है उपभोग में। उपभोग खाद्य का एक पक्ष है। इसका दूसरा पक्ष है आपूर्ति। यदि दोनों पक्षों में संतुलन बना रहे तो खाद्य समस्या का रूप कभी धारण नहीं करेगी। तनिक विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि समस्या खाद्य की नहीं समस्या है आपूर्ति की। आपूर्ति पक्ष यदि सबल बना रहे तो खाद्य कभी समस्या हो ही नहीं सकती। और उस आपूर्ति की व्यवस्था कर दी गई है। सम्भव है दो-चार दिन में खाद्य की आपूर्ति प्रारम्भ भी हो जाय। खाद्य आपूर्ति नामक एक नये दल का गठन कर दिया गया है। वह सीधे मगध पहुंच गया है। खाद्य पदार्थों का लदान भी प्रारम्भ हो गया है, इसकी सूचना भी मुझे प्राप्त हो गई है। जिस व्यवस्था से मुझे अवगत कराया गया है, उसके अनुसार खाद्य कभी समस्या बनेगी ही नहीं। भगवन् का ध्यान एक अन्य आवश्यकता की ओर आकृष्ट करना चाहूँगी। अस्त्रों-शस्त्रों की आपूर्ति का भी आदेश प्रेषित कर दिया गया है। कुछ-न-कुछ अस्त्र-शस्त्र खाद्य सामग्री के

साथ अवश्य आपूरित होंगे। और यह आपूर्तिकार्य तब तक नहीं बन्द होगा जब तक मगधसेना विजयी होकर पाटलिपुत्र नहीं लौट जायेगी।"

"फिर चिंता की कोई बात नहीं। जो रणनीति तुम निर्धारित करोगी, उसी का पालन होगा।"

"भगवन् सहसा ऐसा कदापि न करें। सैन्याधिकारियों को एक बार पुनः सेवा में आमन्त्रित कर लीजिए। मुझे भी उपस्थित रहने की अनुमति दीजिए। वे अपना पक्ष प्रस्तुत करेंगे। मैं अपने पक्ष के समर्थन में तर्क प्रस्तुत करके उनके पक्ष को निराधार प्रमाणित करने की चेष्टा करूंगी। सम्भव है, मुझे सफलता मिले और वे सहर्ष सहमत हो जायें।"

"जैसा मेरी रानी का आदेश होगा, वैसा ही कल दिन में आमन्त्रण भेज दिया जायेगा।"

"मुझ सेविका के कारण भगवन् को कितना कष्ट उठाना पड़ रहा है। कितनों की उल्टी-सीधी बातें सुननी पड़ रही हैं।"

"तुम्हारे कारण मगध सेना की रक्षा भी तो हो रही है। क्या मालूम कि अबतक इस आक्रमण अभियान का क्या परिणाम होता। कलिंग राज्य का एक-एक नागरिक प्रतिशोधाग्नि से धधक रहा है। न जाने कितने अब तक उस अग्नि में स्वाहा हो गये होते।"

"यह तो एक संयोग है कि भगवन् की कृपा दृष्टि हो गई और इस चरण-दासी को श्रेय प्राप्त हो गया।"

"श्रेय प्राप्त नहीं होता, अर्जित किया जाता है। तुमने यह श्रेय अपने सत्प्रयास और बौद्धिक कौशल से प्राप्त किया है। इसकी तुम वास्तविक अधिकारिणी हो। यह अधिकार-सुख जिन्हें सहन नहीं हैं, वे ही उल्टा-सीधा सोचते हैं। स्वयं तो दुर्भावनाग्रस्त हैं ही, दूसरों के मस्तिष्क को भी विपाक्त बनाते हैं। कल सबके मुखौटे उतर जायेंगे।"

"कल नहीं, आज कहिए, भगवन्! रात्रि बीत चुकी है। पौ फटने वाली है। पक्षियों का कलरव प्रारम्भ हो गया है।"

"पूरी रात बीत गई?" सम्राट अशोक उठकर बैठ गये।

"कुछ देर तो विश्राम कर लें भगवन्। जैसे रात बीती है, वैसे ही दिन भी बीतेगा। एक पल भी विश्राम सम्भव न होगा। मैं थोड़े समय के लिए नारी शिविर तक जाना चाहती हूँ। अतिशीघ्र लौटूंगी।" और चारुवती शिविर के बाहर हो गई। सम्राट चाहकर भी न रोक सके। बस, देखते भर रह गये जब बैठना भी असह्य हो उठा, तब वह भी उठ खड़े हुए और शिविर-द्वार की ओर उन्मुख हो गतिमान हो गये। बाहर जैसे ही निकले तो आकाश की पूर्व दिशा में सूर्योदय की लालिमा के दर्शन हुए। वह लालिमा उन्हें बड़ी आकर्षक लगी। वह उसे देखते रह गये।

वीरवती को अपनी ओर आते हुए देखते ही विभिन्न क्रिया-कलापों में व्यस्त नारियां सहसा दौड़ पड़ीं। वीरवती ने अश्व से नीचे आते हुए पूछा, "मंगला कहाँ है ?"

"अभी-अभी तो यहीं दिखाई दी थीं। होंगी यहीं कहीं। यही तो दोष है उनमें कि जिस काम को हाथ में ले लेंगी, उसी की होकर रह जायेंगी। फिर पास-पड़ोस तक का ध्यान नहीं रहता। वह रहीं मंगला दीदी। इधर ही आ रही हैं।"

मंगला के निकट आने पर वीरवती ने पूछा, "मंगला ! स्वस्थ तो हो ?"

"जी–जी, किसी ने झूठ कह दिया होगा कि·········।"

"किसी ने कुछ नहीं कहा है। तुम्हें एक अति आवश्यक कार्य करना है। कलिका कहाँ है ?"

"अभी तो छाया के साथ थी। कहीं कुछ खाने-पीने के जुगाड़ में होंगी।"

"बेचारी कलिका को भूखी क्यों रखती हो ? भरपेट उसे खाने क्यों नहीं देती हो ? भूखे रहकर भी किसी काम में मन लगता है। और विशाखा भी नहीं दिखाई दे रही हैं ?"

"विशाखा दिखाई दे जाय तो बहुत बड़ी बात है। कहीं फुदकती फिर रही होगी। पैरों में तो जैसे शनीचर का वास है। एक जगह वह टिकती ही नहीं। कभी यहाँ तो कभी वहाँ, विहग सी फुदकती रहती है दिन-रात। बस, आपके आगमन की भनक उसके कानों में पड़ भर जाय, कूदती-फांदती चली आएगी।"

"और लक्षणा भी कदाचित किसी कार्य में व्यस्त है ?"

"जो कार्य उसे आप सौंप गई थी, उसी को सम्पन्न कराने में जुटी हुई है। आपके आगमन की गंध उसे मिल भर जाय, भागती चली आयेगी।"

"अरे ! ये तो एक साथ चली आ रही हैं।"

"और भी तो बहुत-सी भागी आ रही हैं।"

"जो भी सुनेगा, आयेगा ही। प्रशंसा की भूख किसे नहीं होती है।"

"किन्तु प्रशंसा मैं कर कहाँ पाती हूँ। कंजूस हूँ न। बस, काम-पर-काम बताती रहती हूँ। और तुम लोग भी उसे इतनी शीघ्र सम्पन्न कर डालती हो कि मेरा उत्साह और विश्वास और अधिक सशक्त हो जाता है और मैं उससे

भी अधिक कठिन कार्य सौंपने के लिए आ धमकती हूँ।"

"आज्ञा करें, महारानी जी।"

"सावधान ! जो फिर कभी महारानी कहा। कितनी बार समझा चुकी हूँ कि मुझे अपनी वही वीरा दीदी समझो।"

"फिर एक संशोधन है, अनुमति हो तो सेवा में उपस्थित करूँ ?"

"अवश्य। अनुमति की क्या आवश्यकता। निर्भय होकर अपने मन की बात कहो।"

"फिर हम सब आपको कहेंगी महारानी दीदी। बोलिए स्वीकार है ?"

"तुम लोगों का कुछ भी कभी अस्वीकार हुआ है ? जो चाहो कहो, मगर जो कार्य मैं तुम लोगों को सौंपने आई हूँ, उसे अवश्य कर दिखाओ।"

"महारानी दीदी, आज्ञा करें। प्राणों के मूल्य पर भी हम उसे किए बिना न मानेंगी।"

"फिर तुम सब-की-सब शत्रु-सेना में घुस जाओ और तब तक वहीं बनी रहो जब तक शत्रु पराजय न स्वीकार कर ले। और ध्यान रहे, प्रतिपल की सूचना मुझे मिलनी चाहिए। मंगला ! इस बार भी सम्पूर्ण उत्तरदायित्व तुम्हें ही वहन करना है। असावधानी का अर्थ है पराजय और पराजय का अभिप्राय है मृत्यु। यह सोच-समझकर कि साक्षात मृत्यु के मुंह में जा रही हो और उसके जबड़े फाड़कर उसका उदर विदीर्ण करना है।"

"जो आज्ञा, महारानी दीदी। कब प्रारम्भ करना है यह अभियान ?"

"आज ही, यदि हो सके तो अभी ही प्रारम्भ कर दो।"

"हो क्या नहीं सकता ? बस आदेश भर की आवश्यकता है। हां, तो बहनों ! अपना-अपना वेश परिवर्तित कर डालो। पिछली बार की तरह असावधानियां न हों। कोई किसी से न मिलेगा, न बात करेगा। संकट के क्षणों में सहायता भी नहीं करेगा। अपने-अपने वेश के अनुरूप जो कार्य निर्धारित है, उसे ही करना है। सूचना संग्रह कर प्रेषित करना मेरा काम है। मेरे द्वारा समझाये गये संकेत तो भली-भांति स्मरण हैं। किसी भी स्तर पर चूक नहीं होनी चाहिये। और यह भी ध्यान रखना है कि इस वेश के अनुसार आचरण विजयलाभ तक करना है।"

"जो आज्ञा।" सैनिक नारियों का समवेत स्वर गूंज उठा।

वीरवती ने अधिक समय नष्ट करना ठीक न समझा वह बोलीं, "हां तो मेरी प्यारी वीर बहनों ! तुम्हारी लाज तुम्हारे ही हाथों में है। इसे सुरक्षित करना तुम्हारा परम धर्म है। अब करो पालन अपने-अपने धर्म का और मैं चली अपनी धर्म परीक्षा देने।" वीरवती निकट खड़े अश्व पर सवार हुईं और तेजी

से चल दीं । कुछ क्षणों तक तो सब सैनिक नारियाँ खड़ी अपलक देखती रहीं । अश्व के दृष्टि से ओझल होते ही वे मुड़ीं और जुट गईं अपनी-अपनी तैयारी में ।



कलिंगराज शिविर में उठते-बैठते दिखाई तो दे जाते थे, किन्तु उनका मन सदा व्याकुल बना रहता था । निद्रालीन तो वह कभी दिखाई देते ही न थे । दिन-रात उनके मन-मस्तिष्क पर एक ही धुन सवार थी कि कैसे मगध सेना को मार भगाया जाय । यद्यपि दिन-पर-दिन सैन्य शक्ति में वृद्धि ही हो रही थी, तथापि उनकी दुश्चिन्ता मे कमी न आने पा रही थी । जब-जब उन्हें मगध सैनिकों की किसी भी गतिविधि की सूचना दी जाती वह और अधिक व्यग्र हो बोल उठते, "सरासर धोखा है । शत्रु इतना उदासीन कभी नहीं हो सकता । अवश्य इसमें उनकी कोई चाल है । वे भयभीत नहीं हैं । वे किसी भी क्षण आक्रमण की तैयारी में होंगे ।"

राजकुमार युगांक उन्हें धैर्य बंधाते, "पिता जी ! आप व्यर्थ में चिंतित हो रहे हैं । हमारे पड़ोसी राज्यों ने जो सैनिक सहायता भेजी है, उसी की सूचना मिलने पर शत्रु शान्त हो गया है । देखिएगा, किसी दिन सूचना मिलने ही वाली है कि शत्रु ने पीछे हटना प्रारम्भ भी कर दिया है ।"

"अभी तुम मगध शक्ति से परिचित नहीं हो । मगध शक्ति कभी किसी से पराजित नहीं हुई है । दो बार कलिंग ही पराजय स्वीकार कर चुका है । और फिर इस बार तो नेतृत्व है अशोक के हाथ में । अशोक अत्यन्त सजग और शक्तिशाली शासक है । महत्वाकांक्षी वह इतना है कि दिन में भी विश्व विजेता बनने के स्वप्न देखा करता है । क्षिप्र भी वह इतना है कि उसकी गतिविधियाँ समझ के परे होती हैं ।"

"यही तो भ्रम फैला रखा है उसने । वह जितना प्रमादी है, उतना ही विलासी भी है । भीरु तो वह इतना है कि युद्ध का नेतृत्व वह कभी नहीं करता है । पाटलिपुत्र से वह सेना के साथ यहाँ तक चला आया है, उसके लिए यही बहुत है । नृत्य-गान उसे बहुत प्रिय है । रागरंग में ही वह डूबा-उतराया करता है । उससे भयभीत होने को तनिक भी आवश्यकता नहीं ।"

राजकुमारी सुषमा ने भाई का समर्थन ही किया, "भइया ! जैसा वह है, वैसे ही उसके सैन्याधिकारी भी हैं। कलिंग की जो नर्तकियाँ उनके शिविरों में प्रवेश पा गई हैं, उन्हें उनके मनोरंजनार्थ रात-दिन नाचना पड़ रहा है। एक-न-एक रहस्य-सूत्र वे निरन्तर भेज रही हैं। इधर जो सूचना सूत्र प्राप्त हो रहे हैं उसके अनुसार इधर युद्ध की तनिक भी सम्भावना नहीं है।"

"तुम दोनों हो भ्रम में हो। शत्रु विजय अभियान पर निकला है। आक्रमणकारी को दुर्बल समझना भूल है। और फिर मगध सम्राट अशोक जैसे पराक्रमी योद्धा के विषय में तो ऐसा सोचना नासमझी भी है।"

"पिता जी ! आपका मन-मस्तिष्क तो शत्रु की शक्ति से आतंकित है। उसकी छोटी-छोटी बातें भी भयावह प्रतीत होती हैं। विगत स्मृतियों के आधार पर आपने जो भयचित्र बना रखा है, उससे आप मुक्त होइए और वर्तमान कलिंग की सैनिक शक्ति पर भरोसा कीजिये। एक तो शत्रु आक्रमण का साहस जुटा नहीं पा रहा है, दूसरे हमारी युद्धनीति से उसका पार पाना असम्भव है। व्यावहारिक दृष्टि से युद्ध तो अभी शुरू भी नहीं हुआ है। छुट-पुट जो आगे बढ़ने के दो-एक प्रयास शत्रु ने किये भी हैं, उनमें उसे सफलता विशेष मिली नहीं है, बल्कि पीछे ही हटना पड़ा है। यदि उसमें उत्साह और शक्ति का अभाव न होता तो इतने दिन तक वह निष्क्रिय पड़ा न रहता। पिता जी ! आप शत्रु के सम्बन्ध में बिल्कुल सोचना-विचारना छोड़ दीजिये। आप विश्वास कीजिये, शत्रु के आक्रमणों को विफल बनाने के लिए जिस वायुशक्ति जलशक्ति, पादपशक्ति, पर्वतशक्ति और भूगर्भशक्ति की योजना को व्यावहारिक रूप दिया गया है, उसके सामने शत्रु एक पल के लिए भी न टिक सकेगा, बल्कि ऐसी रणनीति से यदि वह अवगत भी हो गया तो आक्रमण का दुस्साहस नहीं दिखाएगा।"

"और भइया ! शत्रु की सभी दुर्बलताओं से हम शनैः शनैः अवगत होते जा रहे हैं। उन्हीं दुर्बलताओं को हम लक्ष्य बनाएँगे। हमारा गुप्तचर दल दीमक की भाँति शत्रु सेना में घुस गया है। अन्दर-ही-अन्दर शत्रु सेना को वह ऐसा खोखला बना रहा है कि शत्रु स्वतः धराशायी हो जाएगा।"

"तुम दोनों के जीवन का प्रभात है अभी। इस आयु में पहाड़ भी पायन अनुभव होता है। भूत कुछ होता नहीं है, वर्तमान नियन्त्रण में लगता है और भविष्य की चिंता हो तो इस अवस्था का महत्व हो क्या। शत्रु को अशक्त समझना अबोधावस्था का प्रमाण है।"

"किन्तु अशक्त को भी सशक्त समझकर इस सीमा तक चिंतित हो उठना कि वर्तमान भी व्यर्थ प्रतीत होने लगे, विशेष विवेक का परिचायक तो नहीं

माना जा सकता । पिता जी ! आप शिविर में ऐसे ही विश्राम कीजिए और देखिए शत्रु को कैसे नाकों चने चबवाता हूँ । आपके चरणों में शत्रु नाक रगड़ता न दिखाई दे तो कहिएगा । आओ सुषमा बहिन चलें । पिता जी को विश्राम करने दें ।" दोनों एक साथ उठकर चले गये ।



जैसे ही सम्राट अशोक अपनी रानी वीरवती के साथ पधारे सभी उपस्थित सैन्याधिकारी उठ कर खड़े हो गये और प्रणाम की मुद्रा धारण कर ली । सम्राट का आसन कुछ ऊँचा था । उस पर बैठते हुए उन्होंने आदेश दिया, बैठ जाइए आपलोग भी ।. वीरवती के लिए स्थान सम्राट के बगल में ही था । सैन्याधिकारी तो यथास्थान बैठ भी गये, किन्तु वीरवती खड़ी रहीं । सम्राट ने उन्हें दृष्टिगत कर प्रश्न किया, "कोई विशेष बात ?"

"नहीं, केवल कुछ परिचित मुद्राओं की उपस्थिति को, देखना चाहती हूँ । किन्तु वे यहाँ कदाचित उपस्थित नहीं हैं ?"

सम्राट ने सेनाध्यक्ष से पूछा, कौन सैन्याधिकारी अनुपस्थित हैं ?"

"केवल तीन अधिकारी अनुपस्थित हैं । वे तीव्र ज्वर-ग्रस्त हैं । चिकित्सा-चार्य जी यहाँ उपस्थित हैं । इन्हीं के मतानुसार उन्हें उपचार से अधिक विश्राम की आवश्यकता है ।"

"महासेनापति जी ! उन तीनों को वर्तमान अवस्था में ही अविलम्ब मेरे समक्ष उपस्थित किया जाय ।"

"जो आज्ञा, महाराज जी ।"

"आप स्वयं जाइए और साथ लेकर ही आइए ।"

"जो आज्ञा ।" महासेनापति शिष्टाचार का पालन करते हुए शिविर के बाहर हो गये ।

"सेनापति जी खाली हाथ लौटेंगे ।" वीरवती ने अनुमान विश्वास रूप मे व्यक्त किया ।

"क्यों वे तो अस्वस्थ हैं । मिलेंगे क्यों नहीं ? कहाँ चले जायेंगे ?"

"चले तो कहीं नहीं जायेंगे, किन्तु वे हमारे सेनापति वहाँ तक पहुँच नहीं पायेंगे ।"

"कहाँ नहीं पहुँच पायेंगे ?"

"जहाँ वे हैं इस समय । सम्भव है, वे सेनापति जी से पूर्व ही यहाँ आ जायें ।"

"स्वयं आना होता तो पहले ही न आ गये होते ?"

"एक नारी गुप्तचर ने शिष्टाचार पालन द्वारा अपनी उपस्थिति का आभास कराया ।"

वीरवती ने उसे लक्ष्य किया, "क्यों भेंट हुई ?"

"बाहर हैं । अनुमति हो तो अन्दर ले आऊँ ।"

वीरवती ने महाराज जी की ओर उन्मुख हो प्रार्थना की, भगवन् की अनुमति हो तो वे तीनों उपस्थित किये जायें ।"

"अवश्य । क्या वे आ भी चुके हैं ? कौन लाया है उन्हें ? सेनापति जी कहाँ रह गये ?"

"इन्हीं तीनों की खोज में होंगे । उनके यहाँ होने की सूचना मिलते ही वे आ जायेंगे ।"

"ये ही हैं तीनों ज्वरग्रस्त सैन्याधिकारी ?"

"जी, महाराज जी । क्या कर रहे थे ?" वीरवती ने प्रश्न किया ।

"चौपड़ खेल रहे थे महिलाओं के साथ ।"

"महिलाओं के साथ ! क्या यह सच है ?"

"जी-जी-जी महाराज जी ।" स्वर के साथ-साथ तीनों के हाथ भी कांप रहे थे, "अपराध क्षमा हो । खेल में समय का ध्यान ही न रहा ।"

"हूँ । राज्याज्ञा की अवहेलना । अनर्गल प्रलाप । मिथ्यादोषारोपण । असत्य का अवलम्ब । अस्मिता का अभाव । कर्तव्य की उपेक्षा । इन तीनों को अभी इसी समय गज के पैरों के नीचे डाल दिया जाय ।"

तीनों सैन्याधिकारी दण्ड का आदेश सुनते ही कांप कर वहीं धराशायी हो गये । उन्हें रक्षकों के द्वारा पकड़कर बाहर की ओर घसीटा जाने लगा ।

वीरवती ने तत्क्षण सुझाव रखा, "भगवन् ! क्यों न इन्हें बंदी के रूप मे अभी जीवित रहने दिया जाय ? न जाने अभी इनसे क्या-क्या बातें ज्ञात हों ?"

'कोई आवश्यकता नहीं है कुछ भी जानने की । दण्ड इसलिए आवश्यक है कि परिणाम देखने के बाद अपराधी स्वतः समाप्त हो जायेंगे ।"

"जैसी भगवन् की इच्छा ।" सम्राट का अनुसरण करती हुई वीरवती भी बाहर निकल आईं ।

सभी सैन्याधिकारी भी बाहर आकर खड़े हो गये थे । सब मौन थे । शान्ति इतनी थी कि श्वांस-प्रश्वांस तक व्यवधान न प्रतीत होने पा रही थीं ।

राज्यादेश का पालन किया जा रहा था । तीन हाथी एक सीध में खड़े किये गये । तीनों अपराधियों को उनकी सूड़ों के नीचे घसीट कर ले जाया गया । अचेतावस्था को वे प्राप्त हो चुके थे, नेत्र बन्द थे । शरीर नितान्त ढीले थे । सम्राट ने सावधान किया, "विलम्ब किसलिए ? दण्डादेश का पालन हो ।"

गज नियन्त्रकों के संकेतों पर गजों ने पैर उठाये और तीनों के शरीरों पर तीन पैर एक साथ गिरे । तीनों की छातियां एक साथ पिस गईं । कुछ दर्शकों के नेत्र पहले ही बन्द हो गये थे और कुछ पैर गिरने के बाद उस दृश्य को देखना सहन न कर सके थे ।

सम्राट अशोक और रानी वीरवती ने एक दूसरे को देखा, किन्तु मौन भंग न हुआ । ठीक इसी समय सेनाध्यक्ष तेजी से भागते हुए आये और सम्राट के पैरों पर गिरकर अपराध स्वीकार करने लगे, "अपराधी हूँ, महाराज जी इन प्रवंचकों का मैंने विश्वास किया । इनकी बातों को सत्य माना । जो जो इन्होंने सुझाया उसमें वास्तविकता के दर्शन किये । महापराध हुआ मुझसे । मुझे भी इन्हीं की तरह गज के पैर के नीचे कुचलवाने की कृपा करें । मैं महापातकी हूँ । मुझे दण्ड दीजिए ।"

सम्राट और रानी ने एक दूसरे को मूक दृष्टि से देखा । दृष्टिसंकेत का सहारा पा सम्राट ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की, "उठिए, सेनाध्यक्ष जी । हर दुर्घटना के मूल में भी कुछ-न-कुछ हित निहित रहता है । उस अव्यक्त हित को पहचानिए और भविष्य में पुनः ऐसी असावधानी न होने पाये—इसके लिये समुचित व्यवस्था कीजिए ।"

"नहीं महाराज जी, मुझे क्षमा मत कीजिए । क्षमा मुझ जैसे पातकी के लिए दण्ड से भी बढ़कर कष्टकारक होगी ।"

"इसलिये आपको दण्डित नहीं किया जा रहा है । और भी जो इस प्रवृत्ति के होंगे उन्हें भी तो आपको ही रास्ते पर लाना है । आपकी अनुपस्थिति में कौन इस उत्तरदायित्व को वहन करेगा ?"

"मगधाधिपति जी परमप्रतापी महाराज जी की जय हो ।" सेनाध्यक्ष की जय-जयकार कण्ठध्वनि का असंख्य स्वरों ने साथ दिया । आकाशमण्डल रह-रहकर गूंज उठता था । स्वरलहरियां दूर होने भी न पा रही थीं कि नवीन की सृष्टि हो जाती थी । लहरों की निरन्तरता ने धारा का रूप धारण कर लिया था । अशोक और वीरवती कभी गरदन मोड़कर, और कभी कनखियों से ही एक दूसरे को देख लेते थे । वातावरण की एकरसता से ऊबकर सम्राट ने दोनों भुजाएँ आकाशोन्मुख कर दीं । भुजाओं के उठते ही

ने आदेश व्यक्त किया, "अब आप सभी लोग जाएँ। आक्रमण की तैयारी करें जाकर। कल प्रातःकाल सूर्य की प्रथम किरण के साथ प्रस्थान होगा।" सम्राट कथन को समाप्ति पर मुड़े और शिविर के अन्दर आ बैठे।

वीरवती ने भी निकट ही बैठते हुए लम्बी सांस लेते हुए अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की, "न जाने किस धारणा का क्या परिणाम हो। बड़ा कठिन है भविष्य के गर्भ में निहित सत्य को पहचान पाना। एक क्षण में क्या-से-क्या हो जाता है। मानव देखता भर रह जाता है।"

"ठीक इसी तरह जिस तरह मैं तुम्हें देख रहा हूँ।"

"नहीं, देखकर भी उसे विश्वास नहीं हो पाता है उस पर जिसे वह देखता है। कैसी विचित्र विडम्बना है। विश्वास के बिना जीवन भी सम्भव नहीं है और विश्वास में आकर धोखा खाने की भी उतनी ही सम्भावना है। किस पर कैसे विश्वास करे कोई।"

"केवल अपने ऊपर। कभी दूसरे पर नहीं। जिसे अपने ऊपर विश्वास है, उसका विश्वास दूसरे पर होना स्वाभाविक है। और जिन्हें अपने ऊपर विश्वास नहीं होता वे ही, अपराधी होते हैं। अपराध के मूल में होता है अविश्वास। और इस सत्य का जब चाहना परीक्षण कर लेना कि अपराध और अविश्वास सहोदर हैं।"

"भगवन् सत्यानुभूति को ही वाणी प्रदान कर रहे हैं। अनेक बार इस सत्य के दर्शन भी हो चुके हैं कि जहाँ अविश्वास होगा, वहीं अपराध होगा और जहाँ अपराध होगा वहाँ अविश्वास का अस्तित्व अवश्य होगा।"

"और विश्वास विश्वास का जनक भी है।" –

"और इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, भगवन्।"

"और इस प्रमाण की आधारभूमि हो तुम वीरवती।"

"परम सौभाग्य है मेरा। भगवन् अनुमति दें तो बाहर एक चक्कर लगा आऊँ।"

"प्रतिक्रिया से अवगत होने के लिए?"

"नहीं अपने मन की शान्ति के लिए।"

"विश्वास हिल उठा है क्या?"

"नहीं, नारी हूँ, भगवन्। नारी का विश्वास अपेक्षाकृत अधिक सुदृढ़ होता है, किन्तु दया, माया, ममता जैसी दुर्बलताओं से वह कभी मुक्त नहीं हो पाती है। उन्हीं के आवेग से कभी कभी वह सम्वेदना प्रधान हो उठती है। इस सम्वेदना से मुक्ति के लिए अपेक्षित होता है समय। इस अपेक्षित समय को मैं शिविर में बैठकर नहीं, सैनिकों के मध्य घूमफिर कर गुजारना

चाहती हूँ।"

"क्या अकेलापन भी अपेक्षित होता है ?"

"कदापि नहीं, बल्कि अकेलेपन में अधिक समय अपेक्षित होता है।"

"फिर चलो, मैं भी चलता हूँ। कुछ नया देखने को ही मिलेगा। व्यवस्था में सुधार ही होगा। तैयारी की कमी ही कुछ दूर होगी।"

"भगवन् को कष्ट होगा।"

"नहीं जब प्रसन्नता साथ होगी तब कष्ट पास फटकने नहीं पायेगा।"

"सम्वेदना का प्रभाव तो अभी क्षीण पड़ने लगा है।"

"थोड़े समय शिविर में और रुको तो पूरी सम्वेदना विलीन हुए बिना न रहेगी।"

"अवज्ञा के लिये क्षमा प्रार्थी हूँ। बाहर निकलने की बड़ी तीव्र इच्छा है।"

"फिर चलो।"

सम्राट के साथ-साथ वीरवती बाहर निकल गई



दो अश्वारोही जब तेजी से गुजरते थे तो सैनिक समझ लेते थे कि महाराज और महारानी ही होंगे। और उनकी धारणा कभी भी असत्य न निकली थी। ऐसे क्षणों में सदा वीरवती ही मार्ग-निर्देशन करती थीं। महाराज दिशा-निर्देश का पालन-मात्र करते थे। नारी शिविर के निकट आते ही वीरवती ने अश्व की गति को विराम दिया। महाराज जी का अश्व भी रुक गया। वीरवती ने नीचे उतरते हुए प्रार्थना की, "आइए, सम्भव है कुछ नवीन सूचनायें आई हों।"

"नवीन सूचनाएँ! कैसी नवीन सूचनाएँ ? यह तो नारी शिविर है ? बड़ा सन्नाटा है यहाँ ? कहाँ गईं सब ?"

"आइये, चले आइए। सब अपना-अपना कर्तव्यपालन कर रही होंगी।"

"वाह! कर्तव्य पालन में दौड़-धूप होती है, विविध ध्वनियां वातावरण में सजगता उत्पन्न करती हैं। और यहाँ तो श्मशान जैसी शान्ति व्याप्त है।"

"दो-चार को तो यहाँ होना ही चाहिए। आप यहाँ विश्राम कीजिये। मैं देखती हूँ।"

कुछ ही क्षणों के बाद वीरवती ने एक अन्य नारी के साथ शिविर में प्रवेश किया। उसने सम्राट की सेवा में प्रणाम निवेदन दिया। वीरवती ने बैठते हुए प्रश्न किया, "हाँ, तो फँस गईं। फिर निकलीं कैसे ?"

"पहले तो नारीत्व का प्रदर्शन करना पड़ा, जब शत्रु सैनिक कुछ ढीले पड़े तो सबने एक साथ चण्डी का रूप धारण कर लिया और एक-एक शत्रु का ऐसा सफाया किया कि सूचना देने वाला तक न बचा।"

"दूसरे दल की क्या सूचना है ?"

"वे शस्त्रागार तक पहुँच गई हैं। शस्त्रों की कुल संख्या की सूचना अभी तक नहीं मिल सकी है।"

"तीसरा दल कहाँ तक पहुँच सका है ?"

"चिकित्सा-व्यवस्था में हस्तक्षेप प्रारम्भ हो गया है।"

"और चौथे दल के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात हो सका ?"

"अभी तक तो कुछ भी ज्ञात नहीं।"

"वे सक्रिय हैं भी या नहीं ?"

"कुछ सूचना मिले तभी कुछ सोचा जाय।"

"गुप्त ठिकानों के पता लगाने का कार्य भी तो स्वीकार किया है।"

इसी क्षण दो नारी सैनिकों ने प्रवेश किया, "सेवा में प्रणाम स्वीकार हो।"

"कोई नई बात ?"

"हाँ।" हाँफते हुए एक ने बोलना प्रारम्भ किया, "तीन सुरंगों का पता चल गया है। शेष सूचनाएँ इस पत्र में अंकित हैं।" उसने पत्र आगे बढ़ा दिया।

पूरा पत्र पढ़ने के बाद वीरवती ने सम्भावना व्यक्त की, "एक पत्र और होना चाहिये।"

दूसरे ने पत्र आगे बढ़ाकर कहा, "देखिये, यह तो नहीं है ?"

उसे खोलकर देखते हुए वीरवती ने स्वीकार किया, "हाँ, यही है।" और वह ध्यान से पढ़ने लगीं। पढ़ने के बाद वीरवती ने प्रसन्नता प्रकट की, "अब देखती हूँ कि शत्रु कैसे पराजय स्वीकार नहीं करता है। इन पत्रों में अंकित सूचनाओं के आधार पर आधी विजय तो हमें प्राप्त हो गई।"

सम्राट ने भी जानना चाहा, "क्या लिखा है पत्रों में ?"

"लीजिये, स्वयं पढ़ लीजिये।" वीरवती ने दोनों पत्र सम्राट की ओर बढ़ा दिये।

सम्राट ने पढ़ने के बाद अपनी प्रतिक्रिया प्रकट की, "शत्रु इतना मूर्ख कभी नहीं हो सकता। इतनी घोर सामरिक महत्व की ऐसी-ऐसी बातों का

प्रकट हो जाना, कुछ विश्वसनीय नहीं लगता।"

"कभी-कभी यथार्थ कल्पना से अधिक अविश्वसनीय लगता है। इस पत्र में अंकित एक-एक शब्द विश्वसनीय है। जिस दल को यह कार्य सौंपा गया है, उनमें से एक भी धोखा नहीं खा सकती। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि इन्हीं ठिकानों पर आक्रमण किया गया तो हमारी विजय सुनिश्चित है।"

"और भी कोई दल किसी कार्य के लिए नियुक्त किया गया है?"

"पांचवें दल की सक्रियता तो, भगवन् स्वयं ही देख रहे हैं। ये दो सौ समक्ष उपस्थित हैं हो। थोड़े-थोड़े अन्तर पर यह दल उपस्थित है। संग्रहीत सूचनाओं को यहां तक पहुंचाने का उत्तरदायित्व यही दल वहन कर रहा है।"

"और कुछ?" सम्राट ने पूछा।

सूचनाएं तो आती ही रहेंगी। जहां, भगवन् होंगे, सूचनाएं वहीं पहुंचेंगी। कदाचित भगवन् का मन नहीं लग रहा है? स्वाभाविक भी है। जहां इतना सब कुछ देखने को मिला हो, वहां इतना सन्नाटा, इतनी शान्ति! किन्तु यहां की यही शान्ति शत्रु शिविरों में तो अशान्ति उत्पन्न कर रही होगी।" जब सम्राट से कुछ भी प्रतिक्रिया सुनने को न मिली तो वीरवती ने टोका, "भगवन्! किस संसार में विचरण कर रहे हैं?"

"आक्रमणकारी के लिये शत्रु से बढ़कर अन्य संसार नहीं होता। सोच रहा हूं कि शत्रु क्या वास्तव में इतना ही असावधान है?"

"कदापि नहीं, शत्रु असावधान बिल्कुल नहीं है, बल्कि हम उससे अधिक सावधान हैं। होड़ इस बात में है कि कौन कितना सावधान है। हमारे नारी गुप्तचर दल ने सिद्ध कर दिखाया है कि हम अधिक सावधान हैं।"

"और यही कार्य उनका गुप्तचर दल सम्पन्न कर रहा हो तो?"

"अवश्य प्रयास हुये हैं उनके द्वारा, किन्तु हमारी सतर्कता ने उन्हें विफल बना दिये हैं। समय रहते हम सावधान न हो गये होते तो उनकी गुप्त गति-विधियां सशक्त होती चली जाती। आज जो स्थिति उनकी हो रही है, वही हमारी होती।"

"चलो, चलें यहां से। न जीवन का यह रूप मुझे प्रिय है न इस गति में मुझे विश्वास है। इसे भंग करना है। कल प्रातःकाल यह अवश्य भंग होकर रहेगा।"

"भगवन् का आदेश सिरमाथे पर। जीवन की एकरसता भला किसे रुचिकर होती है।" अश्व पर सवार हो वीरवती ने सम्राट का अनुसरण किया।

सम्राट के अश्व की गति और भी असाधारण हो उठी। वीरवती दिशा-निर्देश की स्थिति में न थी। मात्र अनुसरण करने के लिए वह बाध्य थी।

OOO

मगध सैनिक शिविर में रात्रिभर हलचल रही। आदेश-पर-आदेश व्यक्त होते रहे। उनके अनुपालन के कारण विशेष सक्रियता रही। किसे क्या करना है, कब तक कहाँ रहना है, किसके आदेश का पालन करना है, किन संकेतों को विश्वसनीय मानना है तथा किस स्थिति विशेष में आगे बढ़ना या पीछे हटना है आदि आदेशों का स्पष्टीकरण सम्पूर्ण रात्रि होता रहा। एक-एक सैनिक भलीभाँति सम्राट अशोक के आदेश की गरिमा को भलीभाँति समझ रहा था। और विश्वास भी प्रकट कर रहा था कि अब होगा युद्ध। अभी तक तो जैसे थकान मिटाई जाती रही। दोनों पक्ष, बस एक-दूसरे को देखते भर रहे। दोनों पक्षों की ओर से चेष्टा की जाती रही एक-दूसरे को समझने की। कौन किसे कितना समझ गया, इसका निर्धारण तो युद्ध का परिणाम करेगा। सतर्क एक-एक सैनिक था। सन्नद्धता कमर कसे हुए प्रस्थान ध्वनि संकेत की प्रतीक्षा कर रही थी। जिसका प्रारम्भ होता है, उसका अन्त भी होता है। प्रतीक्षा की घड़ियाँ भी समाप्त हुईं। वृक्षों पर विहगवृन्द का कलरव प्रारम्भ हो गया। रात्रिकालीन अन्धकार का घनत्व क्रमशः घटने लगा। जिस स्थान विशेष पर सम्राट को खड़े हो प्रस्थान का आदेश देना था, उस ओर सैन्याधिकारी बढ़ने लगे। अनुशासन पर विशेष बल दिया जा रहा था। व्यवस्था इतनी सुनिश्चित थी कि कोई कहो से भी टस-से-मस न होने पा रहा था। मध्य में स्पष्ट मार्ग था जिस पर विशिष्ट सैन्याधिकारियों के ही अश्व दौड़ रहे थे। समय के अश्व की गति से मगध सेना के अश्वों की गति अधिक तीव्र थी। सैनिकों की आँखें उसी दिशा में लगी थीं जिधर से सम्राट को आना था। सहसा एक क्षण आया जब मार्ग पर दौड़ते अश्व अदृश्य हो गये। दृष्टियां थम गईं। साँसें अन्दर-की-अन्दर और बाहर-की-बाहर रह गईं। सम्राट के आगमन का आभास गति-ध्वनि से मिला। आंधी भी क्या इतनी तीव्र गति से गुजरती होगी। देखते-देखते सम्राट का अश्व आया, गुजरा और आगे निकल गया। दृष्टि के साथ गरदनें भी घूमती चली गईं। न देखा ही जा सका और न संख्या का अनुमान तक लगाना सम्भव था उन अनुसरण करते हुए सैनिकों का जिन्हें सम्राट की गति ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। एक-एक सैनिक ने देखा कि आकाश की पूर्व दिशा में सूर्य की प्रथम किरण का प्रस्फुरण हो रहा था। सम्राट के हाथ का मगध ध्वज आकाशोन्मुख

हुआ और प्रस्थान आदेश की द्योतक एक भीषण ध्वनि विशेष प्रकट हुई। ये तीनों ही क्रियायें एक साथ घटीं। प्रत्येक पग अपने स्थान पर ही उठा, आगे बढ़ा और अन्य पगों को बढ़ने के लिये बाध्य किया। प्रारम्भ में गति ने जो सरकने का रूप धारण किया वह शनैः-शनैः गति की तीव्रता में परिवर्तित होती चली गई। जो आगे थे उन्हें तो मार्ग स्पष्ट दिखाई दे रहा था और जो अनुसरण कर रहे थे उनकी दृष्टि के समक्ष धूल का घनत्व इतना सघन होता जा रहा था कि वे अपने अश्व को भी न देख पा रहे थे। पृथ्वी की धूल इतनी उत्साहित हो उठी थी कि आकाश के प्रभामण्डल को ढकने का प्रयास कर रही थी। धूल के उत्पन्न होने की गति जितनी तीव्र थी, फैलने की गति उतनी ही मन्द थी। पर गति के समक्ष किसे चिंता थी धूल की या उत्तरोत्तर सशक्त होती जा रही धूप की। गति मार्ग को पछाड़ रही थी। मार्ग गति को चुनौती दिये था। दोनों में होड़ लगी थी। गति मार्ग को पछाड़ने का भरसक प्रयास कर रही थी किन्तु उसकी सुदीर्घता को माप नहीं पा रही थी। मार्ग का रूप वैविध्य स्वयं मे असाधारण था। कभी मार्ग समतल मिलता तो कभी ऊँचा-नीचा, कभी सँकरा तो कभी चौड़ा दिखाई देता मार्ग, धूलभरा मार्ग कभी चलने में सुविधाजनक लगता तो वन पादपों से आच्छादित मार्ग गति को मन्दतर बनाता चला जाता। किन्तु मार्ग का कोई भी वैविध्यपूर्ण स्वरूप गति को विराम न दे पा रहा था। गत्यातुर आक्रमणकारियों का सहयोग जो उसे प्राप्त था। पदाक्रान्त मार्ग गति के स्वागत में आँखें बिछाता चला जा रहा था और उसी से गति को प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा था।

मध्याह्न का सूर्य आकाशमण्डल के बीचोबीच चमक उठा था। गति तो असाधारण थी ही। मार्ग भी कम पीछे न छूट चुका था। गतिमान सम्राट ने गरदन मोड़ पीछे देखा। उनके और वीरवती के अश्व के बीच विशेष अन्तर न था। वीरवती ने अश्व को लगभग समानान्तर स्थिति में ले जाते हुए पूछा, "भगवन्! सम्भवतः स्मरण कर रहे हैं?"

"हाँ, मार्ग में अभी तक कहीं अवरोध नहीं मिला?"

"इस गति का अवरोध कर कौन सकता है?"

"वे सब गुप्त सूचनाएँ क्या हुई?"

"अभी बहुत दूर हैं। उनके संकेत पहले ही प्राप्त हो जायेंगे।" कुछ दूर ऊँचे टीले पर एक संकेत विशेष देख वीरवती ने सावधान किया, "तनिक गति को विराम दीजिए। वह देखिए, सामने ऊँचे टीले पर मगध-ध्वज का संकेत प्राप्त हो रहा है। अवश्य कोई व्यवधान है।"

"है तो देखते हैं। अभी हटाते हैं मार्ग से व्यवधान को।" महाराज ने गति को विराम देने की अपेक्षा और अधिक तीव्र कर दी।

उस ऊँचे टीले के दाहिनी ओर से मार्ग जाता था। सम्राट ने वीरवती को आदेश दिया, "मैं दाहिने रास्ते से आगे बढ़ता हूँ और तुम बाईं दिशा से आगे मिलो।"

"जो आज्ञा।" वीरवती ने वहीं से अनुचर वर्ग को संकेत दिया और बाईं ओर से मुड़ते हुए वह अग्रसर भी होने लगा। वीरवती ने मार्ग द्वारा अग्रसर होने की अपेक्षा टीले पर चढ़ना श्रेयस्कर समझा। वह चढ़ती चली गई। उन्हें दूर से कुछ सैनिक दिखाई दिये। वे बड़े-बड़े पत्थर पकड़े हुए बैठे थे जिन्हें दाहिने मार्ग से गुजरते सैनिकों पर लुढ़काना था। उनसे टकराकर अश्व भी धराशायी हो सकते थे। लगभग दो सौ सैनिक थे। प्रत्येक सैनिक के पीछे हाथों से फेंके जाने योग्य पत्थरों का ढेर भी लगा था। गतिमान सैनिकों के मार्ग को अवरुद्ध करने की पूरी तैयारी थी। वीरवती धीरे-धीरे अपने दल के साथ बढ़ी और पीछे से उन पर प्रहार कर दिये। एक भी शत्रु सैनिक न सम्हल पाया न बच पाया। देखते-देखते सब का सफाया हो गया। टीले के उच्चतम भाग पर खड़े होकर सबने एक साथ मुखध्वनि की। उस ध्वनि ने गतिमान सम्राट तक को आकृष्ट किया। उन्होंने गति को विराम

दिया और खड़े होकर प्रतीक्षा करने लगे। वीरवती अनुचर चारों सैनिकों के साथ टीले से नीचे उतरीं, अश्वों पर सवार हुईं और लौट पड़ीं उसी मार्ग पर। सम्राट के निकट पहुँचते उन्हें देर न लगी। सम्राट ने घटना का पूरा विवरण सुनकर कहा, "तुम्हारा अनुमान सदा सच निकलता है। अब बोलो बढ़ें आगे ?"

"अवश्य। आगे तो बढ़ना ही है। किन्तु गति इतनी तीव्र न रखें तो हितकर होगा।"

"ठीक है। सामान्य गति से आगे बढ़ते हैं।" सम्राट का अश्व गतिमान हो उठा।

स्थिर सैन्यसमूह में जीवन लहरा गया। चल पड़ी सेना सम्राट के पीछे। सामान्य रखते हुए भी गति असामान्य होती चली जा रही थी। वीरवती ने टोका, "बस, गति को और तीव्रमत होने दीजिए।"

"ओह ! क्या गति अपेक्षा से अधिक हो गई है ?" गति को किंचित कम करते हुए सम्राट ने पूछा, "अब ? ठीक है इतनी ?"

"थोड़ी और कम हो सके तो सुविधा रहेगी। देखिए, सामने पहाड़ी झरना है जो कि नदी के रूप में प्रवाहित हो रहा है। इसे पार करना है। इसके पूर्व रुकना आवश्यक है। यदि जल प्रवहमान है तो ठीक है, अन्यथा जल का परीक्षण करना होगा।"

"क्या आवश्यकता है परीक्षण की। गहराई देखे लेते हैं। पार सीधे ही करना है।"

"फिर भी, समझ लेने में हानि ही क्या है ?"

"इस तरह डर-डर कर बढ़ेंगे आगे तो कर चुके आक्रमण शत्रु पर। ऐसे छोटे-मोटे नालों को तो उसी गति से पार करना चाहिए।"

"रोक कौन रहा है ? बढ़िए आगे, कीजिए पार। अधिक गहराई नहीं है।"

जैसे ही सम्राट ने अश्व आगे बढ़ाया, एक तीर निकट आ गिरा।

"रुकिये।" वीरवती ने सावधान किया, "इस झरने के पीछे शत्रु सैनिक हैं।" और वह तेजी से बढ़ी उसी ओर। तीरों की वर्षा प्रारम्भ हो गई थी। उनकी उपेक्षा करते हुए वीरवती बढ़ती चली गईं। निकट पहुँची ही थीं कि एक साथ सौ शत्रु सैनिक निकल पड़े। तीर का स्थान तलवारों ने ले लिया। होने लगे प्रहार-पर-प्रहार। परस्पर टकराने लगीं तलवारें। झन-झनाहटें वातावरण को गुंजायमान बनाने लगीं। जो प्रहार से रक्षा करने में चूक जाता उसी के शरीर का कोई-न-कोई अंगपृथक हो दूर जा गिरता और

रक्त का फव्वारा फूट पड़ता । संघर्ष-रत वीरों की मुखध्वनियाँ भी कम ध्वन्यात्मक न थी । मगध सैनिकों को वे अधिकाधिक आकर्पित कर रही थीं । देखते-देखते शत्रु सैनिकों की संख्या घटने लगी । मगध सैनिक असीमित संख्या में पहुँच चुके थे । कुछ को लड़ने का सौभाग्य मिला शेष बिना लड़े ही लौट आये । एक भी शत्रु सैनिक जीवित न बचा । वीरवती के निकट आने पर सम्राट ने प्रशंसा की, "निश्चित ही अनुपम नारी हो वीरवती । तुम्हारी सतर्कता अद्वितीय है । दो विघ्नों पर तो तुमने सफलता प्राप्त कर ली । अब गति सामान्य ही रखूंगा । चलूं ? बढ़ूं आगे ?"

"अवश्य, बढ़ें भगवन् । बढ़ना तो है ही । पाटलिपुत्र से विजयवाहिनी ने प्रस्थान ही आगे बढ़ने के लिए किया है । भगवन् के नेतृत्व में रुकने का नाम भी लेना अपराध है ।"

"नहीं वीरवती ! ऐसी बात नहीं है । वास्तव में मेरी धारणा है कि जो करना हो, उसे अविलम्ब कर डालना चाहिए नहीं तो समय आगे बढ़ जायेगा और मनुष्य पीछे रह जायगा । जो किसी भी बहाने से रुका वह सदा के लिए पिछड़ जायगा । फिर वह कभी भी समय की गति को न पकड़ सकेगा ।"

"किन्तु भगवन् ने जो गति ग्रहण कर रखी है, वह समय की गति से बहुत तीव्र है ।"

"ओह ! गति की धुन में गति की तीव्रता का ध्यान ही नहीं रहता ।"

"और रहना भी नहीं चाहिए । जहाँ गति धुन रूप धारण कर लेगा वहाँ गति का ध्यान न रह पाना स्वाभाविक ही है । और फिर भगवन् को किसी की आवश्यकता भी क्या रह जायेगी ।"

"नहीं यह बात नहीं है, वीरवती । तुम्हारी कितनी आवश्यकता है, यह तो मार्ग में आने वाली विघ्नबाधायें बता रही हैं । जितनी सरलता से उन्हें पहचान लेती हो, उतनी ही सफलता के साथ उन्हें निर्मूल भी बना डालती हो । तुम साथ न होतीं तो कदाचित इन्हीं में उलझ कर न जाने कितना समय नष्ट करना पड़ता और जो क्षति उठानी पड़ती उसका तो अनुमान तक असम्भव है ।"

"किन्तु कलिंग-विजय-अभियान में विलम्ब के लिए दोषी भी तो मुझे ही समझा जा रहा है ।"

"किन्तु अब नहीं । मार्ग के इन अव्यक्त विघ्नों ने मेरी धारणा को पूर्णतया परिवर्तित कर दिया है । समय भले ही अवश्य लगे, किन्तु विजय अभियान की सफलता सुनिश्चित है—यह विश्वास क्या कम महत्वपूर्ण है ।"

"अहो भाग्य । रुकिये-रुकिये । भगवन् रुकिये । गति को तत्काल पूर्ण

विराम दीजिए।" सहसा वीरवती ने महाराज जी को सावधान किया।

अश्व की गति को पूर्ण विराम देते-देते सम्राट अशोक ने जिज्ञासा प्रकट की, "क्यों? क्या हुआ? कहीं कुछ दिखाई दे गया?"

"हाँ, वह सामने देखिए। धूल भरा दलदल प्रतीत हो रहा है। इतनी अधिक धूल सहसा कहाँ से मार्ग में एकत्र हो गई! इस धूल में भी शत्रु की कोई चाल न हो।"

"फिर क्या है! आगे बढ़कर देखना तो तुम्हें ही है। परीक्षण कर देखो।"

"जो आज्ञा!" वीरवती आगे बढ़ीं। अश्व एक-एक पग रख रहा था। जब आगे का एक पैर ठोस धरती पा लेता तभी दूसरा पैर वह आगे बढ़ाता। पीछे के दोनों पैर अगले पैरों का अनुसरण कर रहे थे। कठिनाई से दस पग ही आगे अश्व बढ़ पाया था कि उसका एक पैर आधा धूल में समा गया। उसने दूसरा पैर आगे बढ़ाया ही नहीं। वीरवती वहीं अश्व से नीचे आ गईं। उन्होंने एक नारी सैनिक से भाला लिया और धूल में घुसेड़ दिया। लगभग पूरा भाला धूल में समा गया था, फिर भी ठोस भूमि उसे न मिल रही थी। अश्व भी पीछे हट आया था। वीरवती ने आदेश दिया, "भाले की सहायता से दाहिने-बायें बढ़-बढ़कर परीक्षण करो। ज्ञात करो कि कहाँ तक भूमि की यह स्थिति है।" देखते-देखते असंख्य सैनिक परीक्षण कार्य में जुट गये। वीरवती ने खड़े खड़े आदेश दिया, "दो भालों को एक साथ बांधो। देखो यह दलदल कितना गहरा है।"

जब दोनों भाले भी दलदल की थाह न ले सके तो उसमें तीसरा भाला भी बांधा गया। आधा वह भी समाता चला गया। वीरवती ने निष्कर्ष की अभिव्यक्ति दी, "भगवन्! शत्रु का यह दाँव अचूक था। उसे विश्वास होगा कि मगध नरेश गज पर आसीन होंगे। पूरा गज धूल में समा जाय इतनी गहराई को धूल से भरा गया है। फिर इस धूल से बाहर निकल पाना असम्भव हो जाता। ओफ्! कितनी भयकर स्थिति होती। न जाने कितने गज और अश्वारोही सैनिक इस दलदल में समा जाते। अभी तक परीक्षण समाप्त नहीं हुआ? चौड़ाई में काफी दूर तक दलदल बना रखा है। भगवन्! एक अनुरोध है।"

"अनुरोध नहीं, जो चाहे आदेश व्यक्त करो। मेरी तो बुद्धि चमत्कृत हो उठी है। समझ में नहीं आ रहा है कि क्या करूँ।"

भगवन् तनिक भी न चिंतित हों न विस्मत विजयश्री तो भगवन् को वरण करेगी ही। ऐसी विघ्न-बाधायें तो आती ही रहती हैं। ये न हों तो विजय सुगम

मचन जाय। सभी उसे वरण करने लगें। वीरता के ये ही तो परीक्षण विन्दु होते हैं। अब मेरी प्रार्थना है कि भगवन् आज आगे बढ़ना स्थगित कर दें। यहीं रात भर विश्राम करें। रातभर में दूर-दूर तक क्षेत्र का निरीक्षण-परीक्षण भी हो जायेगा और अपेक्षित परामर्श भी सम्भव हो सकेगा।"

"ठीक है।" महाराज जी की स्वीकृति का अभिव्यक्त होना था कि वीरवती के माध्यम से गति विराम की घोषणा विस्तार पाती चली गई।



कलिंगराज ने जब से राजप्रासाद छोड़ा था तब से वह सैन्याधिकारियों से ही घिरे रहते थे। सैन्याधिकारियों से परामर्श किये विना वह कोई भी सैनिक कार्यवाही नहीं करते थे। जब भी उन्हें कोई नवीन सूचना प्राप्त होती थी, वह विशेष उद्विग्न हो उठते थे। चिंता की गहरी रेखायें मुखमण्डल पर आभासित होने लगती थी। वह बैठे न रह पाते थे। उठकर वह टहलने लगते थे। एक हाथ की खुली हथेली पर दूसरे हाथ की मुट्ठी वह पटकने लगते थे। रह-रहकर वह एक ही जिज्ञासा अनेक ढंग से करते थे, "तुम थे वहाँ ? अपने नेत्रों से देखा है ?"

"जी महाराज जी,! मेरा दुर्भाग्य कि स्वधर्म पर वलिदान न हो सका। न जाने क्या देखने के लिए जीवित रह गया। कोई वीरवती नाम की एक सैनिक नारी है जिसने न जाने कैसे दल-दल का रहस्य जान लिया।"

कलिंगराज ने आगे प्रश्न किया, "क्या नाम बताया उस सैनिक नारी का ?"

"वीरवती, महाराज जी।"

"हूँ तो यह वही वीरा होगी। अपनी माँ के मरते समय इसने प्रतिशोध की जो प्रतिज्ञा की थी, उसी का पालन यह कर रही है।"

"वह अकेली है या उसके साथ और भी नारियाँ हैं ?"

"नारियों का एक सैनिक दल ही उसने बना रखा है। वही गुप्तचरी का कार्य करता है। उसकी सतर्कता के कारण ही शत्रु सावधान हो गया अन्यथा मगध सम्राट के साथ न जाने कितनी मगधवाहिनी दल-दल में समा जाती।"

"पूरे क्षेत्र का परिज्ञान कर लिया होगा ?"

"जी, महाराज जी, किन्तु ठहर वे वहीं गये हैं। वहाँ से आगे बढ़ने का साहस वे नहीं जुटा पा रहे हैं। लगता है कि शत्रु भयभीत हो उठा है।"

"नहीं, सोच-समझकर आगे बढ़ने के लिए वहीं रुक गया होगा। तीनों दांव खाली गये। झरने और पहाड़ी टीले वाले अवरोधों पर तो मुझे विशेष विश्वास न था, पर दलदल की भी अवरोध योजना असफल हो गई, है आश्चर्यजनक। अब तो आगे कोई मार्ग-अवरोधक है नहीं ?"

"हैं, महाराज जी, अनेक हैं। एक-से-एक बढ़-चढ़कर हैं। रमणीक स्थानों पर का जल विषाक्त किया जा चुका है। वृक्षों की डालें काट डाली गई हैं। पांच हजार विषधरों को भी सुरक्षित रख लिया गया है। एक स्थान पर कांटों का ऐसा जाल बिछा है जिसे पार करना असम्भव है। महाराज जी, विश्वास रखें, पग-पग पर व्यवधानस्वरूप कुछ-न-कुछ उपस्थित है।"

"फिर भी शत्रु सेना यहाँ तक आ पहुँचेगी अवश्य।"

"यहाँ तक आने में दांतों पसीना आ जायेगा। अधिकांश शत्रु सैनिक व्यवधानों में ही उलझ कर समाप्त हो जायेंगे।"

"इन अवरोधों को पार करने में कितने शत्रु सैनिक काम आये ?"

"संख्या तो नहीं ज्ञात हो सकी, फिर भी, महाराज जी शत्रु सैनिक पर्याप्त संख्या में मरे होंगे।"

"असत्य! नितांत असत्य!! मगधपति आगे-आगे चलता है। जब वही जीवित है तब अनुचरों के मरने का प्रश्न ही नहीं उठता।"

"बस, एक दिन का अवसर दें, महाराज जी! आहतों और मृतकों की ठीक संख्या से अवगत कराता हूँ।"

"कोई आवश्यकता नहीं। दो-चार सहस्र सैनिक मर भी गये होंगे तो तीन लाख की शत्रु सैनिक संख्या में क्या अन्तर पड़ने वाला है। हूँ! कुछ और सोचना पड़ेगा।"

"आज्ञा दें महाराज जी।"

"मैंने कहा न कि सोचना पड़ेगा। और सोच भी लिया।"

"क्या सोचा महाराज जी ने ? आदेश दें।"

"अब आदेश नहीं दूंगा, स्वयं आगे बढ़कर देखूंगा। किसी पर भी विश्वास करना व्यर्थ है। बहुत कर चुका भरोसा सबका। कोई भी कुछ न कर सका। सब अपने को चतुर समझते हो। यह नहीं जानते कि शत्रु तुमसे भी अधिक सावधान है। शत्रु को कोई भी व्यवधान अब न रोक सकेगा। तीनों अवरोधों ने उसे और भी सावधान बना दिया होगा। मुझे ही अब

कुछ-न-कुछ करना होगा।"

"पिता जी ! आप तनिक भी चिंतित न हों। मैं देखता हूँ शत्रु को आगे बढ़कर।" राजकुमार ने साहस का परिचय दिया।

राजकुमारी भी बोलीं, "शत्रु सेना के मध्य मुझे जाने की अनुमति दें।"

"कदापि नहीं, किसी को कहीं आने-जाने की आवश्यकता नहीं। जो भी करना होगा, मैं स्वयं करूँगा। स्वर्ग के दर्शन बिना मरे हुए नहीं होते। मैं देखता हूँ कि अब शत्रु आगे कैसे बढ़ता है।"

कलिंगराज तेजी से शिविर के बाहर निकल गये।



प्रातःकाल वीरवती ने शिविर में प्रवेश किया तो सम्राट अशोक ने देखते ही पूछा, "रात भर कहाँ रहीं ?"

"लगता है कि भगवन् ने सम्पूर्ण रात्रि जागकर ही काट दी। क्यों, शैला और पद्मा भी न सुला सकीं ?"

"नहीं वीरवती। इन दोनों ने तो भरसक प्रयास किया कि मैं तनिक भी चिंतित न होने पाऊँ किन्तु एक क्षण के लिए भी चिंता से मुक्त न हो सका।"

"भगवन् और चिंता ! आश्चर्य है। दासी के रहते हुए भगवन् को चिंतित होने की क्या आवश्यकता। फिर मेरी उपयोगिता ही क्या ?"

"सो तो ठीक है वीरवती। किन्तु पहले यह बताओ कि तुम रात्रिभर रही कहाँ ?"

"भगवन् से विशेष दूर कदापि नहीं। बस, यहीं आस-पास का क्षेत्र घूम फिरकर देखती रही।"

"कुछ देखा ?"

"कुछ विशेष देखने को तो नहीं मिला। और न कुछ सूचना अभी तक मिल सकी है।"

"सूचना ! कैसी ? किससे मिलनी है सूचना ?"

"कुछ गुप्तचरों को आगे दौड़ाया गया है। बिना पूरी जानकारी के आगे बढ़ना निरापद नहीं है। किन्तु एक भी अभी तक नहीं लौट सकी है।"

"फिर करना क्या है ? यहाँ से कब प्रस्थान करना है ?"

"विशेष अनुचित न समझें भगवन् तो गुप्तचरों के लौटने की प्रतीक्षा कर लें।"

"और यदि गुप्तचरें न लौट सकीं ?"

"भगवन् ! यह कैसे सम्भव है ?"

"ठीक वैसे ही जैसे शत्रु विश्वास किये बैठा होगा कि उसके द्वारा विनिर्मित व्यवधान अवश्य घातक सिद्ध होंगे।"

"क्षमा करें भगवन् ! गुप्तचरों की अनेक टुकड़ियाँ भिन्न-भिन्न दिशाओं में गई हैं। प्रत्येक की दिशा ही, नहीं दूरी और लौटने की अवधि तक निश्चित कर दी गई है। प्रत्येक टुकड़ी को सफलता असफलता की चिंता किये बिना निर्धारित अवधि तक अवश्य लौटना है।"

"प्रातःकाल की अवधि किसी के लिए भी निर्धारित नहीं थी ?"

"थी क्यों नहीं। अब तक आ भी जाना चाहिए था। अवश्य कोई-न-कोई विशेष बात होगी।"

"इसका अभिप्राय है कि अभी प्रतीक्षा करना है।"

"प्रतीक्षा कर लेना हितकर रहेगा। वैसे जैसा भगवन् का आदेश हो।"

"फिर प्रतीक्षा की अवधि कल प्रातःकाल तक ही समझना। जिसको भी प्रतीक्षा करना हो या जो भी खोजबीन करनी हो, आज दिन और रात भर कर लो। कल प्रातःकाल यहाँ से आगे के लिए प्रस्थान अवश्य होगा।"

"भगवन् का आदेश शिरोधार्य है। चेष्टा करूँगी कि भगवन् को पुनः आदेश न व्यक्त करना पड़े। अच्छा, अनुमति दें।" वीरवती ने उठने का उपक्रम किया।

"अरे ! अभी-अभी तो आई हो और अभी-अभी चल दीं ? कहाँ जाना है ? क्या करना है ? प्रतीक्षा ही तो करनी है। यहाँ बैठकर भी प्रतीक्षा की जा सकती है।"

"भगवन् के आदेश के समक्ष नतमस्तक हूँ। किन्तु जो कार्य मुझे स्वयं करना है, उसे तो और कोई न कर सकेगा।"

"क्यों न कर सकेगा कोई। मुझे बताओ। मैं अभी करवाता हूँ।"

"लौटने पर भी गुप्तचरों को परस्पर मिलने न देना है। प्रत्येक से पृथक-पृथक सूचनायें एकत्र करना है। यदि दो गुप्तचरों में परस्पर वैचारिक आदान-प्रदान हो गया तो सूचनायें विश्वसनीयता खो बैठेंगी।"

"वीरवती जो भी निर्णय करें उसे दूसरा न स्वीकार करे—यह कैसे सम्भव है। जाओ, अवश्य जाओ, किन्तु एक शर्त है।"

"आज्ञा करें, भगवन् ।"

"बीच-बीच में शिविर में आती रहोगी और वस्तुस्थिति से अवगत कराती रहोगी । सेनाध्यक्ष जी दो बार आ चुके हैं ।"

"मेरे ऊपर सन्देह व्यक्त कर गये होंगे ?"

"नहीं, किन्तु वस्तुस्थिति से अवगत वह अवश्य होना चाहते थे ।"

"विशेष व्यग्र प्रतीत हो रहे हों तो आगे भेज दीजिए । स्थिति स्वतः समक्ष आ जायेगी ।"

"मैं उन्हें समझा लूंगा । अव्यक्त वस्तुस्थिति के प्रति चिंतित होना स्वाभाविक है । अधीनस्थ सैन्याधिकारी उनसे भी तो प्रश्न कर रहे होंगे । कैसी असमर्थता की पीड़ा वह अनुभव करते होंगे ।"

"मार्ग में भेंट हुई तो समझा दूंगी ।"

"वह कदाचित बात करना पसंद न करेंगे ।"

"पुरुष है न वह । नारी के साथ बात करने में उनके पौरुष का अपमान होता होगा ।"

"ओह ! इस स्वर में भी बोलना जानती हो ?"

"अपराध के लिए क्षमा प्रार्थी हूं, भगवन् । जो जैसा होता है, उसके साथ वैसा व्यवहार करना आता है मुझे । कलिंगराज ने मेरी मां का जो अपमान किया था, वह मुझे आज भी भलीभांति स्मरण है । अपमानित होकर जीना, मृत्यु पीड़ा से भी अधिक त्रासदायक होता है । यह तो भगवन् के महान औदार्य का प्रतिफल है । जो नारी का सम्मान सुरक्षित है अन्यथा पुरुषों द्वारा नारियों का सदा अपमान ही हुआ है । सेनाध्यक्ष जी यदि उसी पुरुष धारणा के शिकार हैं तो कोई नई बात नहीं । अवसर मिला तो उन्हें अवश्य समझाने की चेष्टा करूंगी कि नारी वह सब कर सकती है जो पुरुष कर सकता है, किन्तु पुरुष वह सब नहीं कर सकता है जो नारी कर सकती है । उनसे स्वीकार करा लूंगी कि नारी नर से श्रेष्ठ है ।"

"मैं ही स्वीकार किये लेता हूं कि नारी.............. ।"

"भगवन् ! अपराध क्षमा हो । मैं भावावेश में बोलती चली गई । मुझे स्मरण भी न रहा.............. ।"

"कि मैं भी एक पुरुष हूं ।"

"आप तो भगवन् पुरुष श्रेष्ठ हैं । पुरुषों की सामान्य दुर्बलताओं से आप परे हैं । आपकी दृष्टि में नारी की जो प्रतिष्ठा है, वह नारीत्व को गौरवान्वित करने के लिए यथेष्ट है ।"

"फिर उसी पुरुष श्रेष्ठ को वचन दो कि सेनाध्यक्ष के सम्मान की रक्षा करोगी ।"

"वही होगा जो भगवन् का आदेश होगा।"

"फिर जाओ और नवीन सूचनाओं से अवगत कराओ आकर।"

"जो आज्ञा। बस। गई और आई।" कथन के साथ-साथ वीरवती शिविर के बाहर हो गईं।



वीरवती के समझाने पर भी जब सम्राट अशोक अपने निर्णय से टस-से-मस न हुए तो वीरवती को सहमति व्यक्त करनी पड़ी, "फिर प्रस्थान का आदेश दें, भगवन्।"

सम्राट अशोक के हाथ की मगध पताका आकाशोन्मुख जैसे ही ऊँची उठी, प्रस्थान सूचक ध्वनि विशेष वातावरण को निनादित कर उठी।

वीरवती ने समानान्तर गति ग्रहण करते हुए निवेदन किया, "भगवन् से एक प्रार्थना है कि आगे चलने की अपेक्षा सेना के मध्य में चलने की कृपा करें।"

"क्यों? कोई विशेष बात देखने में आई?"

"अभी तो नहीं, किन्तु किसी क्षण भी शत्रु द्वारा कोई भी संकट उपस्थित हो सकता है।"

"किन्तु इसका सम्बन्ध मेरे मध्य में आने से कैसा है? गति तो वैसे भी मन्द है।"

"भगवन्! कारण होता तो हर कार्य का है, किन्तु कुछ कारण ऐसे होते हैं जिन्हें व्यक्त करने में भी मन कांप जाता है।"

"ओह! समझ गया। वीरवती भी एक नारी हैं। नारी सबलता का बाह्य प्रदर्शन कितना ही क्यों न करे, आन्तरिक दुर्बलता उसका पीछा नहीं छोड़ती है।"

"क्षमा प्रार्थी हूँ भगवन्! गज पर आसीन हों। मध्य में सुशोभित हों। गतिमान विजय-अभियान की शोभा द्विगुणित हो उठेगी।"

"फिर तो और भी प्रसन्न दिखाई दोगी?"

"प्रसन्न तो अब भी हूँ, भगवन्!"

"फिर क्या आवश्यकता है गजासीन होने की। प्रसन्न तो हो ही तुम।"

"भगवन् को गजासीन देखकर यह प्रसन्नता सबके मुखमण्डलों पर आभासित हो उठेगी।"

"तुम्हारी प्रसन्नता में वृद्धि होगी या नहीं ?"

"आशातीत भगवन् !"

"फिर लाओ गज।" महाराज जी ने अश्व की गति को रोका। गज अश्व के बगल में लाया गया। गज की रस्सी पकड़कर महाराज जी अश्व की पीठ पर खड़े हो गये और रस्सी के सहारे गज की पीठ पर उपस्थित सिंहासन पर जा बैठे। उनके बैठते ही, महाराजाधिराज मगध नरेश की जय हो।" की जय ध्वनि असंख्य कण्ठस्वरों में गूंज उठी।

सेनाध्यक्ष महाराज जी के गज के ठीक पीछे थे। उनकी दृष्टि के केन्द्रबिन्दु महाराज जी ही थे। जितना ही वह वीरवती का अनुरोध स्वीकार करते जा रहे थे, सेनाध्यक्ष उतना ही अपने को अपमानित अनुभव कर रहे थे। वीरवती गज के दूसरी ओर थीं। न सेनाध्यक्ष वीरवती को देख पा रहे थे, न वीरवती सेनाध्यक्ष की गतिविधियों को ही लक्ष्य कर पा रही थीं। दोनों के मध्य में था गतिमान गज। उसकी गति सामान्य थी। सहसा उसने सूंड़ उठाई और जोर से चिग्घाड़ा। अश्व भी हिनहिना उठे। अन्यमनस्क सैनिक भी सावधान हो गये। शस्त्रों की पकड़ कठोर हो गई। ध्यान से देखने लगे कि कहाँ क्या है। किन्तु दिखाई कुछ भी न दिया। कुछ ही क्षणों में मात्र वनराजों की भीषण दहाड़ें सुनाई देने लगीं। दहाड़ें वनप्रदेश के शान्त वातावरण को विदीर्ण कर रही थीं। गज चिग्घाड़ रहे थे। अश्व लगातार हिनहिना रहे थे। पशु अन्दर से विचलित हो उठे। पैर सीधे मार्ग पर न पड़ रहे थे। सवार स्वयं रक्षा के लिये सतर्क हो उठे थे। शोर इतना अधिक वातावरण में भर गया था कि किसी को कुछ भी न सुनाई दे रहा था। प्रत्येक सैनिक यह जानने के लिए प्रयत्नशील था कि वनराजों की ध्वनि किस ओर से आ रही थी। आक्रमण की मुद्रा में शस्त्र तने हुये थे। जो आगे या दाएँ-बाएँ चल रहे थे, वे अधिक सतर्क थे। बीच के सैनिक विशेष चिंतित न दिखाई दे रहे थे। सम्राट ने दृष्टि नीची करके जानना चाहा, "क्या वनराज अधिक संख्या में यहाँ पाये जाते हैं ?"

"भगवन् ! न कभी सुना न देखा। न जाने कहाँ से वनराज सहसा उपस्थित हो गये। सम्भव है, पालतू हों। राजप्रासाद से यहाँ लाये गये हों।"

"वनराज राजप्रासाद में रखे जाते हैं ?"

"हाँ, कभी-कभी दुर्दान्त अपराधियों को वनराजों के कठघरे में डाल दिया जाता है। अपराधी दण्ड भी पा जाता है और वनराजों को भोजन

भी प्राप्त हो जाता है। साथ में दर्शकों का शिक्षाप्रद मनोरंजन भी हो जाता है।"

"फिर तो राजप्रासाद से ही ये वनराज लाए गए होंगे। ये नररक्त के अभ्यस्त होंगे।"

"जी, भगवन् ! चिंता की तनिक भी आवश्यता नहीं। अभी सब समाप्त हुए जाते हैं।"

"कैसे ?"

"ध्वनि-भेदी बाण द्वारा लक्ष्य संधान में पारंगत वीरांगनाएँ आगे ही हैं। वे सब को मार गिरायेंगी। लीजिये, सुनिए ये मर्मान्तिक दहाड़ें। कदाचित वे धराशायी हो भी गए। अरे ! एक की भी दहाड़ नहीं सुनाई दे रही है। सब-के-सब एक साथ समाप्त हो गये।"

"हाँ, दहाड़ें सुनाई देनी तो बन्द हो गई। क्या इसे भी शत्रु की एक चाल समझी जाय ?"

"अवश्य, भगवन् ! वैसे भला वनराज अपने विश्रामगृहों से मृत्यु के मुंह का ग्रास बनने के लिए क्यों भीड़ का सामना करने लगे ? शत्रु के चातुर्य की सीमा नहीं है।"

"और तुम्हारी सतर्कता भी उतनी ही असीम है। वास्तव में, यह संघर्ष है चातुर्य और सतर्कता का। देखना है कि कौन किसे पराजित करता है।"

"सतर्कता ही विजयिनी होगी। चातुर्य को तो विफल होते हुए भगवन् देख भी चुके हैं।"

"हाँ, शत्रु अपनी इस चाल में भी असफल रहा।"

"देखिएगा, इसी भांति शत्रु अपनी हर चाल मे असफल ही सिद्ध होगा।"

"अब तो गति को कुछ तीव्र करो। वनराजों का भय तो अब रहा नहीं।"

"थोड़ा धैर्य रखिये, अभी होते हैं किसी-न-किसी नई चाल के दर्शन।"

"तुम्हें कैसे ज्ञात ?"

"विगत अनुभवों के आधार पर कोई भी सम्भावना व्यक्त कर सकता है।"

"अरे ! यह प्रकाश कैसा ? यह तो विशालतर और निकटतर होता जा रहा है।"

"यह है शत्रु की नई चाल।"

"ज्वालायें तो बड़ा विकराल रूप धारण करती जा रही हैं।"

"आप गजासीन हैं भगवन् ! दूर तक देख सकते हैं। विकरालता का अनुमान सहज ही लगा सकते हैं।"

"ज्वाला की गति भी असाधारण है। कदाचित पीछे न हटना पड़े। आगे बढ़ना तो कम-से-कम रोक ही देना चाहिए।"

"अभी लीजिए।" वीरवती तेजी से आगे बढ़ीं। स्वयं को गति अवरोधक प्रमाणित कर आदेश दिया, "दाहिने-बायें फैल जाओ। यह ज्वाला यहाँ तक भी आ सकती है। पीछे हटने के लिए स्थान बना लो।"

वीरवती के आदेश का पालन किया गया। सम्राट का गज आगे बढ़ आया था। वीरवती से उन्होंने पूछा, "इस आग का रहस्य कुछ ज्ञात हुआ ?"

"भगवन्! यह आग ही है, यह तो स्पष्ट है और शत्रु की कार्यवाई का परिणाम है, किन्तु इतनी तीव्रता से फैलने वाली क्या वस्तु है जिसने अग्नि का रूप धारण किया है, यह समझ में नहीं आ रहा है।"

"यह तो निकट जाने पर ही ज्ञात हो सकेगा।"

"थोड़ी देर और प्रतीक्षा करते हैं। देखते हैं कि यह आगे कहाँ तक बढ़ती है।"

"अब तो नहीं बढ़ रही है। लपटों की ऊँचाई भी कम हो चली है।"

"इसीलिए तो प्रतीक्षा की जा रही है। जिसमें जितनी शीघ्र उफान आता है, वह ठंडा भी उतनी ही शीघ्र होता है। भगवन्! आप यहीं ठहरिए। मैं अभी देखकर आती हूँ।" और वीरवती तीर की भाँति अग्नि की ओर बढ़ गईं। सम्राट ने देखा कि अनेक नारी सैनिकों ने भी उनका अनुसरण किया।

थोड़ी ही देर में वीरवती ने लौटकर सम्राट की सेवा में निवेदन किया, "भगवन्! ज्वाला तो है यह, किन्तु दाह के स्थान पर उसमें शीतलता है। निकट जाने पर सुखद लगा। आइए, आप भी देख लीजिए।"

सम्राट ने पताका ऊँची कर दी। सैन्यदल चल पड़ा। जितना उस अग्नि के निकट होते गये, भय उतना ही कम होता चला गया। सम्राट ने शान्त ज्वाला के निकट जा अनुभव व्यक्त किया, "बड़ा ही अद्भुत संयोग है। ज्वाला और शीतल! ऐसा भी कहीं सम्भव है! कितना सुखद आश्चर्य है यह। तनिक स्पर्श कर देखो।" सम्राट ने आदेश व्यक्त किया।

"स्पर्श कर चुकी हूँ। नाममात्र को भी दाह नहीं है। बल्कि शीतलता ही अधिक है।"

"फिर बढ़ा जाये आगे।"

"अवश्य! भगवन् का आदेश सिर माथे पर। चलो, बढ़ो आगे।" वीरवती का आदेशात्मक स्वर व्यक्त हुआ।

रात्रि होने तक चलने पर एक भव्य मंदिर के दर्शन हुए। उसकी गगन-

चुम्बी चोटियों में अतीव आकर्षण था। दूर-दूर तक उसके परिसर का विस्तार था। वीरवती ने निवेदन किया, "भगवन् की अनुमति हो तो रात्रि यहीं काट ली जाय।"

"क्या आगे मार्ग में किसी संकट की सम्भावना है?"

"हो भी सकता है और नहीं भी। विशाल बावड़ी में निर्मल जल लहरा रहा है। कुछ ही अन्तर पर छोटी-सी नदी भी प्रवाहित हो रही है। विश्राम के लिए परमरमणीक स्थल है।"

"किन्तु स्मरण रखना, सूर्योदय की प्रथम किरण के साथ प्रस्थान अवश्य कर देना है।"

"जो आज्ञा, भगवन्। वीरवती ने मुड़कर ऊँचे स्वर में गति विराम का आदेश व्यक्त किया, "शेष रात्रि यहीं विश्राम करना है।"

आदेश सुनते ही दौड़ पड़े सैनिक विश्राम के लिए उपयुक्त स्थान की खोज में। अधिकांश ने बावड़ी के निकट ही ठहरना ठीक समझा। दिन भर थके थे। प्यासे थे ही। जल को देखते ही टूट पड़े। जिसने भी जल को स्पर्श किया, वही चौंक उठा। जल में जितना हाथ डूब सका, उतने में ही जलन प्रारम्भ हो गई। जल को मुंह तक ले जाने की स्थिति ही नहीं आने पाई। सब इधर-उधर भागे। दृष्टि दौड़ाई तो बड़े-बड़े कुंए दिखाई दिये। कुओं से जल निकालने की भी व्यवस्था थी, किन्तु बावड़ी के जल की विषाक्तता से भयभीत थे। कुओं का जल निकाला गया। उसका स्पर्श और भी अधिक पीड़ादायक था। सभी सावधान हो गये। जो नदी की ओर गये, वे भागते दिखाई दिये। प्रत्येक चिल्ला रहा था, "सांप! सांप!!

असंख्य सैनिकों के कण्ठस्वर फूटे, "कहाँ सांप! कैसे सांप!! किधर सांप!!!"

सांपों की संख्या भी कम न थी और वे बढ़ भी उसी ओर अधिक रहे थे जहाँ सैनिक एकत्र थे। दूर से ही सांपों को देख-देखकर सैनिक उछल-कूद मचा रहे थे। जिसके सामने जो भी ऊंचा स्थान दिखाई दे जाता, वह उसी पर चढ़ बैठता। शस्त्र हाथों में तो थे, किन्तु प्रहार निरर्थक सिद्ध हो रहे थे। सम्राट गज से नीचे अभी तक न आ सके थे। वह ऊपर से ही बैठे-बैठे मगध के वीर सैनिकों की भयावह स्थिति को देख-देखकर आश्चर्यचकित हो रहे थे। और साथ ही उनकी दृष्टि वीरवती को भी खोज रही थी। कुछ देर के बाद एक नारी सैनिक तेजी के साथ सापों पर असि-प्रहार करती दिखाई दी। उसका अनुसरण अन्य सैनिक नारियां भी कर रही थीं। प्रहारों से सांप टुकड़ों में बँटते जा रहे थे। भयभीत सैनिक उन्हीं के पीछे सिमटते जा रहे

थे । सांपों का भय उन पर इस सीमा तक सवार था कि निर्जीव सांपों को भी बचा-बचाकर वे पैर रख रहे थे अथवा अपने शस्त्रों के द्वारा पैर रखने की जगह बना रहे थे । प्रहारों से सांप भी आतंकित हो उठे थे । फन उठाकर खड़े होने की अपेक्षा वे भागते दिखाई देने लगे थे । भागते सांपों को मारने में और भी तेजी आती जा रही थी । वीरवती ने जब अनुभव कर लिया कि सांपों की संख्या ही कम नहीं हुई है बल्कि वे भाग भी रहे हैं तो उन्होंने स्वयं प्रहार बन्द कर दिये और सीधे खड़ी हो गईं । सम्राट का गज कुछ ही अन्तर पर उन्हें दिखाई दिया । वे वहीं उसी ओर । सम्राट भी हाथी पर बैठे न रह सके । इसके पूर्व कि हाथी बैठे और वह उतरें, वह कूद पड़े । सम्राट के कूदते ही सैनिक दूर-दूर तक हट गये । वीरवती भी सहमकर खड़ी हो गईं । सम्राट बढ़े वीरवती की ओर और वीरवती भी खड़ी न रह सकीं । दोनों निकट आते ही एक दूसरे की फैली भुजाओं में समा गये । सम्राट ने पीठ थपथपा कर आसन्न संकट पर विजय पाने के लिए बधाई दी, "शत्रु के किस विलक्षण आक्रमण को किस क्षिप्रता और सफलता के साथ निष्फल बनाया है, अद्भुत रहा प्रयास ।"

"अहो भाग्य ।" वीरवती नतमस्तक खड़ी थी ।

"वीरवती ! मगध सेना का एक-एक सैनिक इस संकट से रक्षा के लिए तुम्हारा ऋणी है । सांपों से भयभीत सैनिकों को कितनी शीघ्र तुमने भय से मुक्ति दिला दी है, तुम्हारा यह प्रयास प्रशंसा से परे है ।"

सेनाध्यक्ष भी काफी निकट आ गये थे । उन्होंने भी कृतज्ञता व्यक्त की, "अपराध क्षमा करें महाराज जी ! महारानी के प्रति मैं सभी सैनिकों की ओर से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं और वचन देता हूं कि महारानी जी के आदेशों का अक्षरसः पालन होगा । पूर्व धारणा के लिए मैं पुनः क्षमा की याचना करता हूं ।"

वीरवती ने औदार्य का परिचय दिया, "सेनाध्यक्ष जी ! आप पुरुष हैं । पुरुष को क्षमा-याचना करते शोभा नहीं देता । और वह भी एक स्त्री के समक्ष ! कदापि नहीं । आप मगध साम्राज्य के सेनाध्यक्ष हैं । इतने विशाल और बलशाली साम्राज्य के सेनाध्यक्ष का क्षमायाचना करना पद प्रतिष्ठा और साम्राज्य गौरव के प्रतिकूल है ।"

"सत्य है, किन्तु आप भी तो मगध साम्राज्य की महारानी हैं । महारानी गरिमा की प्रतीक होती हैं ।"

"और महाराज जी ?"

"शक्ति के प्रतीक।"

"गरिमा और शक्ति में अन्तर ?"

"शक्ति द्वारा गरिमा अर्जित की जाती है।"

"और उपलब्धि श्रेष्ठ मानी जाती है।" सम्राट ने भी अपनी धारणा व्यक्त कर दी।

"कभी नहीं, उपलब्धि से उसके आधार का महत्व अधिक होता है। भगवन् आप हैं आधार। आधार के समक्ष कोई भी उपलब्धि नगण्य होती है।"

"तर्कों के आधार पर भी तुमसे पार पाना कठिन है।"

"क्षमा प्रार्थी हूं भगवन्। एक क्षण के लिए विस्मृत कर बैठी थी कि कब और किसके समक्ष मुंह खोलना चाहिए।"

"नहीं वीरवती! तुम्हें पूर्ण अधिकार है वह सब कुछ कहने का जो दूसरों की दृष्टि में अपमानजनक न हो।"

"भगवन्! दूसरों की दृष्टि को कसौटी मानकर कुछ भी कह पाना अत्यन्त कठिन है। सर्वथा उचित है कि कुछ कहा ही न जाय।"

"फिर दूसरों की गर्जना सुननी पड़ेगी—महारानी वीरवती की जय हो।" जयजयकार की ध्वनि एक बार जहां गूंजी, फिर रुकने का नाम ही न ले रही थी।

सम्राट सस्मित दृष्टि से वीरवती को देख रहे थे। वीरवती का मुखमण्डल आरक्त हो उठा था। जब भी वह दृष्टि उठाकर सम्राट की ओर देखतीं, सम्राट और भी तीव्र ध्वनि से बोल उठते। जयजयकार की ध्वनि जितनी ही विस्तार पा रही थी, महारानी वीरवती उतनी ही गरिमामयी बनती चली जा रही थीं।

शत्रु की प्रगति के मार्ग में जिन-जिन अवरोधों को अविजेय मानकर सेनानायकों द्वारा प्रशंसित किया गया था, उन्हीं की विफलताओं को उन्हीं के मुंह से सुन-सुनकर कलिंगराज उत्तरोत्तर क्रोधावेश धारण करते जा रहे थे। एक स्थिति विशेष तो यहां तक आ पहुंची कि किसी सेनानायक द्वारा सेवा में उपस्थिति की प्रार्थना सुनकर कलिंगराज क्रोधावेश में फुफकार उठे, "किसी भी सेनानायक की मुझे कोई बात नहीं सुननी है। बातों से न तो शत्रु भागने वाला है न संघर्ष ही टलने वाला है। इन्हीं बातों के धोखे में मैं रहा और शत्रु इतने निकट तक बढ़ आया। अब मैं अपनी समझ से काम लूंगा। किसी का भरोसा नहीं करूंगा। शत्रु सिर पर आ धमका है। समय तो नष्ट हुआ ही, शक्ति का भी अपव्यय कम नहीं हुआ। एक भी सेनानायक को अपने किसी भी प्रयास में तनिक भी तो सफलता नहीं मिली। कितनी बढ़-चढ़ बातें करते थे। शत्रु की शक्ति के सामने सब धराशायी हो गये। व्यवधानों के कितने विविध प्रलोभन दर्शाये थे। शत्रु की गति के लिए व्यवधान सिद्ध हो सका एक भी ? हाथ-पर-हाथ, धरे बैठे सोचते रहेंगे। कल्पना में कभी धरती पर दौड़ेंगे तो कभी आकाश में उड़ेंगे। धरती आकाश के सभी कुलावे निरर्थक सिद्ध हो गये। अब कौन क्या मुंह लेकर मेरे सामने आने का साहस कर रहा है ? आने दो।" कलिंगराज का मन अब कुछ हल्का हुआ तो उन्होंने अनुमति प्रकट कर दी।

सेनानायक ने सेवा में उपस्थित हो शिष्टाचार का पालन किया। कलिंगराज ने उसकी ओर देखते हुए पूछा, "क्या कहना है तुम्हें ?"

"महाराज जी ! सीधा शत्रु के बीच से आ रहा हूं।"

"आश्चर्य है ! शत्रु ने तुम्हें जीवित आने दिया ?"

"पहचान नहीं सका। किसी संघर्ष की स्थिति नहीं-आ पाई।"

"शीघ्र कहो, क्या कहना है ?"

"शत्रु सेना में वीरवती नाम की एक महिला है।"

"जानता हूं। कुछ कहा उसने ?"

"नहीं, उससे भेंट नहीं हो सकी।"

"अपना सौभाग्य समझो। भेंट हो जाती तो यहां की अपेक्षा ऊपर पहुंच

गये होते । फिर कहना क्या है ?"

"उसी ने हमारे सभी प्रयासों पर पानी फेर दिया है । उसी के निर्देशों का पालन किया जा रहा है । मगधपति तक उसी के संकेतों पर नाच रहे हैं ।"

"नाच देख आये हो ?"

"नहीं, महाराज जी ।"

"क्या महाराज जी–महाराज जी लगा रखा है । मुझे सब ज्ञात है जो तू कह रहा है या कहना चाहता है । जा दूर हो जा मेरी दृष्टि से । बहुत कर चुका भरोसा दूसरों पर । देख चुका खेल सबों का । किसी को कुछ तो सफलता मिली होती । सब-के-सब बातों के शूर हैं और योजनाओं के वीर हैं । किसी में भी कुछ कर दिखाने की सामर्थ्य नहीं । बस, समाप्त हो चुके सबके नाटक । अब किसी का कोई भी नाटक मैं नहीं देखने का । प्रतीक्षा की घड़ियां समाप्त हो गईं । अब वही करना होगा जो मैंने सोच रखा है । शत्रु आगे बढ़ेगा । उसे रोकने के लिए मुझे आगे बढ़ना होगा । दोनों आगे बढ़ेंगे । एक दूसरे के सामने होंगे । कोई भी अपने को रोक न सकेगा । शत्रु को सामने देखकर आक्रमण की मुद्रा धारण कर लेगा । कोई भी आक्रमण किये जाने की प्रतीक्षा न करेगा बल्कि आगे बढ़कर आक्रमण कर बैठेगा । एक ओर से आक्रमण होगा तो दूसरी ओर से प्रत्याक्रमण स्वाभाविक है । आक्रमण-प्रत्याक्रमण के मध्य जो संघर्ष होगा उससे रक्त प्रवाहित होगा । शूरवीर कट-कट कर गिरेंगे । अश्व और गज धराशायी होंगे । आर्त पुकार मचेगी । मरने और मारने की धुन सिर पर सवार होगी । किसी की असि नर्तन कर रही होगी तो किसी के सिर पर मृत्यु ताण्डव नृत्य कर रही होगी । शौर्य सफलता के शिखर को स्पर्श करने की चेष्टा कर रहा होगा तो पराक्रम प्रतिपक्षी को पराजित देखने के लिए विकल होगा । स्वदेश स्वधर्म पर वीरता न्योछावर हो रही होगी तो अपेक्षाकृत सशक्त पक्ष अपने स्वप्नों को साकार होता देखकर विजयानुभूति से फूला न समा रहा होगा । यही सदा हुआ है और यही होना है । जो होना है उसे कोई कब तक टाल सकेगा । टालने से कभी संघर्ष टला है । और संघर्ष की अंतिम परिणति होती है विनाश । जो विनाश अवश्यम्भावी है, वह हो । हो विनाश ।" कलिंगराज भावावेश में चीख उठे । शिविर के भीतर-बाहर जितने भी सैन्याधिकारी और स्वजन थे, सभी सम्राट की चीख सुनकर चौंके, किन्तु वस्तु-स्थिति से अवगत होते ही शान्त हो गये और प्रतीक्षा करने लगे, आगामी आदेश की । कलिंगराज ने एक-एक को दृष्टि भर देखा । सब मूर्तिवत् दिखाई दिये । युवराज के दृष्टिगत होते

ही सम्राट ने आदेश व्यक्त किया, "मृगांक ! अब किसकी प्रतीक्षा कर रहे हो ? बढ़ो आगे। शत्रु की प्रगति को अवरुद्ध करो। टक्कर लो शत्रु सेना से। खट्टे कर दो दाँत शत्रु सैनिकों के। इतना तीव्र आक्रमण करो कि शत्रु घबड़ा उठे। उसे सुनाई तक न दे कि वह क्या करे और किस ओर बढ़े। पीछे भागने में भी उसे डर लगे। मृत्यु नाच उठे उसकी दृष्टि के सामने। दिखा दो शत्रु को मृत्यु का वास्तविक चित्र। भूल जाये वह सदा के लिये दूसरों पर आक्रमण करना। इस आक्रमण का उसे ऐसा फल चखाओ कि पश्चाताप की जलराशि में सदा के लिए तिरोहित हो जाय। हमें अशक्त समझ रखा है। दिखादो कि कलिंग की स्वतन्त्रता के अपहरण का स्वप्न देखना कितना भ्रामक है। कलिंगवासी स्वतन्त्रता प्रेमी हैं। स्वतन्त्रता प्राणों से भी अधिक प्रिय है हमें। हमारे जीवन का आदर्श है—स्वतन्त्र रहो और दूसरों को स्वतन्त्र रहने दो। हमने कभी किसी का कुछ छीना नहीं। किसी भी राज्य-सीमा का कभी अतिक्रमण नहीं किया। अपनी सीमा और साधनों में हम संतुष्ट हैं। सन्तुष्ट प्राणी सदा शान्त होता है। शान्ति का अभिप्राय शत्रु ने हमारी निर्बलता समझ ली है। उसे समझा दो कि हम जितने शान्त हैं, शत्रु के लिए उतने ही दुर्दान्त हैं। हम शांति से जीना जानते हैं तो शत्रु को नष्ट करने के लिए मरना भी जानते हैं। मरकर भी शत्रु को दिखा दो कि आक्रमण का परिणाम कितना विनाशकारी होता है। आओ, बढ़ें आगे। एक-एक शत्रु सैनिक को रणभूमि में सुला दें। एक भी जीवित लौटने न पाये। आओ। जय कलिंग।" कलिंगराज की असि चमक उठी।

कई दिन तक उसी मन्दिर के परिसर के अन्तर्गत मगध सेना विश्राम करती रही। नदी का प्रवाहित जल ही प्रयोग में लाया जाता रहा। बावड़ी और कुओं का जल का स्पर्श तक नहीं किया गया। खण्डित सर्प जो इधर-उधर बिखरे पड़े थे, सैनिकों द्वारा उनकी सफाई कर दी गई थी। भागने में जो सर्प सफल हो गए थे वे ऐसे गायब हुए थे कि फिर दिखाई नहीं दिये। कुछ सैनिक जो सर्पभय से पीड़ित थे, वे ही सर्पों की चर्चा करते रहे, शेष सैनिक वीरवती की संकट से निपटने की कुशलता की प्रशंसा में अपने वाक्चातुर्य का परिचय देते रहे। राजकीय शिविर में कभी विचारगोष्ठी आयोजित होती, कभी मनोरंजनार्थ नृत्य-गान प्रस्तुत होता। जब भी वीरवती कहीं से लौटती, सम्राट प्रश्न करते, "अब प्रस्थान में क्या विलम्ब है?"

वीरवती भी सम्राट के स्वभाव से भलीभांति परिचित हो चुकी थी, उल्टे प्रश्न ही कर देती, "भगवन् को कुछ कष्ट है? नृत्य-गान के द्वारा मनोरंजन नहीं हुआ? मनभर पेय नहीं प्राप्त हो सका? शिविर के बाहर भी नहीं निकले?"

सम्राट भी वीरवती की एक-एक नस से परिचित हो चुके थे। किस प्रश्न को वह कैसे टालती हैं, इसका भी पूर्ण परिज्ञान उन्हें था। सम्राट हँस कर पुन: प्रश्न करते, "कितने दिन अभी यहां और पड़े रहना है, महारानी जी केवल इतना बताने का कष्ट करें।"

"बस, दो-तीन दिन और।"

"दो-तीन दिन की बात आज चौथी बार सुन रहा हूँ। इस आश्वासन का कोई अन्त है?"

"जी भगवन्! जो अग्रगामी दल गया हुआ है, मात्र उसके लौटने की देर है। यदि अब दो-तीन दिनों में वह नहीं लौटा तो भी प्रस्थान कर देंगे यहाँ से। मुझे पूर्ण विश्वास है आज रात तक या कल प्रातःकाल तक वह अवश्य लौट आयेगा।"

"सम्पूर्ण विजय-अभियान सैन्य-दल की चिंता ओढ़े अकेले इधर-से-उधर डोलती रहती हो, न कुछ बताती हो न किसी से सहायता ही लेती हो, यह कहाँ तक उचित है? सेनाध्यक्ष जो तक इस प्रतीक्षा में हैं कि तुम उन्हें सेवा का अवसर दो।"

"बस, अब उन्हीं की सेवा की आवश्यकता रह गई है। अगर कलिंग-राज आगे बढ़ रहे हैं तो हम एक दूसरे के काफी निकट आ गए हैं। कुछ योजन का ही अन्तर रह गया है। अभी सूचना मिली जाती है। आगे सेनाध्यक्ष जी जाने उनका काम जाने। मेरा कार्य समाप्त, उनका उत्तरदायित्व प्रारम्भ।"

"अच्छा, दल के लौटने तक तो तुम्हें अब कहीं नहीं जाना है ?"

"आज्ञा करें, भगवन्।"

"पहले यह वेशभूषा बदल डालो। महारानी का रूप धारण करो। फिर कुछ कहा-सुना जाय।"

"पुनः यही वेश धारण करना पड़ेगा। यह वेशभूषा यदि विशेष बाधा न सिद्ध हो रही हो तो भगवन् आज्ञा देने की कृपा करें। एक-दो घण्टे के लिए अभी बाहर जाना है। शेष जैसा भगवन् का आदेश।"

"जीत गईं तुम दोनों। शैला की बात भी सच निकली और पद्मा का अनुमान भी सच ही निकला। बोलो, इस जीत के उपलक्ष्य में क्या पुरस्कार दिया जाय ?"

"कुछ नहीं, भगवन्। यही पुरस्कार यथेष्ट है कि हम भगवन् की दृष्टि में जीत गईं।"

"फिर तो दण्ड स्वरूप मेरा हारना भी यथेष्ट ही माना जायेगा।"

"भगवन्! मैं कुछ समझी नहीं। तनिक स्थिति स्पष्ट करने की कृपा करें।"

"स्थिति कोई विशेष नहीं है। इन दोनों का मात्र इतना कहना था कि मैं तुमसे इतना अधिक प्रभावित हूँ कि तुम्हें आदेश दे नहीं सकता और तुम इतनी स्वेच्छाचारिणी हो गई हो कि आदेश मानोगी नहीं।"

"अपराध क्षमा हो, भगवन्! बात कई माह पुरानी अवश्य हो गई है किन्तु अब भी मुझे भलीभांति याद है कि जब मेरा प्रभाव कुछ अधिक इन्हें अनुभव हुआ तो इन लोगों ने कुछ इस प्रकार की बात कही थी कि ये मुझे अवज्ञाकारिणी सिद्ध कराकर मानेंगी। मैंने भी इनकी प्रसन्नता के लिए तदनुसार आचरण करना स्वीकार कर लिया था। भगवन् इनकी जीत के मूल में मेरी स्वीकृति ही है, भगवन् की पराजय नहीं।"

शैला और पद्मा एक साथ बोल पड़ीं, "वीरा! क्यों भगवन् की दृष्टि में हमारी स्थिति और भी अधिक दयनीय बना रही हो ? एक तो वैसे ही तुम्हारा सिक्का जमा हुआ है और दूसरे भगवन् के समक्ष ही झूठा सिद्ध करके और भी गिराए दे रही हो। हम अपनी पराजय स्वीकार किए लेती हैं।

भगवन् जीते हम हारीं ।"

"तुम दोनों ही मेरी सहोदरा समान हो । और भगवन् के सम्बन्ध से तो हम एक प्राण के विविध शरीर हैं । एक भी शरीर पीड़ित होगा तो प्राणस्वरूप भगवन् को कष्ट न होगा ? क्या हम यह चाहेंगी कि भगवन् को कष्ट हो ? कदाचित कदापि नहीं । हमारे बीच हार-जीत की भावना ही निरर्थक है । और हमारे रहते भगवन् तो कभी हार ही नहीं सकते । भगवन् की जीत में हमारी जीत है । हम सब भगवन्मय हैं । भगवन् से पृथक सत्ता स्वीकार करना अपराध है ।"

शीला ने प्रतिक्रिया व्यक्त की, "अपराध क्षमा हो भगवन् । हम भलीभांति जानती थीं कि वीरा विषम स्थिति को भी अपने अनुकूल ढालने में प्रवीण है । इससे इनकी प्रवीणता और भी अधिक पुष्ट हो गई ।"

महाराज जी शीला और पद्मा को हीन मनःस्थिति से उबारने की दृष्टि से बोले, "तुम दोनों वीरवती से किसी भी दृष्टि से कम नहीं हो । हर एक का अपना अलग-अलग महत्व होता है । जो गुण तुम दोनों में हैं उन्हें वीरवती कभी नहीं पा सकती । हां, ईर्ष्या-भाव-मुक्ति का जो गुण वीरवती में है, उसे भी यदि तुम लोग अपना लो तो वीरवती से कहीं श्रेष्ठ बन जाओ । मैं तो प्रायः तुम दोनों की वीरवती से प्रशंसा किया करता हूं । क्यों वीरवती है न ?"

"भगवन् भी कभी झूठ बोल सकते हैं ? हमारी ये दोनों बहनें हैं ही प्रशंसा के योग्य । इनके गुणों की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है । और भगवन् तो प्रसंग आने पर प्रशंसा करने से कभी चूकते ही नहीं हैं ।"

"और वीरवती ! तुमने भी तो आज तक इनकी बुराई नहीं की ।"

"बुराई हो भी तो । कभी-कभी सोचती रह जाती हूं कि जितनी प्रशंसा इनके गुणों की मुझे करनी चाहिए, नहीं कर पाती हूं । इस चूक के लिए मुझे इनसे क्षमा अवश्य मांगनी चाहिए ।"

"नहीं वीरा बहिन । तुम भी कैसी बातें करती हो । वास्तव में क्षमा तो तुमसे हम दोनों को मांगनी चाहिए जो ईर्ष्याभाव के वशीभूत होने के कारण उन गुणों का स्वागत नहीं कर पाती हैं जिनसे भगवन् तक प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाते हैं । हमें क्षमा कर दो वीरा बहिन ।"

"क्षमा का अधिकार केवल भगवन् को है । भगवन् जो उचित समझें करें । पहले क्षमा की याचना मैंने की है ।"

"किसी को क्षमा की कोई आवश्यकता नहीं । हां, अपेक्षित प्रशंसा अब तुम तीनों ही की मैं अवश्य करूंगा । तुम तीनों ही एक रूप-एक भाव हो,

यही मेरी प्रसन्नता के लिए यथेष्ट है। भविष्य में भी इसी भाव का पालन करती रहो, यही क्षमा भाव के मूल में मेरी तुम तीनों से ही अपेक्षा है।"

तीनों एक साथ बोल उठीं, "भगवन् की ऐसी ही कृपादृष्टि बनी रहे। हम कभी अन्यथा भाव को वहन न करेंगी।"

"सम्राट ने हँसते हुए कहा, "वीरवती! अब तो यथेष्ट विलम्ब हो चुका है। आवश्यकता न रही हो तो वेश बदल डालो।"

"ओह!" वीरवती तपाक से उठ खड़ी हुई और बोलीं, "क्षमा करें, भगवन्। अभी आई।" कथन के साथ वीरवती तेजी से बाहर निकल गईं।



दो घड़ी रात बीते वीरवती ने लौटकर सम्राट की सेवा में निवेदन किया, "भगवन्! प्रतीक्षा की अवधि समाप्त हो गई। अब आप जब चाहें प्रस्थान कर सकते हैं। विलम्ब करना भी ठीक न होगा।"

"क्यों? क्या सूचना मिली है?"

"सूचनानुसार कलिंगराज अनुचरवाहिनी के साथ प्रस्थान कर चुके हैं।"

"सेनाध्यक्ष को सूचित करवाओ कि मैं स्मरण कर रहा हूँ।"

"जो आज्ञा।" वीरवती ने संकेत कर दिया। सेवा में उपस्थित परिचारिका वहाँ से तत्काल चली भी गई।

वीरवती ने उठते हुए अनुमति की इच्छा व्यक्त की, "कुछ क्षणों के लिए अन्दर हो आऊँ?"

"सेनाध्यक्ष को आ जाने दो। विशेष समय नहीं लगेगा। बस, मात्र आदेश देना है।"

"जो आज्ञा। कलिंगराज की अनुचरवाहिनी को देखते हुए अनुमान लगाना सरल है कि संघर्ष डटकर होगा। प्रत्यक्षदर्शियों का मत है कि जैसे कलिंग की सम्पूर्ण प्रजा ने ही सैनिकवेश धारण कर लिया हो। कदाचित समय का भरपूर लाभ उठाया है। वैसे भी कलिंगवासी युद्धवीर तो हैं ही। स्वदेश की स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर सर्वस्व समर्पण की भावना उनके चरित्र का प्रधान अंग है। वे स्वधर्म पर कुछ भी अर्पण कर सकते हैं। अगर प्रत्येक कलिंगवासी ने सैनिक वेश धारण कर लिया है तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु

हमारी मगधवाहिनी की शक्ति भी कुछ कम नहीं है। एक-से-एक बढ़कर वीर है। संगठन और अनुशासन तो उत्तम है ही, युद्ध की दृष्टि से श्रेणी विभाजन और भी सुविधाजनक है। बस, भगवन् से एक ही प्रार्थना है।"

"बोलो, क्या चाहती हो ?"

"मैं अपनी छोटी-सी अनुचरवाहिनी के साथ भगवन् के अंगरक्षक के रूप में ही रणस्थल में रहना चाहती हूँ।"

"स्वीकार। और कुछ ?"

"बस, भगवन् की सेवा का इतना अवसर ही यथेष्ट है।"

"और चाहो तो युद्ध का सचालन भी अपने हाथों मे ले लो। तुम्हारे सेनापतित्व में लड़ना किसी को अस्वीकार न होगा।"

"जानती हूँ, भगवन्। किन्तु इस उत्तरदायित्व को वहन करने में मैं असमर्थ हूँ। युद्ध का संचालन-कार्य भगवन् को ही शोभा देगा।"

सेनाध्यक्ष की उपस्थिति की सूचना अन्दर आई। अनुमति दे दी गई। सेनाध्यक्ष ने प्रवेश कर शिष्टाचार का पालन किया। संकेतित स्थान ग्रहण करते हुए सेनाध्यक्ष ने प्रार्थना की, "सेवक को आज्ञा।"

"अभी-अभी सूचना प्राप्त हुई है कि कलिंगराज युद्ध के लिए प्रस्थान कर चुका है। युद्ध होना अपरिहार्य है। हमें भी जितनी शीघ्र सम्भव हो सके यहाँ से प्रस्थान कर देना चाहिए। कब तक प्रस्थान कर पाने की सम्भावना है।"

"कल प्रातःकाल तक सुगमता से प्रस्थान कर सकते हैं।"

"फिर मेरी ओर से अनुमति है, जब भी चाहना सूचना मात्र भेज देना। हम तैयार मिलेंगे।"

"जो आज्ञा।" सेनाध्यक्ष उठने लगे।

"बस, महारानी जी की एक इच्छा है।"

"आज्ञा दें।"

"यह चाहती हैं कि मेरे विशेष अंगरक्षक दल के रूप में यह स्वयं और इनकी अनुचरवाहिनी रहेगी।"

"यह तो और भी उत्तम रहेगा। पूर्वनिर्धारित रक्षकदल का मात्र घेरा और बड़ा हो जायेगा। व्यवस्था की दृष्टि से कोई अन्तर विशेष नहींपड़ेगा, बल्कि महारानी जी के निर्देशन में सुरक्षा व्यवस्था और भी सुदृढ़रहेगी।"

"बस, शेष व्यवस्था का भार आप सम्हालिएगा।"

"जो आज्ञा। अनुमति दें ?"

"हाँ, ध्यान रहे, युद्ध असाधारण रूप में होना है।"

"तनिक भी चिंता की आवश्यकता नहीं। विजयश्री मगधवाहिनी को ही वरण करेगी।" कथन के साथ-साथ शिष्टाचार पालन करते हुए सेनाध्यक्ष शिविर से विदा हो गये।

सम्राट ने वीरवती को देखकर स्मरण दिलाया, "अब चाहो तो अन्दर जा सकती हो।"

"ओह ! हाँ। बस, दो क्षणों में अभी आई।"

"नहीं, अब शीघ्रता की कोई आवश्यकता नहीं। निश्चितता पूर्वक वेश-परिवर्तन करो। चैला और चपा ! वेश-परिवर्तन में तुम्हारी सहायता की इन्हें आवश्यकता है। ध्यान रखना, तनिक भी कसर न रहे।"

"जो आज्ञा।" दोनों मुस्कराती हुई वीरवती के पीछे-पीछे अन्दर की ओर चल दीं। सम्राट अशोक अर्धशायित हो विचारों में डूब गये।



दोनों सैन्यदल यथाशक्ति गति से आगे बढ़ रहे थे। किस स्थान विशेष पर दोनों एक दूसरे के सामने होंगे, दोनों को ज्ञात न था किन्तु गतिशील थे। गज अपनी स्वाभाविक गति भूले हुए थे। अश्व को उनके सवार असाधारण गति बनाये रखने के लिए बाध्य किये हुए थे। पदातिक सैनिकों को उनका उत्साह रुकने न दे रहा था। धरती धमक सह रही थी। पेड़-पौधे अपने स्थानों पर टिक न पा रहे थे। मार्ग में पड़ने वाले छोटे-मोटे गाँव सेना के गुजरने के बाद अपना अस्तित्व तक खो बैठते थे। खेतों में खड़ी फसल को लकवा-सा मार जाता था। पालतू पशु इधर-उधर भागने लगते थे। वन्य जीव प्राण छोड़कर भाग खड़े होते थे। पक्षी भी आकाश में अधिकाधिक ऊँचे उड़ने की चेष्टा करने लगते थे। जहाँ सैनिकों के पैर पड़ रहे थे, वहीं मार्ग बनता जा रहा था। आकाश में सूर्य किसके साथ दौड़ रहा है, जानना कठिन था। सम्पूर्ण वातावरण ध्वनिमय हो उठा था। अस्फुट स्वर सभी के मुंह से निकल रहे थे। विजयाभिलाषा की उमंग में सैनिक भूख-प्यास भूले हुए गतिमान थे। किसी को किसी की चिंता न थी। प्रारम्भ में कौन साथ था, कब पीछे छूट गया या आगे निकल गया, किसी को भी ध्यान न था। बस, इतना

अवश्य था कि अश्वों के दल में अश्व थे, गजों के बीच गज घुसने की चेष्टा कर रहे थे और पदातिक अपने समूह में ही बने रहने के भरसक प्रयास मे थे।

दोनों सैन्यदलों का नेतृत्व सम्राटों के हाथों में था। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ जैसे हाथी नेतृत्व के प्रतीक प्रतीत हो रहे थे। रंग-बिरंगी वायु में लहराती पताकायें सैनिक परिचय के लिये पर्याप्त थीं।

शनैः शनैः अन्तर सिमटता चला जा रहा था। दोनों दलों में से किसी को भी ज्ञात न था कि शत्रु उनसे कितनी दूरी पर है। यह समझकर कि शत्रु अभी बहुत दूर है, सैन्यदल आगे की ओर लपकता चला जा रहा था। वृक्षों के कारण हो या ऊँची-नीची भूमि के कारण हो, निकट आने पर भी दोनों दल एक दूसरे को देख न पा रहे थे। इतने निकट भी नहीं आ पाये थे कि एक-दूसरे की ध्वनि ही अन्तर को बताने में सक्षम हो। किन्तु पक्षियों के आकाश मे इधर-से-उधर भागने से कुछ अनुभवी सैनिक शत्रुदल के निकट होने का अनुमान लगाने मे गौरव की अनुभूति कर रहे थे। जो वन्यपशु भयभीत होकर आगे-आगे भाग रहे थे, वे दोनो ओर से भागते हुए एक दूसरे से मिलने लगे थे। उनके मिलन से ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे एक दूसरे से पूछ रहे हों कि तुम क्यों भाग रहे हो? कहाँ जा रहे हो? किसके डर से भागे हो? क्या जहाँ थे वहाँ आग लग गई है? या पानी का अभाव उत्पन्न हो गया है? किन्तु पूछ सभी रहे थे। उत्तर कोई न दे पा रहा था। उत्तर देता कोई कैसे? किसी को उत्तर का ज्ञान भी था? जब पशुओं का मिलन स्थिरता धारण करने लगा तो वे घबड़ा उठे। अपनी-अपनी बोली मे संकट की घोषणा करने लगे। उनकी बोलियों का समवेत स्वर सुनकर दोनों दलों के पशु भी बोल उठे। एक दल के गजों की चिग्घाड़ का स्वागत दूसरे दल के गजों की चिग्घाड़ ने किया। दोनों दलों के अश्वों की हिनहिनाहट परस्पर गुंथती चली गई। दोनों दलों के सैनिकों को समझते देर न लगी कि शत्रु और उनके बीच विशेष अन्तर नही रह गया है। किसी क्षण भी शत्रु से सामना हो सकता है। शस्त्रों की पकड़ सुदृढ़ हो चली। जयजयकार की गगनभेदी गर्जनाएँ आकाशमण्डल को विदीर्ण करने लगीं। गति धीरे-धीरे विराम पाती चली गई। दोनों ओर के सेनापति अपने-अपने सम्राटों के सम्मुख नतमस्तक आदेश ग्रहण करने के लिए उपस्थित हुए। सम्राटों का आदेश मिला, "व्यूह-रचना पर एक दृष्टि डाल लो।"

"जो आज्ञा।" सेनापतियों के अश्व दौड़ पड़े।

थोड़ी देर मे सेनापतियों ने पुन: उपस्थित होकर सेवा में निवेदन किया, "सब सैनिक यथास्थान युद्ध के लिये प्रस्तुत हैं।"

"सुरक्षित सैन्य टुकड़ी अपने स्थान पर पहुँच गई है ?"

"जी, उसने अपने स्थान को ग्रहण कर लिया है।"

"बाणवर्षक तैयार हैं ?"

"जी, बाण धनुष पर चढ़ भी चुके हैं।"

"जय मगध।" मगधसेना का आक्रमण प्रारम्भ हो गया।

"जय कलिंग।" कलिंग सेना तेजी से शत्रु के विनाश के लिए बढ़ी।

मानव की मानवता पीछे छूटती चली गई। पशुता मानवता पर सवार होकर आगे बढ़ती चली गई। भूल गया मानव सैनिक रूप में कि वह मानव का हत्यारा है। विस्मृत हो उठीं मानव सम्बन्धों की वे शृंखलाएँ जो भूमि सीमा को नहीं पहचानतीं और जाति-धर्म के बन्धनों को स्वीकार नहीं करतीं। विजय की धुन में कहीं खो गया वह विचार-बिन्दु कि हिंसा पाप है। मानवता की रक्षा पुण्य कार्य है। एक को भी ध्यान न रहा कि सभी मानव एक ही परमपिता की संतान हैं। यदि रह गया केवल आगे बढ़-बढ़कर शस्त्र-प्रहार करना। शस्त्र-से-शस्त्र टकरा उठे। शस्त्रों की झंकारों में डूब गईं मानव कण्ठ से निःसृत सुखध्वनियां। शस्त्र प्रमुख हो गये। मानव गौण हो गया। मानवता निकृष्टतम स्थिति को प्राप्त हो गई। आहत अंगों पर भी शस्त्र-प्रहार हो रहे थे। खड़े सैनिक लड़ रहे थे। लड़ते सैनिक आहत हो-होकर गिर रहे थे। गिरे हुए कुचले जा रहे थे। कोई किसी की सुनने वाला न था। बस, एक ही धुन थी—'मारो।' अश्वारोही, अश्वारोही से भिड़ा हुआ था। गज सवार, गज सवारों से जूझ रहे थे। स्वामी की रक्षा हेतु कोई गज शत्रु के भाले के प्रहार को अपनी सूंड़ पर झेल रहा था तो कोई गज दूसरे गज को मस्तक से ऐसी टक्कर मार रहा था कि वह पीछे हटने के लिए विवश हो जाता था और जो पीछे होते थे वे धक्के से प्रभावित होने के लिये बाध्य थे। टक्कर से जिसका हौदा हिल जाता उसका सवार धराशायी हुए बिना न मानता और गज इसी ताक में रहता था। जैसे ही सवार नीचे आता, गज के पैर उसे पृथ्वी पर पीसे डालते। किन्तु कुछ सैनिक ऐसे भी थे जिनके एक ही प्रहार से गज की सूंड़ कटकर दूर जा गिरती थी। सूंड़ कटते ही गज पीड़ा से इतना व्याकुल हो उठता था कि इधर-उधर भागने लगता था। उसके साथ सैनिकों के मध्य भी भगदड़ मच जाती थी। भगदड़ की चपेट में जो भी आ जाता धराशायी हुए बिना न रहता और धराशायी होने का अभिप्राय था कभी न उठ पाना। और जिस हाथी का एक पैर भी किसी शस्त्र-प्रहार से कट जाता, वह बिलबिलाकर भागने की चेष्टा करता जबकि उसकी चेष्टा व्यर्थ सिद्ध होती और वह वहीं घूमकर गिर जाता।

गिरते ही उस पर असंख्य शस्त्र-प्रहार होने लग जाते उसकी मर्मान्तिक चिग्घाड़ भी प्रहारों से रक्षा न कर पाती और वह भी मानवों के बीच सदा के लिए सो जाता।

अश्वों का संघर्ष विकट था। अश्वारोही मात्र दो हाथों से लड़ रहा था जबकि अश्व चारों पैरों और मुंह से भी प्रहार कर रहा था। उनकी गति भी असामान्य होती थी। सवार के संकेत पर वे मुड़ जाते थे। थोड़ी-सी भी जगह में वे घुस जाते थे। गज के मस्तक तक पर वे पद-प्रहार करने से न चूकते थे। अश्वारोही यदि किसी शत्रु के प्रहार का शिकार हो जाता था तो भी अश्व प्रतिकार की भावना से आन्दोलित हो दो-चार सैनिकों को तो मृत्यु की कोटि में पहुँचा ही देता था। किन्तु सैनिक भी कम चतुर न होते थे। अश्व की पीठ पर ऐसा शस्त्र-प्रहार करते थे कि अश्व सीधा चिरता चला जाता था। रक्त-प्रवाह की तो कोई सीमा ही न थी। मानव रक्त अधिक था या पशु रक्त युद्ध की ही भाँति इसका निर्णय भी न हो पा रहा था। और संघर्ष का वास्तविक स्वरूप देखने को मिल रहा था पदातिकों के मध्य। सामने कौन है—इसकी चिंता किये बिना सैनिक दोनों हाथों से शस्त्र-संचालन में इतना खो जाता था कि सिर धड़ से अलग होने पर भी उसके हाथ काफी देर तक चलते रहते थे। शस्त्र-शस्त्र को काट रहे थे या सैनिक अंगों को—यह भी प्रहार की धुन में मस्त सैनिक न जाना पाता था। जो भी सामने है, वह शत्रु ही है—यह भी सोचने का अवकाश न था सैनिक के पास। 'मारो और मारते हुए आगे बढ़ो' का मूल मन्त्र मस्तिष्क में संजोये हुए सैनिक अंधाधुंध मारकाट में लीन था। सैकड़ों, हजारों नहीं लाखों की संख्या में पदातिक सैनिक वर्षों के शस्त्र-संचालन-कौशल का प्रदर्शन कर रहे थे। युद्ध का निर्णय तो वास्तव में पदातिक सैनिकों के मध्य ही होना था, क्योंकि गजों की संख्या कितनी ही अधिक होने पर भी हजारों में ही सीमित रहती थी और अश्व भी हजारों की संख्या को पार न कर पाते थे। और उनका चालक तो होता सैनिक ही था। हाँ, गति अपेक्षाकृत उनकी अधिक तीव्र होती थी। अश्वारोही-सैनिक पदातिकों से अपने को कुछ श्रेष्ठ भी समझते थे। किन्तु श्रेष्ठता उनकी तभी तक सुरक्षित रहती थी जब तक वे अश्व पर आरूढ़ रहते थे। अश्वारोही को अश्वारोही तो मारता ही था, एक ओर गजारोही भी अपने भाले का शिकार बनाता था तो दूसरी ओर पदातिक भी अश्वारोही की कभी टाँगों को काट डालते थे तो कभी पीठ या पेट में असि घुसेड़ कर धराशायी बना देते थे। तिहरी मार से पीड़ित अश्वारोहियों की संख्या तेजी से घटती जा रही थी।

दिन ढलने पर भी जब तक शत्रु दिखाई दिया मारकाट चलती रही। अंधकार घना हो जाने पर युद्ध की गतिविधि ठंडी पड़ने लगी। शत्रु का दिखाई देना तो बड़ी बात थी, अपने को अपना हाथ भी न दिखाई दे रहा था। फिर भी प्रत्येक जीवित सैनिक सतर्क था। आशंका थी कि न जाने किस ओर से कौन प्रहार कर दे। प्रत्येक अपने चारों ओर घूम-घूमकर देख रहा था। शस्त्रों की टकराहट से उत्पन्न झंकार पूर्णतया शान्त हो गई थी। सैनिक अपने स्थानों से हट रहे थे। जहाँ भी पैर उठाकर रख रहे थे, वहीं मृत या आहत सैनिक पैर के नीचे आ जाता था। पैर रखने के लिए जमीन बड़ी कठिनाई से मिल पा रही थी। हाथी या घोड़े तो ऐसा अवरोध सिद्ध हो रहे थे जिनपर चढ़कर पार कर पाना ही सम्भव था। और पैर जहाँ भी पड़ रहा था वही रक्त से भीगी मिट्टी में सन-सा जाता था। जहाँ अधिक मृतकों के अम्बार थे वहाँ रक्त-कुण्ड बन गये थे। रक्त-प्रवाह सम्भव नहीं हो पा रहा था। घुटनों-घुटनों तक पैर रक्त-कुण्ड में डूब रहे थे। गति अवरुद्ध हो रही थी। अंधकार इतना सघन था कि यह भी ज्ञात नहीं हो पा रहा था कि मृतकों में किनकी संख्या अधिक है। किसी को किसी की चिंता भी न थी। प्रत्येक अकेला था। कुछ को तो दिशा भ्रम भी हो रहा था। किस ओर बढ़ें, उनकी समझ में न आ रहा था। ऐसे दिग्भ्रमित सैनिकों ने 'जय मगध' 'जय कलिंग' की मुखध्वनि प्रकट करनी प्रारम्भ की। जिस ओर 'जय मगध' की ध्वनि अधिक प्रतीत हुई, उस ओर मगध सैनिकों ने सस्वर बढ़ना प्रारम्भ किया और जिधर से 'जय कलिंग' की मुखध्वनि अधिक आती प्रतीत हो रही थी, उधर कलिंग सैनिक बढ़ रहे थे। जो शिविरों की ओर बढ़ रहे थे, उनमें हाथियों की संख्या सबसे कम थी, अश्व उनसे अधिक थे और सबसे अधिक थे पदातिक। शस्त्र अंधकार में उनके हाथों में चमक रहे थे। 'जय ध्वनि' का समवेत स्वर ज्यों-ज्यों भीषणतर होता जा रहा था, त्यों-त्यों दूरतर होता जा रहा था। मार्ग भी अपेक्षाकृत व्यवधानरहित बनता जा रहा था। गति और भी अधिक तीव्रतर बनती जा रही थी। हाथियों, घोड़ों की गति का सैनिक अनुसरण कर रहे थे। काफी देर तक चलने के बाद दूर दीपकों का प्रकाश दिखाई दिया। प्रकाश को लक्ष्य कर सैनिक और अधिक गति से आगे बढ़े। शिविरों के कुछ पूर्व ही वीरवती सम्राट के साथ घोड़ों पर सवार खड़ी थी। जो भी सैनिक निकट आते जा रहे थे, वीरवती की कण्ठध्वनि उन्हें सुनाई दे रही थी, "मगध वीरों! स्वागत है। विजयोन्मुख संघर्ष के लिए बधाई है। शत्रु के छक्के छूट गये हैं। तुम्हारी मार से भयभीत होकर भाग पड़ा हुआ है। शत्रु सैनिकों के पैर उखड़ चुके हैं। तुम्हारे प्रहारों का सामना

किन्तु, भगवन् ने कदाचित ध्यान नहीं
निकट आने की बहुत चेष्टा की, किन्तु वे
हो सके और उनमें से अधिकांश को मृत्यु
कितने तीर भगवन् को लक्ष्य कर फेंके गये,
विफल बना दिया। किन्तु जिस विधि से वे
लगता था कि वे विशेष प्रशिक्षण-प्राप्त
नारियाँ भी कम प्रशिक्षित न थीं। उनकी
थी। निराशा ने उन्हें विक्षिप्त बना दिया था
उठाया हमारी सैनिक नारियों ने। एक-एक
चित ही उनमें एक भी लौटकर जा पाया हो
दिनभर के युद्ध का आकलन हो रहा होगा
का चित्रण किया जा रहा होगा।

"किसी भी पक्ष के कितने ही सैनिक
हुआ आशा के अनुरूप ही। दोनों ही पक्षों
के साथ। बड़ा ही अद्भुत दृश्य रहा।

"उनका उपचार प्रारम्भ भी हो गया

"नहीं, उनका क्या होगा, जो रणस्थल
रहे होंगे?"

"अरे, हाँ। उधर तो ध्यान ही नहीं
चानना कठिन है कि कौन आहत सैनिक मगा

"मगर आवश्यकता क्या है, पहचानने
हो या कलिंग। आहत सैनिक को
चार की आवश्यकता की पूर्ति की जायगी।
मगध का पक्ष ग्रहण करे।"

"असम्भव। सचेत कलिंग मगध के
नहीं करेगा।"

"फिर उसे भाग्य के भरोसे छोड़ दिया
तो कम-से-कम अकाल-काल-कवलित होने से

"जो आज्ञा।" वीरवती ने पीछे को
आदेश दिया, "रणांगण से आहत सैनिकों
पर लाया जाय।"

"जो आज्ञा।" एक साथ नारी सैनिक

"आओ चलें, देखें आहतों की सेवा

"जैसी भगवन् की इच्छा । अब तो सैनिकों का लौटना भी समाप्त हो रहा है । आहतों की देख-भाल ठीक से होनी आवश्यक है ।"

मुड़कर चलते हुए सम्राट ने संतोष व्यक्त किया, "आज के युद्ध में अधिक मगध सैनिकों की क्षति नहीं उठानी पड़ी ।"

"यह तो प्रातःकाल ही गिनती होने पर ज्ञात हो सकेगा ।"

"कल और भी भयंकर युद्ध होना चाहिए । मगध सैनिक अपने एक-एक वीर का प्रतिशोध लेंगे ।"

शिविर के निकट आने पर वीरवती ने प्रस्ताव रखा, "भगवन् चाहें तो शिविर में विश्राम करें । मैं अभी सेवा-व्यवस्था का निरीक्षण कर स्थिति से अवगत कराने आती हूँ ।"

"नहीं, मैं स्वयं भी देखना चाहूँगा और जिसकी जो स्थिति होगी, उतना ही विश्राम का परामर्श दूंगा ।"

"जैसी इच्छा, भगवन् की ।" वीरवती सेवा शिविर की ओर उन्मुख हो गईं ।

सम्राट वीरवती के साथ ही थे ।



रातभर सम्राट वीरवती के साथ आहत सैनिकों के निकट जा-जाकर हाल-चाल पूछते और ढाढ़स बंधाते रहे । आहतों की संख्या बढ़ती ही जा रही थी । पहले तो आहत सैनिक स्वयं अपने पैरों पर चलकर आये थे और अब जो आ रहे थे, वे लाये जा रहे थे । उन्हें सांत्वना और ढाढ़स की विशेष आवश्यकता थी । उसी आवश्यकता विशेष की सम्पूर्ति रातभर दोनों करते रहे । दोनों में से एक ने भी न भोजन किया न विश्राम । प्रातःकालीन प्रकाश ने उन्हें सचेत किया । दोनों ने सीधे ही एक दूसरे की ओर देखा । सम्राट ने सामयिक आवश्यकता पर बल दिया, "सैनिक आक्रमण के लिये सन्नद्ध हो चुके होंगे ।"

"हाँ, यहाँ से अब शीघ्र चलना चाहिए । भगवन् के आदेश की प्रतीक्षा की जा रही होगी ।"

"हाँ, चलो । विलम्ब का कहीं शत्रु लाभ न उठा ले ।"

"लाभ क्या उठायेगा । एकपक्षीय युद्ध तो सम्भव है नहीं । बस, अभी

पर वह भी करेगा।"

"आगे बढ़कर शिविर तक तो आ सकता है।"

"यहाँ तक आने के लिए उसे यथेष्ट संघर्ष करना पड़ेगा।"

"हमारे सैनिक जब मार्ग में होंगे ही नहीं तो संघर्ष कैसा।"

"वाह ! हैं कैसे नहीं मगध सैनिक। हमारे जिन सैनिकों ने उन्हें भगाया है वे वहीं डट गये हैं। शत्रु को वे यहाँ से आगे नहीं बढ़ने देंगे।"

"क्या ऐसा हुआ है ?"

"जी, उनके रहते शत्रु अपने आहत सैनिकों तक को न ले जा पाये होंगे।"

"उन्हीं पर आक्रमण कर सकते हैं शत्रु सैनिक।"

"हाँ, असम्भव तो नहीं है।" युद्ध के लिए सन्नद्ध सैनिकों को लक्ष्य कर वीरवती बोलीं, "देखिए, हो रही है भगवन् के आदेश की प्रतीक्षा।"

"फिर क्या विचार है ?"

"विचार क्या है। रणस्थल में युद्ध का नेतृत्व करना है।"

"ठीक है। फिर अश्व पर ही आगे बढ़ते हैं।"

"नहीं, गज प्रस्तुत है। इसी पर विराजिए। युद्ध आपकी दृष्टि के समक्ष होगा और सम्पूर्ण सैन्यदल आपके दर्शनों से प्रेरणा ग्रहण करेगा।"

"और तुम्हारी भूमिका तो पूर्ववत रहेगी ?"

"जी, भगवन् ! कल की ही भाँति रक्षा पंक्ति भगवन् के चारों ओर रहेगी।"

गज पर सवार हो सम्राट ने मगध पताका ऊँची की और उतने ही ऊँचे स्वर में बोले, "जय मगध। आगे बढ़ो वीरो।"

बस, सम्राट का आदेश भर व्यक्त होना था। तीर की भाँति लपके सैनिक आगे की ओर। गजारोही बढ़े। अश्वारोही दल और भी तेजी से आगे बढ़ा और पदातिक सैन्यदल ने तो जहाँ से भी मार्ग पाया, तीर सा बढ़ता चला गया। गत दिन जिस स्थान पर युद्ध हुआ था, वहाँ पहुँचने पर शत्रु सेना दिखाई दी। उसने भी जब मगध सेना को आगे बढ़ते हुए देखा, तब वे भी आगे बढ़े। बीच का अन्तर थोड़ा था। दोनों की गति ने उसे कुछ क्षणों मे ही समाप्त कर लिया और एक दूसरे में धँस गये। शस्त्र तो हाथों में थे ही। टकराने लगे शस्त्र परस्पर। होने लगा शक्ति का प्रदर्शन। गजारोही-गजारोही से भिड़े। अश्वारोही-अश्वारोही से टक्कर लेने लगे और पदातिक सैनिकों ने तो जो भी सामने पड़ा, उसे ही शत्रु समझा। पशु हो या मानव, उसके लिए कोई अन्तर न था। सैनिक के प्रहार को काटते तो पशु कट जाता

और पशु को धराशायी बनाते तो सैनिक धराशायी दिखाई देने लगता। कल की अपेक्षा अधिक उत्साह था सैनिकों में। कल का प्रतिशोध भी लेना था। कुछ शत्रु-प्रहारों का अनुभव भी हो गया था। कट कम रहे थे, काट अधिक रहे थे। शस्त्रों की झंकार अधिक थी, रक्त का झरना कम था। युद्ध को देखने के लिए सूर्य तेजी से आकाशमण्डल में ऊँचा उठता जा रहा था। सम्राट के आगे काफी सैनिक संघर्परत थे। सम्राट के चारों ओर रक्षापंक्ति उतनी ही सुदृढ़ थी। सम्राट ने वीरवती की ओर देख अपना मन्तव्य प्रकट किया, "आगे बढ़कर कलिंगराज को देखा जाय ?"

"अभी नहीं, भगवन्। शाम तक और युद्ध का परिणाम देख लें। अन्त में निर्णायक युद्ध तो भगवन् और कलिंगराज के मध्य होना ही है। अभी वह अवसर नहीं आया है।"

"मगधवीर इस प्रकार कब तक काटते और कटते रहेंगे ? हम दर्शक के रूप में कब तक यों ही खड़े रहेंगे ? हमारे योद्धा कटते रहें और हम खड़े देखते रहें—क्या यह वीरधर्म के अनुकूल आचरण है ?"

"भगवन् ! शौर्य-प्रदर्शन का अवसर तो शूरवीरों को मिलना ही चाहिए। वीरता की परीक्षा तो दे लेने दीजिए।"

"वीरवती ! बैठे रहा नहीं जाता है। देखना सहन नहीं हो पा रहा है अपने मगध सैनिकों का कट-कट कर गिरना। मैं आ रहा हूँ नीचे। मुझे अश्व दो तो। अभी करता हूँ सफाया शत्रु सैनिकों का।" कथन के साथ सम्राट खड़े हाथी के हौदे से नीचे कूद पड़े। सम्राट के लिए एक अश्व हाथी के पीछे-पीछे चलता था। वह खाली खड़ा था। उसकी पीठ पर सम्राट को सवार होते देर न लगी। वीरवती ने रोकना चाहा, "भगवन् !"

"कुछ नहीं वीरवती। मेरी दृष्टि के सामने मेरे सैनिक वीरधर्म पर बलिदान होते रहें और मैं खड़ा देखता रहूँ, यह मेरे स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल है। मैं बढ़ता हूँ आगे। जय मगध।" और मगध सम्राट तीर की भाँति धँसते चले गये संघर्परत योद्धाओं के मध्य। वीरवती भला कहाँ रुकने वाली थी। उन्होंने सम्राट का अनुसरण किया तो उनकी अनुचरवाहिनी भी अपने धर्ममार्ग पर बढ़ चली। रक्षापंक्ति में शेष सैनिकों को भी कर्तव्य-भावना ने उत्प्रेरित किया। सम्राट अशोक के युद्धभूमि में पदार्पण करते ही हलचल मच गई। भूकम्प सा आ गया मगध सैनिकों में एक ओर जहाँ अपूर्व उत्साह भड़क उठा, वहीं अरिदल में आतंक-सा छा गया। सम्राट की मार विकट थी। वह एक पर प्रहार करते, दूसरा भी साथ में प्रहाराक्रांत हो धराशायी हो जाता और तीसरा इतना भयभीत हो जाता कि प्रहार

लुढ़क जाता। दोनों पक्षों के अपरिमित सैनिकों के कारण युद्ध में घनत्व पर्याप्त मात्रा में था। सम्राट दोनों हाथों से असि संचालन कर रहे थे। वह शत्रु सैनिकों को समाप्त कर तेजी से आगे बढ़ना चाह रहे थे, किन्तु जितनों को वह धराशायी बना रहे थे, उससे अधिक आते जा रहे थे। सम्राट की दृष्टि में लक्ष्य था कलिंगराज। किन्तु वह बहुत दूर था। कदाचित् मगध सम्राट के संघर्षरत होने की सूचना कलिंगराज तक न पहुँच सकी थी, अन्यथा वह भी खड़े विनाश न देखते रहते। मगध सम्राट की भाँति वह भी युद्धरत शूरवीरों के मध्य फांद पड़ते। मगध सम्राट के सामने तो जाने का साहस किसी में था नहीं, किन्तु रक्षकदल तीन ओर से अपने सम्राट की रक्षा कर रहा था। युद्धरत सैनिकों के रक्तपात के समक्ष सूर्य की प्रखरता भी निस्तेज हो चली थी। शोर इतना अधिक था कि कुछ भी सुनाई न दे रहा था। वीरवती सम्राट को रोकना चाहकर भी कुछ न सुना पा रही थी। उन्होंने आगे बढ़ दोनों हाथों असि संचालन प्रारम्भ कर दिया। बीच-बीच में वह मुड़-मुड़ कर सम्राट की ओर देखती जाती थीं। सम्राट के मन-मस्तिष्क पर शस्त्र-प्रहार की ऐसी धुन सवार थी कि बड़ी देर के बाद वह वीरवती को संघर्षरत स्थिति में देख पहचान सके। वीरवती को असि-संचालन की अवस्था में देखकर वह एक क्षण के लिए स्तब्ध रह गये। वीरवती ने सम्राट की उस स्तब्धावस्था का लाभ उठाया। अति निकट हो यथाशक्ति ऊँचे स्वर में निवेदन किया, "भगवन्! अब शान्त हों। सूर्यास्त हो चुका है। पर्याप्त शत्रुओं का सफाया हो चुका है। लौटकर अपने सम्राट की सेवा में विनाश की सूचना देने के लिए कुछ सैनिकों को प्राण की भिक्षा देने की कृपा कीजिए। आज ही शेष शत्रु सैनिकों का सफाया कर डालेंगे तो फिर कल भगवन् के स्वागत के लिए क्या कलिंगराज अकेला आयेगा?"

"अभी तो युद्ध चल रहा है।"

"वह तो चलता ही रहेगा। जब तक शत्रु पूर्णतया परास्त नहीं हो जाता तब तक तो युद्ध को किसी न किसी स्थिति में चलते रहना ही है। अब शान्त हों भगवन्। हमारे शूरवीर सैनिक ही शत्रु सैनिकों को मार भगाने के लिए यथेष्ट हैं। इतना ही पर्याप्त है, भगवन्। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण परामर्श करना है।"

"कोई विशेष बात?"

"हाँ, भगवन्।" वीरवती सम्राट के ठीक सामने आ गई थी। दोनों को अन्य अंगरक्षकों ने चारों ओर से घेर लिया था। वीरवती ने सामयिक आचरण पर बल दिया, "भगवन्! अश्व मोड़ने की कृपा करें।" कथन के साथ

साथ वीरवती ने अपना अश्व मोड़ भी दिया । सम्राट ने भी मंत्रविद्ध प्राणी की भाँति अश्व मोड़ दिया ।

न वीरवती ने अश्व रोका और न सम्राट का अश्व रुका । दोनों अश्व शिविर की दिशा में भागते चले गये । शिविर द्वार पर पहुँचते ही दोनों ने अश्व छोड़ दिये । शिविर के अन्दर पहुँचना था कि वीरवती ने निवेदन किया, "भगवन् ! पूर्ण विश्राम करें ।" सम्राट बैठते ही सामान्य होने लगे । शीला और पद्मा सम्राट की सेवा में जुट गईं । जैसा-जैसा वीरवती निर्देश देती गई, उसी के अनुसार दोनों रानियाँ महाराज जी की सेवा करती चली गईं । सेवा में उपस्थित यवनियों को वीरवती ने आदेश दिया, "किसी को भी शिविर में घुसने मत देना ।"

पेय से पूर्ण तृप्त होने के बाद सम्राट ने कर्तव्य-भाव व्यक्त किया, "अब तो सैनिक भी लौटने लगे होंगे ?"

"जी, भगवन् उसकी चिंता न करें । सब व्यवस्था है । सैनिकों को किसी भी बात की कमी अनुभव नहीं होने पायेगी ।"

"और मेरी ?"

"अन्यों की अपेक्षा भगवन् को अधिक विश्राम की आवश्यकता है ।"

"क्यों, मुझे अधिक आवश्यकता क्यों है ?"

"भगवन् ने रात्रि में एक क्षण भी विश्राम नहीं किया है और शत्रु सैनिकों का अधिक संख्या में ही सफाया किया है । और फिर बौद्धिक श्रम भी तो पर्याप्त मात्रा में करना पड़ रहा है । अवमानना के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ । आपका आदेश विशेष होगा तो मैं चक्कर लगा आऊँगी, किन्तु भगवन् शीला और पद्मा को अपनी सेवा से वंचित नहीं करेंगे ।"

"वीरवती ! इतनी ही सेवा यथेष्ट है । अब मैं किसी भी गति से कहीं भी चल सकता हूँ ।" सम्राट ने उठने का उपक्रम किया ।

"भगवन् ! प्रार्थना पर ध्यान क्यों नहीं देते ? कल प्रातः भी तो संग्राम का संचालन करना है ।"

भावावेश में उठकर बैठते हुए सम्राट बोले, "क्या बात है, वीरवती ? तुम मुझे अपने से दुर्बल समझती हो ?"

"कदापि नहीं भगवन् ! स्वामी में परिश्रम के अभ्यास का अभाव रहता है और सेविका को कष्ट सहने का अभ्यास रहता है । अहर्निश परिश्रम मेरे स्वभाव का अंग बन गया है । क्षमा करें भगवन् । सेविका के रहते यदि स्वामी को कष्ट उठाना पड़ा तो धिक्कार है इस सेविका की उपस्थिति को ।"

"अच्छा ! हार स्वीकार कर लूँ तब तो ले चलोगी अपने साथ ?"

"भगवन् क्यों पाप का भागी बना रहे हैं । स्वामी परम स्वतन्त्र हैं । जो इच्छा हो करें, जहाँ चाहें जायें । किसी को भी कुछ कहने-सुनने का क्या अधिकार ।" वीरवती की आन्तरिक दृढ़ता नेत्रों के माध्यम से तरलता में परिवर्तित हो चली थी ।

सम्राट ने सम्हलते हुए आश्चर्य प्रकट किया, "ओफ हो । तो इस अस्त्र-प्रहार का भी अभ्यास है तुम्हें ? कौन परास्त न अनुभव करेगा इस अचूक शास्त्रार्थ-प्रहार के सामने ।" सम्राट ने पूर्ववत् विश्राम की मुद्रा धारण कर ली ।

वीरवती की विचित्र स्थिति हो गई थी । एक ओर थी सैनिक कर्तव्य-निष्ठा और दूसरी ओर नारी स्वभावजन्य विवशता थी । वीरवती को सम्राट ने द्विविधात्मक मन:स्थिति से उबारने के अभिप्राय से कहा, "वीरवती ! तनिक सूचित तो करो जाकर कि आहत सैनिक चिकित्सा शिविर तक अभी पहुँच सके या नहीं ?"

"जो आज्ञा ।" आदेश पालन का भाव वीरवती ने इतनी तेजी से व्यक्त किया जैसे किसी बहुत बड़े सकट से उबर पाई हों ।

सम्राट ने बढ़ने से रोका, "और सुनो । मेरी आवश्यकता समझना तो सूचित करा देना ।"

"भगवन् ! एक विनम्र अनुरोध है ।" वीरवती ने आगे बढ़ते-बढ़ते रुक कर निवेदन किया ।

"बोलो, बोलो, वीरवती शीघ्र बोलो ।" उत्सुकता ने सम्राट को उठाकर बैठा दिया था ।

"बड़ी कृपा होगी, भगवन् मार्ग-प्रदर्शन का कष्ट करें ।"

"सच वीरवती ! मार्ग भूलने का अभिप्राय है तुम्हारा अधिक थका होना । मेरी मानों तो तुम भी विश्राम करो । मेरी भाँति कहीं मत जाओ ।"

"कितनी सौभाग्यशालिनी हैं मेरी ये दोनों बहनें । काश ! यही जीवन धारणा अपनाई होती ।"

"तो क्या तुम्हें अपने और इनके जीवन में कुछ अन्तर अनुभव होता है ?"

"विवशता उसे भी तो स्वीकारने नहीं दे रही है ।"

"वीरवती और विवशता ! तुम्हारे मुंह से यह क्या सुनने को मिल रहा है ! जैसा नाम है वैसा गुण है । वीरता की प्रतीक वीरवती और विवशता ! कैसी असहाय-सी मुद्रा धारण करली है ! यह मत भूलो कि तुम वीरवती हो । निष्प्राण शरीर में प्राण फूंकने वाली शक्ति हो तुम । अपने वास्तविक स्वरूप में आओ, वीरवती ! वीरवती को मैं विवश कभी नहीं देख सकता ।"

"फिर भगवन् मार्ग-निर्देशन की कृपा करें।"

"तुम्हारी जिद् के सामने विवश हूँ। करना ही पड़ेगा जैसा चाहोगी।"

"विशेष कष्ट की अनुभूति हो रही हो तो रहने दीजिए। भटकती-भटकती पहुँच ही जाऊँगी।"

"भटकोगी क्यों ? मैं मार्ग-निर्देशन के लिए प्रस्तुत तो हूँ। लाओ मेरे वस्त्रादि।" सम्राट ने प्रस्तुति भाव का प्रदर्शन किया।

"भगवन् को उठना पड़ेगा वस्त्रादि धारण करने होंगे। शस्त्र ग्रहण करेंगे। अश्व पर आरोहण करेंगे। मार्ग अंधकारमय है। कहीं भटक गये तो कहीं के न रहेंगे। चाहें तो रहने दें।" वीरवती ने स्वाभाविकता को प्रच्छन्न रखकर कृत्रिम आशंका प्रकट की।

सम्राट भी वीरवती की अभिनयात्मकता का आभास पा गये। वह तैयार होते हुए बोले, "पुरुष हूँ। तैयार होने मे क्या देर। आक्रमण अभियान पर निकला हूँ तो यह सब तो करना ही पड़ेगा। और फिर जब तुम साथ हो तब भटकने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी डर लग रहा हो तो तुम यहीं बैठो, मैं देखभाल कर आता हूँ।"

वीरवती ने, जब पांसा पलटते हुए देखा तो, बोलीं, "भगवन् का अकेले चलना भी कहीं शोभा देता है।"

"और महारानी ही जब साथ हों तो फिर शोभा के कहने की क्या है।" सम्राट हंस पड़े। वीरवती भी हंसे बिना न रह सकी। सम्राट ने बड़े ही सामान्य स्वर में अपनी धारणा व्यक्त की, "जीवन में मनोविनोद का भी महत्त्व होता है—इसकी अनुभूति भी मुझे इन क्षणों में हो गई। और तुम भी वीरवती किसी भी दृष्टि से कम नहीं हो। अपनी बात तो कह ही लेती हो, उसे मनवाना भी आता है तुम्हें।"

"और भगवन् के आदेश के सामने नतमस्तक होना भी आता है। अब प्रस्थान करने की कृपा कीजिए।"

"चलो।" सम्राट शिविर द्वार की ओर उन्मुख हुए।

"यह असि तो धारण कर ही लीजिए।" वीरवती ने टोका।

"इससे बढ़कर तुम तो हो साथ में।"

"अहोभाग्य। फिर भी आवश्यक है, शोभा के लिए ही सही।"

"लाओ।" असि धारण करते हुए सम्राट शिविर के बाहर आ गये।

रात्रि का अंधकार यद्यपि प्रकृति मे व्याप्त था, तथापि राजकीय शिविर की सीध मे जो मार्ग था उसके दोनों ओर प्रकाश था। उसी प्रकाशित मार्ग पर दोनों अश्वों पर सवार हो आगे बढ़ते चले गये।

नित्य प्रातःकाल दोनों ओर की सेनाएँ रणस्थल की ओर प्रस्थान करती और दिनभर युद्धरत रहतीं। कभी एक पक्ष के सैनिक अधिक आहत होते और मारे जाते और कभी दूसरे पक्ष के अधिक सैनिक रात्रिकालीन विश्राम के लिये जीवित न रहने पाते। युद्ध की स्थिति अत्यन्त असाधारण हो उठी थी और दिन-पर-दिन अधिकाधिक अविश्वसनीय होती जा रही थी। घोषणाओं पर घोषणायें नित्य प्रसारित की जा रही थीं। वे कितनी विश्वसनीय हैं, यह विवाद का विषय कभी न बनता था, क्योंकि सैनिकों का कर्तव्य था आदेश-पालन, आदेश पर टीका-टिप्पणी नहीं। सैनिक उच्चाधिकारियों की जब भी बैठक होती, वे अपने पक्ष के सशक्त होने का ही समर्थन करते। और ये बैठकें भी कभी-कभी ही बुलाई जातीं, क्योंकि दोनों ओर के राज्याध्यक्ष स्वयं ही प्रत्यक्षदर्शी थे। उन्हें किसी सूचना की आवश्यकता न थी, वे तो कभी-कभी अभिमत से अवगत होना चाहते थे। ऐसी बैठकों में राज्याध्यक्ष सुनते अधिक थे, बोलते कम थे। केवल अन्त में अपना निर्णयात्मक आदेश व्यक्त कर बैठक समाप्त कर देते थे।

युद्ध नित्य हो रहा था। सैनिकों की संख्या दिन-पर-दिन घटती जा रही थी। आहतों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। युद्ध के लिए सैनिकों और उनकी आवश्यकताओं की वस्तुओं की आपूर्ति निरन्तर जारी थी। सामान्य नागरिक भले ही किसी वस्तु विशेष के अभाव के कष्ट की अनुभूति कर लें, सैनिक को उसके अभाव की अनुभूति न होने दी जा रही थी। जो छोया जा रहा था, युद्ध की आहुति बनता जा रहा था।

युद्ध का स्थान नित्य नया हो जाता था। थोड़ा आगे-पीछे या अगल-बगल हटकर ही नया युद्धस्थल बनता था। विगत युद्धस्थल कटे-फटे अंगों से भरे और प्रवाहित रक्त से गीले होने के कारण वह भू-भाग नवीन युद्ध के लिए उपयुक्त न रहता था। सड़ांध और दुर्गन्ध वातावरण में इतनी अधिक व्याप्त हो उठी थी कि सैनिक एक हाथ से नाक बन्द कर आगे बढ़ते थे। दृश्य तो इतना हृदयविदारक होता ही था कि नाक की सीध में ही सैनिक देखते थे, मुड़कर या अगल-बगल देखना उनके वश की बात न थी। हर सैनिक

इसी विश्वास के साथ रणस्थल की ओर प्रस्थान करता था कि विजय का श्रेय उसे ही प्राप्त होना है, किन्तु न जाने उनमें से कितने रणस्थल में ही वीरगति को प्राप्त हो जाते थे।

कई माह तक निरन्तर युद्ध चलता रहा। वीरों की हानि होती रही। क्षतिपूर्ति के सम्भव प्रयास भी होते रहे। फिर भी निरन्तर सैनिक संख्या में ह्रास होता ही चला गया। ज्यों-ज्यों ह्रास मन-मस्तिष्क को मथ रहा था, त्यों-त्यों क्रोधाग्नि उत्तरोत्तर धधकती जा रही थी। जब क्रोधाग्नि भी सीमाहीन हो उठी, तब सम्राट अशोक ने अपना निर्णयात्मक आदेश व्यक्त किया, "वीरवती ! युद्ध की यह रीति मुझे तनिक भी पसंद नहीं। नित्य रण की ओर प्रस्थान करना और रात्रि तक कुछ-न-कुछ वीरों की बलि चढ़ाकर लौट आना, मेरी रणनीति के विरुद्ध है। कितने माह युद्ध करते हुये बीत गए। अब नहीं लौटेंगे हम रात्रि में। रणस्थल ही हमारा विश्राम स्थल भी होगा। दिन-रात युद्ध होगा अब। युद्ध तब तक नहीं बन्द होगा जब तक शत्रु आत्म-समर्पण नहीं कर देता। जितना शत्रु पीछे हटेगा, हम उतना ही आगे बढ़ेंगे। अब हमारा युद्ध समाप्त होगा समय के साथ-साथ। जैसे समय कभी नहीं ठहरता है, वैसे ही हमारा संघर्ष भी नहीं रुकेगा। कितनी विघ्न-बाधाएँ क्यों न उपस्थित हों, हमारी गति अवरुद्ध न होगी और इसे तुम मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा समझो कि अस्त्र शरीर से तभी अलग होंगे जब इनके धारण करने की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी।"

वीरवती सम्राट अशोक के स्वभाव से ही परिचित न थीं, समय और परिस्थिति के अनुकूल समर्थन या विरोध करने की कला में भी वह पारंगत थीं। उन्होंने सम्राट की संकल्पात्मक अभिव्यक्ति का अनुमोदन ही किया, सहर्ष स्वागत है भगवन् के निर्णय का। कई दिनों से मैं भी इसी परिवर्तन की आवश्यकता की अनुभूति कर रही थी, किन्तु उस अभिव्यक्ति का साहस न जुटा पा रही थी। भगवन् का यह निर्णय बड़ा ही सामयिक है। समय की अच्छी पहचान है, भगवन् को। इस निर्णय द्वारा भगवन् ने असंख्य सम्भावनाओं और द्विविधाओं का समूल उन्मूलन कर दिया है। समय की गति को भगवन् की संकल्पशक्ति ने ऐसा जकड़ा है कि वह भगवन् की अनुमति के बिना टस-से-मस भी न हो सकेगा।"

सम्राट अशोक और भी अधिक उत्साह के साथ बोले, "फिर मेरा यह निर्णय तुम्हें उचित लगा ? बस, एक तुम्हीं से आशंका थी कि न जाने तुम कैसे मेरे निर्णय को पलट दो, किन्तु जब तुम्हें भी यह सामयिक प्रतीत हुआ तब तो इसी के अनुरूप ही कल से युद्ध होना है।"

"अवश्य भगवन् ! समय की माँग ही अब ऐसे युद्ध की है।"

और दूसरी ओर कलिंगराज रह-रह कर क्षोभ प्रकट कर रहे थे, "कब तक चलेगा युद्ध ऐसे ही ? हर विचार, हर गति की एक सीमा होती है। इस युद्ध की कोई सीमा नहीं ? कब तक कोई लड़ेगा ऐसा युद्ध। दो तिहाई सैनिक वीरगति को प्राप्त हो चुके हैं। प्रजा सैनिक वेश धारण कर नित्य रणस्थल की ओर जा रही है। क्या यह अनुभवहीन प्रजा शत्रु के विनाश के लिए जाती है ? कदापि नहीं। जानबूझ कर निरीह प्रजा का वध कराना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। वर्तमान स्थिति हर दृष्टि से असह्य है। हमें इसमें परिवर्तन करना होगा। परिवर्तन समय की माँग है। मैंने निर्णय लिया है कि थोड़ा पीछे हटकर हम शत्रु का सामना करेंगे। इसके साथ-ही-साथ फैलकर चारों ओर से शत्रु का संहार भी करेंगे। शत्रु अपनी भूमि से इतने दूर होते हुये भी अशक्त नहीं सिद्ध हो रहा है। अब हमें सिद्ध कर दिखाना है कि कलिंगवासी मृत्यु से नहीं डरते। मृत्यु हमारे हाथ का खिलौना है। शत्रु को बालक समझ कर हम इसे उसकी ओर उछालेंगे। जो भी इसे लपकने की चेष्टा करेगा, वही मृत्यु का ग्रास बने बिना न रहेगा।"

दोनों ही पक्षों की ओर से नवीन ढंग से व्यूह-रचना प्रारम्भ हो गई थी।



सम्राट अशोक की अधिकाधिक चेष्टा रहती थी कि वह सबसे आगे रहें और शत्रु सेना का जितनी शीघ्र सम्भव हो, सफाया कर डालें और वीरवती का भरसक प्रयास रहता था कि सम्राट अग्रिम पंक्ति में न रहने पायें। कभी किसी नवीन सूचना से अवगत कराने के उद्देश्य से तो कभी किसी मन्त्रणा विशेष के बहाने वह सम्राट को शिविर तक खींच लाती थीं। शिविर रणस्थल से विशेष दूर नहीं होता था। वीरवती के वाग्जाल से मुक्त होते ही सम्राट अशोक पुनः युद्धरत शत्रु सैनिकों के समक्ष आ डटते थे। असाधारण निर्भीक तो वह थे ही। किसी भी प्रकार के और किसी भी ओर से होने वाले आक्रमण की उन्हें तनिक भी चिंता न रहती थी। वह तो मात्र देखते थे सामने

उपस्थित शत्रु को । शत्रु सैनिक साधारण हो या विशिष्ट, उनके अचूक प्रहार का लक्ष्य बनता था । कलिंगराज जब तथ्य से अवगत हुए तब वह स्वयं तेजी से आगे बढ़े । किसी भी गतिरोध का उन्हें सामना न करना पड़ा । वह सीधे आ डटे सम्राट अशोक के समक्ष । अशोक की दृष्टि में शत्रु–शत्रु था । सम्राट और प्रजा में उनकी दृष्टि में कोई विशेष अन्तर न था । सम्राट अशोक कलिंगराज को पहचान न सके । पहचानते वे भी नहीं । कलिंगध्वज की ओर उनका ध्यान गया नहीं । वह शत्रु सैनिकों को गाजर-मूली की भाँति काट-काट कर फेंक रहे थे । कलिंगराज ने आगे बढ़कर ललकारा । उस ललकार में शक्ति विशेष की अनुभूति हुई सम्राट अशोक को । उन्होंने सधी दृष्टि से कलिंगराज की ओर देखा । कलिंगराज ने सावधान किया, "देख क्या रहा है ? कलिंगराज को जैसे कभी देखा ही नहीं ।"

"ओह ! तो तुम्हीं हो कलिंगराज ? बड़ी प्रतीक्षा कराई । न जाने कब से खोज रहा हूँ । ले, झेल प्रहार । प्रहार इतना भीषण था कि कलिंगराज का गज ही धराशायी न हुआ, स्वयं कलिंगराज तक धरती पर आ रहे । सम्राट अशोक ऐसे ही अवसर की ताक में थे । किन्तु इसके पूर्व कि वह पुनः प्रहार कर सकें, कलिंगराज ने भी उठते हुए ऐसा असि-प्रहार किया कि अश्व की गरदन धड़ से अलग हो गई । अशोक भी धरती पर आ रहे । दोनों आमने-सामने थे । प्रहार-पर-प्रहार प्रारम्भ हो गये । सम्राट के प्रहार जहाँ शक्तिशाली और क्षिप्र थे, वहीं कलिंगराज के प्रहार सधे हुए और अचूक थे । नये और पुराने का संघर्ष था वह । अनुभव और उमंग का युद्ध हो रहा था । हर प्रहार निर्णायक और अन्तिम प्रतीत हो रहा था । प्रहार-से-प्रहार टकरा रहे थे । टकराहट झनझना उठती थी । देखते-देखते आस-पास के सैनिक दूर होते चले गए । यथेष्ट स्थान प्राप्त हो गया दोनों को खुलकर युद्ध करने का । वीरवती सम्राट के पीछे ही थीं । अन्य प्रहारों से वह उनकी रक्षा कर रही थीं । कलिंगराज अकेले ही भावावेश में आगे बढ़ते चले आए थे, किन्तु उन्हें खोजते हुए युवराज मृगांक वहीं आ पहुँचे । उन्होंने एक क्षण तो वर्तमान संघर्ष को समझने की चेष्टा की और फिर वह भी सम्राट अशोक पर प्रहार करने लगे । प्रहारों के साथ-साथ वह कलिंगराज को सावधान भी करते जा रहे थे, "पिता जी ! आप हटिए पीछे । इसे मैं अभी यमलोक पहुँचाए दे रहा हूँ ।"

"नहीं बेटा ! इससे तुम्हें पार पाना कठिन है । इसकी प्रहाराक्रान्त गति बड़ी प्रबल है । जब तक समझोगे तब तक यह युद्ध का निर्णय भी कर डालेगा ।"

"पिता जी ! निर्णय, यह नहीं, मैं करूँगा ।"

"ओह ! तो पिता की सहायता के लिए पुत्र भी आ पहुँचा ।"

"भगवन् ! अकेले नहीं हैं । हटिए, इसके प्रहारों को मुझे विफल बनाने दीजिए ।"

"कौन ? कौन है तू ?" कलिंगराज ने दृष्टि गड़ा पूछा, "तू तो स्त्री प्रतीत हो रही है ?"

"इतना ही पहचान लिया तो यह भी जान लो कि मैं हूँ वीरवती। और वीरवती अपनी मां का प्रतिशोध आपसे लेकर रहेगी ।"

"कौन ? वीरवती !" तेरी ही खोज तो मैं कर रहा था । दिखाई दे ही गई है तो ले कर ले प्रहार पहले । क्यों आक्रमण न कर पाने की अधूरी साध लिये तू मरे ।" कलिंगराज वीरवती की ओर उन्मुख हो गये थे ।

युगांक और सम्राट अशोक के मध्य प्रहारों का जो घमासान युद्ध हो रहा था, उसे देखकर भी बताना कठिन था कि कौन प्रहार कर रहा था और कौन बचा रहा था । दोनों के ही प्रहार रक्षात्मक अधिक थे । सम्राट अशोक भिड़े थे युगांक के साथ और दृष्टि टिकी थी वीरवती पर । उन्होंने सावधान किया, "वीरवती ! उसके प्रहारों को न झेल सकोगी । तुम इधर आओ । मैं अभी मृत्यु की गोद में सुलाता हूँ कलिंगराज को ।"

"नहीं, भगवन् ! इससे मुझे अपनी मां का प्रतिशोध लेना है । अभी यमलोक पहुँचाती हूँ इसे ।"

"हठ मत करो वीरवती । इसके हाथों अपनी मां के पास पहुँच जाओगी। तुम्हारे ऊपर इसके प्रहार अचूक हो रहे हैं ।"

"नहीं भगवन् ! कदापि नहीं । इसे तो यमपुर में ही पहुँचाऊँगी ।"

"तू पहुँचायेगी यमपुर कलिंगराज को ? ले तू भी जा अपनी मां के पास ।" कलिंगराज का प्रहार अचूक था । वीरवती न झेल सकीं प्रहार को । उनका हाथ शस्त्र सहित कटकर दूर जा गिरा । कलिंगराज ने उसी क्षण दूसरा प्रहार किया वीरवती पर । वीरवती शस्त्रहीन हो चुकी थीं । वह सम्हल न सकीं और कलिंगराज के दूसरे प्रहार ने उन्हें सीधा चीर डाला । वह दो खण्डों में विभक्त हो धराशायी हो गईं । वीरवती को धराशायी होते देख सम्राट अशोक के क्रोध की सीमा न रही । वह इतने क्रोधोन्मत्त हो उठे कि लगा जैसे स्वयं क्रोध ने प्रहार का वेश धारण कर लिया हो । और उन प्रहारों का प्रथम आखेट बना युगांक । युगांक के गिरते ही अशोक टूट पड़े कलिंगराज पर । कलिंगराज केहरी-प्रहार से अपनी रक्षा करते हुए पीछे हटने लगे । जिस गति से वह पीछे हट रहे थे उससे तीव्रगति से अशोक प्रहार-पर-प्रहार कर रहे थे । उनके दोनों ही हाथों में असि थीं । एक आगे बढ़कर पीछे हटने भी न पा रही थी कि दूसरी प्रहार रूप में आगे बढ़ जाती

थी। कलिंगराज पर सम्राट अशोक के असि-प्रहारों की बौछार-सी हो रही थी। कलिंगराज के प्रहार रक्षात्मक थे। वह साथ-साथ पीछे भी हटते जा रहे थे। उन्हें क्या पता था कि उन्हीं का खण्डित गज पीछे छोटी पहाड़ी-सा अड़ा पड़ा है। कलिंगराज पीछे न हट सके। उनका पैर गज की खण्डित सूंड़ पर जा पड़ा। वह लड़खड़ा गये। उनके पैर काँपे। संतुलन बिगड़ गया। पैर समतल न पड़ने पर भी वह पीछे की ओर गिरने की अपेक्षा झुकते चले गये। सम्राट अशोक के सिर पर तो भूत सवार था। वह अंधाधुंध प्रहार करते चले गये। कलिंगराज का असंतुलित शरीर प्रहाराक्रांत हो उठा था। एक-एक अंग कट-कटकर गिरने लगा। सम्राट अशोक कटे अंग को और अधिक टुकड़ों में काटते चले जा रहे थे, फिर भी उन्हें संतोष न हो पा रहा था। जब कलिंगराज असंख्य टुकड़ों में विभक्त हो गया, तब अशोक ने सीधे ही सामने देखा। दृष्टिपर्यन्त एक भी शत्रु-सैनिक दिखाई न दिया। घूमकर नीचे की ओर देखा तो वीरवती का खण्डित शरीर दिखाई दिया। सम्राट अशोक झुककर वहीं बैठ गये और वीरवती के अंग-प्रत्यंगों को बीन-बीनकर शरीर का आकार देने के अभिप्राय से उन्हें यथा-स्थान रखने लगे। जब निर्जीव वीरवती ने लगभग शरीर रूप धारण कर लिया तब सम्राट ने उसी अवस्था में बोलना प्रारम्भ किया, "वीरवती! जाने में इतनी शीघ्रता क्यों की? क्या मैं तुम्हारा प्रतिशोध कलिंगराज से नहीं ले सकता था? कुछ देर भी तुम प्रतीक्षा नहीं कर सकती थीं? मुझे तो प्रायः समझाया करती थीं कि अधिक व्यग्रता हितकर नहीं होती। फिर तुमने धैर्य से काम क्यों नहीं लिया? दो क्षणों में ही क्या-से-क्या हो गया। तुमने प्राण छोड़ दिये। मुझसे तुम्हारा साथ छूट गया। अब कौन साथ देगा मेरा। कौन धैर्य बंधाएगा मुझे? संकट के पलों में कौन उचित मार्ग का दिग्दर्शन कराएगा? इस अकेलेपन का साथी कौन बनेगा मेरा? मेरे देखते-देखते तुम चली गईं। मेरी दृष्टि के सामने कलिंगराज ने तुम्हारे टुकड़े कर डाले और मैं कुछ कर न सका। तुम देख भी न सकीं कि मैं तुम्हारे लिए क्या नहीं कर सकता था। तुमने तो सब कुछ अपना दिखा दिया। ऐसे-ऐसे कार्य कर दिखाये जिनकी स्वप्न में भी कल्पना न थी। असीम साहस का परिचय दिया। धैर्य की साक्षात् प्रतिमूर्ति थीं तुम। शौर्य और पराक्रम तुम्हारे सामने हाथ जोड़े खड़े रहते थे। तुम्हारे बौद्धिक चातुर्य के समक्ष शत्रु की हर गतिविधि विफल हो जाती थी। शत्रु के लिये जहाँ तुम साक्षात् दुर्गा थीं, वहीं मेरे लिए तुम क्या नहीं थीं। किस-किस अवस्था में तुमने साथ नहीं दिया मेरा? हर कसौटी पर तो तुम खरी उतरीं। शुद्ध स्वर्ण दोषपूर्ण हो सकता है किन्तु तुम्हारे जीवन

में कहीं भी खोट न थी। तुम्हारा अन्तर्बाह्य एक-सा था। कभी समझ न सका कि तुम्हारा यह बाह्य शारीरिक सौन्दर्य अधिक आकर्षक था कि आन्तरिक औदार्य अधिक सम्मोहक था। तुम उत्सर्ग की देवी थीं, वीरवती। सेवा भी अजसधारा थीं तुम। सहिष्णुता और सम्वेदना के मध्य तुम्हारी जीवन-धारा सदा प्रवाहित रही। प्रमाद और निष्क्रियता ने कभी तुम्हें छुआ तक नहीं। कर्तव्य की प्रेरणा बनकर सदा दूसरों से सम्मान अर्जित करती रहीं। ईर्ष्या-द्वेष आदि भावनाओं को प्रश्रय तुम्हारे मनमस्तिष्क में कभी मिला नहीं। वीरवती! तुम नारी होकर भी किसी भी पुरुष से कम नहीं थीं। नारी गौरव भी तुम्हारे समक्ष नतमस्तक होता था। वीरवती! तुम चली क्यों गईं? जाना ही था तो मुझे भी साथ ले लिया होता। जैसे इतने दिनों तुमने साथ दिया वैसे ही शेष जीवन मुझे भी साथ निभाने का अवसर दिया होता। किन्तु तुम गईं कहाँ, भेजी गई हो। तुम्हें भेजने वाला है कलिंगराज। काश! कलिंगराज को पहले ही यमलोक पहुँचा दिया होता। कलिंगराज को मैंने जीवित क्यों रहने दिया? क्यों नहीं कलिंगराज्य में प्रवेश करते ही कलिंग-राज को मृत्यु का ग्रास बनाया? इतने दिनों तक किसलिए प्रतीक्षा की? क्या यही सब देखने के लिए? किन्तु इसमें मेरा क्या दोष? वीरवती! तुम्हीं तो मुझे रोकती रहीं। जब-जब मैंने आक्रमण का निर्णय किया, तब-तब तुमने मुझे किसी-न-किसी बात को लेकर सावधान किया और मेरा निर्णय टलता चला गया। किन्तु, वीरवती! अब तुम नहीं हो। अब कौन रोकेगा मुझे। अब मैं रुकने वाला भी नहीं। किसी की भी कोई बात अब मैं सुनने वाला नहीं। वीरवती! अब तुम स्वर्ग से देखो, कैसा, नर-संहार करता हूँ। एक-एक शत्रु को बीन-बीनकर मारूँगा। किसी पर कोई दया नहीं करूँगा। जब तक एक-एक कलिंगवासी को तुम्हारी सेवा में नहीं पहुँचा दूँगा तब तक चैन की सांस नहीं लूँगा। जय मगध।" गर्जना के साथ सम्राट अशोक उठ खड़े हुए। थोड़े से अन्तर पर चारों ओर से 'जय मगध' की ध्वनि बारम्बार ध्वनित प्रध्वनित होने लगी। सम्राट अशोक ने चारों ओर घूम-घूमकर देखा। सर्वत्र मगध सैनिक ही दृष्टिगत हुए। पूर्ण आश्वस्त होने पर उनके दोनों हाथों की असि आकाशोन्मुख हो उठीं। समवेत कण्ठों से निकलने वाली जयध्वनि सहसा बन्द हो गई। प्रतिध्वनि भी शनैः शनैः तिरोहित होती चली गई। सम्राट अशोक की गर्जना सभी ने सुनी, "मगध वीरो! आगे बढ़ो। आओ मेरे साथ। एक-एक कलिंगवासी तक को खोज-खोजकर मारना है। कलिंग-राज्य का अस्तित्व तक मिटा देना है।" आओ शूरवीरों! आज अन्तिम युद्ध है। इसे सदा के लिए समाप्त करना है।" सम्राट का मगध सैनिक भी

अनुसरण कर उठे। 'जय मगध' की सामूहिक कण्ठध्वनि गतिमान सैनिकों के साथ-साथ आगे बढ़ती चली गई।



वर्षाऋतु के बादलों की भांति मगधसैनिक कलिंगराज्य की राजधानी पर छा गये थे। एक ओर सम्राट अशोक के नेतृत्व में सैनिक जहां दुर्ग को लक्ष्य बनाये हुए थे, वहीं दूसरी ओर अन्य सैनिक नगर के विभिन्न क्षेत्रों में दिखाई देने लगे थे। प्रतिरोध का कोई विशेष सामना न करना पड़ रहा था। जहां कहीं भी पुरुष वर्ग सामूहिक रूप में सामना करने का दुस्साहस भी करता, वहीं वे कुछ ही क्षणों में मगध सैनिकों के द्वारा धराशायी कर दिये जाते, और जहां पुरुषों का स्थान कलिंग की नारियों ने ले लिया था, वहां से आगे बढ़ने में मगध सैनिकों को समय लगता। प्रतिरोधस्वरूप उपस्थित नारी समुदाय का वध तो सैनिक कर नहीं सकते थे। क्योंकि सम्राट अशोक का स्पष्ट आदेश था कि कलिंग की नारियों और बच्चों को किसी भी मूल्य पर प्रताड़ित न किया जाय। उनके क्रोध को शान्त करने के लिए यदि कुछ हानि भी उठानी पड़े तो भी शक्ति का सहारा न लिया जाय। कलिंग पुरुषों के वध की प्रतिक्रिया स्वरूप जहां भी नारियों ने मगध सैनिको पर प्रहार किये, वहां मगध सैनिकों ने रक्षात्मक रूप अपनाकर स्थिति को सम्हाल लिया। कहीं-कहीं नारियो ने मगध सैनिकों के इस व्यवहार को उनकी दुर्बलता समझी और उसका अनुचित लाभ उठाकर सैनिकों को अपमानित भी किया। सैनिक उस स्थिति में भी रक्त का घूट पीकर रह गये। सम्पूर्ण नगर की यही स्थिति थी। सैनिकों को रक्तपात कम करना पड़ रहा था, प्रतिशोधाग्नि की आंच को अधिक सहना पड़ रहा था।

दुर्ग के रक्षार्थ कुछ शत्रु सैनिकों का सामना सम्राट अशोक को अवश्य करना पड़ रहा था, किन्तु संख्या में वे इतने कम थे कि उन्हें समाप्त करके दुर्ग को अधिकृत करने मे सम्राट अशोक को विशेष संघर्ष का सामना न करना पड़ा था। सम्राट अशोक के साथ लगभग पचास हजार मगध योद्धा थे। उनका दुर्ग मे प्रविष्ठ होना था कि वे सम्पूर्ण दुर्ग में फैल गये। उन्हें विश्वास था कि दुर्ग के अन्दर अधिक संख्या में कलिंग सैनिक होंगे, किन्तु जो थे, वे

संघर्ष में काम आ चुके थे । सम्पूर्ण दुर्ग का एक-एक भाग भलीभाँति देखा गया, किन्तु जीवित रूप में एक भी पुरुष दृष्टिगत न हो पा रहा था । अपरिचित स्थान था । कौन मार्ग कहाँ के लिये गया है, किसी को ज्ञात न था। खोजने पर कुछ सुरंगें भी दिखाई दीं, किन्तु उनमें प्रवेश का साहस किसी भी सैनिक ने नहीं किया । सम्राट अशोक का अश्व राजप्रासाद की ओर बढ़ रहा था । बड़ा ही भव्य था राजप्रासाद । वह लगभग दुर्ग के बीचोबीच स्थित था । सुविस्तृत और सुदीर्घ हरीतिमा ने उसे ऐसा ढक रखा था कि उसकी अवस्थिति का अनुमान कर पाना तक कठिन था । ज्यों-ज्यों सम्राट अशोक निकटतर पहुँचते गये, त्यों-त्यों आकर्षण अधिकाधिक बढ़ता गया । बड़ा ही चित्ताकर्षक स्वरूप था राजप्रासाद का । उसकी भव्यता दर्शनीय थी । एक क्षण तो सम्राट अशोक भी उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति को अपलक निहारते रहे, किन्तु कर्तव्य-बोध का अभाव एक क्षण के लिये भी न होने पाया । वह आगे बढ़े । मुख्य द्वार खुला पड़ा था । अश्व ने द्वार पार किया । अन्दर सर्वत्र शान्ति व्याप्त थी । कहीं कोई गतिविधि दिखाई न दे रही थी । सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ था । मात्र वायु की गतिध्वनि इस सन्नाटे को और अधिक भयावह बना रही थी । सम्राट और आगे बढ़े । दृष्टि सामने ही नहीं दाहिने-बायें भी स्थिति का आकलन कर रही थी । अनुचर सैनिक भी कुछ ही अन्तर से अग्रसर हो रहे थे । अतिविशाल प्राङ्गण पार करने के उपरान्त सुविशाल कक्षों में सैनिकों ने सम्राट अशोक के आदेश पर झाँकना प्रारम्भ किया । काफी देर तक सैनिक तेजी के साथ एक-एक कक्ष में घुस घुस कर देखते रहे । इतना ही यथेष्ट नहीं था कि एक-दो सैनिक किसी कक्ष विशेष मे झाँक लें और दूसरे सैनिक उसका निरीक्षण न करें, बल्कि एक-एक कक्ष को उधर से गुजरने वाला हर सैनिक देख रहा था । दोपहर तक खोजबीन करने पर भी जब किसी भी व्यक्ति के जीवित मिलने का समाचार न मिला तब सम्राट अशोक ने आदेश दिया, "वीरो ! व्यर्थ है खोजबीन । शत्रुशक्ति पूर्णतया परास्त हो चुकी है । एक-एक को यमलोक पहुँचा दिया गया है । हमारे प्रतिरोध के लिये एक भी कलिंगवासी जीवित नहीं बचा है । सम्पूर्ण कलिंग पर अब हमारा अधिकार है । वह देखो शिखर पर मगध ध्वज फहरा उठा है । 'जय मगध' ।" दुर्ग के उच्चतम शिखर पर फहराये जाते ध्वज को लक्ष्य कर सम्राट अशोक आगे बोले, "कलिंग राज्य मगध का सबसे बड़ा शत्रु था । इसे पराभूत करने में यद्यपि यथेष्ट समय ही नष्ट नहीं हुआ है वरन् असंख्य शूरवीरों की बलि भी चढ़ानी पड़ी है । निकटतम स्वजनों तक से हमें हाथ धोना पड़ा है । यह भी निश्चित है कि इस युद्ध में होने वाली

क्षति की पूर्ति असम्भव है और आजीवन वह स्मृति रूप में हमारे मनमस्तिष्क को कुरेदती रहेगी, फिर भी हमें संतोष है कि हम अपने अभियान में सफल रहे। हमारी इस सफलता ने मगध शक्ति को एक नया जीवन दिया है। अब मगध का एक अजेयशक्ति के रूप में उदय हुआ है। कश्मीर से कन्या-कुमारी और अटक से कटक तक एक भी शक्ति ऐसी नहीं है जो स्वप्न में भी हमारे विरोधी रूप में सोचने का दुस्साहस करे। चोल, पांड्य और ताम्रपर्णी आदि राज्यों की जिन सैनिक टुकड़ियों ने इस युद्ध में भाग लिया, उनमें से, अधिकांश तो मारे जा चुके हैं और जो किसी भी प्रकार प्राण रक्षा करपाने में सफल हो गये हैं, वे निश्चित ही भागकर अपने राज्याध्यक्षों को इस युद्ध की विनाशलीला का जो चित्र खींचेंगे, उससे मगधशक्ति का अपराजेय रूप सिद्ध हुए बिना न रहेगा। भविष्य तक में कोई भी राज्य सिर उठाने की चेष्टा न करेगा। मगधशक्ति के इस अपराजेय रूप को स्थापित करने में जिन वीरों को अपने प्राणों की बलि चढ़ानी पड़ी है, उनका उत्सर्ग सदा अविस्मरणीय रहेगा। मगध शक्ति उनकी आभारी है। हम अपनी श्रद्धाञ्जलि उन अमर आत्माओं के प्रति अर्पित करते हैं। 'जय मगध' ।" सम्राट अशोक के जयस्वर का साथ असंख्य कण्ठस्वरों ने दिया। जयध्वनि निरन्तर ध्वनित प्रध्वनित हो उठी। लगभग प्रत्येक सैनिक ने लक्ष्य किया कि सम्राट अशोक की दृष्टि सामने ऊपर की ओर उठी तो वहीं गड़ कर रह गई। सभी की गरदनें उसी दिशा में घूम गईं। असंख्य दृष्टियों का केन्द्र-बिन्दु भी वही श्वेतवस्त्रधारिणी आकृति बन गई जिसका स्वर सभी ने सुना, "अशोक! ध्यान से सुन। मैं कलिंग की राजमाता हूँ। दो प्रहर तक खोज बीन करने पर भी तेरे हाथ कुछ न लगा। राजपरिवार के सभी सदस्य यहाँ से जा चुके हैं। अब तक वे इतनी दूर पहुँच चुके होंगे जहाँ से उन्हें पकड़ पाना असम्भव है। इस दुर्ग में केवल मैं जीवित बची हूँ। और वह भी तुझे यह सत्याभास कराने के लिए तू इस समय जिस विजय मद में मदान्ध है वह अस्थाई है। समय कभी किसी का एक-सा नहीं रहता है। मनुष्य समय के हाथों में मात्र एक खिलौना है। जैसा वह नचाता है, वैसा मानव नाचता है। नाचने में जो गति मानव शक्ति के रूप में अनुभव करता है, वह एक ऐसा भ्रम है जिसका शिकार हर विजेता बनता है। वह यह भूल जाता है कि निरीह और निरपराध नर-नारियों के पाशविक शोषण और अमानुषिक अत्याचारों की नींव पर सफलता के जो शिखर विनिर्मित किये जाते हैं, वे एक न-एक दिन अवश्य ढह जाते हैं। उनके चिह्न तक मिट जाते हैं। उनकी कहानी सुनाने वाला तक नहीं रह जाता है।

ऐसे शोषकों के उत्पीड़नों की लोमहर्षक कहानियाँ स्मृति के गर्भ में ऐसी विलीन होती हैं कि काल की पर्तें उन पर चढ़ती ही चली जाती हैं। स्मृति-रूप में सुरक्षित रह जाती हैं मानवता के उन पुजारियों की गाथायें जो मानव होकर मानव के साथ मानवीय आचरण को सर्वोपरि मानते हैं। जिनकी दृष्टि में मानव-मानव समान है और मानवता का संरक्षण जिनके प्रत्येक प्रयास का मूल होता है, उनके क्रियाकलाप अविस्मरणीय होते हैं और वे ही मानवीय दृष्टि से सम्मान के अधिकारी होते हैं। अशोक ! तू विचारकर देख कि तूने क्या किया है। तूने असंख्य निरपराध नरों का वध किया है। अबलाओं और बच्चों को अनाथ बनाया है। चिरसंचित कलात्मक अभिव्यक्तियों को विध्वंसित बनाया है। आर्थिक उपलब्धियों को विनष्ट किया है। तेरी विनाशलीला पर मानवता आठ-आठ आंसू रोई है फिर भी तूने मनमानी की है। स्मरण रख अशोक ! इस विजय का तूने बहुत मूल्य चुकाया है। इस विजय से जितना तूने पाया है, उससे अधिक तूने खोया है। लेकिन तू इस समय विजयोन्मादग्रस्त है। हानि-लाभ का तटस्थ मूल्यांकन कर पाना तेरे लिये सम्भव नहीं है। फिर भी समझ ले अशोक ! स्वतन्त्र कलिंग पर आक्रमण करके जो तूने अपराध किया है, उसके लिये मानवता तुझे कभी क्षमा न करेगी। पश्चाताप के आँसू भी तेरी इस कलंककालिमा को न धो पायेंगे। मानवता के विनाशक अशोक ! अब भी तू एकांत में होगा, तेरी आत्मा तुझे धिक्कारेगी। अपने बन्द नेत्रों के समक्ष वीरगति को प्राप्त योद्धाओं के शरीर से प्रवाहित रक्त में तू संतरण करेगा। आहत शूरवीरों की कराहें तुझे सोने न देंगी। अनाथ अबलाओं की आहें तुझे बेचैन बनाने के लिए पर्याप्त होंगी। निराश्रित बच्चों की चीख-पुकारें तेरे कानों से टकरा-टकरा कर तुझे अशांत बनाये रखेंगी साम्राज्य विस्तार की भावना के वशीभूत होकर तूने विनाशलीला का जो ताण्डव नर्तन किया है, वह तुझे मानवता का कलंकी ठहरायेगी। रे नरपिशाच अशोक ! अब भी चेत जा। जो अपराध तूने किया है उस पर पश्चाताप कर और संकल्प कर कि अब ऐसे कुकृत्य को भविष्य में कभी न दुहरायेगा। किसी भी प्राणी को उसे जीने के अधिकार से वंचित न करेगा। मानवता का मूल धर्म दया है—इसे सदा अपने आचरण का आधार समझेगा। आततायियों और अत्याचारियों को सन्मार्ग पर लाने की तू चेष्टा करेगा। शेष जीवन भर तू उन्हीं विचारों और कार्यों को प्रश्रय देगा जो जिनसे मानवता का संपोषण होगा। मानवता की विरोधी शक्तियों को तू कुचलेगा भी। अमानवीय क्रियाकलापों का समूल उन्मूलन भी करेगा। यदि तेरे मानवीय प्रयासों से मानवता मुस्करा सकी तो तू समझना कि

उत्पीड़ित मानवता ने तुझे क्षमा कर दिया है अन्यथा तू सम्राट भी कहला सकेगा, संदिग्ध है। न जाने किस अज्ञात शक्ति ने मुझे इस क्षण तक जीवित रखा है। मैं भी उसी मार्ग की अनुगामिनी बनने जा रही हूँ जिस मार्ग से कलिंगवासियों ने अनुसरण किया है। 'जय कलिंग'।" इसी जय स्वर के साथ उस सजीव आकृति ने वहीं से छलांग लगा दी। पृथ्वी तक आते-आते उसका शरीर प्राणविहीन हो गया। प्रत्येक सैनिक ने देखा कि निष्प्राण शरीर के मुख-मण्डल पर शान्ति की आभा व्याप्त थी। सम्राट की नत दृष्टि उसी के मुख-मण्डल पर टिकी थी। उपस्थित सैनिक कभी उस मृतात्मा को देख रहे थे और कभी अपने सम्राट अशोक की विजयोन्मत्त ग्रीवा को झुका हुआ देख रहे थे।



कलिंगविजेता सम्राट अशोक राजप्रासाद में अधिक समय तक न ठहर सके। वह बाहर निकल आए। उनके अश्व की गति अत्यन्त सामान्य थी। उनके शैथिल्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता था जैसे अश्व उनसे पग-पग पर पूछ रहा हो कि किधर चलूं। सेवाकाल में सम्राट की रुचि का जितना ज्ञान अश्व को हो सका था, उसी के आधार पर वह गतिमान था। सम्राट अन्तर्मुखी हो उठे थे। वह जिधर दृष्टि डाल रहे थे, उधर ही सैनिकों के कटे-फटे अंग दिखाई दे रहे थे। कहीं रक्तिम रुधिर दृष्टि को आकर्षित कर रहा था तो कहीं रक्त सूखकर हल्की कालिमा में परिवर्तित हो चुका था। प्रत्येक दृश्य सम्राट की दृष्टि के समक्ष प्रश्न बनकर खड़ा था। दुर्ग का एक-एक पत्थर पूछ रहा था, "मैं पत्थर हूँ। दुर्ग का एक अंग बन चुका हूँ, इसलिए दुर्ग का पत्थर कहलाता हूँ। इस दुर्ग मे कलिंगराज निवास करते थे, अतएव कलिंग-दुर्ग के नाम से यह जाना जाने लगा। जिसने भी देखा, मुझे कलिंग के दुर्ग का पत्थर कहा। मैंने भी परिस्थिति से समझौता कर लिया और कलिंग दुर्ग का पत्थर कहे जाने को मैंने अपनी नियति स्वीकार की। अब आप चाहते हैं कि मैं मगध साम्राज्य के एक दुर्ग का पत्थर कहलाऊँ। अवश्य कहलाऊँगा। वही होगा जो आप चाहेंगे, क्योंकि आप समर्थ हैं। समर्थ कितना भी अनर्थ क्यों न करे, उसे दोषी नहीं माना जाता। आप भी दोषी नहीं हैं।

मेरा है जो अपने जन्म स्थान से उठकर सेवाभाव से यहाँ तक चला आया अन्यथा सैनिकों को ठोकरें न खाता, रक्त में स्नान न करता और उसी पहाड़ का अंग बने हुए सगर्व आकाश से बातें करता होता। कितनी दयनीय स्थिति को पहुँचा दिया गया है मुझे। जो इधर से गुजरता है, उसी की ठोकरें सहनी पड़ती हैं जबकि मैं वज्र कहलाता हूँ। दूसरों का सिर फोड़ने की मुझमें क्षमता है। दृढ़ता मुझमें इतनी है कि जहाँ जम जाऊँ वहाँ से हिल नहीं सकता। अस्तित्व मेरा इतना शाश्वत है कि समय भी अपना इतिहास लिखने में गर्व की अनुभूति करता है। किन्तु मैं दूसरों के देखने में पत्थर हूँ। मेरे अन्दर भी एक स्पन्दनशील हृदय है। मेरे हृदय की भावनाएँ सरिताओं और झरनों के रूप में प्रकट होती हैं। लोक जीवन को अभिसिंचित करने में मुझे अपार हर्ष होता है। किन्तु वाह रे मानव! तू मुझसे भी अधिक कठोर है। मुझे भी तू टुकड़े-टुकड़े कर डालता है। कभी तू मुझे मूर्ति बनाकर पूजता है तो कभी मुद्रिका या हार में गूंथ कर शरीर की शोभा बढ़ाता है। मेरी चकाचौंध तुझे आकर्षित ही नहीं करती है, बल्कि मुझे पाने के लिए तू अपना खून-पसीना एक कर देता है। तनिक विचार कर। एक पत्थर के लिए इतना रक्तपात क्यों? क्या पत्थर मानव से श्रेष्ठ है?"

सहसा सम्राट के मुह से चीख निकल गई, "नहीं।" चीख वायु तरंगों पर लहराती चली गई।

जैसे ही सम्राट अशोक ने अश्व की वल्गा खींची, किसी ने उनका पैर पकड़ लिया। उसी की ओर झुककर सम्राट ने देखा तो पैर आहत सैनिक के अशक्त हाथों में था। मृत्यु के मुख में समाया हुआ सैनिक बोल उठा, "अब आगे किसलिये बढ़ रहे हो सम्राट? क्या पाना शेष रह गया है? सब कुछ तो मिल गया है तुम्हें जो चाहते थे। किन्तु सम्राट महत्वाकांक्षी प्राणी होता है। और तुम तो अतिमहत्वाकांक्षी हो। सन्तोष तुम्हें कभी होता नहीं। शांत तुम कभी बैठ सकते नहीं। हिंसा तुम्हारी मूलवृत्ति है। मानव हिंसा का कोई कारण न समझ में आया तो मनोरंजन को आधार मानकर निर्दोष पशुओं का ही वध किया। पौरुष प्रदर्शन के लिए हिंसा को अपरिहार्य स्थिति स्वीकार कर लिया गया। इसके लिए तुमने बचपन में ही असंख्य जीवों की हत्या कर डाली। तुम्हारे लिये पशुओं और मनुष्यों में कभी कोई अन्तर नहीं रहा। तुमने स्वजनों पर भी दया नहीं की। जो भी तुम्हारी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के मार्ग में व्यवधान तुम्हें प्रतीत हुआ उसे ही तुमने इस संसार से विदा कर दिया। इस वध-व्यापार में तुम्हें जितनी सफलता मिलती गई, तुम उतने ही क्रूर बनते चले गये। यह कलिंग का नर-संहार तुम्हारी उसी क्रूरवृत्ति का

परिणाम है। किन्तु तुमने कभी सोचा कि तुम किनका वध कर रहे हो ? जिनका वध तुम्हारे द्वारा हुआ है, उन्होंने तुम्हारा क्या अहित किया था ? यदि वे अपराधी थे तो मात्र इसलिये कि वे कलिंगवासी थे। इसमें उनका क्या दोष था ? कहाँ जन्म लें और किस मात-पिता की सन्तान बनें, यह कोई उनके वश की बात तो थी नहीं। यदि दैववशात उनका जन्म कलिंग राज्य नामक भूखण्ड में हो गया तो जन्म लेने मात्र से वे तुम्हारे शत्रु कैसे हो गये ? मगध में जन्म लेने के कारण अगर मगध भूमि तुम्हें प्रिय हो सकती है तो जिसका जन्म कलिंग भूमि में हुआ, उसे कलिंग राज्य भी तो प्रिय हो सकता है। किसे अनुराग नहीं होता अपनी जन्मभूमि से ? होता है कोई भी ऐसा मानव जो अपनी मातृभूमि को किसी अन्य राज्यवासी द्वारा पददलित किया जाता हुआ देख सके ? आक्रामक उसकी दृष्टि में शत्रु अवश्य होगा। कोई भी स्वाभिमानी शक्तिभर कभी भी शत्रु को जीवित नहीं छोड़ेगा। तुम आक्रामक हो। कलिंग के शत्रु हो। कलिंग के राज्यभक्त वीरों ने यदि तुम्हारा सामना किया तो कोई अपराध तो नहीं किया जिसका प्रतिशोध तुमने उनकी नृशंसतापूर्वक हत्या द्वारा व्यक्त किया। मगर यह स्मरण रखो मगधनरेश कि परिश्रम के प्रस्वेद से अभिसिंचित निर्मिति तो कालजयी होती है, वध, उत्पीड़न और शोषण द्वारा प्रतिस्थापित साम्राज्य तक विखण्डित हुए बिना नहीं रहता। जाओ सम्राट अपने मगध राज्य लौट जाओ। कलिंग के वीरों के रक्त से सिंचित भूमि पर एक रात भी चैन से न सो सकोगे। असंख्य मृत वीरों के शस्त्र कालजिह्वा का रूप धारण करके तुम्हारी ओर लपलपाते हुये बढ़ेंगे। दिन में जागने पर विनाश लीला के विभिन्न दृश्य तुम्हें मानसिक रूप से अशान्त बनाये रखेंगे। जाओ सम्राट, कलिंग को उसके नवनिर्माण का अवसर दो।"

सम्राट अशोक ने आगे पग बढ़ाते हुए स्वयं से प्रश्न किया, "वास्तव में, अब मैं कलिंग भूमि में क्यों रुका हूँ ? कलिंग परास्त हो गया। अब क्या विजय करना शेष है ? सब कुछ तो यहाँ का धूल-धूसरित हो चुका है। रोने तक के स्वर भी तो नहीं सुनाई दे रहे हैं।"

"कैसे सुनाई देंगे रोने के स्वर ?" ध्वनि के उद्गम स्थान की ओर सम्राट अशोक ने दृष्टिपात किया। सामने कलिंग नारी की निश्चेष्ट देह पड़ी थी। नेत्र उसके सम्राट को अपलक देखे जा रहे थे। उसका स्वर आगे सम्राट को सुनाई दिया, "सुन सकोगे रोने के स्वरों को ? कानों में सुनने की शक्ति अभी शेष है ? किन्तु नहीं, जो कान आहतों की चीख-पुकारें न सुन सके, संतप्त नारियों के करुण-क्रन्दन न सुन सके, वे किसी का भी रोना क्या सुन

सकोगे । तनिक सोचो सम्राट । क्या मगध से कलिंगवासियों का रोना सुनने आये थे ? नहीं, सम्राट ! रोता वह है जिसका कुछ खोता है और जिसका सर्वस्व लुट चुकता है, वह रो नहीं पाता है । और याद रखो सम्राट कि श्मशान में रोने का स्वर कभी नहीं सुनाई देता । तुमने कलिंग को श्मशान भूमि में परिवर्तित कर दिया है । तुमने कलिंग के नर-नारियों पर जो अत्याचार किये हैं उनके लिये तुम्हारी आत्मा तक तुम्हें धिक्कारेगी ।"

सम्राट अशोक को स्वयं का स्वर सुनाई दिया, "यह मैं क्या सुन रहा हूँ ? क्या यह सब सच है ? क्या इतना अत्याचार हुआ है ? किन्तु नारियों को तो मैंने स्पर्श तक न करने का आदेश दिया था । क्या मेरे आदेश की अवहेलना हुई ?" मृत्यु के सन्नाटे में सम्राट अशोक का कण्ठस्वर गूंज उठा, "नहीं, मगध सैनिकों ने कलिंग की नारियों को कदापि पीड़ित नहीं किया है ।"

"वाह सम्राट ! तो तुम इतने भोले हो । क्या तुम इतना भी नहीं जानते कि जिस नारी के पुत्र, पति और भाई का वध हो जाता है उस नारी का संसार में रह ही क्या जाता है । बिना स्पर्श के ही वह मृतक समान हो जाती है । और भी जब मृत्यु की आंधी चलती है तब कौन बच पाता है । तुम्हारी सैनिक संहार लीला ने शिशुओं तक को नहीं छोड़ा है । विश्वास न हो तो पूछ लो इनमें से किसी भी शिशु से ?" सम्राट ने ध्यान से देखा तो मृत नर-नारियों के बीच अनेक शिशु भी दिखाई दिये । स्वयं वह आश्चर्यचकित हो उठे, "ओह ! तो मेरे सैनिकों ने इन शिशुओं तक तो नहीं छोड़ा ? शिशु और बालकों को उत्पीड़ित न करने के मेरे कठोर आदेश की अवहेलना इस सीमा तक की गई ? फिर तो न जाने क्या-क्या मनमानी की होगी सैनिकों ने ? इससे अधिक क्रूरता और हो भी क्या सकती है ? इन अबोध बच्चों ने तो अभी दृष्टि खोलकर ठीक से संसार को देखा भी नहीं होगा ? संसार को पहचान भी पाये होंगे । इन्हें अपने-पराये की क्या पहचान ? ये क्या जानें कि मगध क्या है और कलिंग क्या है । मगध का तो नाम भी न सुना होगा । जिसके नाम तक से ये परिचित नहीं वही इनका शत्रु ! कैसी बर्बरता है यह ! कैसा अमानुषिक अत्याचार है ! नहीं-नहीं, ऐसा कदापि नहीं होना चाहिए था । पर जो हो गया, उसका अब क्या होगा ? ऐसी पाशविकता मानवता पर कैसे छा गई ? इससे मुक्ति कैसे मिलेगी मानवता को ? मानवता की रक्षा के लिये क्या करना होगा·······क्या·······क्या आ·····आ·····आ, क्या आ अ आ करना होगा ? अंतिम वाक्य सम्राट अशोक के मन-मस्तिष्क में रह-रहकर गूंज उठा । सम्राट के हाथों से असि छूटकर धरती पर गिर पड़ी । अपने दोनों खाली हाथों से उन्होंने अपना सिर पकड़ लिया

और नेत्र बन्द हो गये । उनके कण्ठस्वर में संकल्प व्यक्त हुआ ।

"बस, अब न होगा युद्ध । युद्ध न होगा तो नर-संहार भी न होगा । नर-संहार ही क्यों पशु-वध भी न होगा । भोजन के निमित्त भी पशु बलि न दी जायेगी । जीवमात्र के साथ समानता का व्यवहार होगा और इस व्यवहार का आधार होगी करुणा । करुणा द्वारा प्राणि का प्राणि से अन्तर्सम्बन्ध स्थापित होगा । विश्व मैत्री की भावना को प्रश्रय प्राप्त होगा । इसके लिए अपरिग्रह वृत्ति को स्वीकार करना होगा । संग्रह वृत्ति को तिलांजलि देनी होगी । कोई भी अभावग्रस्त होकर न मरने पायेगा । सब पर सबका समान अधिकार होगा । जब किसी एक के पास अधिक होगा नही तो दूसरा उसकी ओर आकर्षित होगा नहीं । अनाकर्षण से लोभ जन्म नहीं लेगा । लोभ के अभाव मे मानव अपहरण वृत्ति से परिचालित नहीं होगा और अपहरण वृत्ति की अनुपस्थिति में कोई किसी पर भी आक्रमण न करेगा । आक्रमण नहीं होगा तो संघर्षजन्य विनाश भी नहीं होगा । इस विनाशलीला का साक्षात्कार कभी न करना पड़ेगा । विनाश का स्थान सृजन लेगा । सृजन के अन्तस मे आनन्द सन्निहित रहता है । और आनन्द की चरमावस्था ही शान्ति कहलाती है । यही शान्ति मानी जाती है मानवता का आत्यंतिक लक्ष्य । प्रत्येक मानवीय क्रियाकलाप का यही होगा । इसी की प्राप्ति के लिए प्रत्येक मानव आजीवन प्रयत्नवान रहेगा । यदि दूसरों को इस मार्ग पर चलाना है तो पहले स्वयं आचरण करना होगा । मेरा हर आचरण ऐसा ही होगा । कभी किसी के द्वारा किसी को सताने नहीं दूंगा । घृणा का स्थान प्रेम लेगा । हिंसा के स्थान पर अहिंसा और करुणा की स्थापना होगी । प्रेम, करुणा, अहिंसा की त्रिवेणी में मानवता अवगाहन करेगी । विश्वबन्धुत्व की भावना मानवता को वरण करेगी ।" सम्राट अशोक की दृष्टि के समक्ष जीवन सत्य प्रकाशित हो उठा । उन्होंने मुड़कर पीछे देखा । शेष मगध सेना अनुचरवाहिनी के रूप मे नतमस्तक खड़ी थी । विजयी सेना पर विहंगम दृष्टि डालते हुए सम्राट अशोक ने आदेश दिया, "आओ मगधवीरों । वापस चलें । मगध और कलिंग का अन्तर अब मिट चुका है । कलिंग को आतंक से मुक्ति का अवसर दें ताकि कलिंग अपने पैरों पर फिर खड़ा हो सके ।" कथन के साथ सम्राट अशोक ने अश्व को एड़ लगाई । अश्व आगे बढ़ा अवश्य किन्तु चेष्टा करने पर भी वह उस गति को न प्राप्त कर पा रहा था जो गति मगध से प्रस्थान के समय थी ।

